दिल्ली दिनांक

गंगाधर इंदूरकर

अनुक्रमणिका

प्रस्तावना

मैं सुप्रिया देव, श्री गंगाधर इंदूरकरजी की सुपुत्री। पिताजी को पत्रकार के रूप में बचपन से देखा है। राजनीतिक पत्रकार होने के नाते उनका मंत्रियों के घर आना—जाना हमेशा ही होता था। कई बार घर पर भी विभिन्न विचार धाराओं के नेताओं की बैठकें हुआ करती थी। उनका ऑलिवेत्ती टाइप राइटर पर वार्तापत्र लिखना आज भी याद आता है। मुंह से बोलते हुए वाक्य की रचना कर साथ में दोनों हाथों की तर्जनी से टाइप करना, एक अनोखी ही कला थी। नागपुर के 'तरुण भारत' और मुंबई के 'महाराष्ट्र टाइम्स' के लिये अलग—अलग वार्तापत्र लिखे जाते। नौकरी से अवकाश ग्रहण कर उन्होंने अपनी यादों को पुस्तक के रूप में लिखने का प्रामाणिक प्रयत्न किया है।

'दिल्ली दिनांक' यह पुस्तक पहली बार मराठी में पुणे के श्रीविद्या प्रकाशन द्वारा १९८२ में प्रकाशित की गई। मराठी पाठकों द्वारा इस पुस्तक का दिल खोल कर स्वागत किया गया। सन १९८२—८३ में प्रकाशित पुस्तकों की सूची में इस पुस्तक को इतिहास, अर्थशास्त्र, राजनीति और समाजशास्त्र इन चार संयुक्त विषयों में सर्वश्रेष्ठ साहित्य का बहुमान भी मिला। लेखक का हौसला बढ़ा और पुस्तक का हिन्दी अनुवाद पाठकों की सेवा में प्रस्तुत करने का निर्णय लिया गया। अनुवाद की कॉपी तैयार भी हुई, परंतु प्रकाशित करने का काम अधूरा ही रह गया। अब इतने वर्षों बाद पुस्तक प्रकाशित की जाए या न की जाए इस दुविधा में भी काफी समय निकल गया।

आज के युवा वाचकों को स्वतंत्रता के पूर्व से लेकर लगभग चालीस वर्षों का राजनीतिक इतिहास जानने में जरूर रुचि होगी यह सोचकर पुस्तक को e-book के रूप में प्रकाशित करने के विचार से मन पुनः मचल उठा। एक राजनीतिक पत्रकार की कलम से लिखा गया उन चालीस वर्षों का इतिहास आज के युवा पाठकों को निश्चय ही मनोरंजक और बोधप्रद होगा।

पुरानी जीर्ण कॉपी की Pdf फाइल बनाने के इस क्लिष्ट कार्य में श्री प्रशांत पुराणिक का अनमोल सहकार्य प्राप्त हुआ।

आशा है वाचकों को यह उपक्रम अवश्य पसंद आएगा। सभी से अनुरोध है कि पुस्तक स्वयं पढ़े और अपने परिचितों को भी पढने के लिये प्रेरित करें। पाठकों से अनुरोध है कि अपनी प्रतिक्रियाएं अवश्य नीचे लिखे पते पर साझा करें।

धन्यवाद!

सुप्रिया देव

१२१, गोरेपेठ, नागपुर—४४००१०

Email:-supriyadeo@gmail.com

(Mobile No.):- ९१९९२३०२४४८२

‘दिल्ली दिनांक’ के लेखक का परिचय

लेखक परिचय—श्री गंगाधर इंदूरकर जी का जन्म १० जुलाई, १९१८ को इलाहाबाद शहर के दारागंज मुहल्ले में हुआ। आर्थिक हालत बहुत ही बुरी होने के कारण स्कूल, कॉलेज अथवा यूनिवर्सिटी में वर्तमान पद्धति की शिक्षा प्राप्त करने का उन्हें अवसर ही नहीं मिल। उन दिनों संस्कृत पाठशालाओं में मुफ्त शिक्षा की व्यवस्था थी। वह लेकर उन्होंने ‘साहित्य शास्त्री’ की उपाधि प्राप्त की। इसी प्रकार निजी तौर पर हिंदी की शिक्षा प्राप्त कर ‘साहित्य रत्न’ उपाधि भी उन्हें मिली। केवल अंग्रेजी में मेट्रिक की परीक्षा भी उन्होंने दी और उसमें उत्तीर्ण हुए।

१९३९ में वाराणासी की ‘संसार’ इस समाचार पत्र के इलाहाबाद के संवाददाता के रूप में उन्होंने अपने पत्रकारिता के जीवन का प्रारंभ किया। उसके बाद किसी काम से वे पुणे आये और इस समय केसरी के संपादक स्वर्गीय श्री तात्यासाहब उर्फ ज.स. करंदीकर जी ने उन्हें पत्रकार बनने में सहायता की। १९४४ से १९४८ तक उन्होंने इलाहाबाद के ‘भारत’ नामक हिंदी दैनिक में स्थानीय संवाददाता का काम किया। उसके बाद कुछ महीने दिल्ली में ‘भारतवर्ष’ नामक हिंदी दैनिक में वह बंद होने तक उप—संपादक के रूप में भी काम किया। ‘वीर अर्जुन’, ‘नवभारत टाइम्स’ जैसे पत्रों में वे बीच—बीच में लिखते भी रहे। १९५२ में उन्हें दिल्ली के ‘नवभारत टाइम्स’ नें नौकरी मिली। १९६३ में उनका तबादला उसी संस्था का पत्र ‘महाराष्ट्र टाइम्स’ में हुआ। दोनों पत्रों में उन्होंने राजनीतिक संवाददाता अथवा प्रतिनिधि के रूप में ही काम किया। १९७७ में ‘महाराष्ट्र टाइम्स’ से उन्होंने अवकाश ग्रहण किया ।

१९७७ से १९८० तक श्री इंदूरकर जी ने विविध प्रकार का बहुत लेखन किया है। हिंदी और मराठी अनेक समाचारपत्रों के साथ उनका संबंध रहा हैं ।

‘दिल्ली दिनांक’ के अतिरिक्त मराठी में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का विश्लेषण करने वाली एक पुस्तक उन्होंने लिखी है। उनका हिंदी अनुवाद भी प्रकाशित हो चुका है।

मराठी में प्रकाशित ‘दिल्ली दिनांक’ पर
पाठकों की कुछ अनाहूत प्रतिक्रियाएं

२३ मार्च, १९८२ जोगेश्वरी पूर्व बम्बई श्री व. रा. वुनेकर

‘मैं अब तक आपके समाचारपत्रों में प्रकाशित लेख बहुत ही चाव से पढ़ता था। आपका ‘दिल्ली दिनांक’ पढ़कर उसकी फिर याद आ गई और बड़ी खुशी हुई। पाठकों के सामने आपने अत्यंत संतुलित विचार प्रस्तुत किए हैं और उसके कारण पिछले चालीस वर्षो का देश का राजनीतिक इतिहास पढ़ने का मुझे अवसर मिला। नेताओं के सच्चे चेहरे

भी देखे और बनावटी मुखड़े भी। इतने अच्छे और मौलिक विचार अत्यंत सरल भाषा में प्रस्तुत करने के लिए में आपको बधाई देता हूं।'

१९ अप्रैल १९८२, मुलुंड पूर्व, बम्बई श्री माधव खांडेकर

'दिल्ली की राजनीति पर जो कुछ लिखा जाता है, उसमें से बहुत सा निजी जीवन के संबंध में कीचड़ उछालने वाला होता है। मुझे आपकी पुस्तक इस लिए पसंद आयी कि वह उससे मुक्त है।'

४ अगस्त, १९८२, पिपंरी चिंचवड प्राधिकरण, पुणे, श्री वसंत नगरकर, आई.पी.एस. भूतपूर्व उपप्रबंधक, सी.बी.आई.

'मुझे पुस्तक बहुत ही पसंद आयी। उसमें न कहीं कटुता है और न पूर्व निश्चित धारणा है, और न कोई आग्रह ही है। इन सब घटनाओं में गले तक डूबे रहने पर भी उनके सम्बन्ध में इतनी तटस्थता से और निर्विकार रूप से लिखना, मैं कह नहीं सकता कि मुझसे भी यह हो सकता था। वर्तमान घटनाओं के संबंध में पिछले पन्द्रह बीस वर्षों में जो पुस्तकें मेरे पढ़ने में आयी उनमें इनसे अधिक सत्य के निकट मुझे कोई दूसरी पुस्तक नहीं दिखाई दी। प्रत्येक व्यक्ति और संगठन के अवगुण जताते समय आप उनके गुण और अच्छी बातें बताना नहीं भूले हैं।'

१६ अक्तूबर, १९८२— भईंदर, जिला — ठाणे — श्री राजीव रकबी

'आपका दिल्ली दिनांक' हाथ में आया। वह पूरा पढ़े बगैरे नीचे रखा ही नहीं जा रहा था'।

१० अगस्त, १९८२ — कर्वे नगर, पुणे ? — श्री र. व. आगाशे

पहले मुझे ऐसा लगा ही नहीं कि राजनीति पर एक पत्रकार द्वारा लिखी पुस्तक इतनी मनोरंजक और उद्बोधक होगी। पर जैसे—जैसे पढ़ने लगा ऐसा लगने लगा कि घटना होते समय मैं स्वयं ही वहा हूं और उस घटना को देख रहा हूं।

विशेष बात यह है कि यह पुस्तक मेरी पत्नी ने बड़ी चाव से पढ़ी। पुस्तक की विशेषता इसी से स्पष्ट हो जाती है कि जिसका राजनीति से कोई लेना—देना नहीं है, ऐसी एक साधारण गृहिणी यह पुस्तक चाव से पढ़े।

राजनीति मेरा कभी प्रिय विषय नहीं रहा है। पर आपकी पुस्तक पढ़ने पर भारत के पहले मंत्रिमण्डल से लेकर आज तक की परिस्थिति की पूरी तसवीर आपके द्वारा उचित सही और मनोरंजक ढंग से रखी जाने के कारण मुझे भी राजनीति मनोरंजक लगने लगी और इसमें मुझे कोई आश्चर्य नहीं लगा।

आपने यह पुस्तक लिखकर अपनी निर्भीक और निष्पक्ष पत्रकारिता तो सिद्ध की ही हैं, व्यवसाय करते समय मानवतावादी दृष्टिकोण रखा और लगातार देशहित का विचार अपने लेखन में व्यक्त किया। इस कारण मैं पुस्तक पढ़ते समय भावनाओं में बह गया।

२४ अगस्त, १९८२ — कोल्हापुर — श्री. जी. एस. जोशी

भूतकाल को भविष्य काल में लाने का सामर्थ्य आपकी लेखनी में है।

२९ अगस्त, १९८२, कोथरुड, पुणे — श्री. द. मा. गिरमे

३४ वर्ष के अपने जीवन में मैंने बहुत सी पुस्तकें पढ़ी, पर आपकी पुस्तक बहुत ही पसंद आयी। कुछ स्थानों पर जो स्पष्ट वक्तृता है, वह बहुत अच्छी लगी ।

६ सितम्बर, १९८३ — राष्ट्रभाषा प्रवार समिति, वर्धा

श्री मोहनलाल भट्ट, भूतपूर्व मंत्री, राष्ट्रभाषा प्रचार समिति

आपकी पुस्तक अध्ययन करने पर मुझे अच्छी लगी। भाषा सरल और शैली पाठक के मन को स्पर्श करती हुई और बहुत गंभीर नहीं, पर साधारण तौर पर पत्रकारों की होती है वैसी छिछली या उदंड भी नहीं ।

११ सितम्बर, १९८२ 'रामनगर' वर्धा — श्रीमती प्रतिभा गरे

आपकी सम्यक् आलोचना से यह ध्यान में आ जाता है कि मंच पर बड़ी—बड़ी बातें करने वाले हमारे नेता मन में अथवा निजी जीवन में कितने गलत होते हैं, केवल कुर्सी के लिए वे कैसे बेदम हो जाते हैं। दूसरे के पैर खींचने वाले ये देश का क्या भला कर सकेंगे। पर देश की परवाह है किसे?

१५ अक्टूबर, १९८२, माहिम, मुंबई — श्री मधुकर केणी

इसके सम्बन्ध में कहना पड़ेगा कि यह मराठी में पहली पुस्तक है, जिसमें राजनीतिक घटनाओं पर पत्रकार ने इतनी आत्मीयता से लिखा है। राजनीति का अध्ययन करने वाले को तो वह मार्गदर्शक होगी। सबसे अधिक महत्व की बात यह है कि राजनीतिक परिवर्तन का इतिहास उसमें है। आपको जितनी बधाई दी जाए, उतनी कम होगी।

१६ अक्टूबर, १९८२, नंदुरबार, धुलिया — श्री. रणछोड़ मदन जाधव

आपकी पुस्तक इतनी सुंदर और पठनीय बनी है कि पढ़ते समय लगता है कि हम पढ़ नहीं रहे हैं, सुन रहे हैं । भाषा शैली सरल होने के कारण आशय का ज्ञान तुरंत हो जाता है। फिर भी पुस्तक अपूर्ण प्रतीत होता है। लगता है कि अभी बहुत कुछ पढ़ा जाए। आपकी चालीस वर्ष की पत्रकारिता के आधार पर आप और कम से कम चार

पुस्तकें लिखकर दिल्ली के राजनीतिक वातावरण से पाठकों को परिचित करायेगे, ऐसी मुझे आशा है ।

१८ नवम्बर, १९८२, एस.जी.बी. कॉलेज, औरगांबाद — श्री सियाराम

आपका 'दिल्ली दिनांक' यह ग्रन्थ पढ़कर बहुत खुशी हुई। मैं आपके स्मरण शक्ति की बहुत दाद देता हूं। आप इतना याद रख कैसे सकते हैं। आपका यह ग्रन्थ सम्पूर्णतः हमारे राजकीय विचारों के विरूद्ध था। पर जो लिखा, सच लिखा, यह मानना पड़ता है।

१५ जून, १९८३, मुलुंड पश्चिम बम्बई — श्री अरविंद कुलकर्णी

संघ, जनसंघ की पृष्ठभूमि होने पर भी आपने उस संगठन के नेताओं में जो दोष थे, उन्हें दिखाया यह बात मुझे विशेष लगी ।

२४ अगस्त, १९८३, शिल्पाली, जिला थाना — श्री नितिन देशपांडे

आपका दिल्ली दिनांक पढ़कर पूरा किया। एक बहुत ही सुंदर पुस्तक पढ़ने की अनुभूति मिली। मैं इस समय १९ वर्ष का हूं। पर आपके लेख पढ़कर आपके पुराने लेखों ने कितनी धूम मचायी होगी, इसका सहज में ही अनुमान हो गया। आपके लेख निर्भीक पत्रकारिता के उदाहरण हैं ।

१ जुलाई, १९८३, एन. पी. मार्ग, मुंबई— श्रीमती सुशीला नंजुदिया

पत्नी एच. नंजुदिया, आई. ए. एस. सेवानिवृत्त

आपका 'दिल्ली दिनांक' पढ़कर पूरा किया। हम दोनों को वह बहुत ही पसंद आया। अंग्रेजी में ऐसी पुस्तकें काफी लिखी गई। पर अपनी देशी भाषा में यह पहली ही पुस्तक होगी। यह प्रशंसनीय बात है कि राजनीतिक विषय पर आपने इतने मनोरंजक ढंग से लिखा है।

१५ फरवरी, १९८३, मंगलवेढा, सोलापुर — श्री विनायक नागनाथ कोकाटे

राजनीतिक घटनाओं के सम्बन्ध में अलग—अलग पत्रकारों द्वारा लिखी कई पुस्तकें मैंने अब तक पढ़ी। तथापि उनमें 'दिल्ली दिनांक' सबसे अच्छी लगी। समाचारपत्रों की दुनिया की सबसे अच्छी पुस्तक लिखने के लिए आपको बधाई। आपकी पुस्तक सचमुच संग्रह करने लायक और पढ़ने लायक है ।

१६ मार्च, १९८३, वरली, मुंबई — डॉ. गंगाधर धर्माजी पाटिल

'दिल्ली दिनांक' यह पुस्तक बहुत ही सुंदर लिखी गयी है। इतिहास के रूप में भी उपयुक्त है। उसमें दी गई व्यक्ति रेखाएं बहुत साफ हैं। राजनीतिक नेताओं की अच्छी जान—पहचान हो जाती है।

१३ जुलाई, १९८३, रावपुरा, बड़ोदा — श्री. दादूमिया (मराठी और गुजराती के अच्छे लेखक) डॉ. दा. वि. नेने

मैने हाल में ही श्री विद्या प्रकाशन से कुछ पुस्तकें खरीदी। उनमें 'दिल्ली दिनांक' और 'राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ अतीत, वर्तमान और भविष्य' है। दोनों ग्रन्थ बहुत ही सुंदर है। मृद, संतुलित और चोट न पहुंचाने वाली भाषा, बहुत सारी सच्ची घटनाएं उन्हें सहायक होनेवाली अनुभूतिया यह आपके ग्रंथ कि विशेषता है।

९ सितम्बर, १९८४, सदाशिव, पुणे श्री. रा. प्र. कानिटकर

आपकी पुस्तक मेरे संग्रह में थी। पर किसी कारणवश पढ़ना रह गया था। कल उसे खोला और उत्सुकता के साथ अंत तक पढ़ा। इस प्रकार की मराठी में मुझे पहली पुस्तक ही लगी। भारतीय राजनीति की वास्तविक पर अंदरुनी जानकारी की दृष्टि से यह पुस्तक अनुपम है। इस पुस्तक की ओर समाचारपत्रों का जितना ध्यान जाना चाहिए था वह नहीं गया, यह दुःख की बात है।

११ फरवरी, १९८७, डेक्कन जिमखाना — श्री राम कांबले

आपकी पुस्तक बहुत ही पसंद आयी। आपने पाठकों के सामने पिछले चालीस वर्षो में हुई राजनीतिक घटनाओं का सुदंर चित्र प्रस्तुत किया है। पुस्तक की भाषा अत्यंत सरल और प्रत्येक घटना आपने किसी प्रकार का पक्षपात न करते हुए लिखी है। पत्रकारिता के जीवन में आपके कुछ लोगों से बहुत ही निकट के सम्बन्ध आये होंगे। पर उनके बारे में लिखते समय आपने स्पष्टवादिता में कोई कमी नहीं की है ।

पहले इसे पढ़िये

वैसे मैंने हिंदी और मराठी में काफी लिखा है। परंतु पुस्तक के माध्यम से पाठकों के सामने आने का मेरा यह पहला ही अवसर है। जिन परिस्थितियों में पत्रकार बना और जिस प्रकार का संघर्षमय जीवन मुझे जीना पड़ा, उससे मन में कभी नहीं सोचा था कि मुझे किसी दिन अपने पत्रकारिता के जीवन पर फिर से नजर डालने का अवसर मिलेगा। उस समय कुछ संदर्भ, नोट्स आदि जमा कर रखने की बात भी मुझसे नहीं बनी। वैसे भी भविष्य में उपयोगी हो सकेंगे, यह सोचकर नोट्स टिप्पणियां आदि लिखते रहना और उन्हें संभालकर रखना बहुत कठिन काम है। मेरे जैसे साधनहीन एकाकी पत्रकार के बूते का यह काम नहीं था। मैंने एक बार इस दिशा में कुछ प्रयत्न किया भी, पर तब एकत्रित सामग्री की मात्रा इतनी बढ़ गयी कि उसे संभालकर रखना ही एक बहुत बड़ा काम बन गया। तब अपनी क्षमता से बाहर समझकर उसे छोड़ दिया। अपने पत्रकारिता के जीवन के कालखण्ड की जो घटनाएं मुझे जैसे—जैसे याद आयी, उन्हें वैसे ही लिखने का प्रयास मैंने किया है। कुछ घटनाओं का क्रम आगे—पीछे भी हुआ है। कुछ तारीखें भी मैंने दी है। पर कालक्रम के अनुसार इतिहास लिखने का मेरा कोई इरादा नहीं है। पाठकों से अनुरोध है कि इतिहास की दृष्टि से इसे न देखें। किसी एक घटना की चर्चा के समय उससे सम्बन्धित पिछली अथवा आगे की घटनाएं भी इस पुस्तक में पाठकों को मिलेंगी।

पुस्तक में निजी प्रतीत होने वाली कुछ घटनाओं का भी उल्लेख है। पर पत्रकार के रूप में राजनीतिक क्षेत्र से ही अधिक संपर्क होने के कारण उसी क्षेत्र के लोगों की अधिक चर्चा की गई है। लिखते समय मेरा मुख्य उद्देश्य यही रहा है कि राजनीतिक क्षेत्र के व्यक्तियों का रूप मुझे जैसा दिखाई दिया, उसे वैसा ही चित्रित किया जाय। मैं जानता हूं कि मेरे द्वारा किए गए इस चित्रण के कारण सम्बन्धित व्यक्ति का अच्छा या बुरा चित्र उभारेगा। पर मेरे सामने न तो किसी की मूर्ति चमकाने का उद्देश्य है और न ही, उसे किस प्रकार मलिन बनाने का। मुझे जो जैसा दिखाई दिया उसे वैसा ही चित्रित करने का मेरा यह विनम्र, किन्तु सिमित प्रयास है।

एक बात मुझे और स्पष्ट करनी है। मैं पत्रकार अवश्य पर साहित्यकार नहीं, और भाषापण्डित तो बिलकुल नहीं। अतः मेरा लेखन केवल वर्णनात्मक अथवा तथ्यपूरक है। उसे किसी प्रकार भाषा—कौशल या साज—शृगांर मैं नहीं दे पाया हूं। मैं हिंदी प्रदेश में पैदा हुआ और वही मेरा थोड़ा बहुत लालन—पालन हुआ। हिंदी समाचारपत्र से ही मेरा पत्रकारिता का जीवन भी प्रारंभ हुआ। पर यह कहना भी आवश्यक समझता हूं की हिंदी क्षेत्र में भी मुझे स्कूल, कॉलेज या विश्वविद्यालयीन शिक्षा प्राप्त करने का अवसर कभी नहीं मिला। इससे व्यक्तिगत जीवन में कुछ हानि तो हुई, पर मेरी समझ में एक लाभ भी हुआ। हर बात की ओर अपनी ही दृष्टि से देखने की मेरी आदत पड़ गयी। पूर्व निर्धारित विचारों की चौखटों में अपने आपको मैं कभी बांध न सका।

पुस्तक में स्थान–स्थान पर इस बात की काफी चर्चा है कि अमुक–अमुक नेताओं ने संसद सदस्यों ने तथा केन्द्र और राज्य के मंत्रियों ने मुझसे समस–समय पर क्या कहा। उनमें से कई व्यक्ति अब जीवित नहीं हैं। परन्तु जो जीवित हैं, उनमें से कुछ ऐसे हो सकते है जिन्हें आज की स्थिति में उस समय का उनका वह कथन प्रकाशित होना पसंद न आये। वे यह भी कह सकते हैं कि उन्होंने वैसा कहा ही नहीं था। उनके प्रतिवाद के खंडन–मंडन में कोई सबूत प्रस्तुत नहीं कर सकूंगा। उन दिनों अपने देश में पत्रकारों द्वारा टेपरिकॉर्डर का प्रयोग प्रचलित नहीं था। यदि होता भी, तो मेरे पास टेपरिकॉर्डर है यह ज्ञात होने पर उन महानुभावों से समय–समय पर मेरी जो बातें हुई, वे शायद न हुई होती। इस संदर्भ में मैं केवल एक ही बात कहना चाहता हूं । मैंने सभा–सम्मेलनों की ही नहीं, संसद की कार्यवाही की भी अनेक वर्षों तक रिपोर्टिंग की है। मुझ पर यह आरोप कभी नहीं लगा कि मेरे द्वारा लिखे गए समाचारों में भूल या पक्षपात होता था। कम से कम मुझे इस बात का भी स्मरण नहीं है कि सम्बन्धित व्यक्तियों के सम्बन्ध में पहले से भली–बुरी धारणा बनाकर लिखने का दोषारोपण मुझ पर कभी किया गया हो, पर मेरे इस स्पष्टीकरण के बाद भी किसी को मेरा वर्णन गलत या अनुचित प्रतीत हो, और वे वैसा कहें, तो मैं उनसे विवाद में नहीं पडूंगा। उचित अनुचित का निर्णय पाठक स्वयं करे।

पुस्तक में मेरे द्वारा प्रत्यक्ष अनुभूत और मेरी पत्रकारिता के काल में ज्ञात घटनाएं ही लिखी गयी हैं। उनके संदर्भ में जहां आवश्यक प्रतीत हुआ, मेरी राय भी प्रकट हुई है। पर किसी विषय पर सैद्धांतिक चर्चा अथवा मतप्रदर्शन मेरा उद्देश्य नहीं है। राजनीतिक क्षेत्रों के साथ मेरा सम्पर्क जैसे–जैसे बढ़ता गया, वैसे–वैसे मेरे द्वारा लिखी गयी घटनाओं की संख्या भी बढ़ती गई है। स्वाधीनतापूर्व की घटनाएं इनीगिनी ही है। नेहरू युग भी कुछ परिच्छेदों में ही समाप्त हो गया है। सन् १९६३ में 'महाराष्ट्र टाइम्स' में आने के बाद मेरे राजनीतिक सम्पर्क और अधिक बढ़ें। अत: उसके बाद की घटनाएं अधिक विस्तार से लिखी गयी हैं।

यह पुस्तक मूलत: मराठी में लिखी गई थी। पुणे के 'श्री विद्या प्रकाशन' के मधुकाका कुलकर्णी जी के सहयोग से १९८२ में 'दिल्ली दिनांक' नाम से वह प्रकाशित हुई थी। मराठी पाठकों ने पुस्तक का दिल खोलकर स्वागत किया, जिसकी मुझे किंचित भी आशा नहीं थी। सभी स्तरों के पाठकों ने अनेकानेक पत्र लिखकर मुझे बधाई दी। बात यही समाप्त नहीं हुई। प्रकाशित पुस्तकों में जिन्हें ऊंचे स्तर का माना जाता है, उन्हें महाराष्ट्र सरकार पुरस्कार देकर लेखक का सम्मान करती है। १९८२–८३ में प्रकाशित पुस्तकों की सूची में 'दिल्ली दिनांक' इतिहास, अर्थशास्त्र, राजनीति और समाजशास्त्र इन चार संयुक्त विषयों में सर्वश्रेष्ठ पुस्तक के रूप में चुनी गई। ४ जून, १९८६ को पुरस्कार वितरण समारोह बम्बई में हुआ। स्वभावत: मेरा हौसला बढ़ा और पुस्तक को हिंदी पाठकों

की सेवा में प्रस्तुत करने का निर्णय किया। मराठी में कुछ घटनाएं लिखने से रह गई थी, उनका भी समावेश इस पुस्तक में किया गया है। केवल महाराष्ट्र से सम्बन्धित कुछ घटनाओं को निकाल भी दिया है। पर इससे पुस्तक के मूल ढांचे में कोई परिवर्तन नहीं आया है।

मेरी दृष्टि में पुस्तक के सम्बन्ध में इतनी भूमिका ही पर्याप्त है। शेष निर्णय हिंदी के पाठक स्वयं करेंगे।

गंगाधर इंदूरकर

डी—२८, गुलमोहर पार्क,
नयी दिल्ली ११००४९

मैं पत्रकार कैसे बना

मेरे पत्रकारिता के जीवन की बताने लायक पहली बात। समय था १९३९ के आसपास। जिसे जीवन जीना कहते है, उसमें मैंने प्रवेश ही किया था। घर की हालात बहुत खराब थी। कुछ काम तो करना ही था। अत: वाराणसी से प्रकाशित 'संसार' नामक हिंदी दैनिक का संवाददाता बना। कांग्रेस नेता श्री कमलापति त्रिपाठी पत्र के संपादक थे। संवाददाता के रूप में मुझे महीने में एक रुपया मिलता था। उसे चाहे वेतन समझा जाय या मानधन। आज की तुलना में उन दिनों 'एक रुपया' की कीमत काफी थी, पर जीवन जीने की दृष्टि से यह रकम बहुत ही कम थी। मुझमें काम करने का उत्साह बहुत था। वाराणसी और इलाहाबाद के बीच की दूरी चार घंटे की थी। अत: कोई समाचार यदि मुझे बहुत महत्व का लगता तो मैं उसे स्वयं अपने खर्च पर स्वयं रेल द्वारा वाराणसी जाकर दे आता था और वह समाचार वाराणसी से ही निकलने वाले दूसरे दैनिक पत्र 'आज' से एक दिन पहले छप जाता था। इससे पत्र के समाचार संपादक श्री रामस्वरूप पाण्डे मुझसे बहुत ही खुश थे। वे हर हफ्ते एक दो पोस्टकार्ड लिखकर मुझे प्रोत्साहित किया करते थे, पर मासिक वेतन या मानधन बढ़ाना शायद उनके हाथ में नहीं था। उन दिनों मुझे उनकी इस स्थिति का ज्ञान नहीं था। उनके ऐसे पत्र बार–बार आने के बाद एक दिन मैंने चिढ़कर उन्हें लिखा, 'हर तीन दिन बाद पत्र लिखने के बजाय उसमें खर्च होने वाला पोस्टेज मिलाकर मेरा मासिक वेतन भेजें तो मुझ पर बड़ी कृपा होगी। उन दिनों पोस्टकार्ड दो पैसे में मिलता था। मुझे आज वजह तो याद नहीं है पर उसके बाद मेरा 'संसार' का संवाददातापन बंद हो गया।

यद्यपि मेरे पत्रकारिता जीवन की शुरुआत हिंदी पत्र से हुई और मैंने बाद में कई हिंदी पत्रों में काम किया। पर पत्रकार के रूप में मुझे जो थोड़ा बहुत नाम मिला वह मराठी में ही लिखने के कारण था। मुझे मराठी पत्रकार बनाने का पूरा श्रेय 'केसरी' के स्वर्गीय श्री तात्यासाहेब करंदीकर को। यदि उनकी सहायता न मिली होती तो मैं जीवन में जो कुछ आगे बढ़ पाया, वह न बढ़ पाता और शायद पत्रकार भी बनता। स्वाधीनता के पांच सात वर्ष पूर्व हिंदी हिंदूस्तानी का विवाद बहुत था। बादशाह राम और बेगम सीता की कहानियां देकर हिंदी पढ़ाने के लिए पाठ्य पुस्तकें तैयार हो रही थीं। गांधी जी हिंदू मुस्लिम एकता के उद्देश्य से उर्दू को ही नहीं, मुस्लिम संस्कृति को भी बढ़ावा दे रहे थे। पर तब तक कहा उसे हिंदी ही जाता था। हिंदुस्तानी को राष्ट्रभाषा बनाने का संकल्प लेकर गांधी जी तब तक हिंदी साहित्य सम्मेलन से अलग नहीं हुए थे। आचार्य काका कालेलकर गांधीवादी थे और हिंदी का कामकाज गांधीजी ने उन पर सौंप रखा था। १९३९ में वाराणसी में हिंदी साहित्य सम्मेलन का अधिवेशन था। जहां तक मुझे स्मरण है, डॉ. राजेन्द्र प्रसाद सम्मेलन के अध्यक्ष थे। इस सम्मेलन में बादशाह राम और बेगम सीता जैसी पुस्तकों को लेकर काफी गरमागरमी हुई थी। इसी सम्मेलन में पुणे में अगला

अधिवेशन करने का निमंत्रण दिया गया था। पुणे अधिवेशन ने ही मुझे मराठी पत्रकार बना दिया। पर यह घटना बताने से पूर्व काका कालेलकर के रूप में 'नेता' का जो चित्र मुझे दिखाई दिया और इस शब्द ने मुझे जो पहला झटका दिया, उसकी चर्चा करना चाहता हूं ।

इस अधिवेशन में काका साहब की कड़ी आलोचना हुई। पं. सीताराम चतुर्वेदी जैसे धाकड वक्ता उन पर बरस पड़े थे। राजेन्द्र बाबू ने भी बादशाह राम और बेगम सीता सम्बन्धी जो पुस्तकें छपी थी, उसके प्रति अपनी नाराजी कुछ नरम शब्दों में प्रकट की। काका कालेलकर भी अच्छे वक्ता थे। उन्होंने अपने भाषण में यह रुख अपनाया कि मैं भी आप सबके विचारों से सहमत हूं। पर करूं तो क्या? मुझे हिंदी का काम करने के लिए अच्छे आदमी नहीं मिलते। जो मिलते है, उन्हीं से मुझे काम लेना पड़ता है। काका साहब के भाषण से मैं बहुत प्रभावित हुआ। मुझे भी लगा कि बेचारे काका क्या करें हिंदी के अच्छे जानकार उन्हें यदि काम करने के लिए नहीं मिलते तो इसमें उनका क्या दोष है। मैं एक वर्ष पहले ही साहित्यरत्न की परीक्षा पास कर चुका था। मुझे काम की आवश्यकता थी। मैं उसी रात वाराणसी में काका साहब जहां ठहरे थे वहा गया मैंने उनसे कहा, आपका भाषण मैंने सुना है। आपकी कठिनाई मुझे वास्तविक प्रतीत होती है। मैं तथा मेरे कुछ साथी ऐसे हैं, जिन्होंने साहित्यरत्न की परीक्षा पास की है। अत: उनकी हिंदी संबंध में कोई संशय नहीं हो सकता। हमें भी जीविका के लिए कुछ काम की जरूरत है। हिंदी का काम करने के लिए आप जहां कहें, हम जाने को तैयार है। पर काका साहब ने कुछ मुस्कुराते हुए कहा, "आप ठीक कहते हैं। पर सार्वजनकि मंच से कही गई बात को इतनी गंभीरता से नहीं लेना चाहिए।" उनकी बात सुनकर मैं एकदम जमीन पर आ गया। अस्तु।

काका साहब ने वाराणसी में पुणे में सम्मेलन करने का निमत्रंण तो दिया, पर स्वागत समिति के चुनाव में संस्कृतनिष्ठ हिंदी के पक्षपाती जीत गए। स्वागत समिति में जो लोग चुनकर आये, उनमें अधिकतर हिंदू सभा और राष्ट्रीय स्वंयसेवक संघ वाले थे। स्वागताध्यक्ष के पद पर पुराने क्रांतिकारी और पुणे हिंदी प्रचार संघ के प्रमुख श्री. ग.र. वैशंपायन जी को बैठाया गया था। अपनी हार के कारण काकासाहब बिगड़ गए और उन्होंने अपना निमत्रंण ही वापस ले लिया। स्वभावत: निर्वाचित स्वागत समिति निमंत्रण वापस लेने देना नहीं चाहती थी। उसका कहना था कि निमंत्रण पुणे के नागरिकों की ओर से दिया गया है। काकासाहब को उसे वापस लेने का कोई अधिकार नहीं है। पुणे और इलाहाबाद के बीच काफी दौड़धूप हुई और अंत में हिंदी साहित्य सम्मेलन की कार्यकारिणी ने निश्चय किया कि अधिवेशन पुणे में ही किया जायेगा।

उन दिनों श्री पुरुषोत्तमदास टंडन हिंदी साहित्य सम्मेलन के कर्ताधर्ता माने जाते थे। स्वातंत्र्यवीर सावरकर के बड़े भाई श्री बाबाराव सावरकर से मेरा पूर्व परिचय था। संभवत: इसीलिए उनके कहने पर पुणे से आने वाले स्वागत समिति के लोग इलाहाबाद

में मेरे ही घर ठहरते थे। श्री टंडन जी से भी मेरा थोड़ा बहुत परिचय था और हिंदी साहित्य सम्मेलन के कामकाज में भी, कभी नौकरी के रूप में, तो कभी वैसे ही, मेरा कुछ प्रवेश हो गया था। सम्मेलन को सफल बनाने के उद्देश्य से टंडनजी ने मुझे पुणे भेजने का निश्चय किया। कहा टंडन जी और कहां मैं? मुझे विदा करने के लिए वे स्वयं इलाहाबाद स्टेशन पर गाड़ी छुटने से आधा घंटा पहले ही आ गए थे और प्लेटफार्म पर घुमते–घुमते हिंदी के संबंध में कुछ समझाते रहे। यह तो स्मरण नहीं है कि उन्होंने मुझे उस समय क्या समझाया था। पर ऐसा लगता है कि उनका आशीर्वाद मेरी पीठ पर था। शायद इसीलिए कठिनाईयां तो कई आयी किंतु अधिवेशन सफल हो गया। उन्हीं दिनों 'केसरी' के उस समय के संपादक श्री करंदीकर जी से मेरा परिचय हो गया था। पुणे से लौटते समय मैं उनसे मिलने गया। आज भी कुछ–कुछ स्मरण है कि अधिवेशन समाप्त होने के बाद 'केसरी' में उस पर विचार–प्रवाह के स्तंभ में एक टिप्पणी छपी थी जिसमें अधिवेशन की सफलता का कुछ श्रेय मुझे भी दिया गया था। 'केसरी' उन दिनों महाराष्ट्र का सबसे अधिक प्रतिष्ठा प्राप्त पत्र था। विदा देते समय श्री करंदीकर जी ने कहा, 'आप केसरी के लिए समाचारों की चिट्ठी क्यों नहीं लिखते'? उन दिनों 'केसरी' अर्ध साप्ताहिक था। मेरा दिल धड़कने लगा। मैंने कहा, तात्या साहब मैं एक तो पत्रकार भी नहीं हूं और दूसरा, मराठी तो मुझे बिलकुल नहीं आती। मुझे उस समय उस घटना का स्मरण हो आया जब अधिवेशन के सिलसिले में पुणे में ही आयोजित एक सार्वजनिक सभा में मैंने मराठी में बोलने का प्रयत्न किया था और भाषा सम्बन्धी मेरी एक भूल पर श्रोताओं में खिलखिलाट हुई थी। पर तात्यासाहब ने कहा, कोई बात नहीं। आप हिंदी में लिखिये, हम हिंदी में ही छापेंगे। उन दिनों उत्तर प्रदेश को संयुक्त प्रांत के समाचारों की मेरी चिट्ठी "संयुक्त प्रांताचे वार्तापत्र" शीर्षक से 'केसरी' में हिंदी में ही प्रकाशित होते रहे और उसके लिए मुझे हर महीने पन्द्रह रुपए भी मिलते रहे।

तात्यासाहब यही तक नहीं रूके। उन दिनों 'केसरी' हिंदू महासभा की विचारधारा का पत्र समझा जाता था। संयुक्त प्रांत में, विशेषतः इलाहाबाद के आसपास, हिंदू महासभा के जो कार्यक्रम होते थे उसके निमित्त जाने और उसकी रिपोर्ट मराठी में लिखकर भेजने के लिए मुझसे कहा जाने लगा। यद्यपि मेरी मातृभाषा मराठी है लेकिन मेरा जन्म हिंदी क्षेत्र में हुआ, और शिक्षा भी हिंदी में ही होने के कारण यह कहना अधिक उचित होगा कि मुझे मराठी बिलकुल नहीं आती थी। मेरी मराठी पर महाराष्ट्र के विशेषतः पुणे, बम्बई के लोग हंसते थे और उसके लिए मैं उनकी शिकायत नहीं कर सकता। पर 'केसरी' की ओर से कभी यह शिकायत नहीं आयी कि मेरी मराठी में गलतियां होती है। एक बार लखनऊ में स्वातंत्र्यवीर सावरकर का भाषण था। मुझे उसकी रिपोर्ट लेकर भेजने के लिए कहा गया। वह भाषण हिंदी में हुआ था। मैंने अपनी टूटी–फूटी मराठी में वह भेजा। पर 'केसरी' में वह, सावरकर जी जैसी मराठी बोलते थे, वैसी भाषा में छपा और हमारे प्रतिनिधि के द्वारा इस रूप में उसका श्रेय मुझे दिया गया। मेरे पत्रकार जीवन की यह एक विडंबना है कि जब मुझे मराठी बिलकुल नहीं आती थी तब तो मेरी मराठी के संबंध में

किसी ने कोई शिकायत नहीं की, पर जब मेरी मराठी काफी सुधर चुकी थी तब कुछ संपादकों ने मेरी मराठी भाषा के संबंध में कई बार नाक—भौं सिकौंडे थे।

पुराने संपादकों का अपने सहयोगियों के साथ कैसा व्यवहार होता था, इस संबंध में श्री करंदीकर जी का ही मुझे स्मरण आता है। पर उसका समय काफी आगे का स्वाधीनता के बाद का है। मैंने पत्रकार के रूप में दिल्ली में रहना प्रारंभ कर दिया था। मैं राजधानी में 'केसरी' का प्रतिनिधि भी था। १९५० के अंत में नासिक में कांग्रेस का अधिवेशन होने वाला था। सरदार वल्लभभाई पटेल का समर्थन जिन्हें प्राप्त था वे श्री पुरुषोत्तमदास टंडन कांग्रेस के अध्यक्ष चुने गए थे और जिन्हें प. नेहरू का समर्थन प्राप्त था, वे आचार्य कृपलानी पराजित हो गए थे। स्वभावतः इस अधिवेशन में पत्रकार के नाते जाने की मेरी इच्छा थी। मैंने श्री करंदीकर को लिखा और अपनी इच्छा व्यक्त की। पर उनका तुरंत उत्तर आया। नासिक—पुणे से पास होने के कारण वहीं से किसी को भेजना उचित होगा। व्यवहारिक दृष्टि से उनका निर्णय उचित ही था। पर मैंने फिर उन्हें सूचित किया। 'केसरी' की ओर से नहीं, पर राजनीतिक घटनाओं के संबंध में पत्रकार की दृष्टि से अनुभव प्राप्त करना आवश्यक प्रतीत होने के कारण मैं नासिक जा रहा हूं।

नासिक में 'केसरी' की ओर से श्री माधवराव साने आये थे। उनकी पत्नी के अचानक बीमार होने का तार आया और उन्हें वापस जाना पड़ा। जाते समय उन्होंने मुझसे कहा, वैसी विशेष आवश्यकता तो नहीं है, पर यदि कोई विशेष घटना हो तो आप केसरी को तार भेज दीजिए। उनके जाने के बाद नासिक में मूसलाधार वर्षा हुई और अधिवेशन स्थान पर सब जगह पानी ही पानी हो गया। कुछ समय के लिए सारी व्यवस्था ही बिगड़ गई थी। मैंने यह समाचार भेजा। नासिक अधिवेशन के बाद मैं पुणे गया। मैं केसरी का काम करने नासिक नहीं आया था। अतः केसरी से मुझे किसी प्रकार की आर्थिक अपेक्षा भी नहीं थी। वैसे केसरी के लिए मैंने कुछ विशेष किया भी नहीं था। पर पुणे में श्री तात्यासाहब से मिलते ही उन्होंने कहा, आप दिल्ली से पुणे तक के अपने खर्च का बिल दे दीजिए। बाद के समय में अनेक ऐसी घटनाएं जानता हूं जब संपादकों ने अपने सहकर्मियों का उचित देना भी नकारा है। उन दिनों श्रमजीवी पत्रकारों के लिए कोई कानून नहीं था। पर आज बहुत ही कम दिखाई देनेवाला "मनुष्यता का व्यवहार" उन दिनों जगह—जगह दिखाई देता था।

श्री करंदीकर ने ही मुझे पत्रकार बनाया था। हिंदी पत्रकारिता में भी मुझे एक बड़ा ही सुखद अनुभव प्राप्त हुआ। वह था संपादक अपने सहकारी को संकट के समय किस प्रकार संरक्षण देता है। स्वाधीनता मिलने के वर्ष—दो—वर्ष पूर्व की बात है। मैं इलाहाबाद के हिंदी दैनिक "भारत" में संवाददाता के रूप में काम कर रहा था। पत्र के संपादक श्री बलभद्र मिश्र थे जो देखने में बहुत ही ढीलेढाले प्रतीत होते थे। एक दिन समाचारपत्र के कार्यालय में अलाहाबाद के डी. एस. पी. श्री मुहम्मद अब्दुला तनतनाते हुए आये। १९४२ का आंदोलन बहुत ही कठोरता के साथ दबाने के लिए श्री अब्दुला का नाम काफी

बदनाम था। उन दिनों बेसिक ट्रेनिंग स्कूल के एक शिक्षक श्री दुर्लभ भाई त्रिवेदी की उन्होंने अक्षरशः चमड़ी उधेड़ दी थी। मैं उन्हें जानता इसलिए था कि उसके पहले से ही मैं उन्हें हिंदी पढ़ाने जाता था। जेल से बाहर आने के बाद पं. नेहरू ने जब श्री त्रिवेदी पर हुए अत्याचारों की कहानी सुनी तो वे गुस्से में यहां तक कह गए कि स्वाधीनता के बाद पहला काम होगा कोतवाली के चौराहे पर अब्दुल्ला को फांसी पर लटकाने का। यह बात दूसरी है कि स्वाधीनता के बाद उनकी और पदोन्नति हो गई।

श्री अब्दुल्ला ने चिल्लाकर संपादक जी से पूछा––आज के 'भारत' में पुलिस के खिलाफ जो खबर छपी है वह किसने दी है? समाचार मेरा ही था और इस प्रकार था, "नगर में जगह–जगह जुआ चल रहा है किंतु पुलिस के हफ्ते बंधे होने के कारण उस ओर जानबूझकर वह ध्यान नहीं दे रही है।" श्री अब्दुला जानते थे कि वह समाचार मेरा है। पर वह संपादक जी के मुंह से मेरा नाम कहलाना चाहते थे। लेकिन संपादक श्री बलभद्र प्रसाद मिश्र ने बहुत ही शांति के साथ कहा, 'पत्र पर संपादक के रूप में मेरा नाम है। प्रकाशित हुए हर समाचार की जिम्मेदारी मेरी है। समाचार सच समझकर ही हम उसे प्रकाशित करते हैं। पर यदि आप उसे झूठ कहते है तो आपका ऐसा कहना है, यह भी छाप देगें, लिखकर दे दीजिए। "श्री अब्दुला लिखकर तो दे नहीं" सकते थे। वे चुपचाप चले गए। इस प्रकार मुझ पर आया संकट संपादक जी ने टाल दिया।

मेरा उत्साह बढ़ा और मैंने उसी दिन दूसरा समाचार दिया 'हमारे समाचार से पुलिस बेचैन हो उठी है और आज उसने जुएं के एक छोटे अड्डे पर छापा मारा है। पर बड़ा अड्डा पहले की तरह ही चल रहा है। निश्चिय ही श्री अब्दुला मुझ पर और नाराज हुए होंगे। बाद में उन्होंने मुझे एक हिंदू–मुस्लिम दंगे में फंसाने का प्रयत्न भी किया था। मुझे श्री जगतनारायण नामक पुलिस सब इंस्पेक्टर से इशारा मिला। मैं वहां से हटा और बच गया। एक बार मेरे हाथ से ऐसा समाचार निकल गया था जिसमें न्यायालय का अपमान होता था। न्यायालय के निर्णय के कारण जो स्थिति पैदा हुई थी, मैंने ठीक उसके विपरीत समाचार दिया था। पर संपादक जी ने मुझे एक शब्द भी नहीं कहा और सारी जिम्मेदारी अपने ऊपर ले ली। यह हुई पत्रकार बनने की मेरी प्रारंभिक कहानी।

पं. जवाहरलाल नेहरू के संबंध में पत्रकारिता का मेरा पहला अनुभव। मैं हिंदी दैनिक 'भारत' में ही था। १९४२ के बाद, पर स्वाधीनता के कुछ पूर्व का समय। पं. नेहरू जेल से छूट चुके थे। कांग्रेस ने रावी नदी के किनारे पूर्ण स्वतंत्रता का जो प्रस्ताव पास किया था, उसकी स्मृति के रूप में राष्ट्रवादी पत्र २६ जनवरी को "स्वतंत्रता अंक" निकाला करते थे। "भारत" के एक ऐसे विशेष अंक के लिए पं. नेहरू का संदेश लाने की जिम्मेदारी मुझ पर डाली गई। तब तक पं. नेहरू प्रधानमंत्री नहीं बने थे। लेकिन पत्रकारों की दुनिया में एकदम नीचे की सीढ़ी पर बैठे हम जैसे लोगों के मन में उनके संबंध में कुछ भय समाया हुआ था। उन दिनों भी यह प्रसिद्ध था कि वे काफी गुस्सैल

है। पर आयी जिम्मेदारी को टाला नहीं जा सकता था। वह मेरी योग्यता में कमी समझी जाती और उसका मेरी नौकरी पर भी प्रतिकूल परिणाम हो सकता था।

एक दिन सुबह लगभग दस बजे पं. नेहरू के 'आनंद भवन' बंगले पर मैं पहुंचा। उस समय वहां लोगों की बहुत आवाजाही नहीं थी। पं. नेहरू ऊपरवाले कमरे में थे। शायद कुछ पढ़ लिख रहे होंगे। मैंने एक नौकर के हाथ एक कागज पर अपना और पत्र का नाम लिखकर चिट्ठी भेजी और बुलाये जाने की प्रतीक्षा में मैं नीचे बरामदे में पड़ी एक कुर्सी पर बैठ गया। बहुत देर हो गई, पर बुलावा नहीं आया। मन में सवाल उठा कि बुलाया ही नहीं गया और वैसे ही वापस लौटना पड़ा तो समाचारपत्र के कार्यालय में क्या बताऊंगा। क्या मेरी उस बात पर कोई विश्वास करेगा कि मैं पं. नेहरू से मिल भी न सका। और यदि विश्वास हो भी जाए तो उन सबका मेरे बारे में क्या ख्याल होगा।

इतने में पं. नेहरू के घर काम करने वाले हरी नाम हरिजन सेवक का ध्यान मेरी ओर गया। पत्रकार के रूप में वह मुझे पहचानता था। मैंने उसे बुलाया और अचानक स्मरण आया हो, ऐसा दिखाते हुए कहा "हरी भैया । आज तुम्हारा नाम अखबार में छपा था।" 'शायद हरी को वह बात ज्ञात नहीं' थी और हरी के द्वारा कोई प्रशंसनीय काम किए जाने के लिए भी वह छपा नहीं था। किसी गिरोह के द्वारा हरी की जेब पर हाथ साफ करने का वह समाचार था। पर वह शायद इसी में खुश था कि उसका नाम समाचारपत्रों में छपा है। उसने मुझसे पूछा, "पंडित जी से आपकी भेंट हुई या नहीं?" मैंने बताया कि चिट्ठी भेजकर बहुत देर से प्रतीक्षा कर रहा हूं। उसने कहा, "अच्छा, मैं देखता हूं।" उसके ऊपर जाने के थोड़ी ही देर बाद पं. नेहरू के निजी सचिव पं. शिवदत्त उपाध्याय नीचे आये। उनसे भी मेरा पूर्व परिचय था। मुझे देखते ही उन्होंने कहा, अच्छा तो आप हैं। वे ऊपर गए और उसके तुरंत ही बाद प. नेहरू सीढ़ियां दनदनाते हुए नीचे उतरे। मुझे देखते ही उन्होंने कहा, "माफ कीजिए। आपकी चिट मिली थी। पर पुस्तक पढ़ने में लगा होने के कारण मैं भूल गया। पं. नेहरू के मुंह से 'माफ कीजिए' यह शब्द निकलने के कारण मेरा घबराया हुआ मन कुछ संभल ही रहा था और यह आशा भी बनने लगी थी कि संदेश प्राप्त करने का मेरा काम शायद हो जाएगा। पर दूसरे ही क्षण पं. नेहरू की आवाज काफी ऊंची हो गई और उन्होंने कहा, कहिये, क्या काम है? मैं एकदम ठंडा पड़ गया। फिर साहस बटोरकर कहा, "स्वतंत्रता अंक के लिए आपका संदेश चाहिए था।" कांग्रेस द्वारा आयोजित सभाओं में उपस्थित रहने के कारण वे 'भारत के संवाददाता' के रूप में मुझे जानते थे।

पं. नेहरू की आवाज और तेज हो गई, "यह क्या बदतमीजी हैं? (नाराज होने पर उनके मुंह से निकलनेवाला उनका यह तकिया कलाम था। मैं अब किस–किस को संदेश दूं? उन्होंने जर्मनी, ब्रिटेन, फ्रांस से प्रकाशित होने वाले दर्जनों समाचारपत्रों के नाम लिए। मेरे होश और गुम हो गए। लगा कि अब तो खाली हाथ ही वापस लौटना पड़ेगा। पर फिर कुछ साहस बटोरा और कहा, 'पंडित जी। आपने इतना कुछ कहा है, जिसमें से

अधिकांश संदेश के समान ही है। पं. नेहरू का तापमान कुछ नीचे आ गया और उन्होंने कहा, 'ठीक है। उसी में से कुछ ले लीजिए। मेरी हिम्मत और बढ़ी और मैंने तुरंत कहा, हमने तो आपको तंग किया ही न होता, उसी में से कुछ ले लिया होता। पर हम आपकी देवनागरी लिपि जनता के सामने लाना चाहते है। 'नेहरू जी की आवाज एकदम नीचे आ गयी और उन्होंने कहा, अच्छा। तो आप मेरी देवनागरी लिपि दिखाना चाहते हैं। अच्छी बात है। रूकिये थोड़ी देर। उन दिनों ब्लाक बनाने की दृष्टि से एक खास प्रकार की स्याही और कलम लगा करती थी। मैं उसे साथ ले गया था। उसे आगे करते ही पं. नेहरूजी ने कहा, नहीं इसकी जरूरत नहीं। मेरे पास है। पन्द्रह मिनट में ही पं. नेहरू का संदेश मेरे हाथ आ गया। साफ दिखाई दे रहा था कि अक्षर बना बनाकर लिखने का प्रयास किया गया है।

भाषायी समाचारपत्र यद्यपि अब काफी महत्व के बन गए हैं। पर आज भी अंग्रेजी समाचारपत्र ही देश पर छाए हुए हैं। उन दिनों भाषायी समाचारपत्र का उल्लेख कर अंग्रेजी समाचारपत्र में कोई समाचार प्रकाशित होना लगभग असंभव बात थी। १९४२ का आंदोलन समाप्त होकर लगभग दो साल बीत चुके थे। कांग्रेस के बड़े नेता जेल से छूटे नहीं थे। हमारे कानों तक यह बात पहुंची थी कि ब्रिटिश सरकार कुछ दूसरी श्रेणी के नेताओं को साथ लेकर लोकप्रतिनिधियों की सरकार बनाने का प्रयास अंदर–अंदर कर रही है। डॉ. कैलाशनाथ काटजू उत्तर प्रदेश के नेता थे। पर उस राज्य का मुख्यमंत्री पद उन्हें कभी भी प्राप्त नहीं हुआ। (केंद्र से राज्यों में मुख्यमंत्री भेजने की शुरुआत बाद में उन्हीं से हुई। उन्हें पं. रविशंकर शुक्ल की मृत्यु के बाद मध्य प्रदेश का मुख्यमंत्री बनाया गया था। उक्त अफवाह के कारण मैंने डॉ. काटजू से भेंट की। 'भारत' में वह भेंटवार्ता प्रकाशित हुई। भेंटवार्ता में उनकी भूमिका यही थी कि बड़े नेता जब तक जेल में हैं, राज्यों में मंत्रिमण्डल बनाना उचित नहीं है। यह भेंटवार्ता अंग्रेजी दैनिक 'लीडर' में भी प्रकाशित हुई। प्रसिद्ध पत्रकार श्री सी. वाई. चिंतामणि का वह पत्र था, पर उनकी मृत्यु के बाद उस पत्र का स्वामित्व बिरला के हाथ आ गया था। उस समय 'लीडर' के संपादक भी श्री सुब्रह्मण्यम थे। वे 'हिन्दुस्तान टाइम्स' से भेजे गए थे। उन्होंने 'भारत' का हवाला देते हुए उस भेंटवार्ता को प्रकाशित किया और बाद में उस पर एक संपादकीय भी लिखा। उसमें भी 'भारत' की भेंटवार्ता का उल्लेख करते हुए इस रहस्य का उद्घाटन किया कि डॉ. काटजू ही मंत्रिमण्डल बनाने के लिए सरकार से गुप्त बातचीत कर रहे हैं। इसके लिए उन्होंने उनकी कड़ी आलोचना भी की। भाषायी विवाद के युग में आज तो यह आश्चर्य की बात प्रतीत होगी कि दक्षिण भारतीय श्री सुब्रह्मण्यम हिंदी पत्र में प्रकाशित समाचार का उल्लेख कर उसे महत्व दें और उस पर संपादकीय लिखें। पर यह समय ही कुछ अलग था।

उस समय के नेताओं में भी यह आदत थी कि वे अपने दल की भूमिका के प्रति आग्रही होने से और सच–झूठ का विचार किये बिना उसी भूमिका को दुहराते जाते थे।

उन दिनों उत्तर प्रदेश में श्री विश्वंभर दयालू त्रिपाठी नामक फॉरवर्ड ब्लॉक के एक नेता थे। फॉरवर्ड ब्लॉक का यह दावा था कि नेताजी सुभाषचंद्र बोस जीवित है और वे आज नहीं तो कल अवश्य ही प्रगट होंगे। मैंने एक दिन श्री त्रिपाठी से पूछा, 'क्या आपको सचमुच ऐसा लगता है कि नेताजी जीवित है और वे वापस आयेंगे। इस पर उन्होंने कहा, देखो, मैं फॉरवर्ड ब्लॉक का हूं और इसलिए यदि पूछते हो तो मेरा दृढ़ मत है कि वे जीवित हैं और शीघ्र ही प्रगट हो जायेंगे। पर यदि केवल त्रिपाठी के रूप में पूछते हो तो सच कहता हूं, मुझे कोई जानकारी नहीं है। मैंने स्वभावत: यह समाचार दिया कि फॉरवर्ड ब्लाक के नेता श्री त्रिपाठी जी का विश्वास है कि नेताजी जीवित है और जल्द ही प्रगट होंगे।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के संबंध में इधर जितनी चर्चा होती है उतनी उन दिनों नहीं होती थी। पर कांग्रेस के प्रमुख नेताओं को संघ के संबंध में उन दिनों भी जानकारी थी। इलाहाबाद जिला कांग्रेस कमेटी वे अध्यक्ष श्री विश्वंभरनाथ पाण्डे ने, जो बाद में राज्यसभा के नामजद सदस्य और फिर उड़िसा के राज्यपाल भी बने, एक बार मुझसे कहा कि पं. नेहरू कहते हैं कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की विचारधारा उन्हें पसंद नहीं है। पर युवकों का संगठन राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की तरह ही होना चाहिए। किंतु श्री पाण्डे ने कभी भी सार्वजनिक रूप से यह नहीं कहा कि संघ का संघटना अच्छा है। बल्कि कई बार आलोचना ही की। मैं 'भारत' में जो समाचार देता था उसमें श्री विश्वंभर नाथ पाण्डे का नाम अक्सर आ जाता था। इलाहाबाद के दूसरे कांग्रेसी नेता इस बात पर नाराज भी थे और उनका कहना था कि मैं पाण्डे जी को अनावश्यक रूप से महत्व दे रहा हूं। बात कुछ सच थी। पर मेरी भी कुछ बेबसी थी। मेरी पत्रकारिता के प्रारंभिक दिनों में मुझे उन्हीं से समाचार मिला करते थे, जिसकी मुझे बहुत आवश्यकता थी। उन्हीं समाचारों में उनका नाम भी छप जाता था।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के संबंध में उत्तर प्रदेश के कांग्रेसी नेता श्री पुरुषोत्तमदास टंडन का दृष्टिकोण बिलकुल अलग था। गांधी हत्याकाण्ड के बाद की घटना है। मैं राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ में था। उस पर प्रतिबंध लगने के बाद पूरे देश में जो धरपकड़ हुई, उसमें मेरा भी समावेश था। उन दिनों अफवाहों का बाजार तो गरम रहता ही था। मैं जब जेल में था, मेरी पहली पत्नी को किसी ने गलत समाचार दे दिया। वह यह था कि मुझे गांधी हत्याकाण्ड में पकड़ा गया है और इस कारण मुझे दिल्ली के लालकिले ले जाया गया है। वह अधिक पढ़ी–लिखी नहीं थी और घर में देखने–भालने वाला भी और कोई नहीं था। उसे इस समाचार से जो धक्का लगा उसे वह सहन न कर सकी और वह बीमार पड़ गई। मैं नैनी सेंट्रल जेल में ही था। किसी प्रकार मुझे खबर मिली। स्वाभाविक रूप से चिंता हुई और में पैरोल पर बाहर आया। पत्नी की हालत काफी बिगड़ चुकी थी। उसके बचने की कोई उम्मीद नहीं थी। उसे उसी स्थिति में छोड़कर जेल जाने का साहस भी मुझमें नहीं था। मेरे एक वरिष्ठ पत्रकार मित्र की सरकारी क्षेत्रों में जो जान पहचान

थी, उसका उपयोग कर मैंने अपनी रिहाई करा ली और उस परिस्थिति में जितना संभव था, पत्नी की दवादारू करने की व्यवस्था में लग गया। घर में दो छोटे बच्चे भी थे।

एक दिन सुबह पुलिस अचानक घर आयी और मुझे आदेश दिया गया कि मैं तुरंत दो हजार रुपए की जमानत दूं। रुपयों की व्यवस्था करना तो मेरे लिए असंभव ही था। विचार करने लगा कि उस वातावरण में मेरे लिए कौन जमानत दे सकेगा। जमानत न देकर फिर से जेल जाने का विचार भी मैं नहीं कर पा रहा था। पत्नी को मृत्यु के द्वार पर छोड़कर जाने का साहस मुझमें नहीं था। मेरे पड़ोस में बिजली का सामान बेचने वाला एक व्यापारी था। उसकी दुकान में हजारों रुपयों का माल पड़ा था। जमानत देने के लिए वह तैयार भी था। पर उसका कोई उपयोग नहीं था क्योंकि जमानत देने वाले की अचल सम्पत्ति ही होनी चाहिए थी। श्री टंडन जी से अच्छा परिचय होने के कारण मैं उनके पास गया। उन्हें सारी घटना बतायी पहले तो उन्होंने आश्चर्य प्रगट करते हुए कहा, 'तुम्हारे बारे में ऐसा हुआ?' फिर वे कुछ विचार करने लगे और उन्होनें उस समय की इलाहाबाद शहर कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष श्री राधेश्याम पाठक को टेलीफोन कर तुरंत आने के लिए कहा। उनके आते ही उन्होंने कहा, 'इनकी जमानत का इंतजाम करना है। टंडन जी की बात पाठक जी के लिए आदेश था। वे इन्कार कर ही नहीं सकते थे। वैसे वे मुझे भी जानते थे। उसी समय श्री टंडन जी ने श्री राधेश्याम पाठक से एक बात और कही। उन्होंने कहा, "ध्यान रखो, यह तुमसे और मुझसे भी अधिक राष्ट्रीय हैं।" जमानत की व्यवस्था हो गई और मैं अपनी पत्नी का साथ उसकी मृत्यु तक दे सका। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के संबंध में श्री टंडन जी की राय बुरी नहीं थी। पर तब तक सार्वजनिक रूप से उन्होंने वैसा कहा नहीं था। गांधी हत्या के बाद भी उन्होंने संघ के बारे में कभी कोई बुरी बात नहीं कही।

मैं राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ में था और आज भी दूसरी किसी भी संस्था से अधिक संघ और संघ नेताओं के प्रति मेरे मन में आदर है। पर इसी के साथ यह भी सच है कि सभी बातों पर स्वतंत्र रूप से विचार करने की पत्रकारिता की मेरी प्रवृत्ति के कारण संघ जीवन के साथ मेरा कभी सामंजस्य नहीं बैठ सका। संघ में आये कुछ अजीब अनुभव भी इसका कारण हो सकते हैं। पत्नी की मृत्यु के बाद मैंने इलाहाबाद छोड़ा। कुछ दिन दिल्ली में संघ के हिंदी दैनिक 'भारतवर्ष' में काम किया। प्रतिबंध हटाने के लिए संघ के नेताओं ने सत्याग्रह करने का निर्णय किया और 'भारतवर्ष' बंद कर दिया गया। सत्याग्रह की अवधि में संघ के एक प्रमुख प्रचारक श्री एकनाथ रानडे जी के मार्गदर्शन में काम किया। नागपुर से संघ का एक साप्ताहिक 'युगधर्म' प्रकाशित होता था। प्रतिबंध हटने के बाद मुझे वहां काम करने के लिए जाने को कहा गया। यही मेरी कुछ संघ नेताओं से नहीं बनी।

नागपुर में किसी संघ शाखा पर कोई छोटा–मोटा कार्यक्रम था। उस कार्यक्रम के लिए मैं और 'युगधर्म' का काम देखने वाले मेरे दूसरे सहयोगी श्री गिरीशचंद्र मिश्र गए

थे। समारोह में उस काल की दृष्टि से लोगों की उपस्थिति अच्छी थी। बाद में उस कार्यक्रम के संबंध में बोलते हुए संघ के एक प्रमुख कार्यकर्ता श्री बच्छराज व्यास ने हमसे कहा कि बहुत लोग थे। कम से कम पांच हजार तो होंगे ही। पर हम दोनों पत्रकारों की दृष्टि से वह संख्या एक हजार से अधिक नहीं होगी। हमने उनके अंदाज को गलत बताया। पर उन्होंने कहा कि फिर भी आप 'युगधर्म' में पांच हजार की ही संख्या लिखिये। हम दोनों ने ही उनकी इस बात को मानने से इन्कार किया। वे इससे हम पर कुछ नाराज भी हुए।

१९२५ में विजयादशमी दशहरा के दिन राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की स्थापना हुई थी। १९४९ में उसकी पच्चीसवी वर्षगांठ थी। अब तक संघ का क्रमबध्द, सुसंगत प्रतीत हो ऐसा कोई इतिहास नहीं लिखा गया था। मेरे भीतर जो पत्रकार छिपा था उसने मुझे प्रेरणा दी कि २५ वर्ष के होने के संदर्भ में संघ का क्रमबद्ध इतिहास लिखा जाय। संघ का सत्याग्रह खत्म हो जाने के बाद और उस पर से प्रतिबंध हटने से पहले के काल में मैंने संघ की विचारधारा पर प्रकाश डालने के उद्देश्य से श्री एकनाथ रानडे जी के आदेश पर श्रीगुरुजी का जीवन चरित्र लिखा था और वह प्रकाशित भी हुआ था। उन दिनों संघ के प्रकाशनों का कार्य श्री बालासाहब देवरस देखते थे। मैंने उनके सामने अपने विचार रखे। उन्होंने कहा, अच्छी कल्पना है। संघ के संबंध में प्रारंभ से सब जानकारी श्री

कृष्णराव मोहरील के पास है। वह उनसे पूछ लीजिए। पर उसमें से किस जानकारी का उपयोग किस प्रकार किया जाए इस संबंध में विवेक आपको अपना बरतना होगा।

मैंने श्री कृष्णराव मोहरील से जानकारी ली और अपनी क्षमता के अनुसार संघ का क्रमबध्द इतिहास लिखा। उस समय के 'युगधर्म' के आठ पृष्ठों में वह इतिहास छपा था। उस पर लेखक के रूप में मेरा नाम तो था ही, साथ में एक टिप्पणी भी थी, "लेखक और प्रकाशक की अनुमति के बिना लेख का पुनर्मुद्रण, अनुवाद आदि नहीं किया जा सकेगा।" इस टिप्पणी का भी एक कारण था। मैंने श्री गुरुजी का जो चरित्र लिखा था, उस पर इस प्रकार की कोई टिप्पणी नहीं दी थी। इससे हुआ यह कि संघ पर से प्रतिबंध हटते ही कई प्रकाशकों ने उसका पुनर्मुद्रण किया और पैसा कमाया। ऐसा फिर से न हो सके, इसलिए सावधानी बरतने का यह एक प्रयत्न मात्र था। पर परिणाम कुछ और ही हो गया। जिस दिन 'युगधर्म' का उक्त अंक प्रकाशित हुआ उसके दूसरे दिन संघ से संबंधित गोपाल प्रिंटिग प्रेस में विजयादशमी के निमित्त पान–सुपारी का कार्यक्रम था। निमंत्रित होने के कारण मैं भी गया था। मैं वहीं था, तभी सरसंघचालक श्री गोलवलकर गुरुजी वहां आये। उनके साथ श्री कृष्णराव मोहरील भी थे। मुझे देखते ही श्रीगुरुजी ने कहा, यह खुब हुई। सब कुछ कृष्णराव मोहरील का, पर लेख पर नाम इनका। उन्होंने उस समय संस्कृत का एक सुभाषित भी कहा, 'येन–केन प्रकारेण प्रसिध्द: पुरुषो भवेत'। मुझे वहा बैठने में भी घुटन–सी महसूस हुई। इतिहास लिखनेवाला कई जगह से जानकारी प्राप्त करता है। पर वह जो लिखता है वह उसी का समझा जाता है। जिसने जानकारी दी है उसका वह लेख समझा जाय यह तर्क मेरी समझ में न तब आया और न अब आता

है। श्री कृष्णराव मोहरील ने लेख लिखाया भी नहीं था। पूछने पर कुछ जानकारी दी थी। श्री कृष्णराव मोहरील ने उस समय स्वयं कुछ नहीं कहा। पर मुझे ऐसा लगा कि वे मेरी ओर इस दृष्टि से देख रहे हैं जैसे मैंने कोई अपराध किया है।

उसी दिन हो या उसके दूसरे दिन, संघ के अखिल भारतीय बौध्दिक प्रमुख श्री बाबासाहब आपटे ने मुझसे कहा कि 'युगधर्म' के अगले अंक में यह भूल सुधार छपना चाहिए कि वह लेख श्री कृष्णराव मोहरील का था। मैंने उनसे कुछ नहीं कहा। पर मैं श्री बालासाहब देवरस से मिला और उन्हें वह सब बताया जो इस सिलसिले में हुआ था। अंत में मैंने कहा, पत्र आपका है। उसमें आप जो चाहे प्रकाशित कर सकते हैं। पर श्री आपटे जी ने जो भूल सुधार सुझाया है वह यदि किया गया तो मैं 'युगधर्म' में काम नहीं कर सकूंगा। श्री बालासाहब देवरस ने उस समय जो कुछ कहा उसमें से आज इतना ही स्मरण है कि, इंदूरकरजी जो कुछ हुआ है, उसे भूल जाइये और आप अपना काम कीजिए। इसके बाद मैं जब तक नागपुर में था, 'युगधर्म' मे किसी प्रकार का भूल सुधार नहीं छपा था। पर कुछ दिनों के बाद श्री एकनाथ रानडे जी से इस विषय पर बात हुई। उन्होंने कहा, आपका स्वभाव कुछ अलग है। आप यहां नहीं जम सकते। स्वतंत्र पत्रकार के रूप में ही जीवन में आगे बढ़ने का आप प्रयत्न कीजिए। उन्हीं की सलाह मानकर मैंने अगला कदम उठाया। राजधानी दिल्ली अपना कार्यक्षेत्र चुना।

राजधानी के सरकारी विभागों में पत्रकार के रूप में काम करने के लिए सरकार द्वारा स्वीकृति आवश्यक होती है। उसे अक्रिडीटेशन कहा जाता है। मैं पुणे केसरी का प्रतिनिधित्व लेकर ३० अप्रैल, १९५० को दिल्ली पहुंचा। मेरा जिससे विशेष परिचय हो, ऐसा राजधानी में कोई नहीं था। राजधानी का वातावरण मेरे लिए बिल्कुल नया था। मन में यह संदेह बराबर बना हुआ था कि इस वातावरण में मैं अपने आपको कहा तक जमा पाऊंगा। इलाहाबाद वे मेरे संपादक श्री बलभद्र प्रसाद मिश्र ने राजधानी में पत्र सूचना विभाग के एक प्रमुख अधिकारी श्री माधो प्रसाद के नाम एक परिचय—पत्र दिया था और उसमें मुझे आवश्यक सहायता करने का अनुरोध था। माधोप्रसाद जी कुछ समय तक श्री मिश्र के सहयोगी थे। दिल्ली आने तक मेरी पोशाख पूर्णतः भारतीय ढंग की थी। धोती, खादी का नेहरू ढांचे का कुर्ता और पैर में चप्पल। यही वेशभूषा बनाये रखने का मेरा विचार था।

पत्र सूचना विभाग में सरकारी मान्यता प्राप्त करने के आवश्यक प्रार्थना पत्र दिये जा चुके थे। पर मान्यता देने का निर्णय नहीं हो रहा था। वह शीघ्र हो, इस दृष्टि से मैंने सोचा कि श्री माधोप्रसाद से मिल लिया जाय। वे अपने कमरे में ही है यह देखकर मैंने उनके कमरे का दरवाजा खोला और अंदर गया। कुछ बहुत बड़ी गड़बड़ी हो गई हो, इस प्रकार वे मुझ पर चिल्लाए, 'गेट आऊट'। अधिक तमाशा न होने देने की दृष्टि से मैं बाहर चला आया। मन बहुत ही खिन्न हो गया। मन में विचार आया, अपनी यहां कैसे निभ सकती है। फिर सोचा, हाथ पैर ठंडे कर काम नहीं चलेगा। उन्होंने मुझे कमरे के

बाहर जाने के लिए क्यों कहा? मुझमें क्या कमी थी? ध्यान में एक बात आयी। यहां का वातावरण ऊपरी टीमटाम का अधिक है। रहन—सहन पश्चिमी ढंग का है। अधिकांश सरकारी कर्मचारी सूट—बूट में ही दिखाई देते है। यदि यहां जमना हो तो रहन—सहन भी कुछ उसी ढंग का करना पड़ेगा। तुरंत चांदनी चौक गया। एक पैंट और बुशशर्ट खरीदी। उसे पहनकर दूसरे दिन फिर श्री माधोप्रसाद के कमरे का दरवाजा खोलकर कमरे में घुसा। शायद मेरे बदले कपड़ों ने कुछ जादू कर दिया था। उन्होंने मुझे मुस्कुराते हुए बुलाया। सामने की कुर्सी पर बैठने के लिए कहा। श्री बलभद्र मिश्र का पत्र देने पर उन्होंने मेरा काम करने का आश्वासन भी दिया। मेरे लिए उन्होंने चाय भी मंगवायी। श्री माधोप्रसाद उस समय पत्र सूचना और आकाशवाणी विभाग के प्रमुख सूचना अधिकारी का काम देख रहे थे। एक बार प्रधानमंत्री पं. नेहरू के साथ पत्र सूचना तथा आकाशवाणी मंत्री श्री बालकृष्ण केसकर दौरे पर गए थे। इस संबंध में उन्होंने जो प्रेस नोट निकाला उसमें कहा गया था, पत्र सूचना तथा आकाशवाणी मंत्री श्री केसकर प्रधानमंत्री पं. नेहरू के साथ आज दौरे पर रवाना हो गए। जब किसी ने उनसे कहा कि इसमें प्राथमिकता उलट गई है तो उन्होंने कहा, मेरा काम सूचना मंत्री के प्रचार का है। मैं प्रधानमंत्री को प्राथमिकता क्यों दू? मुझे श्री माधोप्रसाद के व्यवहार से सिर्फ इस बात का ज्ञान हुआ कि उस समय के अधिकारी वर्ग पर वेशभूषा के संबंध में पश्चिमी संस्कृति का भूत कहा तक सवार था। वह बाद में भी कम होने की बजाए बढ़ता ही गया है।

इधर पत्रकारों की आर्थिक स्थिति में काफी कुछ सुधार हुआ है। पर मैं जब दिल्ली आया तब दिन कुछ अलग थे। 'केसरी' ने मुझे हर महीने ७५ रुपए देना स्वीकार किया था। पर उतने से दिल्ली का खर्च पूरा पड़नेवाला नहीं था। मैं 'वीर अर्जुन' में कुछ समय काम करने लगा था और जब 'वीर अर्जुन' के संपादक श्री रामगोपाल विद्यालंकार 'नवभारत टाइम्स' के संपादक बने तब मैं 'नवभारत टाइम्स' के लिए भी कुछ लिखने लगा। उसके भी कुछ पैसे मिलने लगे। इस बीच १९५१ में मेरा दूसरा विवाह भी हो गया था। पहले दो बच्चों की जिम्मेदारी तो थी ही। पर कुछ दिन में 'वीर अर्जुन' आर्थिक कारणों से बंद हो गया और खर्च में कटौती करने के नाम पर 'नवभारत टाइम्स' प्रकाशित करने वाली कम्पनी 'बेनेट कोलमेन' के जनरल मैनेजर श्री जे. सी. जैन ने बाहर के लेख आदि लेने पर रोक लगा दी और मेरी वह आय भी बंद हो गई। रुपए पैसे की दृष्टि से बड़ी ही कठिन परिस्थिति पैदा हो गई।

इन्हीं दिनों 'इण्डियन एक्सप्रेस' के श्री रामनाथ गोयनका ने 'जनसत्ता' नामक हिंदी दैनिक निकाला था। उसके पहले संपादक थे साम्प्रदायिक दंगों के शहीद स्वामी श्रद्धानंद के सुपुत्र श्री इन्द्र विद्यावाचस्पति। संभवत: श्री रामगोपाल विद्यालंकारजी ने ही मेरा नाम उन्हें सुझाया होगा। उन्होंने मुझे बुलाया और 'जनसत्ता' के राजधानी के संवाददाता के रूप में काम करने के लिए कहा। वेतन तीन सौ रुपए महीना और पचास रुपए वाहन खर्च। संकट टल जाने की खुशी हुई। पर श्री रामनाथ गोयनका के संबंध में मैंने पहले

बहुत कुछ सुना था। अत: मैंने इन्द्र जी से कहा, नियुक्ति पत्र दीजिए। काम प्रारंभ करता हूं। उनकी सलाह थी कि काम शुरू किया जाय। नियुक्ति पत्र बाद में मिल जाएगा। पर मैंने नियुक्ति पत्र का आग्रह किया। उन्होंने कहा, ठीक है। दो एक दिन में वह मिल जाएगा। चार दिन बीत गए पर वह नहीं आया। मुझे चिंता हुई और मैंने श्री इंद्र विद्यावाचस्पति जी को फोन किया। 'उन्होंने बड़ी दबी आवाज में कहा, क्या बताऊं। तुम आओ, फिर सब बताता हूं।'

मिलने पर उन्होंने कहा, तुम्हारे बारे में मेरा निर्णय हो ही चुका था। पर तुममें से ही एक श्री फणीन्द्र वाजपेयी सेठ रामनाथ जी से मिले और उन्होंने उनसे कहा, आप तीन सौ रुपए क्यों देते है। मैं डेढ़ सौ रुपए पर काम करने को तैयार हूं। सेठ जी कहते हैं, जो काम डेढ़ सौ में हो सकता है उसके लिए आप तीन सौ क्यों खर्च करना चाहते हैं। सेठ जी को समझाना बहुत कठिन काम है। मैं यह नहीं कहता कि तुम डेढ़ सौ रुपए में काम करो। पर यदि तुम्हारी तैयारी हो तो मैं तुम्हें ही नियुक्त करना चाहता हूं। उस समय की स्थिति के कारण निर्णय करना बहुत ही कठिन काम था। मैंने उनसे यह कहकर विदा ली कि सोचकर उत्तर दूंगा। बाद में मैं श्री रामगोपाल विद्यालंकार से मिला। उन्हें सब बताकर सलाह पूछी। उन्होंने कहा, मुझे तुम्हारी हालत मालूम है। उससे यह कहने का तो मुझमें साहस नहीं है कि तुम निश्चित वेतन से कम पर काम न करो। पर मुझे एक बात लगती है। आया दिन किसी प्रकार निकल ही जाता है। पर मनुष्य को अपनी कीमत कभी भी कम नहीं करनी चाहिए। मुझे उचित सलाह मिल गयी और मैंने श्री इंद्र विद्यावास्पति को अपना इन्कार सूचित कर दिया।

राजधानी में पत्रकार के रूप में आने के बाद संसद के प्रकोष्ठ में घटी और मेरे मन पर जो आज तक छायी हुई है, ऐसी पहली घटना। २६ जनवरी, १९५० को भारत गणतंत्र घोषित होने के बाद भी श्री बाबासाहब आंबेडकर अस्थायी सरकार में कानून मंत्री थे। पं. नेहरू भी हिंदू कोड बिल बनाना चाहते थे। पर श्री आंबेडकर के मन में उसके संबंध में जो तीव्रता थी वह विभिन्न कारणों से नेहरूजी के मन में नहीं थी। मतभेद चरम सीमा तक पहुंचा और बाबासाहब ने मंत्रिमण्डल से त्यागपत्र दे दिया। जिस दिन उन्होंने मंत्रिमण्डल से हटने का निर्णय अस्थायी संसद में घोषित किया, मैं प्रेस गैलरी में ही था। वे क्रोध में भरे सदन से बाहर निकले और हम कई पत्रकार उनसे दो शब्द बोल सकें, इस इच्छा से सेंट्रल हाल की ओर दौड़े। आज यह तो स्मरण नहीं है कि बाबासाहब ने उस समय क्या कुछ कहा। पर उस समय क्रोध से तमतमाया हुआ उनका चेहरा आज भी आंखों के सामने है। उस समय भी सेंट्रल हाल में फोटो लेने पर प्रतिबंध था। पर आज ऐसा लगता है कि काश! यदि प्रतिबंध न होता तो शायद श्री आंबेडकर जी का तमतामाया हुआ वह चेहरा किसी फोटोग्राफर ने अवश्य खींच लिया होता और वह भारत के राजनीतिक इतिहास का अमूल्य धरोहर बन जाता।

डॉ. बाबासाहब आंबेडकर के साथ मेरा प्रत्यक्ष संबंध केवल एक ही बार आया। वे मुझे बहुत ही तीखी जुबान के, पर उतने ही सचेत और सतर्क नेता प्रतीत हुए। नागपुर के 'तरूण भारत' ने मुझे उनसे एक भेंटवार्ता लेने के लिए कहा था। मैंने टेलीफोन पर समय निश्चित किया और उनसे मिलने गया। उनके बंगले पर बड़ी भीड़ थी। मैंने कुछ प्रश्न तैयार किये थे। वह कागज मैंने उनके हाथ दिया। उन्होंने प्रश्नों का उत्तर तो नहीं दिया पर लगभग सभी नेताओं की तीखी आलोचना करना शुरू किया। उनके कुछ शब्द ऐसे थे जो लिखे भी नहीं जा सकते थे। पर मैं अपनी वह भेंट बेकार नहीं जाने देना चाहता था। घंटे डेढ़ घंटे उनकी बातें सुनने के बाद मैंने कहा, आपने जो कुछ कहा है, उसके आधार पर मैं भेंटवार्ता तैयार करता हूं। पर बाबासाहब ने कहा, 'नहीं। छापने के लिए भेंटवार्ता वगैरह कुछ नहीं। पर मैं अपना आग्रह छोड़ने को तैयार नहीं था। मैंने फिर कहा, मैं भेंटवार्ता तैयार करता हूं और आपको दिखाने के लिए लाता हूं। उसमें से आप जो उचित न समझे उसे निकाल दे। पर बाबासाहब ने कहा, उसमें छापने लायक कुछ भी नहीं था। श्री बाबासाहब आंबेडकर ने घंटे डेढ़ घंटे में मुझसे जो कुछ कहा वह भाषा की दृष्टि से कदाचित प्रकाशित करने लायक न हो, पर मुझे उसी समय यह अनुभव हो गया था कि उसमें उनकी अंतरात्मा की व्यथा थी। उनके अंदर की आग बाहर निकल रही थी।

पहला आमचुनाव और राज्य पुनर्रचना

१९५० के अंत में नासिक कांग्रेस का अधिवेशन होने की चर्चा मैं पिछले परिच्छेद में कर चुका हूं। लोहपुरुष माने जाने वाले सरदार पटेल के जीवन में कांग्रेस का यह अंतिम अधिवेशन था। जैसा कि मैं कह चुका हूं कि नेहरूजी की इच्छा के विरूध्द श्री टण्डन कांग्रेस के अध्यक्ष चुने गए थे, अत: नेहरू जी और उनके गुट का टण्डन जी पर तो रोष था ही, उससे भी अधिक रोष, जिनके बल पर वे जीते थे, उन सरदार पटेल पर था। यह तो मुझे स्मरण नहीं है कि अधिवेशन में किस प्रस्ताव पर चर्चा हो रही थी पर इतना अवश्य याद है कि रफी गुट के लोग सरदार पटेल की परोक्ष रूप से बड़ी आलोचना कर रहे थे। ऐसे वक्ताओं में मुझे श्री केशवदेव मालवीय का नाम आज भी याद है। इससे पूर्व संसद की प्रेस गैलरी से मैंने सरदार पटेल को देखा तो था, पर बहुत ही निकट से उन्हें देखने का मेरा यह पहला ही अवसर था। वे मंच पर रखी एक छोटी—सी चौकी पर चादर ओढ़के पलथी मारकर चुपचाप बैठे हुए थे। उनकी काफी बड़ी आलोचना हो रही थी, पर ऐसा लगता था कि वे उसे अनसुनी कर रहे थे। जब काफी कुछ कहा जा चुका, मैंने देखा कि श्री. स. का. पाटिल बोलने के लिए खड़े हुए। बाद में मैंने उनके कई भाषण सुने हैं। पर उनका यह सबसे छोटा भाषण मेरे स्मृतिपटल पर सदा के लिए अंकित हो गया। उन्होंने कहा, 'यह न समझा जाए कि इस मंच से अभी जो कुछ कहा जा रहा है, उसका अर्थ हम नहीं समझ रहे है। और इसीलिए चुप बैठे है। हम भी जैसे को वैसा जबाब दे सकते हैं। पर हमने जिनका नेतृत्व स्वीकार किया है, वे नहीं चाहते कि हम कुछ जवाब दें। उन्हें लगता है कि हमारे जवाब से कांग्रेस टूट जाएगी और वह देश के हित में नहीं होगा। कांग्रेस को टूटने से सरदार पटेल ने उस समय तो बचा लिया पर वे उस समय यह कहां जानते थे कि उनकी कांग्रेस कुछ वर्षो बाद टूटने ही वाली है और उसका साधन बनेगी पं. नेहरू की सुपुत्री श्रीमती इंदिरा गांधी।

श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन हिंदी के समर्थक थे। उनके संबंध में कुछ क्षेत्रों में शायद एक भ्रम था कि वे इसलिए हिंदी का आग्रह करते हैं कि उन्हें अंग्रेजी नहीं आती। पर नासिक अधिवेशन में उन्होंने अपना भाषण तो हिंदी में पढ़ा ही, उसका अंग्रेजी अनुवाद भी उन्होंने स्वयं किया था, और वह भी स्वयं ही पढ़ा। मेरे पास पत्रकार कक्ष में महाराष्ट्र के प्रसिद्ध पत्रकार, नाटककार और लेखक प्राचार्य प्रल्हाद केशव अत्रे बैठे हुए थे। वे टण्डन जी का अंग्रेजी भाषण सुनकर दंग रह गए। उन्होंने कहा, मैं नहीं जानता था कि हिंदी का इतना आग्रह करनेवाला व्यक्ति इतनी अच्छी अंग्रेजी लिख और बोल सकता है।'

पं. नेहरू और सरदार पटेल के बीच मतभेदों की अनेक कहानियां मैंने सुनी हैं। पर मैं दिल्ली सन १९५० में आया और उसके बाद सरदार पटेल के अधिक दिनों तक जिवित न रहने के कारण मुझे उसकी प्रत्यक्ष जानकारी नहीं है। परंतु ऐसी अनेक घटनाएं

घटी हैं। जिनसे प्रतीत होता है कि पं. नेहरू के मन में सरदार पटेल के संबंध में कुछ गांठ बनी थी। सरदार पटेल की मृत्यु के बाद पं. नेहरू ने पहला कदम उठाया। उन्होंने सरदार पटेल के बल पर कांग्रेस के अध्यक्ष चुने गए श्री टंडन की कार्यकाारिणी की सदस्यता से इन्कार कर कांग्रेस संगठन को कांग्रेसी सरकार के प्रधानमंत्री के सहयोग से वंचित कर दिया। उसका परिणाम श्री टण्डन जी के त्यागपत्र में हुआ। उस समय और कोई कांग्रेस का अध्यक्ष बनने को तैयार नहीं था, अतः पं. नेहरू ही प्रधानमंत्री पद के साथ कांग्रेस के अध्यक्ष भी बन गए। यही से कांग्रेस संगठन दुर्बल होना शुरू हुआ। वैसे देखा जाय तो टण्डन जी ने अध्यक्ष पद से जो कदम उठाए थे वे संगठन को अधिक मजबूत और दलीय लोकतंत्र को बढ़ावा देने वाले रहे। उन्होंने अपनी कार्यकारिणी में केंद्रीय मंत्रियों की अपेक्षा प्रदेश कांग्रेस के अध्यक्षों को अधिक प्रतिनिधित्व दिया था। यह कहा जा सकता है कि टण्डन जी ने त्यागपत्र क्यों दिया। वे पं. नेहरू के साथ कांग्रेस के अध्यक्ष पद से संघर्ष कर सकते थे। वैसे भी वे पं. नेहरू की इच्छा के विरूद्ध ही कांग्रेस के अध्यक्ष बने थे। मुझे लगता है कि इसका एकमात्र कारण यही था कि वे भी सरदार पटेल की तरह कांग्रेस की एकता बनाये रखना चाहते थे। पर पं. नेहरू ने उस समय जो कदम उठाये उससे कांग्रेस कमजोर होती गई और आगे चलकर टूटी। उसे नाशिक अधिवेशन में सरदार पटेल का चुपचाप गालियां सुनना न बचा सका और न ही टण्डन जी का त्यागपत्र। यह भी कहा जा सकता है कि यदि कांग्रेस उसी समय टूट जाती तो शायद देश का आगामी इतिहास कुछ और ही बनता। टण्डन जी पर हो रहे अन्याय को बर्दाश्त न कर सकने के कारण उस समय के मध्यप्रदेश के गृहमंत्री पं. द्वारका प्रसाद मिश्र में कांग्रेस छोड़कर जन कांग्रेस बनायी थी। उस समय के विवाद में मध्यप्रदेश के मुख्यमंत्री पं. रविशंकर शुक्ल ने श्री टण्डन जी का जो साथ दिया था, उसे भी पं. नेहरू न भूल सके। उनकी स्थिति कुछ कमजोर होते ही उन्होंने १९५७ के चुनाव के समय उन्हें बताया कि अब आपको टिकट नहीं दिया जाएगा। वे उस झटके को सहन न कर सके। वृद्धावस्था के कारण उनका शरीर तो कुछ दुर्बल हो ही गया था, मानसिक आघात से दिल्ली में ही अचानक उनकी मृत्यु हो गई।

पं. नेहरू की इस प्रवृत्ति का दूसरा उदाहरण श्री काकासाहब गाडगिल का है। वे खुलेआम कहते थे कि मैं सरदार गुट का हूं। १९५२ के चुनाव के बाद उन्हें मंत्रिमण्डल में नहीं लिया जायगा, इसकी आशंका उन्हें स्वयं तो थी ही नहीं, दूसरों को भी नहीं थी। पर पं. नेहरू ने उन्हें मंत्रिमण्डल में नहीं लिया। इसके दो कारण उस समय बताये जाते थे। काकासाहब को गप मारने तथा बहुत सारे कार्य का श्रेय स्वयं लेने की आदत थी। इसका एक उदाहरण उनका यह कहना बताया जा सकता है कि पं. नेहरू को रहने के लिए तीनमूर्ति बंगला मैंने दिया। इसमें उनका संबंध होने की बात केवल इतनी थी कि वे उस समय लोककर्म विभाग के मंत्री थे। दूसरा आरोप यह था कि उनके विभाग में भ्रष्टाचार बढ़ा है। कोई साफ–साफ यह तो नहीं कहता था कि काकासाहब पैसा लेते हैं, पर अप्रत्यक्ष रूप में वैसा सुझाया अवश्य जाता था। उन पर लगे गप मारने के आरोप को मैं

झूठ नहीं कह सकता। पर लम्बी–चौड़ी बातें करना तो राजनीतिक नेताओं का स्वभाव ही होता है। कुछ की गप्पे खुल जाती हैं तो कुछ की नहीं। पर ऐसा नहीं लगता कि केवल इसीलिए उन्हें मंत्रिमण्डल से अलग रखा गया। भ्रष्टाचार का आरोप अधिक गंभीर है। पर इस संबंध में मेरी एक बार श्री काकासाहब से ही बात हुई थी। उन्होंने बताया कि मैंने आज तक किसी से एक पैसा भी नहीं लिया। एक बार किसी का एक नियमित काम जो फाइलों में अटका था, वह मेरे कारण हो गया। वह मुझे ५०० रुपए देने लगा। मैंने उसे कहा, देना ही हो तो दिल्ली के बृहन्महाराष्ट्र भवन को दान के रूप में दो। कदाचित एक बात और हो सकती है। काकासाहब खुले स्वभाव के नेता थे और उनका घर सभी के लिए खुला था।

महाराष्ट्र में उनके राजनीतिक विरोधी भी दिल्ली में आकर उन्हीं के घर ठहरा करते थे। हो सकता है कि उनके घर आकर रहने वालों में से किसी ने कुछ अनुचित लाभ उठाया हो। पर मुझ पर तो आज तक यही असर है कि श्री काकासाहब गाडगिल को पटेल गुट के होने के कारण ही १९५२ के चुनाव के बाद मंत्रीपद से वंचित रखा गया था। संसदीय कांग्रेस दल ने सरदार पटेल का मृत्यु दिन मनाना भी बहुत देर में शुरू किया। उन दिनों मैंने सुना था कि कांग्रेस संसदीय दल ने जब सरदार पटेल की पहली पुण्य–तिथि मनाने का जब निश्चय किया तब पं. नेहरू ने कहा कि उनके पास समय कहा है?

दूसरे आम चुनाव के बाद की एक घटना है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि श्री काकासाहब गाडगिल ने गलत ढंग से पैसा नहीं कमाया था। वे उस समय पंजाब के राज्यपाल थे। दिल्ली में मराठी नाट्य परिषद का अधिवेशन था। 'महाराष्ट्र टाइम्स' के भूतपूर्व संपादक श्री. द्वा.भा. कर्णिक उन दिनों दिल्ली में रहते थे और केसरी का प्रतिनिधित्व करते थे। संयुक्त महाराष्ट्र की स्थापना नहीं हुई थी पर बड़े द्विभाषी बम्बई राज्य के मुख्यमंत्री श्री यशवंतराव चव्हाण बन चुके थे। श्री कर्णिक के कारण उस नाट्य परिषद में स्वागत समिति के कोषाध्यक्ष के रूप में मैं खींचा गया। स्वागताध्यक्ष थे सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश श्री गजेन्द्र गडकर। अधिवेशन के लिए उस समय की बम्बई सरकार से तेरह हजार रुपए का अनुदान मिलने वाला था। स्वागत समिति की एक बैठक में प्रारंभिक खर्च के लिए रुपयों की व्यवस्था करने का प्रश्न उठा। मैंने सुझाया कि पदाधिकारी अपने पास से पांच–पांच सौ रुपया दे दें और बम्बई सरकार से पैसा मिलते ही उसे वापस ले लें। पर श्री गजेन्द्रगडकर जी को मेरा विचार पंसद नहीं आया। उन्होंने ही सुझाया कि काकासाहब को ही इस संबंध में पूछा जाए। मेरी समझ में यह नहीं आ रहा था कि दिल्ली में होने वाले मराठी नाट्य परिषद के अधिवेशन से काकासाहब का कोई संबंध न होने पर भी उन्हें क्यों कष्ट दिया जाए। काकासाहब उन दिनों दिल्ली में ही थे। श्री गजेन्द्र गडकर जी ने ही उनसे टेलीफोन पर पूछा और काकासाहब ने कहा कि दो हजार रुपए की अस्थायी व्यवस्था वे करा सकते है। श्री गजेन्द्रगडकर की भी स्थिति ऐसी थी कि वे

चाहते तो स्वयं दो हजार रुपए की व्यवस्था कर सकते थे। खैर, रुपए लाने का काम मुझ पर सौंपा गया। मैं पंजाब हाऊस गया। काकासाहब ने बृहन्महाराष्ट्र भवन ट्रस्ट से एक हजार रुपए का चेक दिलवाया और एक हजार रुपए का चेक स्वयं अपने पास से दिया। अपना चेक देते हुए उन्होंने मुझसे कहा, "गंगाधर, मैं पैसे वाला आदमी नहीं हूं। यह जिम्मेदारी तुम्हारी होगी कि मेरा यह रूपया वापस मिल जाय।" मैंने स्वीकृति दी और बम्बई सरकार से पैसा आते ही उन्हें वह वापस भी कर दिया। आगे चलकर मुझे यह देखकर दु:ख हुआ कि काकासाहब का पैसा मैंने वापस कर दिया, इसलिए श्री गजेन्द्रगडकर जैसे बड़े लोग भी मुझ पर कुछ नाराज हो गये थे। मुझे कभी भी ऐसा नहीं लगा कि काकासाहब की प्रवृत्ति कालाधन बनाने वाले व्यक्ति की थी।

१९५२ का पहले आमचुनाव होने वाले था। तब तक मेरी 'नवभारत टाइम्स' में नियुक्ति नहीं हुई थी। पर प्रवृत्ति पत्रकारिता की ही थी। अत: अपने ही खर्च से चुनाव में कुछ घुमने का निश्चय किया। इलाहाबाद का होने का कारण मुझमें वहां का चुनाव देखने का आकर्षण तो था ही, परंतु भारत के प्रधानमंत्री और महात्मा गांधी के राजनीतिक उत्तराधिकारी पं. नेहरू इलाहाबाद के फुलपुर निर्वाचन क्षेत्र से खड़े हुए थे। इसलिए भी मैं वहां गया। वे उन दिनों जनसाधारण में बहुत ही लोकप्रिय थे और उन्हें युवक का हृदय सम्राट भी कहा जाता था। उन्होंने यह निश्चय किया था कि चुनाव प्रचार के लिए वे अपने निर्वाचन क्षेत्र में नहीं जायेंगे। उन दिनों हिंदू कोड बिल पर दोनों ओर से चर्चा चल रही थी। यह भी प्रचार हो रहा था कि पं. नेहरू के मन में हिंदुओं की भावनाओं की कोई कीमत नहीं है। उस निर्वाचन क्षेत्र से पं. नेहरू के विरूद्ध श्री प्रभुदत्त ब्रम्हचारी नामक एक साधु खड़े हुए थे। पं. नेहरू के चुने जाने में किसी के मन में कोई संदेह नहीं था। पर कांग्रेस कार्यकर्ताओं की यह स्वाभाविक इच्छा थी कि पं. नेहरू के विरूद्ध खड़े होने वाले व्यक्ति की जमानत जब्त हो जानी चाहिए। श्री प्रभुदत्त ब्रम्हचारी के संबंध में धार्मिक लोगों में काफी श्रद्धा थी। उन्हें लोग 'बाबा' नाम से पुकारते थे। पं. नेहरू के प्रमुख एजेंट थे राय अमरनाथ अग्रवाल। वे इलाहाबाद के एक बड़े रईस थे। उन्हें बड़ी कोठीवाला भी कहा जाता था। बाबा का मुख्य आधार गंगा के उस पार झूंसी (पुराना नाम प्रतिष्ठानपुर) नामक गांव में रहनेवाले श्रद्धालु मल्लाह थे। गंगा के इस पार दारागंज नाम का मोहल्ला था और वहां रहने वाले मल्लाहों के ठेकेदार राय अमरनाथ अग्रवाल थे।

बाबा के बढ़ते प्रभाव के कारण कांग्रेस के क्षेत्रों में कुछ चिंता पैदा हुई। पं. नेहरू अपने हठ पर दृढ़ थे कि वे अपने निर्वाचन क्षेत्र में नहीं जायेंगे। अंत में उनके निर्वाचन क्षेत्र में पं. नेहरू का प्रचार करने के लिए डॉ. कैलाशनाथ काटजू ने घूमने का निश्चय किया। उनकी प्रचार सभाओं में मुख्य बल हिंदू कोड पर होता था। वे कहा करते थे, मैं कांग्रेस में हूं और हिंदू भी हूं। देखिये, मेरे माथे पर चंदन का कितना बड़ा टीका है। मैं जब तक कांगेस में हूं हिंदू कोड बिल पास हो ही कैसे सकता है।

मतदान के दिन मैं इलाहाबाद में ही था। थोड़ा बहुत घुमा भी। उन दिनों कश्मीर के मुख्यमंत्री शेख मोहम्मद अब्दुल्ला थे और नेहरू के साथ उनकी बिगड़ी नहीं थी। उन्होंने पं. नेहरू का काम करने के लिए कश्मीरी युवतियों का एक दल इलाहाबाद भेजा था। मैंने उस समय उनमें से कई के चित्र भी लिए थे। उन दिनों यह बताया गया कि ये युवतियां देहाती मतदाताओं के हाथ पकड़कर उन्हें पं. नेहरू को मत देने के लिए कहती थी। तरुण और सुंदर युवतियों द्वारा पुरुषों का हाथ पकड़कर उनसे कुछ कहना उन दिनों आश्चर्य की बात थी। बाबा के आश्रम स्थल झूंसी में एक और ही दृश्य दिखाई दिया। आजकल के दिनों में इन बातों का विशेष महत्व नहीं प्रतीत होगा, पर उन दिनों वे अवश्य विचित्र लगी।

इलाहाबाद विश्वविद्यालय के विद्यार्थी पं. नेहरू के लिए काम कर रहे थे। झूंसी में मतदान के समय मतदान केन्द्र की ओर जाने वाले रास्ते पर वे खड़े थे। कोई ग्रामीण जाता था तो उसे डपटकर पूछते थे, किसे वोट दोगे? 'पंडित जी को', यह उत्तर यदि उसने दिया तो वे कुछ नहीं बोलते थे। पर यदि उसने कहा, 'बाबा को' तो ये विद्यार्थी जोर से चिल्लाते थे, 'पुलिस'। पास में जो पुलिस थी वह वैसे करती कुछ भी नहीं थी, पर पुकार सुनकर पुलिस के सिपाही उस ओर देखते अवश्य थे। गैर पढ़ेलिखे ग्रामीण व्यक्ति के होश–हवाश उड़ाने के लिए इतना कम से कम उन दिनों काफी था। पर हम सबके बावजूद भी श्री प्रभुदत्त ब्रम्हचारी को इतने मत मिल ही गए कि उनकी जमानत जब्त नहीं हो सकी।

श्री बाबासाहब आंबेडकर की तरह डॉ. श्यामाप्रसाद मुखर्जी भी लोकसभा के चुनाव के पूर्व ही मंत्रिमण्डल से हट गये थे। १९५२ में हुए चुनाव में वे फिर से चुनकर भी आये थे। डॉ. मुखर्जी बहुत ही प्रभावशाली वक्ता थे। उन दिनों भी चुनाव में कुछ गलत बातें होती थी और उसकी संसद में चर्चा भी होती थी। एक दिन डॉ. मुखर्जी हम कुछ पत्रकारों से सेंट्रल हॉल में अनौपचारिक चर्चा कर रहे थे। उन्होंने हमसे कहा, आज पंडित नेहरू उबल पड़ेंगे। उसी दिन प्रश्नोत्तर के घंटे के बाद राष्ट्रपति के अभिभाषण पर हुई चर्चा में उन्होंने हाल के चुनाव में जगह–जगह जो गलत बातें हुई थी। उसका ब्यौरा लोकसभा के सामने प्रस्तुत किया। डॉ. श्यामाप्रसाद मुखर्जी बहुत ही प्रभावशाली वक्ता थे। उनका भाषण गंगा की तेज प्रवाह की तरह प्रतिपक्ष के भवन की एक–एक ईंट गिराता जाता था। वे जो तर्क प्रस्तुत कर रहे थे, उसके कारण हो या उनके प्रभावशाली वक्तृत्व के कारण हो, उनका भाषण लोकसभा के सभी सदस्य तो ध्यान लगाकर सुन ही रहे थे, सभी दर्शक दीर्घाए भरी थी और सभी दर्शकों के कान भी उसी भाषण की ओर लगे थे। लोक सभा पर उनके भाषण का बहुत ही अधिक प्रभाव पड़ रहा था। वह कम करने के उद्देश्य से हो अथवा डॉ. मुखर्जी के भाषण में पं. नेहरू ने वैसा वाक्य सुना हो, वे एकदम गुस्से में आ गये। उन्होंने मेज पर जोर से हाथ पटका और आवेश के साथ कुछ कहने लगे। पं. नेहरू का यह रूप देखते ही दूसरे कांग्रेसी सदस्यों द्वारा भी शोरगुल करना

स्वाभाविक ही था। उसका प्रतिवाद करने के लिए विपक्ष के सदस्य भी चिल्लाने लगे। कुछ देर तक तो ऐसा लगा कि सभा भवन को सिर पर उठा लिया गया है। उस समय लोक सभा के अध्यक्ष श्री दादासाहेब मावलंकर थे।

सभा भवन में कुछ शांति होने पर शोरगुल का कारण प्रगट हुआ। वह यह था कि डॉ. मुखर्जी ने अपने भाषण में चुनाव में पैसा और स्त्रियों का उपयोग (मनी एण्ड वूमन) किये जाने का आरोप लगाया था और उसमें भी 'स्त्रियों का उपयोग' इस शब्द का प्रयोग पर पं. नेहरू को स्वाभाविक रूप से क्रोध था। पर डॉ. मुखर्जी का कहना था कि मैंने पैसा और शराब (मनी एण्ड वाईन) इन शब्दों का प्रयोग किया है। स्त्री शब्द का प्रयोग नहीं किया। पर पं. नेहरू का कहना था कि नहीं, मुखर्जी ने वही शब्द कहा है।

अंत में यह निश्चय हुआ कि भोजन के घंटे के बाद डॉ. मुखर्जी के भाषण का रिकार्ड देखा जाय। जब वह देखा गया, रिकार्ड में मनी एण्ड वाईन (पैसा और शराब) यही शब्द प्रयोग था। पं. नेहरू ने गलत सुनने के लिए डॉ. मुखर्जी से काफी मांगी और वह बात यही 'समाप्त हो गई। पर आज भी नहीं कहा जा सकता कि संसदीय इतिहास में हुए इस अभुतपूर्व शोरशराबे का कारण क्या था? पं. नेहरू ने सचमुच वह गलत सुना था या डॉ. मुखर्जी के प्रभावशाली भाषण का असर कम करने के लिए पं. नेहरू ने वह सफल अभिनय किया था अथवा १९५२ के चुनाव में उनके निर्वाचन क्षेत्र में कश्मीरी युवतियां लाये जाने की ओर यह संकेत है, ऐसा समझकर वे वास्तव में चिढ़ उठे थे? इनमें से सच क्या था, कुछ नहीं कहा जा सकता।

अब तो जाति और धर्म चुनाव का प्रमुख अंग बन गया है। १९५२ के चुनाव के समय कम से कम आमतौर पर यह स्थिति नहीं थी। पर उत्तर प्रदेश की ही एक घटना उन दिनों कानों पर आयी। समाजवादी कांग्रेस से अलग हो चुके थे। १९५२ का चुनाव भी उन्होंने लड़ा। फैजाबाद निर्वाचन क्षेत्र से समाजवादी नेता आचार्य नरेंद्र देव खड़े थे और कांग्रेस के टिकट पर एक रचनात्मक कार्यकर्ता श्री बाबा राधवदास को खड़ा किया गया था। इसी निर्वाचन क्षेत्र में अयोध्या भी है जो भगवान राम की जन्मभूमि कहलाती है और वहा रामभक्त साधु आज भी बहुत रहते हैं। उस समय भी वे थे ही । चुनाव प्रचार के संबंध में उन दिनों एक छोटा–सा पर्चा बंटा जिसमें एक छोटा–सा रूपक छपा हुआ था। रूपक था स्वर्ग में भगवान राम के दरबार का। भगवान राम–सीता के साथ सिंहासन पर विराजमान है। लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न पास में ही खड़े हैं। हनुमान जी, जाबवंत तथा सैंकड़ों भक्त हाथ जोड़े खड़े हैं। कुछ देर रघुपति राघव राजाराम का कीर्तन होता है और फिर भगवान राम अपने भक्तजनों को सम्बोधित करते हैं। वे कहते हैं, "भक्तों, पृथ्वी पर इस समय एक चुनाव हो रहा है। उसमें एक और राजाओं का राजा नरेंद्र देव अर्थात रावण खड़ा है तो दूसरी और बाबा राघवदास अर्थात मेरा दास खड़ा हुआ है। इस बारे में आपके मन में संदेह होगा कि जीत किसकी होगी। मैं चाहता हूं कि जीत बाबा राघवदास की ही होनी चाहिए।" चुनाव में बाबा राघवदास जी जीते। उसमें इस पर्चे ने कितनी

सहायता की, यह तो मैं नहीं कह सकता। पर इतना अवश्य लगता है कि चुनाव के निमित्त आम जनता की धार्मिक भावनाओं को उभारने की शुरुआत पहले चुनाव से ही हुई। आचार्य नरेन्द्र देव उन दिनों भी एक महान नेता थे। उनके विरूद्ध इस प्रकार का पर्चा निकालने का साहस छोटे—मोठे कांग्रेसी नेता को नहीं हो सकता था। उस समय उत्तर प्रदेश का नेतृत्व पं. गोविंद वल्लभ पंत के हाथ था। क्या उन्हीं की सम्मति से यह पर्चा निकला था?

५ नवम्बर, १९५२ को 'नवभारत टाइम्स' में मेरी नियुक्ति हुई। उन दिनों पत्र का स्वामित्व सेठ रामकृष्ण डालमिया के हाथ था। पाकिस्तान विरोधी भावनाओं का ही वह जमाना था। पाकिस्तान छोड़कर आने वाले शरणार्थियों का प्रश्न सामने था। अल्पसंख्यकों पर पाकिस्तान में जो अत्याचार होते थे, उनहें सुनकर मन में तूफान उठता था। मैं 'नवभारत टाइम्स' में 'राजधानी की डायरी' नामक स्तम्भ लिखता था। संपादक श्री रामगोपाल विद्यालंकार ने मेरी नियुक्ति ही इसलिए की थी कि मैं राजनीतिक विषयों पर भी स्वतंत्र रूप ये हिंदी में लिखता था। मेरे पहले श्री वी. वी. प्रसाद नामक पत्रकार यह स्तम्भ अंग्रेजी में लिखते थे और उसका हिंदी में अनुवाद होता था। मैं भी उन दिनों पाकिस्तान पर काफी लिखता था और पाकिस्तान की कड़ी आलोचना भी करता था। इससे पत्र की खपत भी बढ़ रही थी।

एक दिन श्री रामगोपाल विद्यालंकार ने मुझे अपने कमरे में बुलाया और कहा, आज सेठ जी ने बुलाया था। उनका कहना है कि पाकिस्तान के संबंध में भारत का ही व्यवहार अन्यायपूर्ण है। पाकिस्तान के खिलाफ आप 'नवभारत टाइम्स' में जो लिखते हैं वह सब तुरंत बंद कीजिए। मेरे सामने सवाल था कि अब क्या किया जाए? मेरी नौकरी कुछ महीने पहले ही शुरू हुई थी। मैं कुछ अधिक कह भी नहीं सकता था। मैंने कहा, पंडित जी आप जैसा कहें वैसा किया जाय। सेठ रामकृष्ण डालमिया गोहत्या पर प्रतिबंध की मांग करने वाले और हिंदू सभा के विचारों के समर्थक थे। इस दृष्टि से तो उन्हें पाकिस्तान विरोधी ही होना चाहिए था। पर पाकिस्तान में उनके कुछ कारखाने रह गए थे और उसमें उन्हें काफी आर्थिक हानि हो रही थी, अत: उनका भारतीय नेताओं पर तो रोष था ही, पं. नेहरू पर उन्हें विशेष क्रोध था। श्री रामगोपाल जी ने कुछ विचार करने के बाद कहा, 'आप अपने लिखने के ढंग में कोई परिवर्तन न कीजिए। मैं केवल उन्हें भड़कीले शीर्षक नहीं दूंगा। ये बड़े आदमी सारा समाचार तो पढ़ते नहीं, केवल शीर्षक देखते हैं। इस पद्धति को स्वीकार करने से पाठकों को उन्हें प्रिय प्रतीत होने वाले समाचार भी मिलेंगे, पत्र की खपत भी कम नहीं होगी, और सेठ जी को नाराज होने का भी अधिक अवसर न मिलेगा। हुआ भी वही। कुछ समय बाद श्री विद्यालंकार जी को सेठ जी ने पत्र के संपादक पद ने हटा अवश्य दिया। यह एक दूसरी कहानी है। पर उक्त घटना के बाद पाकिस्तान विरोधी लेखन के लिए उन्होंने कभी भी शिकायत नहीं की।

यह चर्चा में पहले कर चुका हूं कि पं. नेहरू की सरदार पटेल से बनती नहीं थी। सरदार पटेल की मृत्यु के बाद उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री पं. गोविंद वल्लभ पंत को दिल्ली लाने तक पं. नेहरू को कोई अच्छा गृहमंत्री नहीं मिला था। सरदार पटेल के बाद भूतपूर्व गवर्नर जनरल चक्रवर्ती राजगोपालाचारी भी कुछ समय तक गृहमंत्री थे। पर विचारधारा के कारण पं. नेहरू और उनकी पटरी कभी नहीं बैठी। वे बहुत ही बुद्धिमान थे। अपनी हां में हां न मिलाने वालों के साथ पं. नेहरू की पटरी बैठना संभव नहीं था। श्री राजगोपालाचारी के बाद कुछ समय तक डॉ. कैलाश नाथ काटजू भी गृहमंत्री रहे। वे बहुत ही प्रसिद्ध वकील तो थे, पर उनकी बातों और उनके व्यवहार के कारण लोग उन पर नाराज ही अधिक हुए। भारत ने अंग्रेजी शासनकाल की जो कानून व्यवस्था स्वीकार की, उसकी नींव एक विशिष्ट विचारधारा पर थी। सौ गुनहगार छूट जायें तो भी कोई हर्ज नहीं, पर एक भी बेकसूर व्यक्ति को सजा नहीं होनी चाहिए। मुझे डॉ. काटजू के एक पत्रकार सम्मेलन का स्मरण है। उसमें उन्होंने एक नया सिद्धांत प्रतिपादित किया। वह यह था कि कुछ बेकसूर लोगों को सजा हो जाय तो भी उसमें कोई हर्ज नहीं, पर एक भी अपराधी छूटना नहीं चाहिए। उस समय उनके इस कथन पर पत्रकार काफी नाराज हो गए थे। इसके अतिरिक्त सरकारी काम करने की उनकी प्रणाली भी कुछ अजीब थी। वे अपने पास आयी सरकारी फाइलों पर जल्दी निर्णय नहीं लेते थे। वे अपनी इस पद्धति का समर्थन भी करते थे। वे कहते थे कि फाइल कुछ दिन दबा देने से संबंधित प्रश्नों में कुछ का निर्णय अपने आप इस ओर से उस ओर हो जाता है। बाद में निर्णय करने के लिए प्रश्न कम से कम बचते हैं।

दो गृह मंत्रियों का अनुभव लेने के बाद पं. नेहरू ने उत्तर प्रदेश के उस समय के मुख्यमंत्री पं. गोविंद वल्लभ पंत को गृहमंत्री के रूप में दिल्ली लाने का निश्चय किया। वैसे उत्तर प्रदेश की राजनीति में पं. नेहरू के खास आदमी समझे जाने वाले श्री रफी अहमद किदवाई से पं. पंत की राजनीतिक शत्रुता थी। सरदार पटेल के जीवनकाल में तो वे उनके ही गुट के व्यक्ति समझे जाते थे। विचारधारा की दृष्टि से वे टण्डन जी के निकट थे। पर पटेल की मृत्यु के बाद टण्डन जी के साथ जब नेहरूजी का संघर्ष हुआ तब पं. गोविन्द वल्लभ पंत ने नेहरू जी का साथ दिया था। स्वाधीनता के पहले उत्तर प्रदेश की कांग्रेस की राजनीति में जो मतभेद थे, उन्हें पं. नेहरू की पत्नी कमला और उनकी बहन श्रीमती विजयालक्ष्मी पंडित के मतभेद के कारण ननद—भौजाई के झगड़े की राजनीति कहा जाता था। उसमें पं. पंत कमला नेहरू के साथ और श्री किदवाई श्रीमती पंडित के साथ समझे जाते थे। उन दिनों यह भी चर्चा थी कि पं. पंत को केन्द्र में लाया गया तो श्री रफी अहमद किदवाई को उत्तर प्रदेश का मुख्यमंत्री बनने के लिए भेजा जाएगा। पर संभवत: उत्तर प्रदेश की राजनीति में अपने पैर जमाये रखने की दृष्टि से पंत जी इसके लिए तैयार नहीं हुए और किदवाई उत्तर प्रदेश नहीं जा सके। श्री सम्पूर्णानंद को उत्तर प्रदेश का मुख्यमंत्री बनाया गया। श्री सम्पूर्णानंद का श्री किदवाई गुट के साथ तो कोई सम्बन्ध था ही नहीं। स्वाधीनतापूर्वकाल में वे पं. नेहरू के कड़े आलोचक थे।

एक बार उन्होंने लिखा था कि इस व्यक्ति को यदि नियंत्रण में नहीं रखा गया तो वह सबसे बड़ा तानाशाह हो सकता है, अस्तु।

पं. गोविन्द वल्लभ पंत बहुत ही बुद्धिमान और ऊंचे दर्जे के सांसद थे। वे संसद में हमेशा एक लय में बोलते थे। हम लोगों ने कभी यह नहीं देखा कि उन्हें क्रोध आया हो और उससे उनकी आवाज तेज हुई हो। स्वाधीनता संग्राम में एक लाठी उनकी गर्दन पर लगी थी उससे उनकी गर्दन अकसर हिलती रहती थी। उससे संसद में ऐसा लगता था कि वे विपक्ष की कोई भी बात मानने को तैयार नहीं हैं। बिना आवाज चढ़ाये वे विपक्षी सदस्यों के तर्कों को काट देते थे। हिंदी और अंग्रेजी दोनों भाषाओं पर उनका समान अधिकार था। वैसे अनेक बातों में पं. नेहरू के साथ उनके विचार नहीं मिलते थे। पर उन्होंने जाहिर तौर पर तो नहीं ही, निजी चर्चा में भी कभी पं. नेहरू का विरोध नहीं किया। इस संदर्भ में एक घटना बतायी जाती है। कई बातों के कारण भारत के संसदीय इतिहास में काफी प्रसिद्ध श्री टी. टी. कृष्णमाचारी ने एक बार पं. पंत को समझाया कि कुछ प्रश्नों के संबंध में पं. नेहरू के विचार कितने गलत हैं। श्री कृष्णमाचारी द्वारा आग्रह किये जाने के कारण उन्होंने उस विषय पर पं. नेहरू से बात करना स्वीकार भी किया। वे उसके निमित्त पं. नेहरू के पास गए भी। लौटने पर श्री कृष्णमाचारी ने जब उनसे पूछा तो उन्होंने कहा, 'अरे भाई, जिसकी सब बातें मैं स्वीकार ही करता आया हूं तो अब उसका किसी बात के संबंध में विरोध कैसे कर सकता हूं'।

पं. पंत में एक विशेष गुण था। जो व्यक्ति अपनी ओर नहीं हो, उसे भी अपनी ओर झूका लेना। मुझे भी इसका एक अनुभव मिला। उन दिनों मंत्रियों से मिलना आज की तरह कठिण काम नहीं था। पं. गोविन्द वल्लभ पंत और श्री रफी अहमद किदवाई जैसों के तो रोज दरबार लगते थे। मैं भी लगभग रोज ही हाजिरी लगाता था। और पत्रकार भी जाते थे। पंत जी का दरबार कितना ही खुला हो, पर उनसे ऐसी कोई भी सरकारी बात प्रगट नहीं होती थी जिसे वे बताना नहीं चाहते थे। सरकार जो बताना नहीं चाहती, वह जानकारी प्राप्त करने का प्रयत्न करते समय टेढ़े—मेढ़े प्रश्न पूछना पत्रकारों का काम ही होता है। एक बार हमलोग उन्हें इसी प्रकार छेड़ रहे थे। वे नाराज तो बिलकुल नहीं हुए। पर उन्होंने कहा, 'अरे भाई। तुमको ऐसा लगा ही कैसे कि इस प्रकार टेढ़े तिरछे सवाल पूछकर मुझसे कोई जानकारी पा सकोंगे'?

राजभाषा आयोग की रिपोर्ट पर विचार करने के लिए संसद सदस्यों की एक समिति नियुक्त की गई थी। मैं हिंदी दैनिक 'नवभारत टाइम्स' में काम करता था। अत: इस समिति की बैठकों में हुई चर्चा पाठकों तक पहुंचाना हमें महत्वपूर्ण प्रतीत होता था। हिंदी को राजभाषा के रूप में यद्यपि संविधान ने स्वीकृति दी थी तो भी उसके सम्बन्ध में कुछ लोगों का विरोध बना हुआ था। मैंने समिति के कुछ सदस्यों से संपर्क बना रखा था। हमारे पत्र में बैठक में हुई चर्चा का विस्तृत विवरण छपने लगा। जो नोकझोंक होती थी वह भी मैं छापता था। कम्युनिस्ट और एंग्लो इण्डियन सदस्य श्री फ्रँक अँथनी हिंदी के

कट्टर विरोधी थे। उनके भाषणों के अंश छपने के कारण हिंदी क्षेत्र में भी तनाव बढ़ने लगा। इस संदर्भ में पंत जी ने एक बार मुझे बुलाकर कहा, 'क्या आपको यह मालूम नही है कि संसदीय समिति की कार्यवाही प्रकाशित नहीं की जा सकती, उससे संसद के अधिकार का हनन होता है?' मैं इस प्रश्न के लिए तैयार होकर ही गया था। मैंने तुरंत ही कहा, यह संसदीय समिति नहीं है। संसद सदस्यों की समिति है। उसकी नियुक्ति गृह मंत्रालय ने की है। लोकसभा के अध्यक्ष अथवा राज्य सभा के सभापति ने नहीं की है। उनके द्वारा नियुक्त समिति को ही संसदीय समिति माना जाता है। इस पर पंत जी ने कहा, 'तुम्हारी बात ठीक हो सकती है। पर देश के हित का भी तो कुछ विचार करोगे। तुम्हारे समाचार से लोगों की भावनाएं भड़कती हैं। यह उचित नही है। सबके सहयोग से ही हिंदी व्यवहार में राजभाषा बन सकेगी।' पं. पंत के इस कथन के बाद मैं भी समिति की बैठक के समाचार भड़कीली भाषा में देने की अपनी पद्धति पर कायम नहीं रह सका।

एंग्लो इण्डियन सदस्य श्री फ्रेंक ॲथनी का हिंदी विरोध मैं समझ सकता था, क्योंकि उनके खून में ही कुछ ऐसी बात थी कि वे भारत की राष्ट्रीयता के हर अंग का विरोध कर सकते थे। पर उक्त समिति के कम्युनिस्ट सदस्य, विशेषत: बंगला भाषी सदस्य, हिंदी का विरोध करे, यह बात मेरी समझ में नहीं आती थी। वैसे भी १८५७ के दमन के बाद राष्ट्रीय भावनाओं की पहली ज्योति बंगाल और महाराष्ट्र में जली थी। बीसवी सदी के प्रारंभ में बंगाल के किसी भी नेता ने हिंदी के विरोध में आवाज नहीं उठायी। स्वाधीनता के पूर्व प्रसिद्ध भाषा शास्त्री श्री सुनीति कुमार चटर्जी बंगाल राष्ट्रभाषा प्रचार समिति के अध्यक्ष थे। बाद के दो प्रसिद्ध बंगाली नेता श्री सुभाषचंद्र बोस और श्री श्यामाप्रसाद मुखर्जी को मैंने धड़ल्ले के साथ हिंदी में भाषण करते सुना है। कम्युनिष्ट पार्टी में होने के कारण हिंदी का विरोध तो समझ में ही नहीं आ सकता था, क्योंकि चाहे रूस हो या चीन हो, अनेक प्रादेशिक भाषाएं होते हुए भी उन्होंने राष्ट्रभाषा के रूप में रूसी या चीनी अपनायी थी। उन दिनों मैंने यह भी सुन रखा था कि श्रीमती विजयालक्ष्मी पंडित ने जब रूस में अपने राजदूत होने का प्रमाण पत्र अंग्रेजी में पेश किया तो उस समय उनसे पूछा गया था कि क्या उनके देश की भाषा अंग्रेजी है? रूसी नेताओं के आग्रह पर उन्हें अपना प्रमाण पत्र हिंदी में देने के लिए कहा गया था। 'हिंदी चीनी भाई—भाई' के दौर में चीन के प्रधानमंत्री श्री चाओ—एन—लाई की प्रथम भारत यात्रा मुझे याद है। उनके चीनी भाषण का हिंदी में ही अनुवाद किया गया था। प्रारंभिक दिनों में रूसी नेताओं के संबंध में भी यही बात थी।

संसद के कम्युनिस्ट सदस्यों द्वारा हिंदी विरोध मुझे कुछ अजीब सा लग रहा था। अत: कम्युनिस्ट पार्टी के उस समय के महामंत्री श्री अजय घोष से मैं मिला। उन्होंने मुझसे हिंदी में ही बातचीत की। उन्होंने यह स्वीकार किया कि हिंदी के संबंध में उनकी पार्टी के संसद सदस्यों का व्यवहार पार्टी के सिद्धातों के विरूद्ध है। पर इस सम्बन्ध में कुछ कर सकने में उन्होंने अपने आप को असमर्थ बताया। ऐसा लगता है कि व्यक्ति की व्यावहारिक

सुविधा सिद्धांतों पर हावी हो जाती है। प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू ने हिंदी का विरोध कभी नहीं किया। पर उन्होंने ऐसी व्यवस्थाएं अपनायी, जिससे अंग्रेजी सदा के लिए भारत के जीवन पर छा गई। मेरे विचार में इसका एक मात्र कारण यह था कि वे हिंदी में अपने समस्त विचार प्रगट करने में असमर्थ थे।

हिंदी के विरोध का एक कारण उस समय तो नहीं, अब दिखाई देने लगा है। देश पर हिंदी तो नही छा सकी, पर हिंदी प्रदेशों की राजनीति छायी थी। हिंदी इतर भाषीक प्रदेशों के लोग प्रारम्भ में तो इसे समझ ही नहीं पाये। पर शायद उनके हिंदी विरोध की जड़ में व्यक्तिगत व्यावहारिक सुविधा के अतिरिक्त यह बात भी हो रही हो। जैसा कि मैने कहा हैं पं. गोविन्द वल्लभ पंत बहुत ही चतुर थे। वे जो चाहते थे, उसे करा लेने का उनका तरीका बड़ा ही विचित्र था। राज्य पुनर्रचना आयोग की स्थापना हो चुकी थी। संयुक्त प्रांत अर्थात उत्तर प्रदेश एकभाषी होने पर भी बहुत बड़ा राज्य था। अंग्रेजों ने उसे अवध और ब्रज इन दो विभागों को मिलाकर ही बनाया था। इसीलिए उसे संयुक्त प्रांत कहा जाता था। उस समय विशेष रूप से हिंदी इतर भाषीक क्षेत्रों से यह मांग उठी थी कि उत्तर प्रदेश के कम से कम दो राज्य किये जाएं। इस मांग का कारण स्पष्ट रूप से राजनीतिक था। लोगों का उस समय यह ख्याल था और वह बहुत कुछ अंशों में सही भी था कि उत्तर प्रदेश के बड़े आकार के कारण ही देश की राजनीति उत्तर प्रदेश के नियत्रंण में है। डॉ. श्यामप्रसाद मुखर्जी जैसे लोग तो कहा भी करते थे कि 'इण्डिया दॅट इज भारत, दॅट इज यू.पी.' अब तक भारत के सात प्रधानमंत्री हुए हैं। उनमें से पं. नेहरू, लालबहादुर शास्त्री, इंदिरा गांधी और अब राजीव गांधी उत्तर प्रदेश के ही हैं। नेहरू और लालबहादुर शास्त्री की मृत्यु के बाद श्री गुलजारीलाल नंदा अस्थायी प्रधानमंत्री बने थे। गुजरात के श्री मुरारजी देसाई एक बार प्रधानमंत्री बने, पर विभिन्न कारणों से उनका कार्यकाल बहुत ही थोड़ा था। श्री चरण सिंह भी कार्यकारी प्रधानमंत्री रह पाये। पर उन्हें भी वह स्थान उत्तर प्रदेश की नेता श्रीमती इंदिरा गांधी के बल पर ही मिल पाया और वे स्वयं भी उत्तर प्रदेश के ही थे। जिन दिनों श्रीमती गांधी के बारे में संसद सदस्यों में काफी नाराजी थी, तब भी उन्हें 'हमारी बिटिया' कहकर आत्मीयता से पुकारा जाता था।

ऐसे इस प्रदेश के टुकड़े न होने पाये इसकी व्यवस्था पं. पंत ने बहुत ही चतुराई और सावधानी के साथ की। राज्य पुनर्रचना आयोग के एक सदस्य पं. हृदयनाथ कुंजरू थे जो उत्तर प्रदेश के ही थे। दूसरे श्री पणिक्कर केरल के थे। उनकी राय स्पष्ट थी कि उत्तर प्रदेश बहुत बड़ा होने के कारण उसके छोटे राज्य बनाये जायं। लोग यह पहले से जानते थे और उन्होंने राज्य पुनर्रचना आयोग की रिपोर्ट में अपनी बात स्पष्ट कही भी हैं। आयोग के अध्यक्ष असम के श्री फजल अली थे। उनकी इस संबंध में क्या राय होगी, इसके बारे में कोई अंदाज नहीं था। पर उन दिनों यह खबर फैली थी कि पं. पंत ने श्री फजल अली से एक बार साधारण बातचीत में कहा कि वैसे मेरा कुछ खास कहना नहीं है, पर यदि आयोग ने उत्तर प्रदेश का विभाजन करने का निश्चय किया तो लोग कहेंगे

कि मुसलमान होने के कारण आपने राम और कृष्ण की भूमि के टुकड़े कर दिये। आयोग की रिपोर्ट में उत्तर प्रदेश के विभाजन की शिफारिश नहीं थी। देश का विभाजन हो चुका था। इस पृष्ठभूमि में अपनी राष्ट्रीय और धर्मनिरपेक्षता की प्रतिमा बनाये रखने की इच्छा जिस मुस्लिम नेता को हो, वह इसके अतिरिक्त और कर ही क्या सकता था?

पहले आमचुनाव के बाद राज्य पुनर्रचना के प्रश्न की काफी चर्चा हुई। संभवत: आयोग की रिपोर्ट प्रकाशित होने के बाद की बात है। आयोग ने कन्नड़ भाषी प्रदेश अलग कर उस समय के बम्बई राज्य का महाराष्ट्र और गुजरात का मिलाजुला स्वरूप कायम रखा था। उत्तर प्रदेश बड़ा होने पर भी उसके विभाजन का सुझाव नहीं था, पर विदर्भ के आठ जिले मुख्य रूप से मराठी भाषी होने पर भी उनका एक अलग राज्य बनाने का सुझाव था। संयुक्त महाराष्ट्र के आंदोलन ने जोर पकड़ा था। महा गुजरात आंदोलन की भी बात चल रही थी पर उसमें उतनी गर्मी नहीं आयी थी। ऐसा लगता था कि केन्द्रीय नेतृत्व में महाराष्ट्र का अलग राज्य बनाने के संबंध में कुछ हिचक थी। दूसरे राज्यों की तो बात अलग, बम्बई का एक भी अंग्रेजी दैनिक संयुक्त महाराष्ट्र की कल्पना कर समर्थन नही करता था। बम्बई ही संयुक्त महाराष्ट्र की कल्पना में उसकी राजधानी होने वाली थी। शराब बंदी के संबंध में 'टाइम्स ऑफ इण्डिया' की विरोधी नीति के कारण उस समय के बम्बई राज्य के मुख्यमंत्री श्री मोरारजी देसाई पत्र पर नाराज थे और पत्र को मिलने वाले सरकारी विज्ञापन बंद हो गए थे। प्रतिक्रियास्वरूप 'टाइम्स ऑफ इण्डिया' का मोरारजी पर नाराज होना स्वाभाविक था। पत्र का स्वामित्व उस समय सेठ रामकृष्ण डालमिया के हाथों में था। पत्र के मालिकों के मन में मोरारजी देसाई के सम्बन्ध में कुछ रंजिश है, इस जानकारी के कारण संयुक्त आंदोलन के नेताओं की इच्छा थी कि पत्र उनका समर्थन करे। मध्यस्थों के मार्फत कुछ बातचीत हुई। मैं एक ऐसी बातचीत के समय उपस्थित था। श्री डालमिया संयुक्त महाराष्ट्र का समर्थन करने को तैयार थे, पर उनकी एक शर्त थी। आंदोलन सफल होने पर 'टाइम्स ऑफ इण्डिया' के सरकारी विज्ञापन फिर से शुरू किये जाए। व्यवहारिक दृष्टि से यह कोई बड़ी शर्त नहीं थी। पर बातचीत करने के लिए गए श्री भाऊसाहब हिरे को उतना भी मंजूर करने का साहस नहीं हुआ।

आगे जो कुछ हुआ, उसकी मुझे प्रत्यक्ष जानकारी नहीं है। पर जो कुछ बना उससे लगता है कि जो चर्चा मैंने सुनी उसमें सचाई थी। इस बातचीत का सुराग शायद उन लोगों को मिल गया जो गुजरात और महाराष्ट्र को इकट्ठा बांधे रखना चाहते थे। श्री मोरारजी देसाई तो उनमें थे ही। कुछ व्यवहारिक बातें अवश्य ही तय हुई होगी। टाइम्स समाचारपत्र संस्था में मैंने लगभग पच्चीस वर्ष काम किया है। उस सारी अवधि में विशिष्ट विचारधारा का समर्थन करने का आदेश मुझे केवल एक बार ही मिला, और वह था संयुक्त महाराष्ट्र के आंदोलन के सिलसिले में। यह आदेश लिखित नहीं, मौखिक था। उस समय मैं 'नवभारत टाइम्स' में काम कर रहा था। मेरे चालीस वर्षों के पत्रकार जीवन में जो मुझे ठीक नहीं लगता, उसके पक्ष में बाध्य होकर लिखने के इनेगिने ही अवसर

आये। उसी में से यह भी एक था। विचारों की दृष्टि से संयुक्त महाराष्ट्र की कल्पना मुझे ठीक लगती थी। आज भी मैं भाषा के आधार पर राज्य बनाने का समर्थक हूं। आज देश में स्थान–स्थान पर जो हो रहा है उसे देखते हुए भी मैं भाषायी राज्यों को देश की एकता में बाधक नहीं समझता। आज जो हो रहा है, यह छोटे दर्जे के राजनीतिज्ञों की व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाओं का परिणाम है। पर यह एक अलग विषय है। इस समय तो मुझे इतना ही कहना है कि संयुक्त महाराष्ट्र आंदोलन के सम्बन्ध में मेरे विचार और पत्र द्वारा अपनायी भूमिका में अंतर पैदा हो गया था। मैंने अपनी कठिनाई संपादक श्री रामगोपाल विद्यालंकार को बतायी। उन्होंने इसका एक रास्ता सुझाया। वह बहुत अच्छा तो नहीं था, पर उसके सिवा व्यवहारिक जीवन में दूसरा चारा भी नहीं था। उन्होंने कहा, तुम जो उचित समझो, लिखो। पर अंत में यह अवश्य लिखो कि यह आंदोलन देश के हित में नहीं है। आगे चलकर संसद में विदर्भ के साथ बड़ा द्विभाषिक राज्य बनाने की बात तय हुई। मुझे याद है कि उसके बाद संयुक्त महाराष्ट्र के विचारों का जोरदार समर्थन करते हुए भी मैं कई बार लिखा करता था, 'यह सब होने पर भी बड़ा द्विभाषी बम्बई राज्य ही देश के हित में है। बड़े द्विभाषी राज्य का अर्थ था, राज्य पुनर्रचना की शिफारिश के अनुसार महाराष्ट्र, गुजरात के अतिरिक्त विदर्भ के आठ मराठी भाषी जिलों का भी उसमें समावेश।

महाराष्ट्र के नेताओं में श्री काकासाहब गाडगिल को यदि छोड़ दिया जाय तो कांग्रेस हाईकमान के सामने स्पष्ट रूप से अपनी बात रखने का साहस महाराष्ट्र के दूसरे नेताओं में नहीं था। महाराष्ट्र की जनता के सामने तो वे जोरशोर से और लम्बी–चौड़ी बातें करते थे। पर केन्द्रीय नेतृत्व से बात करते समय उनकी आवाज दब जाती थी। अमृतर कांग्रेस में राज्य पुनर्रचना आयोग के सम्बन्ध में एक प्रस्ताव पर बोलते हुए मौलाना अब्दुल कलाम आजाद ने कहा था, 'कहा जाता है कि इस प्रश्न पर महाराष्ट्र में तीव्र भावनाएं हैं। पर महाराष्ट्र के जो प्रतिनिधि कांग्रेस कार्यकारिणी में बोलते हैं, अथवा हमसे अलग बात करते हैं, उससे तो हमें ऐसा नहीं लगता।' मौलाना आजाद की यह बात तो मुझे याद है ही, मुझे इस बात का भी स्मरण है कि उस चर्चा में उस समय महाराष्ट्र का प्रतिनिधित्व करने वाले प्रदेश कांग्रेस के अध्यक्ष श्री मामासाहेब देवगिरीकर कांग्रेस हाईकमान से जब यह नहीं मनवा सके तो उन्हें बम्बई के रास्ते पर लौटने का साहस नहीं हुआ। उन दिनों दिल्ली से पुणे जाने के लिए बम्बई में कल्याण या दादर पर उतरकर गाड़ी बदलनी पड़ती थी। पर श्री देवगिरीकर मनमाड ही उतर गए और उन्होंने वहां से पुणे जाने वाली धीमी गाड़ी पकड़ी बम्बई की जनता को टालने के उनके इस प्रयत्न का मजाक उड़ाने के और महाराष्ट्र में 'मनमाड मार्गे' यह शब्द कांग्रेसियों को चिढ़ाने के लिए उन दिनों प्रचलित हो गया था।

श्री. सी. डी. देशमुख वित्तमंत्री नियुक्त होने के बाद कांग्रेस के टिकट पर लोकसभा में चुनकर आये थे। राज्य पुनर्रचना आयोग की रिपोर्ट के बाद संयुक्त महाराष्ट्र के आंदोलन के दौरान महाराष्ट्र प्रदेश कांग्रेस कमेटी ने एक प्रस्ताव पास किया था। उसमें कहा गया

था कि यदि बम्बई समेत संयुक्त महाराष्ट्र की मांग स्वीकार नहीं की जाये तो महाराष्ट्र के सभी कांग्रेसी नेता, जो भी जिस पद पर हैं, अपने पद से त्यागपत्र दे दें। जिस दिन प्रस्ताव पारित हुआ, उसी दिन उसका समाचार दिल्ली पहुंचा। मेरे एक पत्रकार मित्र ने श्री. सी. डी. देशमुख को टेलीफोन पर समाचार बताये और उनकी प्रतिक्रिया जानना चाहा। उन्होंने टेलीफोन पर ही कहा, 'मैं पीछे नहीं रहूंगा।' वैसे वे कांग्रेस के कार्यकर्ता अथवा नेता नहीं थे। वित्त सम्बन्धी उनका ज्ञान और प्रशासन के अनुभव के कारण ही उन्हें वित्तमंत्री बनाकर कांग्रेस का टिकट दिया गया था। इस दृष्टि से प्रदेश कांग्रेस के प्रस्ताव के अनुसार भी उन्हें त्यागपत्र देने की आवश्यकता नहीं थी। पर वास्तव में त्यागपत्र देने वाले वे अकेले ही थे।

जिस प्रकार पं. गोविन्द वल्लभ पंत बहुत ही बुद्धिमान और प्रत्युत्पन्नमतित्व थे वैसे ही श्री. सी. डी. देशमुख भी थे। उनके त्यागपत्र देने के बाद की बात। वे लोकसभा में सामान्य सदस्य की तरह उपस्थित रहते थे। राज्य पुनर्रचना आयोग की रिपोर्ट पर आधारित विधेयक पर चर्चा चल रही थी। पं. पंत और श्री सी. डी. देशमुख के बीच सवाल जवाब चल रहे थे। कभी नाराज न होने वाले पं. पंत कुछ नाराज हो गए और उन्होंने श्री देशमुख को लक्ष्य कर कहा, 'कभी–कभी महाराष्ट्रीय नेता बिल्कुल बुद्धि न होने जैसी बात करते हैं।' इस पर श्री देशमुख ने तुरंत उत्तर दिया, 'जी हां। आप ठीक कहते हैं। दो सौ वर्ष पूर्व रत्नागिरी से एक महाराष्ट्र परिवार उत्तर प्रदेश के अल्मोड़ा जिले में आकर बस गया। तभी से महाराष्ट्र को बुद्धिमत्ता छोड़कर चली गई।' यह कटाक्ष पंतजी पर ही था, क्योंकि उन्हीं के पूर्वज रत्नागिरी के थे और दो सौ वर्ष पूर्व अल्मोड़ा आकर बसे थे।

राज्य पुनर्रचना आयोग की रिपोर्ट ने पं. जवाहरलाल नेहरू की एक बात गलत साबित कर दी। सरदार पटेल द्वारा पुलिस कार्रवाई के कारण हैदराबाद राज्य का विलीनीकरण हो चुका था। पर हैदराबाद के विभाजन की मांग पर पं. नेहरू ने बल देकर कहा था कि उनके रहते हैदराबाद का विभाजन नहीं हो सकेगा। पर राज्य पुनर्रचना आयोग ने पं. नेहरू के जीवनकाल में ही उस रिसायत का महाराष्ट्र, कर्नाटक और आंध्र प्रदेश में विभाजन कर दिया।

उन्हीं दिनों पंजाब में कांग्रेस का एक अधिवेशन हुआ था। उसी में मैंने श्री यशवंतराव चव्हाण के संबंध में प्रथम कुछ सुना और उन्हें देखा। उन दिनों दिल्ली में केसरी का काम श्री. द्वा. भा. कर्णिक कर रहे थे। वे किसी समय के रायवादी होने के कारण एम. एन. राय से प्रभावित श्री चव्हाण के मित्र थे। उन्होंने मुझे महाराष्ट्र के फलटण नगर में हुए श्री चव्हाण के एक भाषण का संक्षिप्त वृत्त बताया था। उसमें उन्होंने कहा था कि मैं संयुक्त महाराष्ट्र चाहता हूं। पर पं. नेहरू और संयुक्त महाराष्ट्र में से यदि मुझे चुनना हो तो मैं पं. नेहरू को ही चुनूंगा। चलती धारा में बहने वालों की अपेक्षा उससे कुछ अलग चलने वालों के संबंध में मेरे मन में कुछ अधिक आत्मीयता पैदा हो जाती

है। मैं श्री चव्हाण की ओर कुछ अधिक आदर के साथ देखने लगा। इसका एक कारण और था। भाषायी राज्यों की रचना का सिद्धान्त यद्यपि मैं मानता था तथापि उसके लिए एक विशिष्ट सीमा से आगे बढ़ना उचित नहीं समझता था।

संभवत: सन १९५५ या ५६ होगा। संयुक्त महाराष्ट्र का आंदोलन जोरो पर था। बृहन्महाराष्ट्र परिषद का वार्षिक अधिवशेन दिल्ली में हो रहा था। उसका आयोजन करने वाले बृहन्महाराष्ट्र मण्डल का मैं मंत्री था और श्री काकासाहब गाडगिल उसके अध्यक्ष थे। मुझे लगता था कि यह आंदोलन मराठी भाषी क्षेत्र तक ही सीमित होना चाहिए। महाराष्ट्र के बाहर रहने वाले मराठी भाषियों को (सांस्कृतिक जीवन सुरक्षित रखने का प्रयत्न करने वाली) बृहन्महाराष्ट्र मण्डल जैसी संस्थाओं को राजनीतिक आंदोलनों में नहीं पड़ना चाहिए। क्योंकि उसकी प्रतिक्रिया होगी और दूसरे प्रांतों में रहने वाले मराठी भाषियों का जीवन सुखद नहीं रह पायेगा। वे वहां की जीवनधारा से अलग फेंक दिये जायेंगे। भूतपूर्व कानून मंत्री श्री ह. वि. पाटसकर भी मेरी ही राय के थे। इस कारण बृहन्महाराष्ट्र परिषद में संयुक्त महाराष्ट्र की मांग का समर्थन करने के लिए जो प्रस्ताव आया उसका मैंने और श्री पाटसकर ने विरोध किया। पर श्री काकासाहब गाडगिल मूलत: राजनीतिक थे और हर साधन का उपयोग उस उद्देश्य की पूर्ति के लिए करना चाहते थे। यह तो आज स्मरण नहीं है कि वह प्रस्ताव पास हुआ या नहीं। पर केवल उत्तर प्रदेश तक ही बात कहनी हो तो मेरी आशंका सच साबित हुई। स्वाधीनतापूर्व के काल में श्री आत्माराम गोविंद खेर और श्री धुलेकर जैसे लोग आंदोलन में आगे रहते थे। स्वाधीनता के बाद श्री खेर कई वर्षों तक विधानसभा के अध्यक्ष रहे। श्री धुलेकर भी पहले विधान परिषद के सदस्य थे। पर बाद में उत्तर प्रदेश के सार्वजनिक जीवन में मराठी भाषी लोगों को स्थान मिलना असंभव हो गया। उसके बाद जनता ओर लोक दल के समय में श्री मधुकर दिघे नामक अकेले ही एक मराठी भाषी व्यक्ति मंत्री बन सके। दिल्ली में भी श्री वसंतराव ओक जैसा लोकप्रिय नेता भी १९५७ में जनसंघ के टिकट पर चुनकर नहीं आ सका।

संसद की दहलीज पर संयुक्त महाराष्ट्र की मांग प्रस्तुत करने के लिए महाराष्ट्र से एक बहुत बड़ा मोर्चा आया था। दिल्ली में कड़ाके की सर्दी पड़ रही थी। संसद के प्रांगण के बाहर रात–दिन का धरना भी दिया गया था। मोर्चे का नेतृत्व कम्युनिस्ट नेता श्री श्रीपाद अमृत डांगे और आचार्य अत्रे कर रहे थे। डांगे और अत्रे दोनों ने सर्दी से बचाव की अच्छी व्यवस्था कर रखी थी। श्री डांगे ने तो चमड़े का जाकेट पहन रखा था। मेरे मन में उस समय यह प्रश्न उठा कि श्री डांगे और श्री अत्रे जनसाधारण के नेता कैसे? क्योंकि मोर्चे में आये और लोग सर्दी में ठिठुर रहे थे।

इस मोर्चे के समय ही एक दूसरी घटना भी याद है। मोर्चे में आये लोगों की संख्या काफी अधिक थी। दिल्ली की विभिन्न सरकारी कॉलोनियों में जो मराठी भाषी लोग रहते थे वे भावनात्मक दृष्टि से संयुक्त महाराष्ट्र की कल्पना से जुड़े थे ही, अत: उनके रहने, खाने–पीने की व्यवस्था इन मराठी भाषी सरकारी कर्मचारियों के घर पर ही की गई

थी। उन्होंने अपने छोटे से परिवार में अनेकों का समावेश कर लिया था। पर उनमें कुछ को वह काफी मंहगा पड़ गया। कुछ लोगों की हाथघड़ियां गई तो कुछ के कीमती फाउंटेनपेन, और कुछ के तो कपड़े भी गए। पर किसी ने कोई शिकायत पुलिस में दर्ज नहीं की। 'जबरा मारे, और रोने न दे' जैसी बात हो गई थी। क्योंकि यदि वे पुलिस थाने में शिकायत करते तो उन पर राजनीतिक आंदोलन को सहायता करने का आरोप हो सकता था और कोई भी सरकारी कर्मचारी यह खतरा मोल नहीं ले सकता था।

राज्य पुनर्रचना आयोग की रिपोर्ट पर अथवा उससे सम्बन्धित विधेयक पर लोकसभा में जो चर्चा हुई उसमें संयुक्त महाराष्ट्र की लड़ाई लगभग अकेले श्री काकासाहब गाडगिल ने लड़ी। कांग्रेस दल में होने पर भी वे अधिक साफ और निर्भीक होकर बोलते थे। पर मुझे एक भी ऐसा अवसर याद नहीं जब उन्होंने अपने भाषण में संसदीय मर्यादा का उल्लंघन किया हो। एक बार उन्होंने अपने भाषण में यह संकेत अवश्य दिया था कि यदि लोकतंत्रीय मंच पर लोगों की भावनाएं पहचानकर इस प्रश्न का सही हल नहीं निकाला गया तो लोग सड़कों पर आकर उसे हल करने का प्रयत्न करेंगे। कुछ पत्रों में छपा कि श्री काकासाहब गाडगिल ने प्रश्न का हल सड़क पर खोजने की धमकी दी है। उनके खिलाफ समाचारपत्रों में काफी तूफान उठा। 'मैंने ऐसा नहीं कहा था', इस आशय का काकासाहब का स्पष्टीकरण समाचार पत्रों के किसी कोने में छप गया था। आचार्य कृपलानी ने काकासाहब गाडगिल की संसद में कड़ी आलोचना भी की। पर श्री गाडगिल अपने विचारों पर कायम रहे।

श्री पंजाबराव देशमुख, जो बाद में मंत्री बने, उस समय केवल संसद सदस्य थे। वे संयुक्त महाराष्ट्र के समर्थक ही थे। लोकसभा में चर्चा हो रही थी। वे बड़े आवेश के साथ और काफी उची आवाज में कह रहे थे कि बम्बई, बेलगांव, कारवार, विदर्भ आदि के साथ संयुक्त महाराष्ट्र होना ही चाहिए। उसी समय पं. जवाहरलाल नेहरू लोकसभा भवन में आये। श्री पंजाबराव देशमुख की ऊंची आवाज एकदम धीमी हो गयी और वे कुछ दूसरा ही बोलने लगे। प्रेस गैलरी में बैठे हम पत्रकारों के ध्यान में यह बात तुंरत आ गई। आगे चलकर श्री पंजाबराव देशमुख मंत्री बने और वे जब तक जीवित रहे, मंत्रीपद पर बने रहे। मैं इस बात की चर्चा एक बार कर चुका हूं कि श्री भाऊसाहब हिरे में साहस की कितनी कमी थी। महाराष्ट्र प्रदेश कांग्रेस कमेटी ने संयुक्त महाराष्ट्र के सम्बन्ध में एक प्रस्ताव पास किया था। इसी प्रस्ताव के परिणामस्वरूप वित्तमंत्री देशमुख ने त्यागपत्र दिया था। पर यह प्रस्ताव किसी को भी असमंजस में डालने वाला था। उसमें अत्यंत कठोर और अत्यंत नरम प्रतीत हो, ऐसी दोनों प्रकार की विचारधाराओं का संमिश्रण था। मैंने एक दिन श्री भाऊसाहब से ही पूछा— लोग असमंजस में पड़े, ऐसा प्रस्ताव आपने क्यों पास किया? भाऊसाहब ने कहा, 'असमंजस पैदा हो, इसीलिए वैसा किया गया था। आज तक मैं यह समझ नहीं सका कि उस प्रस्ताव को पास कर महाराष्ट्र के कांग्रेस नेताओं ने क्या पाया?

विदर्भ के साथ बड़ा द्विभाषिक राज्य बनने के बाद १९५७ में जो आमचुनाव हुए उसमें महाराष्ट्र और गुजरात दोनों राज्यों में कांग्रेस के उम्मीदवारों ने काफी मुंह की खाई। पर दोनों राज्यों में कांग्रेस ही सबसे बड़ा दल था अत: सरकार उसी की बनी। बड़े द्विभाषी राज्य के मुख्यमंत्री बने श्री यशवंतराव चव्हाण। वे भी अपने निर्वाचन क्षेत्र से बहुत ही कम मतों से जीते थे। महाराष्ट्र में कांग्रेस को फिर से सशक्त बनाने की चर्चा हो रही थी। उसका जो एक रास्ता श्री देवकीनंदन नारायण ने बताया था, वह मुझे आज भी याद है। जात–पात कम करने के राष्ट्रीय दृष्टिकोण की पृष्ठभूमि में वह और भी 'महत्वपूर्ण' प्रतीत होता है। श्री देवकीनंदन नारायण उस समय महाराष्ट्र कांग्रेस के अध्यक्ष थे। उन्होंने कहा, महाराष्ट्र का ब्राम्हण वर्ग बहुत ही बुद्धिमान है। महाराष्ट्र में प्रथम श्रेणी का नेतृत्व उसी के हाथ में है। कांग्रेस आंदोलनों का नेतृत्व महात्मा गांधी के हाथ आने के बाद महाराष्ट्र के ब्राम्हण कांग्रेस से दूर हट गए। गांधी जी के नेतृत्व को महाराष्ट्र के ब्राम्हणों ने कभी भी स्वीकार नहीं किया। श्री गाडगिल, श्री शंकरराव देव आदि ब्राम्हण कांग्रेस में थे। पर वे दूसरी श्रेणी के नेता थे। ब्राम्हणों से न बनने कारण बहुजन समाज, जिसे मराठा समाज भी कहते हैं, कांग्रेस के साथ आ गया। इसीलिए अब तक महाराष्ट्र में कांग्रेस टिक सकी। संयुक्त महाराष्ट्र के आंदोलन में ब्राम्हण और मराठा समाज इकट्ठे हो गए। यही कारण है महाराष्ट्र में कांग्रेस की पराजय होने का। यदि कांग्रेस चाहती है कि महाराष्ट्र में उसकी खोई ताकत फिर से वापस आये तो ब्राम्हणों और मराठों में फूट डालनी होगी।

बड़े द्विभाषी बम्बई राज्य के निर्माण के बाद भी संयुक्त महाराष्ट्र का आंदोलन चलता रहा। पंजाबी सूबे की मांग भी आगे आ चुकी थी। पर इस पर जातीयता का आवरण होने के कारण और पाकिस्तान जैसी प्रतीत होने के कारण उसे मानने के लिए पं. नेहरू और दूसरा केन्द्रीय नेतृत्व तैयार नहीं था। पंजाब में पंजाबी सूबे का आंदोलन जोरों पर था। उस समय वहा के राज्यपाल श्री काकासाहब गाडगिल थे। श्री प्रताप सिंह कैरो मुख्यमंत्री थे। संयुक्त महाराष्ट्र के विचार का विरोध अब इसलिए और भी होने लगा था कि उसे मानने से पंजाबी सूबे की मांग को अधिक बल मिल जायेगा। एक दिन श्री काकासाहब गाडगिल ने मुझे बताया कि श्री प्रताप सिंह कैरों कि राय के अनुसार पंजाबी सूबे का प्रश्न संयुक्त महाराष्ट्र के निर्माण में बाधक नहीं बनना चाहिए। उनका कहना है, 'हमारा हम देख लेंगे। आपका भाषायी राज्य बन जाने दिया जाए।' श्री कैरों ने क्या वैसा कहा था इस सम्बन्ध में मेरे पास और कोई दूसरा सबूत नहीं है। पर श्री कैरों बहुत ही निर्भिक थे। अत: आज भी माना जा सकता है कि उन्होंने वैसा कहा होगा।

महाराष्ट्र के लगभग सभी दलों के नेताओं की धारणा यह है कि संयुक्त महाराष्ट्र के संबंध में श्री मोरारजी देसाई का स्वभाव किसी नाटक में खलनायक जैसा था। आंदोलन में भाग लेने वालों पर श्री मोरारजी देसाई के शासन में जो गोलियां चली, उसकी भी काफी चर्चा हुई है। उस कार्यकाल में १०५ लोग गोली से मारे गए थे। अत: उन्हें १०५ मराठी भाषी व्यक्तियों का हत्यारा कहा गया। अभी तक मराठी भाषियों के मन में श्री

मोरारजी देसाई के संबंध में एक गाठ बनी हुई है। इस पृष्ठभूमि में उन्हीं दिनों मैंने जो बातें सुनी, उस पर शायद ही कोई मराठी भाषी विश्वास करे। पर मेरा उस पर उन्हीं दिनों विश्वास हो गया था। श्रीमती इंदिरा गांधी के कारण हो, अथवा उसका अन्य कोई कारण बना हो, महाराष्ट्र का अलग राज्य बनाने का निर्णय होने के बाद भी विदर्भ के आठ जिलों का एक अलग राज्य बनाने की खिचड़ी पक रही थी। उसका समर्थन पं. गोविन्द वल्लभ पंत कर रहे थे। तब तक श्री मोरारजी देसाई केन्द्रीय मंत्रिमण्डल में आ गए थे। उन्होंने मंत्रिमण्डल की बैठक में ही बहुत ही स्पष्ट विचारधारा अपनायी। उन्होंने कहा, मैं महाराष्ट्र और गुजरात राज्य को अलग—अलग करने का सिद्धांततः विरोधी हूं। पर यदि आप वह निर्णय कर ही रहे हैं तो विदर्भ को महाराष्ट्र से अलग करने का विचार मुझे बिलकुल मंजूर नहीं है। श्री देसाई की इस विचारधारा के कारण ही विदर्भ का महाराष्ट्र में समावेश हो सका। सचाई तो यह है कि, कारण जो कुछ भी हो, अलग मराठी भाषी राज्य बनाने का विरोध मुख्यतः केन्द्रीय नेतृत्व की ओर से ही था। उस केन्द्रीय नीति को श्री मोरारजी देसाई अपनी क्षमता के अनुसार केवल कार्यान्वित कर रहे थे। उनके प्रशासन का क्रम कुछ कठोर अवश्य था। पर वह सबके लिए एक जैसा था। वह मराठी भाषियों के लिए अलग और गुजराती भाषियों के लिए अलग नहीं होता था। विदर्भ को महाराष्ट्र में मिलाने के श्री मोरारजी के विचार का कुछ लोगों ने तो यह भी अर्थ लगाया कि अलग सौराष्ट्र की मांग को रोकने के लिए उन्होंने वह विचार प्रस्तुत किया था। पर श्री मोरारजी के सम्बन्ध में मेरी धारणा यह बनी है कि वे मुंहफट और प्रशासन में कठोर अवश्य थे, मुंह में राम बगल में छुरी वाला उनका स्वभाव नहीं था।

सन १९६० की ३० अप्रैल की रात को १२ बजने के बाद और १ मई की पूर्व रात्रि के मुहूर्त पर पं. जवाहरलाल नेहरू के द्वारा महाराष्ट्र के अलग राज्य का उद्‌घाटन हुआ। इस समारोह में उपस्थित रहने के लिए राजधानी में रहनेवाले तीन मराठी भाषी पत्रकारों को श्री. द्वा. भा. कर्णिक, श्री अनंत सात्विक और मुझे विशेष निमंत्रण था। संयुक्त महाराष्ट्र के मंगलकलश की स्थापना करने का सम्मान श्री यशवंतराव चव्हाण को मिला था। उन्होंने उस समय जो भावुकतापूर्ण भाषण किया, वह आज भी मुझे याद है। भारत और चीन के बीच खटपट शुरू हो चुकी थी। तिब्बत में रहना असंभव होने के कारण श्री दलाई लामा भारतीय अधिकारियों की सहायता से भारत आ गए थे और उन्हें राजनीतिक शरण देने का निर्णय भी भारत सरकार ने किया था। अत्यंत सुरक्षित समझी जाने वाली हिमालय की सीमा पहली बार खतरे में पड़ गई थी। पं. नेहरू का स्वागत करते हुए श्री यशवंतराव चव्हाण ने उस समय कहा, 'महाराष्ट्र का काला सह्याद्री हिमालय की रक्षा के लिए अपनी छाती का किला बनाकर खड़ा हो जाएगा।' चीन के संदर्भ में उनके इस वाक्य पर मध्य रात्रि के सुनसान वातावरण में बम्बई के राजभवन के प्रांगण में तालियों की जो गड़गड़ाहट हुई, वह बाद में वर्षों तक कानों में गूंजती रही। उस समय किसी को यह कल्पना भी नहीं थी कि ये ही श्री यशवंतराव चव्हाण आगे चलकर भारत के रक्षा मंत्री बनेंगे।

श्री लोकनायक अणे, श्री मा. स. कन्नमवार, विदर्भ केसरी कहलाने वाले श्री ब्रिजलाल बियाणी आदि चाहते थे कि विदर्भ का अलग राज्य बने। पं. गोविंद वल्लभ पंत जेसे बहुत ही चतुर राजनीतिज्ञ का उन्हें छिपा समर्थन भी था। अत: संयुक्त महाराष्ट्र बनने के बाद विदर्भ अलग न बनने के कारण उसके कुछ जिलों में असंतोष का वातावरण फैलना स्वाभाविक ही था। १ अथवा २ मई के दोपहर की बात है। दिल्ली से गए मराठी पत्रकारों की मुख्यमंत्री श्री यशवंतराव चव्हाण से भेंट निश्चित हुई थी। कार्यक्रम के अनुसार हमलोग पहुंचे और कुछ बातचीत भी शुरू हुई। इतने में विदर्भ में कुछ स्थानों पर दंगा होने की खबर आयी। पुलिस को वहां गोली भी चलानी पड़ी। विदर्भ की मांग करने वालों में से प्रमुख श्री मा. स. कन्नमवार उस समय मंत्रिमण्डल में श्री चव्हाण के वरिष्ठ सहयोगी थे। श्री चव्हाण ने हमारे सामने ही अधिकारियों को आदेश दिया कि आगे की कार्रवाई श्री कन्नमवार की सलाह से ही की जाए। विदर्भवादियों का आंदोलन शांत करने के लिए उनकी भावनाओं के साथ हिलेमिले नेताओं का ही उपयोग करने की श्री चव्हाण की चतुराई हमें बहुत ही अच्छी लगी थी।

चीन का भारत पर आक्रमण

पं. जवाहरलाल नेहरू को राजनीतिक विचारधारा की दृष्टि से कम्युनिजम के निकट माना जाता रहा है और उनके राजनीतिक विरोधी उन्हें छिपे कम्युनिस्ट भी कहा करते थे। पर चीन के कम्युनिस्ट सत्ताधीशों के संबंध में पं. नेहरू के मन में न आत्मीयता थी और न उन पर विश्वास। चीन में कम्युनिस्ट शासन आने के बाद हिंदी चीनी भाई–भाई का दौर तो काफी चला। पर मेरी धारणा यह है कि कम्युनिस्ट शासन के पहले चीन के सर्वेसर्वा च्यांग काई शेक पं. नेहरू के अधिक निकट थे। मुझे याद है कि एक पत्रकार सम्मेलन में पं. नेहरू ने एक रहस्य का उद्घाटन किया था। उन्होंने कहा था कि कम्युनिस्ट शासन आने के बाद सीमा विवाद के सम्बन्ध में मैंने चाउ एन लाई के मुंह से कुछ बातें कहलवा ली थी। मुझे उस समय यह नहीं लगा था कि वे आगे चलकर बदल जायेंगे। चीन के संदर्भ में विपक्ष की ओर से उन दिनों संसद में सरकार की एक आलोचना होती थी। कुछ मात्रा में वह आज भी होती है। वह यह थी कि १९५३ में तिब्बत पर चीन की प्रभुसत्ता स्वीकार कर लेने के कारण ही सीमा विवाद का संकट भारत ने अपने सिर ओढ़ लिया। उस समय यह न किया होता तो भारत और चीन के बीच एक 'बफर' राष्ट्र बना रहता और यह सीमा विवाद उपस्थित ही नहीं होता। सामान्य ढंग से यह विचारधारा ठीक प्रतीत होती है। पर इतने वर्षों के बाद भी आज मुझे ऐसा लगता है कि उस समय की दृष्टि से पं. नेहरू ने जो निर्णय किया वह ठीक ही था। तिब्बत पर अपनी प्रभुसत्ता स्थापित करने का चीन का दृढ़ निश्चय था। भारत को बिना युद्ध किये स्वाधीनता मिली थी। अत: युद्ध का मार्ग अपनाकर उद्देश्य की पूर्ति करने में भारत को उस समय दिलचस्पी नहीं हो सकती थी। दूसरी बात यह कि चीन का विचार कर भारत ने प्रारंभ में ही शस्त्रास्त्र प्राप्त करने पर और रक्षा उद्योगों पर अधिक बल देने का प्रयत्न किया होता तो जिस सफल औद्योगीकरण के कारण आगे चलकर रक्षा उद्योगों की नींव डाली जा सकी, वह संभव ही न हुआ होता। भूतपूर्व रक्षामंत्री श्री कृष्ण मेनन की काफी आलोचना हुई है। पूरी जानकारी न होने के कारण मैं भी उन दिनों उनकी काफी आलोचना करता था। पर आज निश्चित रूप से प्रतीत होता है कि श्री कृष्ण मेनन के कार्यकाल में चीन द्वारा भारत पर आक्रमण किये जाने के पूर्व ही देश के रक्षा उद्योगों की नींव डाली जा चुकी थी। भारत की आगे वाली पीढ़ियां श्री मेनन के इस ऋण को कभी न भुला सकेंगी।

परंतु इसी संदर्भ में एक प्रश्न का अभी भी उत्तर नहीं मिलता। सन १९४८ में पाकिस्तानी हमलावरों को कश्मीर से खदेड़ने में हम काफी हद तक सफल हो गए। संयुक्त राष्ट्रसंघ की झंझट में हम न पड़े होते तो कश्मीर का प्रश्न आज शायद होता ही नहीं। इसी प्रकार हैदराबाद में हमारी 'पुलिस कार्रवाई' भी सफल रही। पर लगातार सशस्त्र संघर्ष करने के बाद जो चीन में सत्ताधीश बने थे उनसे संघर्ष मोल लेने के पहले पं. नेहरू ने कुछ व्यावहारिक विचार क्यों नहीं किया। चीन का प्रत्यक्ष आक्रमण सन १९६२

में हुआ। पर चीन के साथ अनबन की शुरुवात तभी हो चुकी थी जब हमने दलाई लामा को गुप्त रीति से भारत लाकर शरण दी। यह सच है कि चीन के तानाशाहों द्वारा तिब्बती लोगों का और दलाई लामा का जो दमन हो रहा था वह भारतीय मन को अच्छा नहीं लग सकता था। पर तिब्बत पर चीन की प्रभुसत्ता स्वीकार करने के बाद वह चीन का ही एक अंग बन गया था। पंचशील के जो सिद्धांत भारत और चीन दोनों ने स्वीकार किये थे और जिसका उन दिनों काफी ढोल बजा था, उसका एक मुख्य सिद्धांत यह था कि पंचशील पर विश्वास रखने वाले किसी भी देश को दूसरे देश की अंदरूनी व्यवस्था में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। इस नीति को हम मानते थे। फिर दलाई लामा को वहां से निकालकर शरण देने का कदम हमने क्यों उठाया? यह बात सच है कि तिब्बती विद्रोहियों को हमने भारत में अस्थायी सरकार की स्थापना नहीं करने दी। पर गरम विचारधारा में ही जिनका विकास हुआ है उन्हें यह कैसे अच्छा लग सकता था कि उनकी दृष्टि से जो विद्रोही हैं, उन्हें भारत राजनीतिक शरण दे।

यह समझा जा सकता है कि पं. नेहरू ने लोकतंत्र ही चौखट में देश का विकास करने के उद्देश्य से प्रारंभ में शस्त्रास्त्रों की शक्ति बढ़ाने की अपेक्षा देश का औद्योगीकरण करने पर बल दिया। पर जो समझ में नहीं आता वह यह कि दलाई लामा को शरण देकर शस्त्रास्त्रों की शक्ति पर ही बल देने वाले चीन के साथ उन्होने दुश्मनी क्यों मोल ली। लद्दाख क्षेत्र के अक्षयचिन विभाग में सड़क बनाकर भारतीय प्रदेश पर चीन ने जो अतिक्रमण किया, वही दोनों के बीच खुली अनबन का मुख्य कारण बना। चीन का यह दावा था कि अक्षयचिन और ईशान्यपूर्व में नेफा नाम से उस समय जो प्रदेश पहचाना जाता था वह तिब्बत का ही अंश था। अंग्रेजों ने जबरन उस पर कब्जा बनाये रखा। १९६२ की लड़ाई के बाद भी सीमा क्षेत्र के सम्बन्ध में भारतीय दावे को बहुत ही कम देशों ने स्वीकार किया। रूस तो चीन के ही नक्शे मानता था। उन दिनों मिस्त्र के साथ भारत की घनी मित्रता थी। पर मित्र ने भी कभी ऐसा नहीं कहा की चीन ने आक्रमण किया है। जिन १२ प्रदेशों के सम्बन्ध में विशेष विवाद था उसे लक्ष्य कर पं. नेहरू ने संसद में ही कहा था कि वहां घास का तिनका भी नहीं उगता। इस पर कांग्रेस दल के डॉ. रामसुभग सिंह जैसे सदस्यों ने उन्हें आड़े हाथों लिया था। पं. नेहरू का सर काफी गंजा था। उसे लक्ष्य कर कहा गया था कि 'कुछ के सिर पर बाल नहीं' होते, अत: क्या उस सिर की और ध्यान नहीं देना चाहिए?'

जिस प्रदेश के संबंध में विवाद था वह भारत का है या नहीं, इस संबंध में पं. नेहरू के मन में भी कुछ संदेह था। इस संबंध में एक घटना संसद सदस्य श्री प्रकाशवीर शास्त्री ने मुझे बतायी थी। विरोधी दलों का एक प्रतिनिधिमण्डल पं. नेहरू से मिलने गया था। वह शायद यह मांग करने गया था कि चीन द्वारा अधिकृत प्रदेश जल्द मुक्त कराया जाय। प्रतिनिधिमण्डल में श्री प्रकाशवीर शास्त्री भी थे। कुछ बातचीत चली। अचानक पं. नेहरू गरम हो गए। उन्होंने कहा, 'दूसरे की जमीन पर हम अपना दावा कब तक बताते

रहेंगे?' इस प्रतिनिधिमण्डल में कम्युनिस्ट पार्टी के श्री भूपेश गुप्त भी थे। तब तक रूसी–चीनी मतभेद दुनिया के सामने नहीं आया था और उसके परिणामस्वरूप भारत में कम्युनिस्ट पार्टी का जो विभाजन हुआ वह भी तब तक प्रगट नहीं हुआ था। आम धारणा यही थी कि भारतीय कम्युनिस्ट भारत में चीन और रूस के स्वार्थों की ही रक्षा करने का प्रयत्न करते हैं। चीन के आक्रमण के बाद लोकसभा में उस पर चर्चा हुई थी। उसमें कम्युनिस्ट नेता श्री डांगे ने सीमा–विवाद के निमित्त भारत को ही अधिकतर दोषी ठहराया था और कहा था कि यदि भारत अपने व्यवहार में सुधार करे तो वे चीन की ओर से अच्छे व्यवहार की गारंटी कर सकते हैं। इस घटना को भी तब बहुत दिन नहीं बीते थे। अत: श्री प्रकाशवीर शास्त्री को स्वभावत: यह लगा कि जो कुछ पं. नेहरू ने कहा है वह चीन तक तुरंत पहुंचेगा और चीन भारत के विरूद्ध प्रचार में उसका अवश्य उपयोग करेगा। अत: बिगड़ी बात संभाल लेने की दृष्टि से उन्होंने कहा, 'पंडित जी। शायद आप यह कहना चाहते हैं कि सीमा विवाद के संबंध में जो थोड़ा बहुत संदेह था, वह अधिकारी समिति की रिपोर्ट के बाद नहीं बचा (सीमा–विवाद की जांच के लिए एक अधिकारी समिति नियुक्त की गई थी) पं. नेहरू तब तक संभल गए थे। उन्होंने कहा, 'हां–हां। ठीक बात है। मैं यही कहना चाहता था।' जब मैंने यह घटना उसी दिन श्री लालबहादुर शास्त्री को सुनायी तो उन्होंने अपना दाया हाथ मुंह पर रखकर उसे बंद कर लिया।

उन दिनों हम सभी पत्रकार चीन की आक्रमक नीति पर अपनी लेखनियों से बरस रहे थे। पर निष्पक्ष रूप से मैं आज भी इस संबंध में कुछ नहीं कह सकूंगा कि सीमा का विवादग्रस्त भाग चीन का है या भारत का इतने वर्षो के अनुभव के बाद आज मुझे ऐसा लगता है कि परिस्थिति के दबाव से कुछ ऐसी बातें भी मान लेनी पड़ती है जो सामान्य स्थिति में मानने को जी नहीं चाहता। १९४८ में पाकिस्तान ने कश्मीर के कुछ हिस्से पर आक्रमण किया, उन दिनों कश्मीर का जो हिस्सा भारत के हाथ से गया उसे आज भी 'व्याप्त कश्मीर' कहा जाता है। कारण जो भी हो, उस हिस्से को पाकिस्तान से दो युद्ध होने के बाद भी हम वापस नहीं ले सके। इस संबंध में कश्मीर के मुख्यमंत्री श्री बख्शी गुलाम मुहम्मद से मेरी एक बार बात हुई थी। उन्होंने कहा, 'जाहिर तौर पर हम कहते ही रहेंगे कि वह प्रदेश भारत का है और उसे हम वापस लेकर ही रहेंगे।' पर वह भाग जहां से प्रारंभ होता है वही अब भारत और पाकिस्तान के बीच व्यावहारिक सीमा रेखा है। चीन के संबंध में भी अक्षरश: यही हुआ। १९६२ में आक्रमण होने के बाद संसद के सदस्यों ने खड़े होकर एक स्वर से शपथ ली थी कि आक्रांताओं को खदेड़–बाहर किये बिना हम चुप नहीं बैठेंगे। शपथ लेते समय का संसद का दृश्य आज भी मेरी आंखों के सामने है। संसद सदस्यों के वे भाषण भी याद हैं जिसमें उन्होंने कहा था कि देश की रक्षा के लिए हम अपने खून का कतरा–कतरा बहा देंगे। दो युग बीत चुके, पर स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं हुआ आक्रमण बना हुआ था तभी श्रीमती इंदिरा गांधी के काल में चीन से संबंध सुधारने का एक प्रयत्न हुआ। जनता काल में वह और भी बढ़ाया गया था। उस दिनों यह नारा था कि अपने देश की एक इंच भूमि को मुक्त करने के लिए जो

भी कीमत दी जाए वह कम ही होगी। सिद्धान्त की दृष्टि से वह ठीक भी है। पर व्यवहार में अपनी शक्ति देखकर ही सिद्धान्त कार्यान्वित किया जा सकता है।

पं. नेहरू के संबंध में मेरी एक धारणा बनी है। संसार में शांति, अलिप्तता की नीति, नि:शस्त्रीकरण, उपनिवेशवाद का विरोध जैसे बड़े सिद्धातों के मसीहा बनने के कारण उनका इतना प्रचार हो गया था कि एकदम दुनिया के नेता बन गए थे। देश के व्यावहारिक स्वार्थ का उन्हें ध्यान नहीं रहा। वे अपने आपको बहुत बड़े नेता समझने लगे। मेरे इस कथन में अतिशयोक्ति नहीं होगी कि उनके मस्तिष्क को बड़प्पन की हवा ने घेर लिया था। यह मतभेद समझा जा सकता है कि सीमा के जिस भाग के संबंध में विवाद था, वह वास्तव में किसका है? पर यदि देश के प्रधानमंत्री को अपने पड़ोसी देश की सैनिक शक्ति का जरा भी ज्ञान न हो तो इसे मैं अक्षम्य अपराध समझूंगा। मैंने पहले ही माना है कि रक्षा—शक्ति बढ़ाने के लिए भारत सरकार ने उचित कारणों से ही ध्यान नहीं दिया था। पर लगता है कि वह शक्ति न होते हुए भी पं. नेहरू को कुछ समय तक यह गलतफहमी हो गई थी कि वह जो कुछ भी हैं, चीन की छेड़छाड़ को रोकने के लिए पर्याप्त है। उन्हें यह गलतफहमी क्यों हुई इसका कोई निश्चित कारण नहीं मिलता। रक्षा मंत्री श्री कृष्ण मेनन पर उनका बहुत ही विश्वास था। हो सकता है कि उन्होंने ही उनकी वैसी धारणा बना दी हो। शायद इसीलिए चीनी आक्रमण के समाचार आना शुरू होने पर मद्रास हवाई अड्डे से कोलम्बो के लिए रवाना होते समय पं. नेहरू के मुंह से पत्रकारों को ऐतिहासिक प्रतीत होने वाला उत्तर मिला, 'हमने दुश्मन को खदेड़कर बाहर कर देने के लिए आदेश दे दिये हैं। ('We have issued the orders to push out the enemy')। यह उसी प्रकार का वाक्य था जैसे घर का मालिक या मालकिन घर में काम करने वाले नौकर को आदेश दे कि झिंगुर या चूहे आ गए हैं, उन्हें मारकर बाहर फेंक दो।

पर युद्ध के परिणामस्वरूप उन्हें जो देखना पड़ा उससे वे भलीभांति समझ गए कि उनकी बड़ी भूल हो गई। एक पत्रकार सम्मेलन में उन्होंने विस्तार के साथ बताया कि चीन के संबंध में भारत की नीति किस प्रकार असफल होती गई। उन्होंने यह भी बताया कि चीन का व्यवहार किस प्रकार धोखेबाजी का था और उसकी आशंका होने के कारण भारत ने प्रारंभ से ही क्या सावधानियां बरती थीं। मुझसे नही रहा गया। मैंने पूछा, 'यदि आप यह सब जानते थे तो स्वयं देश के बाहर जाते समय शत्रु को खदेड़ बाहर करने का आदेश आपने किस बलबुते पर दिया। भारत की पराजय जैसे नाजुक विषय पर इतना साफ—साफ सवाल संसद में भी पूछा गया हो इसका मुझे स्मरण नहीं है। मुझे तो लगा हि कि पं. नेहरू अब मेरे सवाल पर आगबबूला हो जायेंगे, उपस्थित दूसरे पत्रकारों को भी वैसा ही लगा। वहां जो सुरक्षा पुलिस थी, वह भी कुछ अधिक चौकस होती दिखाई दी। पर पं. नेहरू जरा भी नहीं बिगड़े। उन्होंने चीन की दगाबाज नीति पर पन्द्रह मिनट तक और शांति के साथ भाषण दिया। पर उसमें मेरे सवाल का जवाब नहीं था। पं. नेहरू

का यह ढंग ही था। उत्तर देने की उनकी इच्छा नहीं है, यह देखकर पत्रकारों ने भी दूसरे प्रश्न पूछना प्रारंभ किया।

१९६२ में चीन के आक्रमण के परिणामस्वरूप भारत को नेफा और लद्दाख, इन दोनों ही क्षेत्रों में पराजय देखनी पड़ी। पर नेफा की पराजय में भारत बहुत अधिक बदनाम हुआ। वहा भारतीय सेना पीठ को पैर लगाकर भाग खड़ी हुई थी। उस समय ऐसा लगा कि असम पर भी चीन का कब्जा हो जाएगा, और उसे रोकने के लिए भारत कुछ नहीं कर सकता। इस भावना से पं. नेहरू परेशान हो गए थे और उन्होंने असम की जनता से बिदा लेने के लिए रेडियो पर बोलते हुए कहा था कि असमी जनता के लिए उनका दिल टूट रहा है। लद्दाख क्षेत्र में भी भारत की पराजय हुई। पर उसमें ऐसा कुछ नहीं था कि जो बदनामी प्रतीत हो। लड़ाई में हार या जीत होती ही रहती है। सैनिक कैसे लड़े यही महत्व की बात होती है। कश्मीर के मुख्यमंत्री श्री बख्शी गुलाम मुहम्मद ने हम पत्रकारों को बताया था कि लद्दाख में स्थान—स्थान पर राणा प्रताप के काल का स्मरण दिलाने वाली हल्दीघाटी की लड़ाई हुई। जवान और सेनापति रणक्षेत्र में लड़ते—लड़ते मरे और शहीद हुए। किसी ने कुरूक्षेत्र छोड़ा नहीं। पर नेफा क्षेत्र में हमारे जवान सिर पर पैर रखकर भाग निकले थे। वहां के प्रमुख सेनापति श्री कौल को सर्दी हो गई और वे दिल्ली आकर बैठ गए। ऐसा क्यों हुआ? बर्फीले पहाड़ पर आवश्यक युद्ध सामग्री की कमी इस पराजय का एक प्रमुख कारण बताया गया। पर यही कमी दोनों छोर पर एक जैसी ही थी। फिर सैनिकों के व्यवहार में यह फर्क क्यों पड़ा? श्री बख्शी जी ने पत्रकारों से जो निजी तौर पर इसका अपना कारण बताया वह यह था कि नेफा में सेना का नेतृत्व शिफारिशों से सेनापति पद तक पहुंचे श्री बी. एम. कौल कर रहे थे। जबकि लद्दाख की और सेना का नेतृत्व वे सेनानी कर रहे थे जो अपने गुणों और वीरता के कार्यो से ऊपर चढ़े थे। प्रतिकुल परिस्थिति के कारण उनकी पराजय अवश्य हुई, पर मरते दम तक उनके हाथ से ऐसा कोई काम नहीं हुआ जिसमें भारत की बदनामी हो।

भारतीय क्षेत्र पर आक्रमण कर चीन ने जो रास्ता बनाया वह लद्दाख क्षेत्र में था। नेफा क्षेत्र की मॅकमोहन रेखा चीन को उस समय स्वीकार नहीं थी। पर समझौता हेतु चीन वह रेखा मानने को तैयार था। चीन की सेना ने उस समय मेकमोहन रेखा पार क्यों की और जिस क्षेत्र पर उसका दावा था वह कब्जे में आने के बाद एकतरफा निर्णय लेकर वह उसे अचानक छोड़कर क्यों चला गया, यह रहस्य न उस समय सुलझा और न आज ही पूरी तरह सुलझा है। कुछ विदेशी पत्रकारों का कहना है कि दलाई लामा को भारत द्वारा शरण देना चीन को अच्छा नहीं लगा था। पर वह उसके निमित्त भारत से दुश्मनी मोल लेने को तैयार नहीं था। अक्षयचिन के क्षेत्र के जिस विभाग के संबंध में विवाद था वह तिब्बत के साथ अपना घना संबंध बनाये रखने के लिए चीन का आवश्यक प्रतीत होता था। जब चीन ने उस क्षेत्र में सड़क बनाना प्रारंभ किया तो उसे उस समय किसी ने रोका भी नहीं। कदाचित यह विवाद लद्दाख क्षेत्र के कुछ विभाग तक ही सिमित रहता।

परंतु पं. नेहरू ने जिस प्रकार घमंड में आकर आक्रमणकारियों को खदेड़ने का आदेश दिया, नेफा क्षेत्र के सैनिक अधिकारियों को सैनिक दृष्टि से शक्तिशाली राष्ट्रों के साथ उस प्रकार का व्यवहार करने का अनुभव नहीं था।

अत: उन्होंने उस आदेश को जिस प्रकार से कार्यान्वित किया उससे शांत प्रतीत होने वाली नेफा की सीमाएं भी भड़क उठी। भारत से सटी पूरी सीमा पर चीन ने अपनी काफी सेना रखी थी। पर भारतीय क्षेत्र में चीनी सैनिकों की घुसपैठ के जो समाचार लद्दाखा क्षेत्र से आ रहे थे, उस प्रकार से कम से कम उस समय नेफा क्षेत्र से नहीं आ रहे थे। पर एक प्रकार से अघोषित युद्ध की शुरुआत हो गई थी। एक दिन की बात है। भारत के रक्षा विभाग के एक प्रवक्ता ने पत्रकारों को बताया कि हमने आगे खोजबीन करना प्रारंभ कर दिया है। (We have started probing forward) युद्ध के संदर्भ में इसका जो अर्थ निकलता है, वही विदेशी पत्रकारों ने लगाया। उन्होंने समाचार दिया कि भारत ने नेफा क्षेत्र में प्रत्याक्रमण (counter attack) प्रारंभ कर दिया है। वास्तव में क्या हुआ था, यह कहना कठिन है। पर दूसरे दिन भारतीय प्रवक्ताओं ने स्पष्टीकरण दिया कि आगे खोजबीन करने का अर्थ प्रत्याक्रमण नहीं होता। मन में यह संदेह पैदा होता है कि क्या अपने फौजी सामर्थ्य को बहुत अधिक समझनेवाले अनुभवहीन सैनिक अधिकारियों ने बिना जरूरत संघर्ष का क्षेत्र बढ़ा दिया था। यह संदेह यदि ठीक हो तो मॅकमोहन क्षेत्र में आक्रमण के बाद चीनी सेना की एकतरफा वापसी का भी अर्थ लग जाता है। चीनी सेना का उद्देश्य उस क्षेत्र के भारतीय सेनापति को सबक सिखाना भर था। वह पूरा होते ही वह वापस लौट गयी।

कारण कुछ भी हो। पर उस समय दुनिया के बहुत ही कम राष्ट्रों ने कहा कि चीन ने भारत पर हमला किया है। जैसा कि मैं कह चुका हूं, उन दिनों मिस्त्र भारत का बहुत ही निकटवर्ती मित्र समझा जाता था। युद्ध के कुछ दिन पूर्व दोनों देशों के बीच जब तनातनी चल रही थी, भारत स्थित मिस्त्र के राजदूत ने किसी सार्वजनकि समारोह में स्पष्ट शब्दों में कहा था कि यदि चीन ने भारत पर आक्रमण किया तो हम भारत की ओर से युद्ध में खड़े होंगे। उनका यह कथन राजधानी के एक हिंदी समाचारपत्र में प्रकाशित भी हुआ था। पर प्रत्यक्ष आक्रमण होने के बाद युद्ध में सहायता करने की बात तो दूर, मिस्त्र के नेताओं के मुंह से यह भी नहीं निकल सका कि चीन आक्रमणकारी है। उनके इस व्यवहार पर हम भारतीय पत्रकारों के मन में क्रोध होना स्वाभाविक था। युद्ध के कुछ महिनों बाद मिस्त्र के प्रधानमंत्री श्री अली साबरे भारत आये। वे राष्ट्रपति भवन में ठहरे थे। वहा उनका एक पत्रकार सम्मेलन हुआ। चीन के आक्रमण के संबंध में मिस्त्र ने जो नीति अपनायी थी उसके बारे में मद्रास हिन्दु दैनिक के श्री ई. के. रामास्वामी, हिंदी 'आज' के श्री चतुर्वेदी तथा मैंने, श्री अली साबरे से काफी तीखे–तिरछे सवाल किये। हमारा पहला प्रश्न था कि आपने चीन के आक्रमण को आक्रमण क्यों नहीं कहा? श्री अली साबरे ने सवाल झटकते हुए जवाब दिया कि हमें क्या मालूम की आप पर आक्रमक

हुआ था। क्या हम देखने आये थे? इस पर मुझे कुछ गुस्सा आया और मैंने कहा, '१९५६ में इंग्लैंड और फ्रांस ने मिस्त्र पर जब आक्रमक किया तब सबसे पहले भारत ने ही कहा था कि वह आक्रमणकारी है। तब क्या हम देखने आये थे? इस पर श्री अली साबरे और चिढ़ गए और उन्होंने कहा, 'पर हमने उस आक्रमण का मुकाबला किया, भाग नहीं गए'। 'यह नेफा क्षेत्र में भारतीय सेना की भगदड़ की और इशारा था। श्री अली साबरे के उत्तर से हमें संतोष तो नहीं हुआ पर चुप बैठना ही पड़ा। पर बाद में मुझे आश्चर्य इस बात का हुआ कि हमने श्री अली साबरे से जो सवाल पूछे, वे प. नेहरू को पसंद नहीं आये। विदेश मंत्रालय के अधिकारियों द्वारा यह हमें अप्रत्यक्ष रूप से जताया गया।

उन दिनों रूस के साथ भारत की काफी मित्रता थी। मुझे एक समारोह का विशेष स्मरण है। श्री बुल्गानिन और श्री निकिता क्रुश्चेव भारत आये थे। संसदीय हिंदी समिति की ओर से उनके सम्मान का आयोजन था। यह समारोह राष्ट्रपति भवन में ही हुआ था। राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्र प्रसाद भी समारोह में उपस्थित थे। निकिता क्रुश्चेव के भाषण का तुरंत अनुवाद उस समय लोकसभा के सदस्य श्री सत्यनारायण सिंह ने किया था। उन्हें रूसी भाषा अच्छी आती थी। श्री क्रुश्चेव ने अपने भाषण में कहा था कि हम ठीक हिमालय के पीछे हैं। आप पर कोई संकट हो तो आप आवाज भर लगा दीजिए। हम तुरंत पहुंच जायेंगे। मैंने सुना था कि उन्होंने अपनी यह घोषणा कश्मीर में हुए एक समारोह में भी दुहरायी थी। पर जब प्रत्यक्ष में हिमालय की उस ओर से ही भारत पर आक्रमण हुआ, रूस भारत की सहायता के लिए नहीं पहुंचा। शायद कारण यह था कि कम से कम उस समय तक रूस और चीन के मतभेद खुलकर सामने नहीं आये थे। भारत की कम्युनिस्ट पार्टी भी एक थी। पर मतभेद प्रगट होने पर, और उसके परिणामस्वरूप भारत की कम्युनिस्ट पार्टी का विभाजन होने के बाद भी, रूस भारतीय सीमा प्रदेश के संबंध में चीनी नक्शों के दावे ही स्वीकार करता रहा। कुछ समय तक यह कहकर बात टाली जाती रही कि वे तो पुराने नक्शे है, पर आज इतने वर्षों के बाद भी स्थिति में कोई खास परिवर्तन नहीं हुआ है।

हां, भारत के हित में रूस द्वारा की गई एक बात अवश्य कही जा सकती है। पर वह रूसी–चीनी विवाद स्पष्ट हो जाने के बाद की है। भारत की कम्युनिस्ट पार्टी बंट चुकी थी। एक चीन समर्थक थी, तो दूसरी रूसी समर्थक। श्री डांगे रूस समर्थक कम्युनिस्ट पार्टी के नेता थे। चीनी घुसपैठ के संबंध में लोकसभा में हुए एक विवाद में श्री डांगे ने भारत सरकार की ही आलोचना करते हुए कहा था कि यदि भारत अपना व्यवहार सुधारे तो वे चीन की ओर से कुछ न किये जाने की गारंटी कर सकते हैं। पर यह बात जब कम्युनिस्ट पार्टी एक थी तब की थी। दो पार्टियों हो जाने पर श्री डांगे और उनकी पार्टी के चीन के विरोध में किये गए हर सरकारी कदम का समर्थन किया। माना यही जाएगा कि यह उन्होंने रूस से इशारा मिलने के बाद ही किया होगा।

उन्हीं दिनों की श्री डांगे के संबंध की एक घटना मुझे याद है। कम्युनिस्ट पार्टी का औपचारिक विभाजन नहीं हुआ था। पर रूस और चीन के मतभेदों के कारण पार्टी के अंदर काफी तनाव पैदा हो गया था। दक्षिण भारत से आये कम्युनिस्ट श्री डांगे को लक्ष्य कर काफी तीखी बातें संसद के सेंट्रल हॉल में कहा करते थे। श्री डांगे ब्राम्हण हैं इस बात को लेकर भी आलोचना की जा रही थी। खबर फैली थी या फैलायी गई थी कि मेरठ षड्यंत्र केस में जब श्री डांगे फंसे तब माफी मांगकर छूटे थे। किसी बड़े नेता के संबंध में इस प्रकार की खबर निश्चय ही चटपटी हो जाती है। मुझमें भी उस खबर के प्रति आकर्षण जागा। पर उसे छापने से पहले मैंने उसकी पुष्टि करनी चाही। मेरे एक कम्युनिस्ट पत्रकार मित्र थे। श्री नंदी उनका नाम था। वे बंगलाभाषी थे। कम्युनिस्ट पार्टी के प्रति उनकी बहुत ही श्रद्धा थी। उनका रहन—सहन बहुत ही सीधा—सादा था। पार्टी के काम की दृष्टि से उन्होंने अविवाहित रहना स्वीकार किया था। वे बहुत कम बोलते थे। उनके प्रति मेरे मन में काफी आदर था। श्री डांगे के संबंध में जो खबर फैली थी उसके बारे में मैंने उनसे पूछा। उन्होंने कहा, 'बिल्कुल सही है, छाप दो।' 'खबर बड़ी थी और उसे प्रकाशित करने का मुझे मोह भी हुआ। पर दूसरे ही क्षण मेरे मन में एक विचार आया। इस खबर को प्रकाशित कर मैं क्या हासिल करना चाहता हूं? क्या श्री डांगे को बदनाम करना? जबकी यह घटना थी तब श्री डांगे किशोर उम्र के थे। उस समय भय अथवा किसी अन्य कारण से उनके हाथ से कोई गलत काम यदि हो भी गया तो उससे उनके जीवन का आगे का अच्छा काम तो समाप्त नहीं हो जाता। श्री डांगे की कम्युनिस्ट विचारधारा से मेरा कितना ही मतभेद क्यों न हो, इससे इनकार नहीं किया जा सकता कि वे अच्छे देशभक्त थे। मैंने उनकी देशभक्ति पर कीचड़ उछालने वाली खबर न छापने का निश्चय किया। पर मेरे द्वारा वह न छापने से क्या होता था। उस समय बम्बई से प्रकाशित होने वाले 'करंट' के दिल्ली संवाददाता मेरे मित्र श्री सात्विक को वह मिल गई और 'करंट' में वह बड़ी सुर्खी के साथ छपा। बाद में कम्युनिस्ट पार्टी जब विभाजीत हुई तो मेरे पत्रकार मित्र श्री नंदी चीनवादी कम्युनिस्ट पाटी (मार्क्सिस्ट) के साथ हो गए उस समय मुझे यह स्पष्ट हुआ कि श्री डांगे संबंधी खबर ही पुष्टि उन्होंने क्यों की थी। ईमानदार कार्यकर्ता आमतौर पर अपने नेता की कमजोरी जाहिर नहीं करता। पर रूसी—चीनी मतभेद के कारण श्री डांगे श्री नंदी के नेता नहीं रह गए थे।

कम्युनिस्ट विचारधारा का समर्थक मानकर रक्षामंत्री श्रीकृष्ण मेनन पर राईटिस्ट समझे जाने वाले विरोधी दलों का गुस्सा तो था ही, कांग्रेस दल के भी कई लोग उन पर नाराज थे। वे जब रक्षा मंत्री पद पर थे, उन्हीं दिनों चीन के हाथों भारत की हार होने के कारण वह गुस्सा और बढ़ गया था। कारण जो कुछ भी हो, १९४८ में पाकिस्तान द्वारा कश्मीर पर आक्रमण होने के बाद विभिन्न मंचों पर विशेषत: संयुक्त राष्ट्रसंघ के मंच पर, श्री मेनन जिस आवेश में बोलते थे, वह आवेश चीन के आक्रमण के संबंध में उनमें कभी नहीं दिखाई दिया। शायद उनके मन में भी पं. नेहरू की तरह भारत की सीमाओं के संबंध में संदेह था। प्रधानमंत्री पं. नेहरू ने चीन द्वारा भारत पर की गई कार्रवाई को स्पष्ट

शब्दों में आक्रमण कहा। पर श्रीकृष्ण मेनन ने चीन की भारत विरोधी कार्रवाई के संबंध में कभी भी आक्रमण शब्द का प्रयोग नहीं किया। एक बार लोकसभा में विपक्ष के सदस्यों ने उन्हें जब छेड़ा तो उन्होंने कहा, 'संयुक्त राष्ट्रसंघ ने आक्रमण शब्द की कोई परिभाषा अब तक नहीं की है।' उस समय हम पत्रकारों की समझ में यह नहीं आ रहा था कि जब प्रधानमंत्री पं. नेहरू उसे आक्रमण कहते हैं तब उन्हीं के मंत्रिमण्डल के एक मंत्री के मन में उस शब्द का प्रयोग करने में झिझक क्यों? इस सबका स्वाभाविक रूप से एक परिणाम निकला। इस मांग ने जोर पकड़ा कि रक्षा मंत्री पद से श्री मेनन को हटाया जाए। वैसे देखा जाए तो उन दिनों हम अधिकांश पत्रकार मेनन विरोधी भावनाओं से भरे थे। पर इतने वर्षों के बाद आज ऐसा प्रतीत होता है कि चीन के मामले में श्री मेनन की कोई भूल नहीं थी। पं. नेहरू द्वारा ही यह नीति निश्चित की गई थी कि देश की रक्षा के लिए अधिक खर्च न कर शांतिपूर्ण वातावरण में मूलभूत उद्योगों की नींव डाली जाए। इसके बावजूद हुआ यह था कि श्री मेनन ने रक्षा मंत्री बनने के बाद रक्षा उद्योगों की नींव डाली। उनके कार्यकाल में आमतौर पर यह भी आक्षेप होता था कि रक्षा उद्योगों में शस्त्रास्त्रों के स्थान पर कॉफी छानने के डिब्बे, कॉफी पर्कोलेटर तैयार किये जाते हैं। इसमें कुछ सचाई हो सकती है। पर ऐसा लगता है कि उन्होंने रक्षा उद्योगों में आवश्यकता के अनुसार उत्पादन करने की व्यवस्था की और यह भी देखा कि वह तेजी के साथ हो सके।

पर यह भी सच है कि श्रीकृष्ण मेनन की जुबान बहुत ही तीखी थी। वे अपने सहयोगियों से काम लेना नहीं जानते थे। उनके समय में श्री रघुरमैया रक्षा राज्यमंत्री थे और श्री. डी. आर. चव्हाण उपरक्षामंत्री थे। श्री डी. आर. चव्हाण ने ही मुझे बताया था कि हम दोनों को कोई काम नहीं है। मैं बीड़िया फूकने के सिवा और कुछ काम नहीं करता। श्री रघुरमैया को भी वे कई बार झिड़क देते हैं। यह भी अब रहस्य नहीं रह गया है कि श्री मेनन बड़े सैनिक अधिकारियों के साथ भी बहुत बुरी तरह पेश आते थे। उन्हीं के काल में जनरल थिमैया को इस्तीफा देना पड़ा और एक अच्छे जनरल को हमने खो दिया। उस समय लोकतंत्रीय प्रतिनिधियों की वरिष्ठता की बात कही गई थी, पर उस समय भी यह स्पष्ट नहीं हुआ था कि श्री थिमैया ने लोकतंत्रीय वरिष्ठता को कब नकारा था। श्रीकृष्ण मेनन के साथ जिन्हें रक्षा संबंधी विषयों का कोई प्रशिक्षण नहीं था, मतभेद प्रगट करना क्या लोकतंत्रीय वरिष्ठता का अपमान समझा जाना चाहिए? मुझे तो ऐसा लगता है कि "थिमैया काण्ड" के प्रधान अभिनेता पं. नेहरू ही थे। पड़ोसी देशों में जिस प्रकार की सैनिक क्रांति हो रही थी पं. नेहरू को भी लगता था कि कही वैसा ही भारत में न हो जाय। पं. नेहरू के काल में भारत की रक्षाशक्ति दुर्बल बनी रहने का शायद यह भी एक कारण था।

जहां तक श्रीकृष्ण मेनन की बात है, यह सच था कि उनके मन में कम्युनिस्ट देशों के प्रति अधिक अपनापन था। पर मुझे ऐसा लगता है कि उनमें यह प्रवृत्ति बढ़ने का कारण भी पं. नेहरू ही थे। पं. नेहरू ने भारत के प्रधानमंत्री बनने के बाद निर्गुट

अथवा अलिप्ततावाद को जन्म दिया। वे इस विचारधारा के मुख्य नेता माने जाते थे। निर्गुट अथवा अलिप्ततावाद को कुछ समय तक तटस्थता की नीति समझा जाता रहा है। पर एक बार पं. नेहरू ने ही स्पष्ट कर दिया था कि अलिप्तता का अर्थ तटस्थता नहीं है। उसका अर्थ है समय—समय पर उठने वाले प्रश्नों के संबंध में अपना निर्णय स्वयं करने की स्वतंत्रता। किसी गुट के बंधुआ होकर रहना नहीं। मैं मानता हूं कि यह विचारधारा तो निश्चय ही अच्छी है। पर व्यवहार में इसे शायद ही कोई अपना पाता है।

चीनी आक्रमण के बाद पश्चिमी जर्मनी के उस समय के एक प्रमुख नेता श्री लुबके भारत आये थे। संसद सदस्यों के सामने उनका एक भाषण भी हुआ था। उसमें उन्होंने कहा था कि अलिप्ततावाद की बात भारत जैसे बड़े राष्ट्रों के लिए तो ठीक है, पर हमारे जैसे छोटे राष्ट्रों को दुनिया में जीने के लिए किसी न किसी बड़े राष्ट्र का सहारा लेना ही पड़ता है। कहा जा सकता है कि अलिप्ततावाद की बात करने वाले भारत की चीन के हाथो हुई हार पर यह छिपा कटाक्ष था।

वैसे पं. नेहरू भी रूस और अमेरिका के प्रति समान नीति की बात तो करते थे। पर एक दिन संसद के सेंट्रल हॉल में पत्रकारों द्वारा घेरे जाने पर उनके मुख से एक सत्य भी निकला था। वे शीतयुद्ध के दिन थे। रूस और अमेरिका में मेलमिलाप हो जाए इस प्रकार के जो प्रयत्न हो रहे थे। उसमें पं. नेहरू की आवाज भी उंची उठती थी। उन दिनों उस प्रयत्न को 'डिटेंटें' कहा जाता था। उसकी चर्चा करते हुए पं. नेहरू ने हम पत्रकारों से कहा कि यह डिटेंटें आदि बात करने के लिए ठीक है। पर उसके परिणामस्वरूप सचमुच में यदि इन दोनों महाशक्ति वाले राष्ट्रों में मेलमिलाप हो गया तो ये दोनों मिलकर दुनिया के सभी देशों को दबोच लेंगे। तब तक चीन शक्तिशाली देश के रूप में सामने नहीं आया था। वह रूस का पिछलग्गु देश ही समझा जाता था।

पर यह सब होते हुए भी मुझे आज भी ऐसा लगता है कि रूस और अमेरिका इन दोनों में पं. नेहरू का झुकाव कम्युनिस्ट रूस की ओर अधिक था। इस प्रकार के झुकाव को स्पष्ट करने वाले दो उदाहरण मुझे याद आ रहे हैं। अमेरिका के राष्ट्रपति पद पर जनरल आइझन। हॉवर का चुनाव हुआ। वैसे देखा जाय तो इस घटना की चर्चा भारत के प्रधानमंत्री को भारतीय संसद में स्वयं उपस्थित होकर करने की आवश्यकता नहीं थी। पर पं. नेहरू ने लोकसभा में उसकी चर्चा की और कहा, 'फौजी प्रवृत्ति के व्यक्ति को सेना का नेतृत्व सौंपना तो ठीक है, पर यह कहना कठिन है कि वह देश का शासन भी अच्छा चला सकेगा। 'अमेरिकी जनसाधारण को ये विचार कभी पसंद नहीं आ सकते। उन्हें भारतीय संसद में प्रगट करने की आवश्यकता भी नहीं थी। राष्ट्रपति का चुनाव अमेरिका का अपना प्रश्न था। वहा कौन राष्ट्रपति हो, इसमें हम क्यों उलझे? पर जिस श्री आइझन हॉवर के संबंध में पं. नेहरू ने अनावश्यक विचार प्रगट किये थे वे श्री आइझन हॉवर किस प्रकार सुलझे हुए व्यक्ति निकले इसका प्रमाण १९५९ में उनके भारत आने पर मिला। उस समय की एक घटना मुझे याद है। अमेरिका के सूचना विभाग ने

भारतीय पत्रकारों में एक सर्कुलर बाटा था जिसमें यह जानकारी दी गई थी कि अमेरिकी सरकार ने भारत को किस–किस रूप में और कितनी सहायता दी है। श्री आइझन हॉवर के आने के बाद वह सर्कुलर वापस लिया गया और सहायता के स्थान पर सहयोग शब्द का प्रयोग कर फिर बांटा गया। इसमें सावधानी की यह भावना स्पष्ट होती थी कि सहायता लेने वालों के मन को कोई ठेस न पहुंचे। अमेरिकी मन को ठेस न पहुंचाने की सावधानी हमें भी बरतनी चाहिए थी पर वह हमने नहीं बरती। ऐसा प्रतीत होता है कि रूस के संबंध में हम वह सावधानी अवश्य बरतते थे। कुछ मतभेदों के कारण रूस ने हंगरी पर आक्रमण किया। इसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं था कि वह आक्रमण था। परंतु पं. नेहरू ने यह कहना बार–बार टाला कि रूस आक्रमणकारी है। किंतु विपक्ष ने एक बार लोकसभा में उन्हें ऐसा घेरा कि उन्हें कहना ही पड़ा कि वह रूसी आक्रमण था और रूसी फौजों को वापस जाना चाहिए। ऐसा लगता है कि कश्मीर के मामले में सुरक्षा परिषद में रूस भारत के पक्ष में वीटो का जो प्रयोग कर रहा था उससे हम बहुत अधिक दब गए थे। पर रूस की भी वह एक राजनीति थी। यह शायद उस समय हमारी समझ में नहीं आया। भारत–पाकिस्तान युद्ध के बाद जब वह आया, काफी देर हो चुकी थी, अस्तु।

चीन द्वारा आक्रमण होने के बाद भारत को पराजय का जो मुंह देखना पड़ा, उस पृष्ठभूमि में श्री मेनन से इस्तीफा लेने की मांग बढ़ी। पर शुरू में पं. नेहरू ने उसकी ओर ध्यान नहीं दिया। उसे वे टालते रहे। वह उचित ही था, क्योंकि श्रीकृष्ण मेनन उन्हीं की नीति को कार्यान्वित कर रहे थे। पर इस प्रश्न को लेकर संसदीय कांग्रेस दल में इतनी गरमी पैदा हुई कि यदि पं. नेहरू श्रीकृष्ण मेनन का इस्तीफा मांगने को तैयार न हो तो उन्हीं का इस्तीफा मांगना होगा। पुराणों में एक कथा है। राजा परीक्षित ने सर्पयज्ञ शुरू किया था। इन्द्र ने वासुकी को शरण दी। उस समय कहा गया था कि पहले तो "तक्षकाय स्वाहा" का मंत्र पढ़ा जाए और यदि उसमें कोई कठिनाई हो तो "इंद्राय स्वाहा" मंत्र पढ़ने में भी न हिचकिचाया जाए। उसी प्रकार की बात इस काल में भी प्रारंभ हो गई। बाद में डिप्टी स्पीकर और फिर मंत्री बने श्री रघुनाथराव खाडिलकर ने ही मुझे बताया था कि वे स्वंय पं. नेहरू के पास गए थे और उन्होंने उनसे कहा था कि यदि आपने श्री मेनन से इस्तीफा नहीं लिया तो पौराणिक कथा के अनुसार संसदीय कांग्रेस दल के सदस्य आपका इस्तीफा मांगने पर उतारू हो गए हैं। यह मैं जानता हूं कि श्री खाडिलकर जो कुछ बताते थे, उसमें सचाई कम, नमक–मिर्च ज्यादा होता था। पर वह होने पर भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि श्री मेनन का इस्तीफा जो तब तक नहीं आ रहा था, आ गया।

श्री मेनन के इस्तीफे के बाद नये रक्षा मंत्री की खोज प्रारंम्भ हुई। कई नामों की चर्चा थी। उसमें भी चार नामों की चर्चा अधिक थी। वे थे, पंजाब के मुख्यमंत्री श्री प्रताप सिंह कैरों, उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री श्री चन्द्रभानु गुप्त, उड़ीसा के श्री बीजू पटनायक और महाराष्ट्र के मुख्यमंत्री श्री यशवंतराव चव्हाण। श्री चव्हाण रक्षा मंत्री बनेंगे, यह समाचार मुझे ही प्रथम मिला था और वह भी कोई विशेष प्रयत्न किये बिना। श्री चव्हाण को

दिल्ली बुलाया गया था। उन दिनों वह दिल्ली आने पर श्री मोरारजी देसाई के घर ठहरते थे। श्री मोरारजी देसाई वित्तमंत्री थे। राष्ट्रपति भवन के अहते में ही उनका बंगला था। मैं और मेरे एक सहयोगी मराठी पत्रकार उनसे मिलने गए। हमारे पहुंचने के बाद वह बाहर से आये। संभवत: पं. नेहरू से मिलकर ही आये होगे। मैंने टटोलने के ख्याल से कहा, 'हिमालय की रक्षा के लिए क्या सह्याद्रि आ गया?' महाराष्ट्र राज्य की स्थापना के समय श्री चव्हाण ने कहा था कि हिमालय की रक्षा के लिए सह्याद्रि के काले पत्थर जरूरत पड़ने पर अपनी छाती का किला बनायेंगे। मेरा प्रश्न उनके इसी वाक्य के संदर्भ में था। उन्होंने कोई उत्तर नही दिया, केवल मुस्कराये। मुझे विश्वास हो गया और मैंने समाचार दे दिया। यह उनकी नियुक्ति की घोषणा होने के आठ दिन पहले की बात है। मैं उन दिनों 'नवभारत टाइम्स' में था। अंग्रेजी के प्रभाव के कारण भारतीय भाषाओं में काम करने वालों मे उन दिनों एक हीनता की भावना रहती थी। 'नवभारत टाइम्स' के उपसंपादकों को विश्वास ही नहीं हो रहा था कि अपना संवाददाता इतनी बढ़ी खबर दे सकेगा। चार दिन वह खबर वैसी ही पड़ी रही। मैंने संपादक जी के पास शिकायत की। परिणामस्वरूप छठवें दिन वह समाचार छोटे से शीर्षक के साथ कही कोने में छप गया। पर उसके दूसरे ही दिन टाइम्स समाचार संस्था की ओर से समाचार आते ही सात कॉलम का शीर्षक देकर वही समाचार फिर प्रकाशित किया गया।

हिंदी के उपसंपादकों में अपने ही हिंदी के पत्रों के बारे में कितनी हिनता की भावना होती थी इसका और भी मजेदार उदाहरण है। बात काफी पहले की है। मैं उस समय 'नवभारत टाइम्स' में ही था। इंग्लैंड की महारानी एलिजाबेथ द्वितीय की भारत यात्रा थी। उनके साथ उनके पति भी आने वाले थे। निश्चित कार्यक्रम के अनुसार पालम हवाई अड्डे पर ब्रिटीश एयरवेज का उनका विमान उतरा और उनका स्वागत हुआ। मैंने तुरंत हिंदी में समाचार लिखा और भेजा। "महारानी एलिजाबेथ अपने पति के साथ आज दिल्ली पहुंची"। दो दिन बाद की बात है। सूचना मंत्रालय में संवाददाताओं के लिए जो विश्राम कक्ष था और जहां उस दिन के समाचारपत्र पड़े रहते थे, मैं वहां बैठा था। इतने में 'टाइम्स ऑफ इंडिया' का एक वरिष्ठ संवाददाता वहा आया और उसमें वहा बैठे अपने मित्र से कहा, "महारानी के समाचार के संबंध में 'नवभारत टाइम्स' ने तो धूम मचा दी।" मेरे कान खड़े हो गए। क्योंकि वह समाचार मेरा ही था। मेरी यह आदत नहीं थी कि लिखा हुआ समाचार पत्र में प्रकाशित होने के बाद फिर से पढ़ा जाए। अत: पास में ही पड़ा 'नवभारत टाइम्स' मैंने निकाला और अपना समाचार पढ़ा। आंखों पर विश्वास नहीं हो रहा था। छपा यह था कि महारानी एलिजाबेथ अपने द्वितीय पति के साथ दिल्ली पहुंची। विदेशी महिला मेहमान के संबंध में इस प्रकार का उल्लेख कि 'वे द्वितीय पति के साथ पहुंची' निश्चय ही अपमान करने वाला था। यह भूल क्या मेरे ही हाथ से हुई? मैंने डरते–डरते कार्यालय में अपने एक मित्र को टेलीफोन किया और पूछा कि यह कैसे हुआ? उसने बताया कि तुम्हारी कोई गलती नहीं है। एक संस्करण में तुमने जो समाचार दिया था वह वैसा ही गया। पर रात की ड्यूटी पर जो मुख्य उपसंपादक था, उसके 'टाइम्स ऑफ इण्डिया' का

अनुकरण करने का प्रयत्न करने के कारण गड़बड़ी हो गई। अंग्रेजी में एलिजाबेथ के आगे "द्वितीय" शब्द था। मुख्य उपसंपादक को लगा कि वह शब्द अपने संवाददाता ने नहीं लिखा। बड़ी भूल हो गई। इस धारणा से उसने द्वितीय शब्द लिख दिया। पर बाद में प्रुफ ठीक न देखा जाने के कारण वह गलत जगह जुड़ गया।' वास्तव में 'द्वितीय' यह विशेषण लगाने की कोई आवश्यकता ही नहीं थी। समाचार की दृष्टि से इतना पर्याप्त था कि महारानी एलिजाबेथ अपने पति के साथ दिल्ली पहुंची। पर अंग्रेजी का अंधानुकरण करने के प्रयत्न में समाचारपत्र वे सम्मान को मिटाने वाली भूल हुई।

श्री प्रताप सिंह कैरों, श्री चंद्रभानु गुप्त और श्री बीजू पटनायक को नजरअंदाज कर श्री यशवंतराव चव्हाण को पं. नेहरू ने रक्षा मंत्री पद पर क्यों नियुक्त किया, इस संबंध में उन दिनों जो सुना था उसकी सचाई परखने का मेरे पास कोई साधन नहीं था। किंतु ऐसा लगता है कि उसमें से बहुत कुछ सच होगा। श्री प्रताप सिंह कैरों पर पं. नेहरू को काफी विश्वास था। पर यह भी धारणा थी कि वे सिख होने के कारण काफी कड़े मिजाज के हैं। श्री मेनन भी कड़े मिजाज के थे। पं. नेहरू को लगा होगा कि उनका वैसा ही उत्तराधिकारी इन समय नहीं चल पायेगा। विपक्ष के प्रचार के कारण श्री चन्द्रभानु गुप्त भ्रष्टाचार के प्रतीक समझे जाते थे। श्री बीजू पटनायक ने अपनी जान खतरे में डालकर इंडोनेशिया के राष्ट्रपति श्री सुकर्ण को बचाया था। अंत: उनके प्रति पं. नेहरू वे मन में काफी आत्मीयता थी। लेकिन उनके संबंध में भी यह भी संदेह था कि वे जरूरत से अधिक होशियार हैं। पं. नेहरू का श्री चव्हाण से विशेष संबंध तो नहीं था पर संयुक्त महाराष्ट्र जैसे भावनात्मक प्रश्न पर उन्होंने पं. नेहरू के प्रति जो अपनी जो वफादारी जाहिर की थी, उसकी याद पुरानी नहीं पड़ी थी।

इसके अतिरिक्त अब तक के रक्षामंत्री श्रीकृष्ण मेनन बाये गुट के व्यक्ति के रूप में प्रसिद्ध थे। श्री मेनन ने नेहरू नीति को ही कार्यान्वित किया था पर उन्हीं के कार्यकाल में भारत के सम्मान को धक्का लगा था। अंत: उसमें परिवर्तन आवश्यक था। श्री मोरारजी देसाई दायें गुट के व्यक्ति समझे जाते थे। श्री चव्हाण कड़े मिजाज के व्यक्ति के रूप में कभी नही उभरे। अंत: हो सकता है कि पं. नेहरू को ऐसा लगा हो कि उन्हें रक्षामंत्री के पद पर नियुक्त करने से नाक से नथनी बड़ी नहीं हो पायेगी। उन दिनों देश में कम्युनिस्ट विरोधी वातावरण था। श्री चव्हाण राईटिस्ट होने के कारण कम्युनिस्ट विरोधी ही समझे जाते थे। शायद इसीलिए चव्हाण को रक्षा मंत्री बनाने का श्री मोरारजी देसाई का सुझाव पं. नेहरू ने स्वीकार कर लिया। रक्षामंत्री का पद ग्रहण के लिए दिल्ली आने के पूर्व पुणे में श्री चव्हाण मे जो भाषण दिया वह उनके रूस विरोधी विचारों के लिए प्रसिद्ध हुआ। पर वह पं. नेहरू को बिलकुल पसंद नहीं आया और उसके बाद श्री चव्हाण के मुंह से रूस विरोधी विचार कभी प्रगट नहीं हुए। पं. नेहरू के संबंध में एक बात स्पष्ट रूप से सामने आती है। उनकी तात्कालिक आत्मीयता किसी के साथ भी हो, पर उनकी स्थायी आत्मीयता किसी के साथ भी नहीं थी। जनता के रोष के शिकार वे स्वयं होने जा रहे हैं

यह देखते ही उन्होंने मेनन का संरक्षण हटा लिया। उसी प्रकार कामराज योजना के बहाने उन्होने श्री मोरारजी देसाई को भी मंत्रिमण्डल से हटा दिया। श्री मेनन और श्री देसाई वैसे आपस में कितने ही विरोधी क्यों न रहे हो, पं. नेहरू के प्रति दोनों की वफादारी समान थी। दोनों में से किसी ने भी, उन पर अन्याय होने पर भी, निजी चर्चा में भी पं. नेहरू के विरूद्ध कुछ कहा—सुना हो ऐसी जानकारी कम से कम मुझे नहीं है।

नेहरू युग की समाप्ति

पं. नेहरू ने श्री यशवंतराव चव्हाण को रक्षामंत्री के पद पर नियुक्त अवश्य किया। किंतु प्रारंभिक काल में रक्षामंत्री के रूप में उनकी धाक बिलकुल नहीं जमी। राजधानी से प्रकाशित होने वाले अंग्रेजी पत्रों पर उनका प्रभाव भी नहीं था। बीच–बीच में कुछ समाचारपत्र उनका मजाक भी उड़ाया करते थे। इसका एक कारण यह था कि श्री चव्हाण को उस समय अंग्रेजी में बोलने की विशेष आदत नहीं थी। सैनिक दल के प्रमुख को 'कोर कमाण्डर' कहा जाता है। पर अंग्रेजी में कोर का स्पेलिंग corps इस प्रकार है। जिन्हें बोलने की आदत नहीं होती, वे स्पेलिंग के अनुसार उसका उच्चारण करते हैं। श्री चव्हाण ने लोक सभा के अपने भाषण में 'कोर कमाण्डर' का उच्चारण "कार्प्स कमांडर" किया। 'कार्प्स का अर्थ शव होता है। सैनिकी संदर्भ में किसी को 'कार्प्स कमांडर' कहना उसका अपमान करना ही माना जाएगा। पर अंग्रेजी बोलने की आदत न होने के कारण श्री चव्हाण के मुंह से ऐसा उच्चारण हो गया। दिल्ली के प्रसिद्ध पत्र 'हिन्दुस्तान टाइम्स' ने उनके उच्चारण का समाचार चौखट में छापकर उनका मजाक उड़ाने का अवसर न छोड़ा।

प्रारंभिक दिनों में राजधानी के पत्रों द्वारा श्री चव्हाण को कुछ नीचा समझने का एक कारण और भी था। श्री चव्हाण रक्षामंत्री अवश्य थे। पर रक्षा मंत्रालय की सारी व्यवस्था उनके हाथ में नहीं थी। श्री टी. टी. कृष्णाचारी रक्षा समन्वय विभाग के मंत्री कहलाते थे और रक्षा विभाग के क्षेत्र में श्री बीजू पटनायक को भी एक कमरा दिया गया था। इस प्रकार श्री चव्हाण रक्षामंत्री होने पर भी श्री टी. टी. कृष्णाचारी के कनिष्ठ सहयोगी ही समझे जाते थे। श्री कृष्णोचारी को अपनी बुद्धिमत्ता पर इतना नाज था कि वे अपने से छोटे समझे जाने वाले व्यक्तियों के साथ ओछा व्यवहार करते थे। राजधानी में अफवाहें फैल रही थी कि वे चव्हाण के साथ भी उसी प्रकार का व्यवहार कर रहे हैं। श्री टी. टी. कृष्णाचारी के पास कम से कम रक्षा समन्वय मंत्री का पद तो था। पर श्री बीजू पटनायक के पास वैसा कुछ न होने पर भी वह रक्षा मंत्रालय में बड़े नाज के साथ घूमते थे। अत: राजधानी के राजनीतिक क्षेत्रों में चर्चा चल पड़ी थी कि वास्तव में रक्षामंत्री कौन है? विपक्ष के सदस्य श्री हरिविष्णु कामथ ने इस चर्चा को लोकसभा में एक बार उठाया। दिल्ली के पत्रों ने तो उस ओर विशेष ध्यान नहीं दिया, पर मैं उन दिनों नागपुर के 'तरूण भारत' के लिए भी लिखता था। अत: मैंने अपनी साप्ताहिक चिट्ठी में लिखा कि राजधानी के राजनीतिक क्षेत्रों में यह प्रश्न अनेकों के मन में उठ रहा है कि वास्तविक रक्षामंत्री कौन है? इस प्रश्न को श्री कामथ ने लोकसभा में भी उठाया। मैं यह तो नहीं कह सकता कि श्री चव्हाण ने मेरी साप्ताहिक चिट्ठी के उस अंश को पढ़ा ही था। पर जिस दिन मेरी साप्ताहिक चिट्ठीवाला 'तरूण भारत' का अंक दिल्ली पहुंचा, मैं उस दिन श्री चव्हाण से मिलने गया था। मुझे याद है कि उस दिन उन्होंने मुझसे मिलना टाला। कुछ सालों के बाद श्री चव्हाण ने उस विषय की चर्चा करते हुए मुझे बताया था कि उन दिनों मैंने एक

बार जाकर पं. नेहरू से कहा था कि आपका यदि मुझपर विश्वास न हो तो मैं त्यागपत्र देने को तैयार हूं। पर पं. नेहरू ने कहा, 'आप पर मेरा पूरा विश्वास है। पर मेरे मन की एक दुर्बल स्थिति में श्री पटनायक ने मुझसे एक वचन ले लिया था और यही कारण है कि रक्षा मंत्रालय में मुझे उन्हें कुछ अधिकार देना पड़ा है। आप उधर ध्यान न दीजिए'। 'किंतु यह स्पष्ट नहीं' हो सका कि पं. नेहरू के मन की दुर्बल स्थिति क्या थी?

स्वाधीनता के प्रारंभिक दिनों में एक विवाद चलता था। संसदीय कांग्रेस दल को बड़ा समझा जाय या कांग्रेस संगठन को। इस विवाद में पं. नेहरू का वजन हमेशा कांग्रेस संसदीय दल की तराजू में पड़ता था। सरदार वल्लभभाई पटेल की मृत्यु के बाद श्री पुरुषोत्तमदास टंडन को जिन परिस्थितियों में त्यागपत्र देना पड़ा, उसके बाद कांग्रेस संगठन के अध्यक्ष को वास्तविक सम्मान कभी मिला ही नहीं। पं. नेहरू की दृष्टि में कांग्रेस अध्यक्ष का क्या सम्मान था इसका एक उदाहरण इस प्रकार है। अमृतसर में कांग्रेस महासमिति का अधिवेशन था। श्री. यू.एन. ढेबर कांग्रेस के अध्यक्ष थे। बैठक चल रही थी। पं. नेहरू तब तक आये नहीं थे। उनके आने की ओर सब लोगों की आंखें लगी थी। कुछ चर्चा चल रही थी। जो उपस्थित थे उनकी स्वीकृति लेकर श्री ढेबर ने कुछ कामों के लिए उपसमितियां नियुक्त की। इतने में पं. नेहरू आये। उन्होंने पूछा कि क्या हो रहा है। जो हुआ था वह ज्ञात होते ही पं. नेहरू के मुंह से निकला, "यह क्या बदतमीजी है।" आगे कभी पता ही न चला कि उन समितियों का क्या बना?

घटनाक्रम यह बताता है कि पं. नेहरू ने संसदीय कांग्रेस दल को भी अधिक सबल नहीं होने दिया। सरदार पटेल जब जीवित थे, वे उपप्रधानमंत्री कहलाते थे। उनकी मृत्यु के बाद सारे मंत्रिमण्डल में पं. नेहरू को एक भी ऐसा व्यक्ति दिखाई नहीं दिया जिसे उपप्रधानमंत्री बनाया जा सके। संसदीय कांग्रेस दल का जो नेता चुना जाता था वही प्रधानमंत्री होता था। सरदार पटेल की मृत्यु के बाद उपप्रधानमंत्री पद भी कायम नहीं रहा। पर उन दिनों यह धारणा बनी थी कि संसदीय दल का उपनेता ही आवश्यकता पड़ने पर प्रधानमंत्री का उत्तराधिकारी बनेगा। पं. गोविंद वल्लभ पंत जब तक जीवित थे इस धारणा को धक्का नहीं लगा। वे ही संसदीय कांग्रेस दल के उपनेता थे। उनकी मृत्यु के बाद श्री मोरारजी देसाई और श्री जगजीवन राम, दोनों की यह आकांक्षा थी कि उन्हें वह पद मिले जिससे कि पं. नेहरू के बाद वे प्रधानमंत्री बन सके। कांग्रेस संसदीय दल में से कुछ का झुकाव श्री मोरारजी की ओर था तो कुछ श्री जगजीवन राम को चाहते थे। यह समाचार भी फैल चुका था कि श्री देसाई उस कमरे में बैठने लगे हैं जहा पं. गोविंद वल्लभ पंत बैठा करते थे। मुझे आज भी इसमें कोई बात अनुचित नहीं लगती कि जो लोग राजनीति में हैं उनमें उसका सर्वश्रेष्ठ पद प्राप्त करने का आकांक्षा उभरे। यदि इन दोनों में से किसी की ओर पं. नेहरू ने अपना झुकाव दिखाया होता अथवा दोनों को छोड़कर किसी तीसरे मंत्री को उपनेता बनाने का प्रस्ताव किया होता तो वह उपनेता अवश्य बन जाता। परम्परा बनी रहती और उसमें कोई अनुचित बात भी नहीं होती। पर पं. नेहरू ने विवाद को

देखकर उपनेता पद के स्तर को ही मिटा दिया। उन्होंने नियम ही बना दिया कि उपनेता पद के चुनाव में किसी मंत्री को नहीं खड़ा होना चाहिए। संगठन तो कमजोर हो ही चुका था, संसदीय कांग्रेस दल को भी कमजोर करने की नींव डाल दी गई।

वैसा माना तो यह जाता है कि पं. नेहरू का संसदीय लोकतंत्र पर दृढ़ विश्वास था। संसदीय कांग्रेस दल के सामने वे कांग्रेस संगठन को भी कम समझते थे। जाहिर तौर पर वे संसद का बहुत सम्मान भी करते थे। संसद के दिनों में न तो वे बाहर जाते थे और न कभी प्रश्नोत्तर के घंटे में गैरहाजिर रहते थे। पर मुझे एक ऐसी घटना भी याद है कि उनके हाथ से एक ऐसा काम हुआ जिसे स्पष्टत: संसद की अवमानना समझा जा सकता है। जहां तक मुझे स्मरण है यह चीन के आक्रमण से पहले की बात है। श्रीकृष्ण मेनन रक्षामंत्री थे। उनकी बड़ी आलोचना करते थे श्री आचार्य कृपालानी, डॉ. राममनोहर लोहिया और प्रोफेसर एन. जी. रंगा। प्रो. रंगा उन दिनों कांग्रेस छोड़कर विरोधी दल में शामिल हो गए थे। इन तीनों के द्वारा श्री मेनन की जो आलोचना हुई उससे बम्बई से प्रकाशित होने वाले 'ब्लिट्ज' के संपादक श्री करंजिया नाराज हो गए और उन्होंने अपने पत्र में तीनों का उल्लेख "थ्री मस्केटियर्स" कहकर किया। यह प्रश्न लोकसभा में उठा और विशेषाधिकार समिति के पास इस रूप में भेजा गया कि क्या माननीय संसद सदस्यों का उल्लेख "थ्री मस्केटियर्स" तीन निशानेबाज के रूप में करना उचित है? क्या इससे लोकसभा के विशेषाधिकारों का उल्लंघन नहीं होता? विशेषाधिकार समिति में सभी दल के सदस्य होते हैं। विशेषाधिकार समिति ने काफी चर्चा के बाद बहुमत से यह रिपोर्ट दी कि विशेषाधिकार का उल्लंघन हुआ है। इस पर लोकसभा में और विचार हुआ और रिपोर्ट की पुष्टि की गई। नियमानुसार 'ब्लिट्ज' के संपादक श्री करंजिया को सदन के सामने प्रताड़ना के लिए बुलाया गया। लोकसभा के अध्यक्ष ने निश्चित शब्दों में उनकी प्रताड़ना भी की। उसे उन्होंने सिर झुकाकर स्वीकार किया। पर वहां से वे निकले और सीधे पं. नेहरू के निवास स्थान पर गए। पं. नेहरू ने उन्हें उसी दिन भेंटवार्ता के लिए समय दिया था। वह भेंटवार्ता 'ब्लिट्ज' में प्रकाशित भी हुई। संसदीय क्षेत्रों में उन दिनों इस बात पर काफी चर्चा थी कि क्या संसद द्वारा दण्डित पत्रकार को उसी दिन प्रधानमंत्री द्वारा भेंटवार्ता के लिए समय देना संसद को ही अपमानित करना नहीं है? संसद के कई वरिष्ठ सदस्यों की उस समय यही धारणा थी कि ऐसा कर के प्रधानमंत्री ने संसद को ही अपमानित किया है।

श्री ढेबर के बाद पं. नेहरू की पुत्री श्रीमती इंदिरा गांधी कांग्रेस की अध्यक्ष बनायी गयी। प्रधानमंत्री की पुत्री होने के कारण उस पद का महत्व कुछ अवश्य बढ़ा। पर मैं यह नहीं कह सकता कि उनके कार्यकाल में कांग्रेस संगठन सशक्त बनने की ओर भी आगे बढ़ा। उनके अध्यक्ष काल की एक उपलब्धि कहीं जा सकती है। केरल में कम्युनिस्ट सरकार थी। उस समय सारे देश में वही एक सरकार थी जो विपक्ष की कही जा सकती थी। चीन की गतिविधियों के कारण देश में कम्युनिज़्म विरोधी वातावरण बन रहा था।

केरल की कम्युनिस्ट सरकार ने भी दल की अंतरराष्ट्रीय नीति के अनुसार केरल की शिक्षा संस्थाओं में हस्तक्षेप करना प्रारंभ किया। केरल में प्रमुख रूप से तीन प्रकार की शिक्षा संस्थाएं थी—ईसाइयों की, मुस्लमानों की और नायर समाज की। नायर समाज के एक बहुत ही लोकप्रिय नेता थे श्री मन्मथ पद्मनाभन। श्री मन्मथ पद्मनाभन ने एक बड़ा आंदोलन खड़ा किया। उसे श्रीमती गांधी का समर्थन था। इस आंदोलन में ईसाइयों से तो सहयोग लिया ही गया, केरल की मुस्लिम लीग का भी सहयोग लिया गया। पुत्री की प्रेरणा से आंदोलन जोर पकड़ा और प्रधानमंत्री के रूप में पिता पं. जवाहरलाल नेहरू ने "संविधान के अनुसार वहां कार्य नहीं चल रहा है" इस प्रकार की राज्यपाल की सलाह की खानापूरी कराकर वहां राष्ट्रपति का शासन स्थापित करा दिया। वैसे पं. नेहरू विचारों से सामान्यत: कम्युनिज्म विचारधारा के निकट समझे जाते रहे है। पर लगता है की पुत्री का प्रेम अधिक हावी हो गया। इस आंदोलन में मुस्लिम लीग के हाथ मिलाने के प्रश्न को लेकर कांग्रेस में काफी हायतोबा हुई थी। इस पर विचार करने के लिए चण्डीगढ में कांग्रेस महासमिति की एक बैठक भी हुई थी। इस अधिवेशन में खुली चर्चा की दृष्टि से प्रेस का प्रवेश नहीं था। जो खबर छनकर बाहर आयी उसमें भूतपूर्व मंत्री श्री श्यामनंदन मिश्र का यह आक्षेप प्रकट हुआ था कि भारत के बंटवारे में सहयोग देनेवाली सांप्रदायिक संस्था मुस्लिम लीग के साथ इस आंदोलन में कांग्रेस ने हाथ क्यों बटाया? कांग्रेस अध्यक्ष पद से श्रीमती इंदिरा गांधी ने उसका जो समर्थन किया और जो छनकर ही बाहर आया था, वह इस प्रकार था। अंतरराष्ट्रीय कम्यूनिजम् का मुकाबला करने के लिए साम्प्रदायिक संस्था मुस्लिम लीग से सहयोग करने में कोई हर्ज नहीं है। उन्होंने यह भी कहा कि केरल की मुस्लिम लीग स्वाधीनता के पूर्व की मुस्लिम लीग की तरह नहीं है। श्रीमती गांधी का कथन बाद में हुई घटनाओं की कसौटियों पर कितना खरा उतरा यह तो इतिहासकार ही बता सकते है। पर किसी निर्वाचित सरकार को जन—आंदोलन के द्वारा पदभ्रष्ट कराने की स्वाधीनता के बाद में इतिहास की यह पहली घटना अवश्य थी।

चीनी आक्रमण के बाद पं. नेहरू को यह अनुभव होना प्रारंभ हो गया कि कांग्रेस दल कमजोर हो रहा है। ऐसा दिखाई देता है कि दल को सबल बनाने की दृष्टि से उसका नेतृत्व युवा वर्ग के हाथ में देने का विचार उनके मन में आने लगा था। श्री कामराज तक कांग्रेस के अध्यक्ष नहीं बने थे। रक्षामंत्री के पद पर नियुक्त श्री यशवंतराव चव्हाण को कांग्रेस का अध्यक्ष बनाने का विचार पं. नेहरू के मन में आया था। इसका एक अप्रत्यक्ष प्रमाण मुझे मिला था। 'महाराष्ट्र टाइम्स' के भूतपूर्व संपादक श्री द्वा. भा. कर्णिक मानवेन्द्र राय वादी थे। श्री चव्हाण के विचार भी उनसे मिलते जुलते होने के कारण दोनों में काफी मित्रता थी। उन दिनों कर्णिक दिल्ली में "केसरी" के प्रतिनिधि थे। उनसे मेरी अच्छी बनती थी। वे एक दिन मेरे पास आये और उन्होंने मुझसे पूछा कि "यदि श्री यशवंतराव चव्हाण कांग्रेस का अध्यक्ष पद स्वीकार करें तो वह उनके भविष्य कि दृष्टि से कैसा रहेगा? मैंने पूछा, "क्या ऐसा कोई सुझाव है?" श्री कर्णिक ने कहा "वैसा समझा जा सकता है।" मैंने कहा आज जो हालात है, उन्हें देखते हुए कांग्रेस का अध्यक्ष पद स्वीकार करना श्री

चव्हाण के व्यक्तिगत जीवन की दृष्टि से भी अच्छा हो सकता है। साथ ही दल पर आज जिसका नियंत्रण है, वह कल प्रधानमंत्री भी बन सकता है। मुझे लगा कि श्री कर्णिक को भी मेरी बात जंच गई थी। पर बाद की घटनाओं से स्पष्ट है कि श्री यशवंतराव चव्हाण कांग्रेस के अध्यक्ष नहीं बने। इसका जो अर्थ मैं लगा सका वह यह था कि श्री चव्हाण मंत्रीपद छोड़कर कांग्रेस का अध्यक्ष बनने को तैयार नहीं हुए।

श्री चव्हाण के प्रस्तुत न होने के कारण हो अथवा अन्य किसी कारणवश हो पं. नेहरू ने श्री कामराज को कांग्रेस का अध्यक्ष बनाया। पं. नेहरू श्री कामराज को समाजवादी विचारधारा का समझते थे। उन्हीं के मुख्यमंत्रित्व काल में मद्रास के पास आवडी में समाजवादी ढाँचे की समाजरचना का लक्ष्य कांग्रेस ने अपने वार्षिक अधिवेशन में स्वीकार किया था। श्री कामराज अधिक पढ़े–लिखे न होने पर भी सफल मुख्यमंत्री तो थे ही, उनका रहन–सहन बहुत ही सादा होने के कारण वे जनसाधारण के भी अधिक निकट थे। उनके अध्यक्ष बनते ही कांग्रेस संगठन को सुधारने के प्रश्न पर चर्चा प्रारंभ हुई। यह विचार प्रस्तुत किया गया कि कांग्रेस के सभी नेता सरकारी कामों में उलझे होने के कारण कांग्रेस संगठन का काम तो कोई करता ही नहीं। यह भी समाचार छपा कि स्वयं पं. नेहरू प्रधानमंत्री पद छोड़कर संगठन का काम करने को तैयार है। पर उसी के साथ–साथ यह कहने वालों का तांता लग गया कि देश के हित की दृष्टि से पं. नेहरू को वैसा नहीं करना चाहिए। यह मान लिया गया कि संगठन को मजबूत बनाने काम कुछ कम महत्वपूर्ण है। पं. नेहरू द्वारा मंत्रिमंडल से हटने की तैयारी दिखाने के बाद औरों को भी कुछ लाज आयी और उनकी भी वह तैयारी दिखाई दी। अंत में कुछ मंत्रियों के संबंध में यह तय हुआ कि वे सरकार से हटकर संगठन का काम करें। इस सारी कार्रवाई को कामराज योजना कहा गया। इनमें केंद्रीय मंत्रिमंडल के प्रमुख मंत्री श्री मोरारजी देसाई, श्री जगजीवनराम, श्री. स. का. पाटिल, श्री लालबहादुर शास्त्री और शिक्षा मंत्रालय के राज्यमंत्री श्री कालूलाल श्रीमाली के नाम थे। मुख्यमंत्रियों में उत्तर प्रदेश के श्री चन्द्रभानु गुप्त तथा काश्मीर के बख्शी गुलाम मुहम्मद भी थे। उन दिनों यह चर्चा होने लगी थी कि ये सभी लोग “नाक से नथनी भारी” जैसे होने लगे थे। कुछ समय बाद स्पष्ट रूप से यह कहा गया कि संगठन को मजबूत करने कि लिए यह कामराज योजना नहीं थी अपितु श्री मोरारजी देसाई को निकालने के लिए नेहरू योजना थी। इस सूची में श्री लालबहादुर शास्त्री का नाम देखकर बहुतों को आश्चर्य हुआ। क्योंकि श्री लालबहादुर शास्त्री पं. नेहरू के बहुत ही निकट समझे जाते थे। कुछ लोगों की धारणा यह थी कि उस सूची में श्री लालबहादुर शास्त्री का नाम श्रीमती इंदिरा गांधी के कारण लिखा गया। कारण कुछ भी हो उन दिनों भी यह अफवाह थी कि श्रीमती गांधी पर्दे के पीछे से काफी सूत्र संचालन करती है और शास्त्रीजी के संबंध में उनके मन में कुछ दुर्भावना भी है। आगे चलकर यह प्रमाणित हो गया कि उक्त कार्रवाई संघटन को सुधारकर उसे सदृढ़ बनाने की योजना नहीं थी। अपितु कुछ लोगों को मंत्रिमण्डल से निकाल बाहर करने का षड्यंत्र था। कांग्रेस के काम के लिए जिन्हें मंत्रिमण्डल से हटाया गया उनमें से किसी को

भी संगठन के किसी काम की जिम्मेदारी सौंपने का प्रयत्न नहीं हुआ। इस बात का कोई स्पष्ट प्रमाण मौजूद नहीं है कि पं. नेहरू के मन में श्री मोरारजी देसाई के संबंध में क्या कोई गांठ थी। पर बाद की अनेक घटनाओं से स्पष्ट हो गया कि श्री कामराज के मन में इस प्रकार की गांठ अवश्य थी।

यहीं मुझे यह भी कहना पड़ेगा की पं. नेहरू का स्वभाव बहुत ही आत्मकेंद्रित था। उनकी ही अध्यक्षता में मंत्रिमण्डल की बैठकें हुआ करती थी। उनकी सहमति के बिना कोई भी निर्णय नहीं होता था। पर संसद में उस निर्णय की आलोचना होने पर उसके समर्थन का दायित्व विभाग से सम्बन्धित मंत्री पर छोड़कर वह अलग हो जाते थे। उनकी इस नीति के शिकार श्री मेनन तो हुए ही, उसी के कुछ महीने बाद श्री मोरारजी देसाई भी हुए। श्री यशवंतराव चव्हाण रक्षामंत्री बन चुके थे। १९६३ में जो बजट पेश हुआ उस समय वित मंत्री पद पर श्री मोरारजी देसाई थे। चीनी आक्रमण के संदर्भ में विपक्ष के ही नहीं, कांग्रेसी सदस्यों ने भी देश की रक्षा के लिए खून का कतरा–कतरा बहा देने की बात कही थी। निश्चय ही चीन जैसे सैनिक दृष्टि से समर्थ देश के मुकाबले में अपने देश को खड़ा करने के लिए बहुत बड़े प्रयत्नों की आवश्यकता थी। श्री मोरारजी देसाई ने उस वर्ष सबसे अधिक करों (चार सौ करोड़) का प्रावधान किया था। शस्त्रास्त्रों की खरीद के अंतरराष्ट्रीय बाजार में सोने में ही मूल्य चुकाना पड़ता था। उसके निमित्त जनता से सरकारी कोष में सोना दान देने की मांग तो की ही गई थी, श्री मोरारजी देसाई ने स्वर्ण नियंत्रण आदेश जारी कर व्यक्ति के पास सोने के संग्रह पर भी प्रतिबंध लगाया था। यह आदेश जारी होने से पूर्व मंत्रिमण्डल की बैठक में उस पर चर्चा हई थी और मंत्रिमण्डल की स्वीकृति के बाद ही वह आदेश जारी हुआ था। सोने का संग्रह करने की प्रवृत्ति की रोकथाम करने दृष्टि से वह बहुत अच्छा आदेश था। पर उस आदेश को लेकर कुछ के हितों को जो चोट पहुंची, उसके कारण देश में उसके विरूद्ध तूफान खड़ा हो गया। गरीब सुनारों के नाम से श्री मोरारजी का बहुत ही काला चित्र संसद में प्रस्तुत किया गया। श्री मोरारजी ने जो उत्तर दिया वह काफी संतोषजनक था। उन्होंने बताया कि इस आदेश का वास्तव में गरीब सुनारों पर कोई असर नहीं पड़नेवाला है क्योंकि उनमें से अधिकांश तांबे और चांदी के ही गहने बनाते है। आभूषणों के लिए चौदह कैरट सोने की छूट तो थी ही। पर आश्चर्य की बात तो यह थी कि कई कांग्रेसी सदस्य श्री मोरारजी देसाई के विरूद्ध आवेशपूर्ण भाषण दे रहे थे और पं. नेहरू ने एक बार भी उठकर यह नहीं कहा कि स्वर्ण नियंत्रण आदेश का निर्णय मंत्रिमण्डल का है। उसके निमित्त अकेले श्री मोरारजी देसाई को दोषी न ठहराया जाए। कामराज योजना में जब मोरारजी देसाई हटे तब श्री टी. टी. कृष्णमाचारी को वित्तमंत्री बनाया गया। उन्होंने वित्तमंत्री बनने के बाद जो पहला काम किया वह था स्वर्ण नियंत्रण आदेश वापस लेने का। जिस समय उन्होंने आदेश वापस लेने की घोषणा की, मैं लोकसभा की प्रेस दीर्घा में ही था। खुशी में इतनी जोरो से मेजे थपथपायी गयी की वह ध्वनि आज भी कानों में गूंज रही है। शत्रु के हाथ से इंच–इंच भूमि वापस लेने के लिए अपने खून का कतरा–कतरा बहा देने का संकल्प

करने वाले संसद सदस्य उसी दृष्टि से आवश्यक सोने के संग्रह पर पर लगी रोक बर्दाश्त नहीं कर सकते थे।

पं. नेहरू के बाद इस देश की बागडोर उन्हीं के हाथों होनी चाहिए यह धारणा श्री मोरारजी देसाई और श्री जगजीवन राम, इन दोनो ही नेताओं की थी। कामराज योजना के कारण ही दोनों मंत्रिमण्डल से बाहर निकले। यह भी कहा जा सकता है कि उन्हें निकालने के लिए ही यह योजना बनी थी। पर उनके बारे में जो कार्रवाई हुई उसके संबंध में दोनों नेताओं की प्रतिक्रिया एक जैसी नहीं थी। मेरी धारणा थी कि श्री मोरारजी देसाई के मन में पं. नेहरू के प्रति काफी कटुता की भावना होगी। उनका मन जानने की इच्छा से मैं एक बार उन्हें मिला। श्री मोरारजी देसाई की एक आदत मुझे दिखाई दी है। वे पहले बड़ी बड़ी बात कह देते हैं पर सुननेवाले ने यदि उसे संभाल लिया तो बाद में वे खुले दिल से चर्चा भी करते है। बातचीत के सिलसिले में मैंने पूछा, “पं. नेहरू का झुकाव कम्युनिस्टों की ओर अधिक क्यों है? मुझे लगा था कि चूंकी कामराज योजना में उन्हें हाल में ही बाहर निकलना पड़ा है, अत: वे पं. नेहरू के संबंध में कुछ तीखी बात ही कहेंगे। पर उन्होंने कहा, पं. नेहरू के मन में देश के गरीबों के लिए बहुत दर्द है। वे चाहते है कि देश में बीच का रास्ता अपनाया जाए। इसीलिए वे अपना वजन कम्युनिस्ट समझी जानेवाली विचारधारा के पलड़े में डालते है। वैसे हमारे देश में कम्युनिस्ट विचारधारा के लिए कोई स्थान नहीं है। मैं श्री देसाई के निष्कर्ष से सहमत तो नहीं हो सकता। पर उस समय मेरे मन पर सबसे अधिक यदि किसी बात ने असर किया तो वह यह थी कि कामराज योजना में बाहर निकलने के बाद भी पं. नेहरू के संबंध में श्री मोरारजी देसाई के मन में कोई कटुता नहीं थी।

पर श्री जनजीवनराम की हालत ठीक इसके विपरीत थी। अपना जन्मदिन सार्वजनिक रूप से मनवाने का उनका क्रम था। वे जब मंत्री थे, तो प्रतिवर्ष पांच मार्च के दिन वह मनाया ही जाता था। कामराज योजना में जिस वर्ष वे मंत्रिमण्डल से हटे उसके बाद मनाया गया उनका जन्मदिन मुझे अच्छी तरह याद है। वह पुराने कॉस्टीट्यूशन क्लब (कस्तुरबा गांधी) के प्रांगण में बनाया गया था। काफी भीड़ भी थी। उनके भाषण में काफी कटुता थी। उन्होंने कहा, श्री संजीवैया को (आंध्र प्रदेश के एक हरिजन नेता) हरिजनों के नेता के रूप में आगे लाना हो तो अवश्य ले आईये, पर जगजीवनराम का स्थान कोई भी छीन नहीं सकता। उन्हीं दिनों की बात है। होली के दूसरे दिन दुलहंडी के नाम से रंग खेलने का जो त्यौहार होता है उस दिन हम कुछ पत्रकारों का क्रम था विभिन्न मंत्रियों के घर जाकर मंत्रियों को गुलाल लगाने का। हम श्री जगजीवनराम के घर भी जाया करते थे। उन्हें हम लोगों का आना बहुत पसंद था। वे उसके निमित्त दोपहर बारह बजे तक बैठक में बैठा करते थे और आने वाले हर व्यक्ति को एक मालपुआ अवश्य खिलाते थे। इस मौके पर कुछ राजनीतिक बातचीत भी हो जाती थी। उन दिनों चर्चा थी की श्रीमती गांधी पर्दे के पीछे बहुत कुछ खेल कर रही हैं। उनकी राय जानने की दृष्टि से

हमने इस चर्चा का उल्लेख ही किया था की श्री जगजीवनराम तिरस्कार भरे शब्दों में कह उठे, वह छोकरी क्या करेगी। उत्तर भारत में छोकरी शब्द से कुछ निम्न अर्थ की व्यंजना होती है। हमें लगा कि उस समय श्री जगजीवनराम को वही व्यंजना अभिप्रेत थी।

१९६३ में हुए भुवनेश्वर के कांग्रेस अधिवेशन के दिनों में ही पं. नेहरू को पहला दिल का दौरा पड़ा। उसके बाद उन्होंने श्री लालबहादुर शास्त्री को बिना विभाग के मंत्री के रूप में मंत्रिमण्डल में ले लिया। पर श्री जगजीवनराम को वापस लेने की उन्होंने ख्वाहिश तक जाहीर नहीं की। श्री जगजीवनराम के मन में इस बात को लेकर काफी नाराजगी थी। उत्तर भारत में होली का त्यौहार का काफी बड़े पैमाने पर मनाया जाता है। उन दिनों पं. नेहरू के तीनमूर्ति बंगले पर गाना बजाने तथा कुछ खाने–पिने का आयोजन कर वह मनाया भी जाता था। भूवनेश्वर में दिल का दौरा पड़ने के बाद पं. नेहरू की तबीयत कुछ सुधरी थी और प्रतिवर्ष की भांति यह समारोह हुआ। मुझे आज यह तो ठीक स्मरण नहीं है कि इस समारोह में पं. नेहरू की स्वास्थ्य कामना के लिए भाषण किसने शुरू किया, पर उस समय का श्री जगजीवन राम के भाषण का कुछ अंश अच्छी तरह याद है। उन्होंने अपने भाषण की शुरुआत ही यह कहकर की कि “होली है, बुरा न मानों”। आगे चलकर उन्होंने कहा, “आपका शरीर रोगमुक्त हो, आपको सुबुद्धि प्राप्त हो, आप ज्ञानी बनें।” श्री जगजीवनराम ने जिस ढंग से यह सब कहा उससे सुननेवालों को लगा कि वे कहना चाहते है कि बीमार होने के कारण आज आपको क्या भला और क्या बुरा, यह नहीं सूझता। आपकी बुद्धि मारी गई है और आप नासमझ हो चुके हैं।” श्री जगजीवनराम का भाषण चल ही रहा था कि श्री लालबहादुर शास्त्री जी वहां आये और उन्होंने भाषण का रूख देखकर अचम्भे में अपने मुंह पर हाथ रखा।

कामराज योजना का सच्चा उद्देश्य चाहे कुछ भी हो, इस बात के चिन्ह स्पष्ट थे कि कांग्रेस जनसाधारण से दूर जा रही है। इस संदर्भ में कामराज योजना के बाद दिल्ली के सप्रू हाऊस में हुई कांग्रेस महासमिति की एक बैठक मुझे याद है। कामराज योजना में श्री स. का. पाटिल भी मंत्रिमण्डल से बाहर निकले थे। इस बैठक में भाषण करने वाले पाटील की मूर्ति आज भी मेरी आंखों के सामने है। श्री पाटिल जब अपने पूरे फॉर्म में होते थे तब भाषण करते समय हर दूसरे–तीसरे मिनट पर अपने चेहरे पर हाथ फेरने की उन्हें आदत थी। पर उस दिन हम पत्रकारों ने नोट किया कि उनके उस भाषण में एक बार भी उनका हाथ उनके चेहरे पर से नहीं घूमा। शायद इसका कारण मंत्रिमण्डल से हटाये जाने की चुभन बिल्कुल ताजी हो। इस महासमिति में जो भाषण हुए, उनका रूख एक ही था। कांग्रेस का उद्देश्य और नीति अच्छी है। कार्यक्रमों का चुनाव भी ठीक है। पर नीति अथवा कार्यक्रम, इनमें से किसी का सही कार्यान्वियन नहीं होता। इस महासमिति की बैठक की चर्चा करते हुए मैंने ‘नवभारत टाइम्स’ की अपनी डायरी में लिखा था कि कांग्रेस को जो रोग लगा है उसे कार्यान्वियन न करने का रोग ही कहा जा सकता है। कुछ वर्षों के बाद श्री यशंवतराव चव्हाण के नाम से यह वाक्य बहुत चला कि हमें ‘वचनपूर्ति

की राजनीति' करनी है। पर कामराज योजना के बाद हुई महासमिति में उनके मन में इस विषय की कल्पना भी शायद ही हो ।

भारतीय संविधान में कल्याणकारी राज्य (Welfare state) की कल्पना है। पर भारत के शासक जनसाधारण को यह समझा पाने में असफल हो गए थे कि वास्तव में कल्याणकारी राज्य क्या होता है। इसी के साथ दुनिया में जो हालात पैदा हो रहे थे। उससे देश के युवावर्ग में समाजवाद या साम्यवाद (कम्युनिजम) का आकर्षण उत्पन्न हो गया था। पं. नेहरू प्रगट रूप से तो यह कहते थे कि मार्क्सवाद वर्तमान समय के लिए उपयुक्त नहीं है। मार्क्स यदि जीवित होते तो वे भी अपनी उस विचारधारा को आज के समय के उपयुक्त न मानते। पर यह सब कहते हुए भी वे समाजवादी विचारधारा की ओर आकृष्ट हो रहे थे। पं. नेहरू के जीवनकाल में साम्यवादी या समाजवादी विचारधारा उन्हें प्रतीत हो सके, ऐसी राजनीतिक चुनौती कभी नहीं दी। पर ऐसा लगता है कि उस विचारधारा के कारण उनके मन में कुछ भय जरूर समा गया था। शायद इसीलिए आवडी (मद्रास) कांग्रेस में मौलाना अब्दुल कलाम आजाद का तीव्र विरोध होने के बावजूद कांग्रेस के उद्देश्य के रूप में समाजवादी ढांचे की समाज–रचना का लक्ष्य स्वीकार किया गया।

उस समय के अधिकांश कांग्रेसी नेता समाजवाद या साम्यवाद, इन दोनों विचारधाराओं के विरूद्ध थे। इसीलिए आचार्य नरेन्द्रदेव आदि समाजवादी नेता देश स्वतंत्र होने के कुछ समय बाद ही कांग्रेस से निकल चुके थे। श्री डांगे जैसे साम्यवादी नेता तो देश की स्वाधीनता के पहले ही अलग हो गए थे। आज भी निश्चित रूप से यह बताना कठिन है कि विचारधारा की दृष्टि से समाजवाद और साम्यवाद में ठीक–ठीक क्या अंतर है। मोटे तौर पर कुछ लोग कहते हैं कि लोकतंत्र को मानते हुए साम्यवादी उद्देश्यों को मानना समाजवाद है और रूस अथवा चीन के इशारे पर अपनी नीति निर्धारित करने वाले साम्यवादी होते हैं। शायद इसीलिए कांग्रेस की विचारधारा में समाजवाद शब्द का प्रयोग होना शुरू होने के बाद बहुत से समाजवादी फिर से लौटकर कांग्रेस में आ गये।

पर यह हुआ इतिहास। कांग्रेस के नेतृत्व में यह भावना भी बढ़ने लगी थी कि केवल समाजवाद शब्द का प्रयोग कर जनसाधारण को हम अपनी ओर आकृष्ट नहीं कर सकते। इसी के साथ इस भावना ने जोर पकड़ा था कि उनके लिए हम निश्चित रूप से क्या करने वाले हैं यह बताना होगा। इसी वातावरण में पं. नेहरू के जीवन में अन्तिम कांग्रेस अधिवेशन भुवनेश्वर में हुआ। श्री कामराज इस अधिवेशन के अध्यक्ष थे। इस अधिवेशन में भारत के जनसाधारण को यह आश्वासन दिया गया कि अनाज, कपड़ा, मकान, दवा और शिक्षा इन पांच आवश्यकताओं की पूर्ति की जाएगी। यह भी कहा गया कि यह आश्वासन समाजवाद या साम्यवाद की दिशा में उठाया गया एक और कदम है। पर इसी अधिवेशन में मध्यमार्ग का पुरस्कार करने वाला श्री लालबहादुर शास्त्री का भाषण भी अविस्मरणीय था। मुझे उस भाषण ने बहुत ही प्रभावित किया। उस अधिवेशन पर लिखे मेरे लेख में मैंने भी यही लिखा था कि कुछ देशों में पैदल चलने वाले सड़क की

दायी ओर से चलते हैं ओर कुछ देश में बायी और से। पर जिन वाहनों की गति तेज होती है उन्हें सड़क के बीच से ही चलना पड़ता है। तभी दुर्घटनाएं भी कम होती हैं। इसीलिए देश की प्रगति के लिए मध्यमार्ग ही उपयोगी है। पर मुझे ऐसा भी लगा कि इसी अधिवेशन से कांग्रेस की संस्कृति बदल गई। कांग्रेस आरामतलबी की ओर झुकनेवाला दल बनने लगा। अधिवेशन की व्यवस्था बहुत ही अच्छी थी। मेरी याद में पहली बार कांग्रेस अधिवेशन में मांसाहारी भोजन की व्यवस्था हुई। १९५० में नाशिक में हुए कांग्रेस में वह कुछ मात्रा में थी पर उसके लिये पैसे देने वाले पत्रकारों तक ही सिमित थी। सर्वसाधारण प्रतिनिधियों के लिए वह नहीं थी।

राजनीतिक दलों द्वारा अपने कार्यक्रमों के सूत्र गिनाने का प्रारंभ भुवनेश्वर से हुआ। परन्तु कार्यान्वियन के संबंध में कामराज योजना आने के पहले जो स्थिति थी, वही बनी रही। भुवनेश्वर में जिन पांच मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति करने का आश्वासन दिया गया था उसमें यदि पचास प्रतिशत भी सफलता मिलती तो देश की काफी बड़ी समस्या हल हो गई होती। पर वह सफलता न मिलने के कारण कार्यक्रमों के सूत्रों की संख्या ही बढ़ती गई। मूलभूत पांच आवश्यकताओं के स्थान पर श्रीमती इंदिरा गांधी के प्रारंभिक वर्षों में श्री मोहन धारिया का दससूत्री कार्यक्रम आया। आपात्काल में श्रीमती गांधी के बीस और श्री संजय गांधी के पांच सूत्र मिलाकर पच्चीस सूत्री कार्यक्रम बना। पर स्थिति जैसी थी वैसी ही बनी रही। अब ऐसा कहा जा सकता है कि समाजवादी ढांचे की समाज रचना, फिर कम से कम पांच आवश्यकताओं की पूर्ति करने का आश्वासन और आगे चलकर बढ़ती हुई संख्या के सूत्री कार्यक्रम अबोध जनसाधारण को फुसलाने के लिए राजनीतिक खिलौना मात्र थे। उन्हें ईमानदारी से कार्यान्वित करने का प्रयत्न कभी हुआ ही नहीं। किसी काल में श्रीमती इंदिरा गांधी के कट्टर समर्थक श्री देवराज अर्स जब श्रीमती गांधी से अलग हुए और 'अर्स' नाम से पुकारी जानेवाली कांग्रेस के अध्यक्ष बने, उन्होंने पैतालीस सूत्री कार्यक्रम बनाया था।

जैसा कि मैं लिख चुका हूं कि भुवनेश्वर अधिवशेन के दिनों में ही पं. नेहरू को दिल का पहला दौरा पड़ा। दौरा रात करीब तीन बजे पड़ा। पर उसकी पहली रात लगभग ग्यारह बजे उन्हें निकट से देखने का अवसर मुझे मिला था। महाराष्ट्र और कर्नाटक के मुख्यमंत्री श्री वसंतराव नायक तथा श्री निजलिंगप्पा, ये दोनों महाराष्ट्र कर्नाटक सीमा विवाद के संबंध में बातचीत करने पं. नेहरू के पास आये थे। पं. नेहरू शिष्टाचार की औपचारिकता बहुत बरतते थे। इस पत्रकारों ने देखा था कि वे दोनों मुख्यमंत्रियों को छोड़ने के लिए दरवाजे तक आये हैं। दौरा पड़ने की खबर दूसरे दिन अधिवेशन शुरू होने के बाद ही मालूम हुई।

दो राज्यों के बीच सीमा विवाद एक स्वाभाविक बात है। पर महाराष्ट्र कर्नाटक सीमा–विवाद की चर्चा सबसे अधिक हुई है। महाराष्ट्र में उस पर बार–बार छोटे–बड़े पैमाने पर आंदोलन हुए और कई बार दंगे भी हुए। पर इस प्रश्न का आज तक हल नहीं

निकल पाया। इस संबंध में मुझे कुछ बातें याद आ रही हैं। महाराष्ट्र राज्य बनने के बाद यह प्रश्न हल न हो सकने का प्रधान रूप से दोषारोपण गृह राज्यमंत्री श्री बी. एन. दातार पर किया जाता था क्योंकि वे कन्नड़भाषी थे। उनकी मृत्यु होने के बाद विदर्भ के मराठीभाषी श्री. आर. एम. हजरनवीस गृह राज्यमंत्री बने। उनके गृह राज्यमंत्री बनने के बाद महाराष्ट्र के कई नेता और पत्रों ने आशा प्रकट की अब यह प्रश्न हल होने में देर नहीं लगेगी। पर मैंने 'महाराष्ट्र टाइम्स' में लिखा कि श्री हजरनवीस के मंत्री बनने के कारण सीमा प्रश्न के हल होने की आशा किसी को नहीं करनी चाहिए। क्योंकि यह प्रश्न उनके स्तर पर हल होने वाला नहीं है। मेरे इस लेखन पर श्री हजरनवीस ने मुझे धन्यवाद दिया और उन्होंने कहा कि श्री यशवंतराव चव्हाण के मंत्रिमण्डल में श्री यशवंतराव चव्हाण के वरिष्ठ पद पर होने पर भी यदि प्रश्न हल नहीं हो सकता तो मेरे गृह राज्यमंत्री बनने से वह कैसे हल हो सकता है? आगे चलकर श्रीमती इंदिरा गांधी के कार्यकाल में श्री चव्हाण के गृहमंत्री बनने के बाद भी यह प्रश्न हल होने की दिशा में आगे नहीं बढ़ा।

इस सीमा विवाद के संबंध में मुझ पर एक असर पड़ा है। महाराष्ट्र के अनेक नेता सीमाविवाद की पूंजी के बल पर उस क्षेत्र के लोगों की भावनाए भड़कने में तो कुशल थे, पर इस प्रश्न का हल निकालने के लिए कोई भी नेता अपना राजनीतिक जीवन दांव पर लगाने को तैयार नहीं था। उन दिनों सीमा–विवाद के प्रश्न को लेकर बहुत से प्रतिनिधिमण्डल दिल्ली आते थे और अपने दु:खों की दर्दभरी कहानी बताते थे। इसी प्रकार का एक प्रतिनिधिमण्डल गृहमंत्री श्री चव्हाण से मिलने आया था। मैं उस समय वही था। श्री चव्हाण ने मुझसे कहा कि सीमाभाग के इन लोगों की व्यथा समझकर उस पर आप जैसे पत्रकारों को ध्यान देना चाहिए। मेरे मन में विचार आया कि जहां स्वयं गृहमंत्री इस प्रश्न को हल नहीं कर पाते वहां हम पत्रकार क्या कर सकते हैं। पर मैंने श्री चव्हाण को कोई उत्तर नहीं दिया।

मैं यह भी नहीं कह सकता कि इस संबंध में महाराष्ट्र के विपक्षी दलों के नेताओं का व्यवहार आदर्श था। श्री यशवंतराव चव्हाण के बंगले पर मेरा लगभग रोज एक चक्कर रहता था। उनके गृहमंत्री होने के कारण पत्रकार के नाते तो यह आवश्यक था ही, महाराष्ट्र के एक प्रमुख नेता होने के कारण भी वह आवश्यक था, क्योंकि मैं महाराष्ट्र के ही एक प्रमुख पत्र में काम कर रहा था। एक दिन मैंने श्री चव्हाण के बंगले पर समाजवादी नेता श्री एस.एम. जोशी, प्रजा समाजवादी नेता श्री नाथ पै और उस समय निर्दलीय संसद सदस्य श्री जयंतराव तिलक को देखा। मैंने स्वाभावत: यह अनुमान लगाया कि सीमा–विवाद के संबंध में कुछ चर्चा हुई होगी। समाचार किस प्रकार बनाया जाए यह मैं सोच ही रहा था कि श्री नाथ पै का ध्यान मेरी ओर गया। उन्होंने मुझसे कहा, इंदूरकर जी। समाचारपत्रों में यह भी नहीं छपना चाहिए कि हम यहां एकत्रित हुए थे। उससे महाराष्ट्र की बड़ी हानि होगी। मैं यह कैसे चाह सकता था कि मेरे कारण महाराष्ट्र की हानि हो। मैंने समाचार देने का मोह टाला। पर दूसरे दिन 'महाराष्ट्र टाइम्स' में वह समाचार

छपा था। श्री नाथ पै ने स्वयं ही उन्हें जैसा चाहिए था, समाचार टेलीफोन पर दिया था। उस समय के संपादक श्री गोविंदराव तलवलकर ने मुझसे तुरंत पूछा कि वह समाचार मैंने क्यों नही दिया? क्या मैं सो रहा था? अपने माथे पर हाथ मार लेने के सिवा उस समय मैं दूसरा कर ही क्या सकता था।

महाराष्ट्र के सीमा विवाद के संदर्भ में मुझ पर यह प्रभाव पड़ा था कि महाराष्ट्र के नेतृत्व में ही कमी थी। अपना पक्ष दूसरों के गले उतारने के लिए जो लगन और जीवटकी आवश्यकता होती है वह सीमा—विवाद के संबंध में महाराष्ट्र के नेताओं ने कभी प्रकट नहीं की। सीमाभाग के मराठी भाषियों पर अन्याय होने की शिकायत महाराष्ट्र नेताओं की ओर से बार—बार की गई। उसके उत्तर में कर्नाटक सरकार ने सीमाभाग के ही अनेक मराठी भाषियों को दिल्ली भेजा और उन्होंने दिल्ली के पत्रकारों को, संसद सदस्यों को बताया कि हम पर किसी प्रकार अन्याय नहीं होता। कर्नाटक में हम सुख से रहते हैं। महाराष्ट्र में आने की हमारी इच्छा भी नहीं है। इसमें कई प्रशिक्षित प्राध्यापक और वकील आदि भी थे। चंदन की पतली सी एक छाल के टुकड़े पर कर्नाटक के पक्ष में एक घोषणा की गई और राजधानी में उसका वितरण संसद सदस्यों और पत्रकारों में किया गया। कर्नाटक के पक्ष का प्रचार करनेवाला यह लकड़ी का सुगंधित टुकड़ा बहुत दिनों तक लोगों की जेब में था। पर यह भी सही है कि जहां तक बेलगाव की बात है, विधानसभा और नगरपालिका के निर्वाचन में महाराष्ट्र एकीकरण समिति के ही उम्मीदवार जीतते थे।

आगे चलकर महाराष्ट्र के मुख्यमंत्री श्री वसंतराव नाईक और कर्नाटक के मुख्यमंत्री श्री निजलिंगप्पा दोनों ने यह स्वीकृति दी कि नियुक्त मधस्थ का निर्णय हम दोनों मान लेगे। इसके कारण महाजन आयोग की नियुक्ति हुई। कुछ लोगों का कहना है कि निर्देशक सिद्धांत तय किए बिना महाजन आयोग के निर्णय को मानने की स्वीकृति देना महाराष्ट्र सरकार की भूल थी। इसमें कुछ सचाई हो सकती है। पर एक बार स्वीकृति देने के बाद आयोग कि रिपोर्ट अपने अनुकूल नहीं है, यह देख उससे मुकर जाने का समर्थन किसी प्रकार नहीं किया जा सकता। महाराष्ट्र के नेताओं ने इस बात को लेकर काफी तूफान उठाया था कि महाजन आयोग ने महाराष्ट्र पर जानबुझकर अन्याय किया है। बाद में महाराष्ट्र के मुख्यमंत्री बने श्री अंतुले ने एक पुस्तक भी लिखी जिसमें बताया गया कि महाजन आयोग कि रिपोर्ट किस प्रकार असंगतियों से भरी है। इस संबंध में कई बातें कही गई। पर किसी प्रकार का सबूत सामने न आने के कारण कहना कठिन है कि वास्तविकता क्या थी। पर मुझे लगता है कि श्री महाजन को महाराष्ट्र पर जानबूझकर अन्याय करने का कारण ही क्या था। इस संबंध में भूतपूर्व कानून मंत्री श्री हरिभाऊ पाटसकर के मुख से निजी चर्चा में निकला एक वाक्य मुझे याद आता है। उन्होंने बताया था। कि महाराष्ट्र सरकार ने श्री अशोक कुमार सेन को अपना वकील बनाया। वे इतने बड़े वकील थे कि उन्हें महाराष्ट्र सरकार के द्वारा दिया ब्रीफ पढ़ने की ही फुरसत नहीं मिली। उन्होंने आयोग

के सामने जो उत्तर दिये उससे ऐसा प्रतीत होता था कि उन्होंने महाराष्ट्र के पक्ष को समझा ही नहीं था।

भुवनेश्वर में पड़े दिल के दौरे के बाद पं. नेहरू जब कुछ ठीक हुए, उनका लोगों से मिलना जुलना प्रारंभ हो गया। बम्बई के षण्मुखानंद हाल में हुई कांग्रेस महासमिति की बैठक में भी वे उपस्थित थे। मैं भी वहां हाजिर था। उनका थकामांदा शरीर, पर अत्याधिक उत्साही मन, इन दोनों के बीच निरंतर संघर्ष चलने का जो दृश्य मैंने देखा, उसे मैं कभी भी भूल नहीं सकता। किसी ने पं. नेहरू के लिए मंच पर एक कुर्सी लाकर रखी। उन्होंने उस पर बैठने से इनकार कर दिया। मैं जैसा था, वैसा ही हूं, यह दिखाने के लिए उन्होंने मंच पर रखा एक बड़ा तकिया चुहल करने के लिए किसी पर फेंका। उसका चित्र भी किसी ने लिया था। वे मंच की एक ओर से दूसरी ओर जा रहे थे, उस समय उनके पैर कांप रहे थे। लगता था कि वे किसी भी समय संतुलन खोकर गिर जायेगे। वह चित्र भी खीचने का प्रयत्न एक फोटोग्राफर ने किया था पर वह शायद लिया नहीं जा सका। उस समय का आंखों देखा वर्णन मैंने अपनी राजधानी की डायरी में किया था और वह बंबई के 'नवभारत टाइम्स' में प्रकाशित भी हुआ था।

२७ मई, १९६४ का दिन। दोपहर में लगभग साढ़े ग्यारह का समय। मैं लोकसभा के प्रेस गैलरी में था। पं. नेहरू को फिर से दिल का दौरा पड़ने की अफवाह फैल रही थी। इतने में खबर आयी कि पं. नेहरू जी चल बसे। हम सब पं. नेहरू के निवास स्थान की ओर दौड़ पड़े। ऐसा लगा कि सारे रास्ते तीनमूर्ति बंगले की ओर ही जा रहे हैं। हम कुछ पत्रकार तीनमूर्ति बंगले में घुसे और एक मौके की जगह देखकर बैठ गए। हुदकिया तो अनेकों की सुनाई दे रही थी, बीच–बीच में छाती फाड़कर रोने जैसी पुरुष अथवा स्त्री की आवाज भी सुनाई देती थी। पर वह स्वाभाविक रूदन न होकर ऐसे समय में किया जाने वाला रोने का अभिनय ही प्रतीत होता था। पं. नेहरू बहुत बड़े थे। उनके प्रति लोगों में आदर भी बहुत था। पर मुझे उस समय ऐसा लगा कि हृदय से रोना फूटने के लिए जिस आत्मीयता की आवश्यकता होती है वह उनके संबंध में किसी के भी मन में नही थी। वे सबसे दूर थे। मैं यह कह नहीं सकता कि उस समय उनकी पुत्री श्रीमती इंदिरा गांधी के मन की क्या स्थिति थी। हमलोग जिधर बैठे थे उधर बहुत लोग आये गए। पर श्रीमती गांधी को मैंने उधर नहीं देखा। लगभग ढाई बजे पं. नेहरू का शरीर अन्त्यदर्शन के लिए तीन मूर्ति भवन के पोर्च में रखा गया। अन्त्यदर्शन के लिए लोगों की मोटी–मोटी लाइनें लगी। रात में लगभग दस बजे मैं और हजरनवीस फिर गए। भीड़ काफी कम हो चुकी थी। आसानी से दर्शन लिया जा सका। दूसरे दिन पं. नेहरू की महानिर्वाण यात्रा निकली। काफी भीड़ थी। विशेष रूप से बनाये गए शांति घाट पर उनका दाह हुआ और स्वाधीनता के बाद का भारतीय राजनीति का एक युग समाप्त हो गया।

इसी युग की एक घटना है। मंत्रियों के बिजली पानी के खर्चे की चर्चा समाचारपत्रों में हो रही थी। उसे देखकर यह अनुमान लगाया जाता था कि कौन मंत्री कितना फिजुलखर्च करता है। एक बार श्री हजरनवीस से इस विषय पर सहज में ही कुछ बात चली। वे इन खर्चों की चर्चा पर काफी चिढ़े हुए थे। उन्होंने कहा, पं. नेहरू जिस तीनमूर्ति बंगले में रहते है, उनका खर्च जिस प्रकार राष्ट्रपति भवन के खर्च में पड़ता है उसी प्रकार हमारे बंगलों का भी खर्च राष्ट्रपति भवन के खर्च में पड़े तो यह चर्चा ही नहीं होगी।

पं. नेहरू किसी होटल में रहने की तरह साढ़े सात रुपए की दर से अपना और अपनी लड़की का खर्च देते हैं। उसी दर से हमसे भी खर्च लिया जाय। पर आज हमारे नाम पर बंगले का सरकारी कार्यालय, नौकर–चाकर जिसमें रहते है, उन कमरों में होने वाला बिजली पानी का खर्च तो पड़ता ही है, आने वाले मेहमानों की मेहमाननवाजी भी हमें अपने खर्च से करनी पड़ती है। पं. नेहरू के यहा जो मेहमान आते है, वे सब राष्ट्रपति भवन के मेहमान हो जाते है। हमारे बिजली पानी के खर्च की चर्चा समाचारपत्रों में होने के बाद सच्ची स्थिति पं. नेहरू को ही बतानी चाहिए थी। पर वे नहीं बताते, चुप रहते है, यही है हमारा दुर्भाग्य।'

लालबहादुर शास्त्री

पं. नेहरू की मृत्यु के समय श्री गुलजारीलाल नंदा गृहमंत्री थे और ज्येष्ठता की दृष्टि से मंत्रिमण्डल में उनका दूसरा स्थान था। उसी आधार पर पं. नेहरू की मृत्यु के बाद वे कार्यवाहक प्रधानमंत्री बने थे। उस समय प्रधानमंत्री होने की जिन लोगों की इच्छा थी, उनमें उनका भी नाम था। पं. नेहरू की अनुपस्थिती में कांग्रेस का अध्यक्ष होने के कारण श्री कामराज का भी महत्व बढ़ गया था। बीमार पड़ने के बाद पं. नेहरू ने श्री लालबहादुर शास्त्री को जिस प्रकार बिना विभाग का मंत्री बनाया था, उससे स्पष्ट हो गया था कि उनका झुकाव उन्हीं की ओर है। अपने आपको पं. नेहरू का उत्तराधिकारी मानने वाले दो और नेता थे। श्री मोरारजी देसाई और श्री जगजीवन राम। इनमें से श्री मोरारजी देसाई ही ऐसे थे जिन्हें कांग्रेस संसदीय दल में अच्छा समर्थन मिल सकता था। पं. नेहरू की मृत्यु के बाद इस विचार ने बल पकड़ा कि सभी कांग्रेसी नेताओं को मिलकर रहना चाहिए। इसलिए सर्वसम्मति से यह तय किया गया कि प्रत्यक्ष चुनाव न कराकर कांग्रेस अध्यक्ष श्री कामराज निजी बातचीत के द्वारा आजमा ले कि संसदीय कांग्रेस दल का बहुमत किसकी ओर है। पं. नेहरू की मृत्यु के बाद पांच–सात दिन के अंदर ही श्री कामराज ने अपने निवास स्थान पर रात दस बजे एकत्रित पत्रकारों को बताया कि संसदीय कांग्रेस दल का बहुमत श्री लालबहादुर शास्त्री के पक्ष में है। हममें से कुछ पत्रकारों को लगा कि इस निर्णय में अपेक्षित प्रमाणिकता नहीं है। अत: मैंने और राजधानी में काम करने वाले एक–दूसरे पत्रकार श्री जगदीश प्रसाद चतुर्वेदी ने श्री कामराज को कई तिरछे सीधे सवाल किए। हमारा एक सवाल यह था कि आपने किस आधार पर श्री लालबहादुर शास्त्री के पक्ष में बहुमत होने का निष्कर्ष निकाला? वे सवालों के जवाब न दे सके और नाराज होकर बीच में ही उठकर चले गए। इससे हम पत्रकारों पर यह असर पड़ा कि श्री कामराज के मन में श्री मोरारजी देसाई के प्रति गाठ होने के कारण ही उन्होंने वह निष्कर्ष निकाला। पं. नेहरू ने कांग्रेस संगठन को लगभग लपेट ही दिया था, पर उन्होंने संसदीय कांग्रेस दल की प्रभुता को बनाये रखा था। लेकिन श्री कामराज, पता नहीं, क्यों, संसदीय कांग्रेस दल को ही कमजोर करना चाहते थे। श्रीमती इंदिरा गांधी को उन्होंने जब प्रधानमंत्री बनाया, उस समय भी इसका सबूत मिला। कुछ संसद सदस्यों को उन्होंने साफ–साफ सुनाया कि “क्या आप समझते हैं कि आपके बहुमत से प्रधानमंत्री चुना जाएगा? वही प्रधानमंत्री बनेगा जिसे मुख्यमंत्री तय करेंगे।” श्रीमती इंदिरा गांधी के चुनाव के समय श्री मोरारजी देसाई के तीखे स्वभाव के कारण गुजरात को छोड़कर एक भी मुख्यमंत्री उनको प्रधानमंत्री बनाना नहीं चाहता था।

यह समझा जा सकता था कि श्री लालबहादुर शास्त्री का प्रधानमंत्री बनना श्री मोरारजी देसाई को अच्छा न लगा हो। पर उन्होंने उसके विरूद्ध एक शब्द भी नहीं कहा। बाद में इस संबंध में कुछ बातें सुनाई पड़ी। उत्तर प्रदेश के कुछ ब्राम्हण संसद सदस्य

श्री मोरारजी देसाई से मिले थे। और उन्होंने उनसे कहा, “आप श्रीमती इंदिरा गांधी को संसदीय कांग्रेस दल का नेता बनाने का प्रस्ताव रखिये। पं. नेहरू की पुत्री होने के कारण दल के लोग आसानी से इस बात को मान लेगें और यह कायस्थ का बच्चा (लालबहादुर) प्रधानमंत्री नहीं बन सकेगा।” स्वाधीनता के पूर्वकाल से ही उत्तर प्रदेश में ब्राम्हण और कायस्थ विवाद चल रहा था और उसने इलाहाबाद विश्वविद्यालय जैसे बड़े शिक्षापीठों को भी घेर रखा था। पर श्री देसाई ने उत्तर दिया मैं श्री लालबहादुर शास्त्री का विरोधी नहीं हूं। मुझे लगता है कि मैं उनके बजाय प्रधानमंत्री बनूं। पर इसका कारण केवल मेरी यह भावना है कि मैं देश की सेवा उनसे अधिक अच्छी तरह कर सकूंगा। उस पद के लिए मैं श्रीमती इंदिरा गांधी को बिलकुल योग्य नहीं समझता। उनसे तो श्री लालबहादुर शास्त्री ही कई गुना योग्य हैं।

श्री लालबहादुर शास्त्री के मंत्रिमण्डल में कामराज योजना में निकाले गए श्री मोरारजी देसाई को छोड़कर सभी मंत्री ले लिए गए। शास्त्री जी के संबंध में श्री जगजीवन राम पहले अच्छी बातें नहीं कहा करते थे। पर उन्होंने शास्त्री जी से मेल कर लिया और मंत्रीपद फिर से प्राप्त कर लिया। कुछ दिनों के बाद मुझे भी यह जानकारी मिली थी कि श्री मोरारजी देसाई का समावेश उस समय मंत्रिमण्डल में क्यों न हो सका। राजनीति में श्री यशवंतराव चव्हाण को श्री मोरारजी देसाई ही आगे ले आये। अत: उनकी स्वभावत: यह इच्छा थी कि श्री लालबहादुर शास्त्री प्रधानमंत्री हो तो भी उनके मंत्रिमण्डल में श्री मोरारजी देसाई का समावेश हो। श्री कामराज द्वारा श्री शास्त्री जी के पक्ष में कसेंसस (consensus) सम्बन्धी अपना निष्कर्ष घोषित करने के बाद श्री देसाई मंत्रिमण्डल में न आने के सम्बन्ध में अपनी कोई भी राय प्रगट नहीं की थी। पं. नेहरू की अस्थियां संगम में विसर्जित करने के लिए एक खास रेलगाड़ी प्रयाग गई थी। जिन मंत्रियों को हवाई जहाज से जाने की छूट थी, वे हवाई जहाज से गए थे। श्री यशंवतराव चव्हाण रक्षामंत्री होने के कारण हवाई जहाज से गए थे और हवाई जहाज में जगह होने के कारण कुछ अन्य संसद सदस्यों के साथ श्रीमती मणिबेन पटेल भी उनके साथ गई थी।

श्री लालबहादुर शास्त्री को संसदीय कांग्रेस दल का नेता चुनने की औपचारिकता पूरी हो चुकी थी। प्रयाग के संगम में पं. नेहरूजी की अस्थिया विसर्जित कर हवाई जहाज से दिल्ली लौटने पर श्री लालबहादुर शास्त्री अपना मंत्रिमण्डल घोषित करने वाले थे। श्री देसाई स्पेशल रेलगाड़ी से आये थे और उसी से लौटने वाले थे। श्री चव्हाण के सामने स्वभावत: एक सवाल खड़ा हो गया। श्री देसाई यदि रेलगाड़ी से ही लौटे तो मंत्रिमण्डल की घोषणा के पूर्व श्री लालबहादुर शास्त्री से उनकी भेंट नहीं हो सकेगी और फिर उनका मंत्रिमण्डल में समावेश असंभव हो जाएगा। एक ही रास्ता था, उन्हें अपने साथ हवाई जहाज से दिल्ली ले जाने का। पर उनके हवाई जहाज में जगह नहीं थी। जो संसद सदस्य उनके साथ गए थे उनमें से किसी को कैसे कहा जा सकता है कि वापसी में आप साथ न चलिए। उन्होंने अपनी कठिनाई श्रीमती मणिबेन पटेल को बतायी। श्रीमती मणिबेन पटेल

ने कहा, आप मोरारजी भाई को ले जाइये। मैं गाड़ी से लौटूंगी। श्री मोरारजी देसाई को अनुरोध कर श्री चव्हाण उन्हें अपने साथ ले भी आये। उन्होंने संभवत: श्री लालबहादुर शास्त्री को कहा भी होगा कि "अब आप आगे का देखिए।" श्री लालबहादुर शास्त्री तथा श्री मोरारजी देसाई की भेंट होने का और श्री देसाई के मंत्रिमण्डल में शामिल होने से इनकार करने का समाचार भी छपा। आगे चलकर काफी दिन बाद श्री मोरारजी देसाई को मैंने इस सम्बन्ध में एक बार पूछा था। मैंने कहा था, 'आपको इनकार नहीं करना चाहिए था। देशहित की दृष्टि से उस समय मंत्रिमण्डल में आना चाहिए था।' श्री देसाई ने मुझसे कहा, 'जो कुछ हुआ, तुम्हें बताता हूं। वह सुनकर तुम ही बताओ कि मुझे क्या करना चाहिए था। श्री लालबहादुर शास्त्री मेरे घर आये। उन्होंने मुझे मंत्रिमण्डल में शामिल होने का निमंत्रण दिया, पर साथ ही यह भी कहा कि लोग कहते है कि ज्येष्ठता के क्रम में आपको कोई भी स्थान दिया तो भी आप मंत्रिमण्डल में आ जायेंगे। पर मैं आपको तीसरा स्थान देने वाला हूं। दूसरा स्थान श्री गुलजारीलाल नंदा को दिया जाएगा क्योंकि वे कार्यवाहक प्रधानमंत्री थे। 'मेरी दृष्टि में मंत्रिमण्डल में ज्येष्ठता के क्रम का प्रश्न अधिक महत्व का नहीं था। पर शास्त्रीजी की बात में इस बात की ध्वनि थी कि मंत्री बनने के लिए मैं छटपटा रहा हूं। वह संकेत स्पष्ट होने के बाद कौन सा व्यक्ति, जिसे कुछ भी स्वाभिमान है, मंत्रिमण्डल में शामिल होने को तैयार होता? श्री लालबहादुर शास्त्री जी के प्रति मेरे मन में काफी आत्मीयता थी, पर मैं श्री मोरारजी भाई को ऐसा कोई उत्तर नहीं दे पाया जिससे शास्त्रीजी का समर्थन हो सकता।

बहुतों के लिए यह रहस्य बना हुआ है कि श्रीमती इंदिरा गांधी का शास्त्री जी के मंत्रिमण्डल में समावेश कैसे हुआ। पं. नेहरू के जीवनकाल में और उनकी मृत्यु के बाद भी समाचारपत्रों में इस आशय के समाचार प्रकाशित होते रहते थे कि श्रीमती इंदिरा गांधी की मंत्रिमण्डल में आने की इच्छा नहीं है। कम से कम अभी दो–चार वर्ष तो नहीं है। फिर भी उनका मंत्रिमण्डल में समावेश हुआ। इतना ही नहीं, संसद सदस्य न होने पर भी उन्हें वरीयता में चौथा क्रम दिया गया। इस सम्बन्ध में उन्हीं दिनों मुझे प्राप्त जानकारी इस प्रकार है : पं. नेहरू की मृत्यु के बाद आठवा दिन था। पं. नेहरू के निवास स्थान तीन मूर्ति में उनके अस्थि कुंभ दर्शन के लिए रखे थे। अलग–अलग राज्यों के संसद सदस्य अपने–अपने राज्य के गुट में उसके दर्शन के लिए जाते थे। उस दिन महाराष्ट्र के संसद सदस्यों का दर्शन के लिए जाने का दिन था। तब तक श्री रघुनाथ खाडिलकर लोकसभा के उपाध्यक्ष या मंत्री नहीं बने थे। पर उनके मित्र श्री डी. आर. चव्हाण रक्षा मंत्रालय में उपमंत्री थे। श्री खाडिलकर श्री चव्हाण के साथ उनकी गाड़ी में गए। तब तक महाराष्ट्र के दूसरे संसद सदस्य वहां नहीं आये थे। उनके आने तक इन्हें भी रूकना ही था। पं. नेहरू के बहुत ही पुराने निजी सचिव श्री शिवदत्त उपाध्याय उन्हें वहां मिले। बाद में वे राज्यसभा के सदस्य भी बनाये गए थे। श्री उपाध्याय ने सहज में ही पूछा, 'आप इंदिरा जी से नहीं मिलेगें इस प्रश्न के उत्तर में कोई भी यही कहता कि, हां अवश्य मिलेगें।

कुछ देर बाद श्रीमती इंदिरा गांधी काली साड़ी पहने हुए वहां आयी। पश्चिमी रीति–रिवाज के अनुसार किसी की मृत्यु होने पर घर के लोग काले वस्त्र ही पहना करते है। मातमपूसी के लिए गए लोग सामान्यत: दूसरी चर्चा नहीं किया करते। पर श्री खाडिलकर ने पूछा, "इंदिरा जी आप मंत्रिमण्डल में क्यों नहीं शामिल होती?" श्रीमती गांधी एकदम बरस पड़ी। उन्होंने कहा, "मुझसे कोई पूछे भी तो?" लौटने पर उसी दिन श्री डी. आर. चव्हाण ने मुझे उक्त घटना बतायी। मुझे भी लगा कि इस समय पं. नेहरू की पुत्री का असंतुष्ट बना रहना श्री लालबहादुर शास्त्री के हित में नहीं होगा। मैंने यह सारी कहानी श्री यशवंतराव चव्हाण को सुनाई। मेरा अनुमान है कि उन्होंने ही शास्त्री जी को बताया होगा। अत: संसद सदस्य न होते हुए भी उन्हें मंत्रिमण्डल में लिया गया। आगे चलकर उन्हें राज्यसभा का सदस्य भी बनाया गया। बाद में दिल्ली के कांग्रेस नेता चौधरी ब्रम्हप्रकाश ने भी मुझे एक बार बताया था कि उन्होंने भी शास्त्री जी से कहा था कि श्रीमती गांधी को मंत्रिमण्डल से बाहर रखना उनके (शास्त्रीजी के) हित में नहीं होगा। पं. नेहरू के जीवनकाल में बहुत से लोग श्रीमती इंदिरा गांधी को षड्यंत्रकारी महिला समझते थे। 'महाराष्ट्र टाइम्स' के भूतपूर्व संपादक श्री कर्णिक तो उनका उल्लेख मुगलकालीन षड्यंत्रकारी महिला रजिया बेगम के रूप में किया करते थे।

श्री. डी. आर. चव्हाण के साथ मेरे काफी घने सम्बन्ध थे। वे लोकसभा में महाराष्ट्र के किसान मजदूर दल के टिकट पर चुनकर आये थे। उन्हें उपमंत्रीपद का लालच देकर कांग्रेस में लाने का श्रेय श्री यशंवतराव चव्हाण का हो सकता है, पर शास्त्रीजी के मंत्रिमण्डल में उनका समावेश कराने का थोड़ा बहुत श्रेय मुझे अवश्य है। महाराष्ट्र की राजनीति में इन दो चव्हाणों की आपस में कभी नहीं बनी। श्री डी. आर. चव्हाण राजनीति में श्री यशवंतराव चव्हाण को बड़ा मानते हुए भी वे उनके बारे में कभी अच्छा नहीं बोलते थे। पं. नेहरू के कार्यकाल में वे रक्षा मंत्रालय में उपमंत्री अवश्य थे। पर श्री कृष्ण मेनन ने उन्हें प्रत्यक्ष मंत्रालय के काम से दूर ही रखा था। उन्होंने मुझे कई बार कहा था कि बीड़िया फूंकने के अतिरिक्त मुझे कुछ काम ही नहीं है। पं. नेहरू की मृत्यु के बाद उन्हें स्वाभाविक रूप से ऐसा लगा कि उनकी ओर से बोलने वाला अब कोई नहीं है। अत: उनका अब मंत्रिमण्डल में समावेश नहीं होगा। श्री यशंवतराव चव्हाण से उन्हें बिलकुल आशा नहीं थी। क्योंकि किसान मजदूर पार्टी से तोड़कर कांग्रेस में लाने का उनका उद्देश्य पूरा हो चुका था। उन्होंने मुझसे कई बार कहा कि मैं उस सम्बन्ध में कुछ करूं। वैसे मैं कर ही क्या सकता था। पर मैंने इस विषय पर श्री हजरनवीस से बात की। वे उस समय राज्यमंत्री थे। चांद्रसेनी कायस्थ प्रभु जाति के होने के कारण श्री लालबहादुर शास्त्री के निकट भी थे। उन्होंने शास्त्री जी से शायद कहा होगा। शास्त्री जी ने श्री डी. आर. चव्हाण को बुलाकर मंत्रिमण्डल में शामिल होने का औपचारिक निमत्रंण दिया। शास्त्रीजी के घर से लौटते ही श्री डी. आर. चव्हाण ने मुझे टेलीफोन किया और कहा कि आपका यह उपकार मैं कभी नहीं भुलूंगा। बाद में श्री हजरनवीस ने इस संदर्भ में शास्त्रीजी से जो बात हुई थी वह भी बतायी। श्री हजरनवीस ने शास्त्री जी से कहा था

और शायद उन्हें ठीक भी लगा था कि श्री यशवंत राव चव्हाण आनंदराव चव्हाण को मंत्रिमण्डल में न लेने के लिए कहे तो भी उन्हें आपको लेना ही चाहिए। महाराष्ट्र कांग्रेस के दोनों गुटों पर अपना हाथ होना चाहिए।

मंत्रिमण्डल की रचना के संदर्भ में यहां एक बात का उल्लेख आवश्यक प्रतीत होता है। जिन्हें मंत्रिमण्डल में लेना होता था, उन्हें पं. नेहरू पत्र लिखकर सहयोग देने का अनुरोध करते थे। श्री शास्त्रीजी ने यह प्रणाली बदल दी। जिन्हें मंत्रिमण्डल में लेना था, उन्हें बुलाकर उन्होंने वैसा कहा। १९६७ में श्रीमती गांधी का मंत्रिमण्डल श्री कामराज की सलाह से ही बना था। १९७१ में भी उन्होंने बहुत कुछ अंशों में शास्त्री जी की ही पद्धति अपनायी। लेकिन उसके बाद जिसे मंत्री बनाना होता था, उसे शपथ ग्रहण करने के समय से आधा घंटा पूर्व राष्ट्रपति भवन में उपस्थित होने का आदेश दिया जाता था, और वह भी स्टाफ के किसी व्यक्ति द्वारा टेलीफोन पर। पं. नेहरू के काल में मंत्रियों की जो कीमत थी, वह शास्त्रीजी के काल में नहीं रही। श्रीमती इंदिरा गांधी के कार्यकाल में वह उत्तरोत्तर घटती ही गई, यहां तक कि अब मंत्रीपद की कोई कीमत ही नहीं रह गई है।

श्री लालबहादुर शास्त्री ने श्री गुलजारीलाल नंदा को मंत्रिमण्डल में दूसरा स्थान इसलिए दिया था कि वे अस्थायी मंत्रिमण्डल में प्रधानमंत्री थे। श्री मोरारजी को तीसरा स्थान देने के लिए उन्होंने यही कारण बताया था। पर श्री लालबहादुर शास्त्री का प्रधानमंत्री बनना श्री गुलजारीलाल नंदा बरदाश्त नहीं कर सके। भारत के अन्तिम ब्रिटिश सेनापति श्री अर्विन लेक द्वारा विशालकाय तीनमूर्ति नाम का बंगला खाली करने के बाद तुरंत ही पं. नेहरू उसमें जाकर रहने लगे। स्वराज्य के बाद मंत्रियों का रहन सहन सादगीपूर्ण होगा, इस बात पर गांधी जी ने बार—बार बल दिया था। उस पृष्ठभूमि में यह विवाद की बात हो सकती है कि उस बंगले में पं. नेहरू का जाकर रहना कहा तक उचित था। पर बाद के काल में तीनमूर्ति भवन प्रधानमंत्री का सरकारी निवास स्थान बन गया था। धारणा यह बनी थी कि आगे के सभी प्रधानमंत्री वहीं रहेंगे। पर इस बात का पता चलते ही कि उनके प्रधानमंत्री होने की आशा नहीं है, श्री नंदा ने अस्थायी प्रधानमंत्री के अधिकार में ही यह घोषित कर दिया कि तीनमूर्ति भवन पं. नेहरू जी का स्मारक बनेगा। हम पत्रकारों की समझ में उसी समय यह आ गया था कि इस घोषणा के पीछे पं. नेहरू के प्रति आदर नहीं है। श्री लालबहादुर शास्त्री के प्रति ईर्ष्या है। इस घोषणा के पीछे एकमात्र उद्देश्य यही था कि श्री लालबहादुर शास्त्री उस भवन में न रहने पाये। नेहरू के स्मारक के रूप में जो भवन घोषित हो चुका है, वहां रहने के लिए जाने का साहस लालबहादुर शास्त्री नहीं कर सकते थे।

यह कहना कठिन है कि यदि श्री कामराज का बल श्री लालबहादुर शास्त्री के पीछे न होता तो भी क्या वे प्रधानमंत्री बनते। पर मुझे ऐसा नहीं लगता कि शास्त्रीजी के पीछे खड़े होने में श्री कामराज के मन में केवल देश का हित ही था। उनका ख्याल था कि शास्त्री जी उनके कथनानुसार ही चलेंगे। पर वैसा नहीं हुआ। इसका परिणाम यह हुआ

कि शास्त्रीजी को कठिनाई में डालनेवाली घटनाएं होने लगी। कांग्रेस कार्यकारिणी की एक बैठक में श्री संजीव रेड्डी ने नागालैंड के सम्बन्ध में कुछ ऐसी जानकारी पूछी जो राजनीतिक दृष्टि से प्रगट करना उस समय उचित नहीं था। शास्त्रीजी ने कहा, यह जानकारी यहां देना उचित नहीं होगा। आप मंत्री है, मंत्रिमण्डल की बैठक में भी आप पूछ सकते हैं। पर अध्यक्ष श्री कामराज ने कहा, 'नहीं, आपको यह जानकारी यहीं देनी होगी।' यह घटना उसी दिन कांग्रेस कार्यकारिणी के एक वरिष्ठ सदस्य ने मुझे बतायी थी।

श्री लालबहादुर शास्त्री जैसे सीधे–साधे व्यक्ति का प्रधानमंत्री बनना बहुतों को पसंद नहीं आया था। पं. नेहरू की तरह वे उंचे सिद्धांतों की बातें कभी नहीं करते थे। हममें से कई पत्रकार उन्हें ऐसा प्रधानमंत्री कहा करते थे जो हवा में नहीं उड़ता और जिनके पैर जमीन पर हैं। दूसरे नेताओं का उन पर आरोप था कि वे पं. नेहरू की नीति के अनुसार नहीं चलते। यह भी कहा जाता था कि वे निर्णय ही नहीं लेते। एक बार लोकसभा में श्रीमती विजयालक्ष्मी पंडित ने उनकी तीखी आलोचना की और कहा कि वे अनिर्णय के बंदी (प्रिजनर ऑफ इनडिसीजन) हैं। शास्त्री जी सामान्यत: आवाज चढ़ाकर नहीं बोलते थे। पर इस बार वे बहुत ही आवेश के साथ बोले। उन्होंने यह स्वीकार किया कि पं. नेहरू की नीति के अनुसार उनके सारे कदम नहीं उठते। उन्होंने कहा कि दूसरों ने जो रास्ता बना दिया है उसी पर चलने वाला नेता हो ही नहीं सकता। नेता को अपनी राह स्वयं ही निश्चित करनी पड़ती है।

श्री लालबहादुर शास्त्री के सम्बन्ध में मेरे मन में काफी आत्मीयता थी। श्री यशंवतराव चव्हाण कई बार "तुम्हारे शास्त्री जी" कहकर मुझे उलाहना भी दिया करते थे। वे कुछ अंशों में उन्हें प्रतिक्रियावादी कहा करते थे। एक–दो बार जब मैंने शास्त्री जी के कार्य का समर्थन किया तो श्री चव्हाण ने मुझे भी प्रतिक्रियावादी कह डाला। बिना विभाग के मंत्री होने के बाद यह वातावरण बन चुका था कि नेहरू जी के बाद शास्त्रीजी ही प्रधानमंत्री बनेंगे। उन दिनों श्री चव्हाण की हमेशा यह शिकायत होती थी कि वे निर्णय ही नहीं लेते थे। पर कुछ दिनों बाद उन्होंने स्वयं मुझसे कहा, 'अब मैं समझ पाया कि दूसरे स्थान पर काम करने वाले व्यक्ति की निर्णय लेने के सम्बन्ध में क्या कठिनाईयां होती हैं।' शास्त्रीजी की मृत्यु के बाद तो उनके मुंह से एक बार यह भी निकला कि "शास्त्रीजी के प्रधान मंत्रित्व के काल में उनके साथ मेरे जो अठारह महीने बीते, वह मेरे जीवन का स्वर्णिम काल था।"

भारत-पाकिस्तान युद्ध और शास्त्रीजी की मृत्यु

श्री शास्त्रीजी के अठारह महीने के छोटे से कार्यकाल की सबसे बड़ी घटना १९६५ का भारत–पाकिस्तान का युद्ध था। कश्मीर की घाटी में बहुत से घुसपैठिए छिपकर आ गए थे, उसी से इसकी शुरुआत हुई। उन दिनों हम पत्रकारों के मन में एक संदेह पैदा हुआ। इतनी बड़ी मात्रा में घुसखोर आये कैसे? हमारे खुफिया विभाग के लोगों को पता कैसे नहीं चला कि ऐसा कुछ हो रहा है। कश्मीर की घाटी में पाकिस्तान के कब्जे में जो प्रदेश है वहां नियुक्त हमारे गुप्तचर क्या कर रहे थे। एक बार हमने शास्त्रीजी को बहुत छेड़ा। उन्होंने वास्तविकता बताना स्वीकार किया, पर यह शर्त लगा दी कि समाचारपत्रों में छापा न जाए। उन्होंने बताया कि उस विभाग के काम करनेवाले गुप्तचर की उस समय की रिपोर्ट में यह जानकारी थी। पर दिल्ली के कार्यालय में काम करने वाले गुप्तचर विभाग के बड़े अधिकारियों ने उसे अधिक महत्व नहीं दिया। रिपोर्ट के कागजात फाइल में ही पड़े रह गए। उस रिपोर्ट का ध्यान आया घुसपैठिओं की कार्रवाईयां शुरू होने के बाद।

पत्रकारों पर विश्वास करने की शास्त्री जी की एक खास प्रणाली थी। पं. नेहरू जब दिल्ली में रहते थे, तब हर महीने में उनका पत्रकार सम्मेलन होता ही था। शास्त्री जी के अठारह महीनों के कार्यकाल में हुए पत्रकार सम्मेलनों की तो मुझे याद नहीं है, पर वे अपने निवास स्थान (१० जनपथ) पर अनौपचारिक चर्चा के लिए पत्रकारों को बुलाया करते थे। बिना निमंत्रण के भी हम जाया करते थे और ऐसा कभी नहीं हुआ कि उनसे भेंट हुए बिना हमें लौटना पड़ा हो जिस घटना के सम्बन्ध में उन्हें लगता था कि प्रकाशित नहीं होनी चाहिए, वह घटना भी वे बता देते थे। पर उसी के साथ यह भी कह देते थे कि इसे प्रकाशित न कीजिएगा। उनमें और पत्रकारों में एक प्रकार का विश्वास का नाता जुड़ गया था। जिस घटना को वे प्रकाशित न करने के लिए कहते थे, उसके पीछे उनका एक ही कारण होता था और वह था, देश का हित। विश्वास की इस दीवार में दरार पड़ने की एक ही घटना हुई थी और वह भी युद्धकाल में । पं. नेहरू के कार्यकाल में विदेशी पत्रकारों को अधिक महत्व दिया जाता था। मुझे इस बात का स्मरण नहीं है कि पं. नेहरू ने किसी भारतीय पत्रकार को––भाषायी पत्रकार को––विशेष भेंट–मुलाकात दी हो। पर शास्त्री जी के कार्यकाल में भारतीय पत्रकारों का महत्व बढ़ा। अनौपचारिक चर्चा के लिए वे विदेशी पत्रकारों को नहीं बुलाते थे। लड़ाई चल ही रही थी कि ऐसी ही एक चर्चा में उन्होंने यह संभावना प्रकट कि आगामी ४८ घंटों में शायद युद्ध बंद हो जाएगा। पर साथ ही उन्होंने यह भी कहा कि इस समाचार को बिलकुल मत छापिये। युद्धविराम का आदेश घोषित होने के पहले यदि सीमा पर लड़ रहे जवानों को यह समाचार ज्ञात हो गया तो उनमें ढिलाई पैदा होगी और इस कारण दुश्मन के द्वारा उनके मारे जाने की अधिक संभावना थी। इसीलिए वे चाहते थे कि यह समाचार न छपे। ब्रिटिश

परम्परा के पत्र "स्टेट्समेन" के उस समय के संवाददाता श्री इंदर मलहोत्रा को छोड़कर किसी ने यह खबर नहीं छापी। स्टेटसमेन में उक्त समाचार प्रकाशित होने के बाद यह चर्चा अवश्य प्रारंभ हुई थी कि श्री इंदर मलहोत्रा के विरूद्ध कार्रवाई की जाए। पर प्रत्यक्ष में कुछ नहीं हुआ।

भारत—पाक युद्धकाल की एक घटना मुझे अच्छी तरह याद है। २२ दिन की यह लड़ाई काफी जोरों पर थी। अमेरिका के पैटन टैंक का बल होने पर भी पाकिस्तान की अच्छी पिटाई हो रही थी। राष्ट्रसंघ के मंच पर कश्मीर के प्रश्न पर रूस—भारत का हमेशा साथ देता था। पर उसके अपने कारणों से भारतीय सेना की मार के कारण पाकिस्तानी सेना का छितराव उसे भी अच्छा नहीं लग रहा था। लड़ाई बंद करने के लिए अमेरिका का तो भारत पर दबाव था ही, रूस का भी था। पं. नेहरू जीवित होते तो वे क्या करते, यह कहकर सुझाया जा रहा था कि वे शांति के मसीहा थे अत: आप भी युद्ध बंद कर दीजिए। पर ढीलेढाले प्रतीत होने वाले शास्त्री जी का जवाब मुंहतोड़ था। उन्होंने कहा, 'पं. नेहरू देश के नेता थे। वे जो कहते थे, जनता उसे मानती थी। मैं जनता का सेवक हूं। भारतीय जनता के मन में जो होगा, मुझे तो वही करना पड़ेगा। मैंने उन दिनों यह समाचार 'महाराष्ट्र टाइम्स' में दिया था और दूसरे भी कई मराठी समाचारपत्रों ने उसे उद्धृत किया था।

१९६५ के युद्ध में भारत की विजय हुई। तीन ही वर्ष पूर्व चीन के हाथों भारत की हार हुई थी। उस पृष्ठभूमि में यह विजय अधिक आकर्षक प्रतीत हुई। कई लोगों को यह घटना बहुत ही विलक्षण और चमत्कारपूर्ण लगी। यह कैसे हो पाया, इस सम्बन्ध में उन दिनों कुछ इस प्रकार विश्लेषण हो रहा था। श्री कृष्ण मेनन बहुत तेज—तर्रार मंत्री तो थे, पर रक्षा विभाग के सैनिक अधिकारियों से उनका व्यवहार स्नेहपूर्ण नहीं था। उनके कार्यकाल में रक्षा अधिकारियों को उचित सम्मान नहीं मिलता था। वे किसी को भी चुभने वाली बात कह देते थे। शायद इसी का परिणाम यह हुआ कि १९६२ में अधिकारीगण पीछे रहकर सामान्य सैनिकों को आगे बढ़ने का आदेश दिया करते थे। नेफा क्षेत्र में भारत की पराजय का मुख्य कारण अधिकारियों द्वारा अपनी जान बचाने की प्रवृत्ति बताया जाता है। श्री यशवंतराव चव्हाण ने रक्षामंत्री बनने पर इस नीति में काफी परिवर्तन कर दिया। उनके सम्पर्क में आने वाले अधिकारियों के साथ वे स्नेह और आदर का व्यवहार करते थे। इसका असर सभी स्तर के अधिकारियों पर हुआ। नीचे के स्तर तक के अधिकारियों में यह भावना पैदा हुई कि युद्ध जीतने की जिम्मेदारी उनकी अपनी है। सामान्य सैनिकों से आगे बढ़ो, यह कहने के बजाय मोर्चे पर स्वयं आगे बढ़कर सामान्य सैनिकों को अपने साथ रखने की भावना बढ़ी। यही कारण था कि १९६५ के युद्ध में भारतीय सेना के जो लोग मारे गए, उनमें कैप्टन कहा जाने वाला वर्ग अधिक था। सामान्य प्रतीत होने वाले अधिकारियों ने युद्ध क्षेत्र में अजब करतब कर दिखाये। कुछ समाचारपत्रों में यह भी चर्चा हुई कि अधिकारियों का बिलकुल मोर्चे के बीच रहना भारत को आर्थिक

दृष्टि से बहुत महंगा पड़ेगा। पर सर्वसाधारण रूप से धारणा यही बनी थी कि इसी नयी नीति के कारण भारत युद्ध में विजयी हुआ।

१९६२ या १९६५, इनमें से कभी भी प्रत्यक्ष युद्ध के समय रणक्षेत्र पर जाने का अवसर मुझे नहीं मिला। १९६५ का युद्ध समाप्त होने के बाद भारत ने जिस पाकिस्तानी प्रदेश पर कब्जा कर लिया था उसमें से कुछ क्षेत्र का दौरा भारतीय पत्रकारों ने किया। उनमें से एक मैं भी था। अमेरिका से पाकिस्तान को पैटन टैंक मिले थे। राजस्थान—पंजाब के क्षेत्र में भारतीय जवानों ने उसकी जो धज्जियां उड़ायी थी, उन्हें देखने का सौभाग्य मुझे मिला था। पर मेरे मन पर उस काल की एक दूसरी ही घटना छा गई। लाहौर की सीमा पर बने इच्छोगिल नहर तक हमलोग गए थे। नहर के उस पार पाकिस्तानी सैनिकों को भी घूमते—फिरते हम देखते थे। इच्छोगिल नहर के कुछ इस ओर बरकी नाम का एक छोटा—सा कस्बा था। युद्ध समाप्ति के बाद बरबादी के जो दृश्य दिखाई पड़ते हैं वे वहां स्पष्ट थे। बाटा कम्पनी के एक दुकान का माल बाहर बिखरा पड़ा था। बिना किसी खास उद्देश्य के उस ढेर में हाथ डालकर हममें से कुछ लोग कुछ देख रहे थे। एक कागज हाथ लगा। उसमें उर्दू लिपि में कुछ लिखा था। हममें से जिन्हें उर्दू आती थी उन्होंने उसे पढ़ा और उसका अर्थ हमें बताया। भागने के लिए बाध्य हुए एक पाकिस्तानी सैनिक का हृदय उसमें व्यक्त हो रहा था। वह वाक्य इस आशय का था कि “सब कुछ उधार लेकर देश आगे नहीं जा सकता। वह जीत भी नहीं सकता” पाकिस्तान की सारी ताकत अमेरिका से मिलने वाली सहायता पर अवलम्बित थी। भारत ने सभी क्षेत्रों में आत्मनिर्भर होने का रास्ता अपनाया था। उस कागज के चंद वाक्यों में यह भावना व्यक्त हो रही थी कि पाकिस्तान की हार का यही कारण है। इसी समय मुझे यह भी अनुभव हुआ कि श्री कृष्ण मेनन भारत में विभिन्न कारणों से कितने ही बदनाम क्यों न हुए हो, उन्हीं के कार्यकाल में रक्षा उद्योगों की नींव डाली गई और उसी का बहुत कुछ फल १९६५ में भारत को विजय के रूप में मिला।

मैं यह बता ही चुका हूं कि युद्ध बंद करने के दबाव को शास्त्री जी ने किस प्रकार टाला। पर उसका अर्थ यह नहीं था कि वे युद्ध जारी रखना ही चाहते थे। उन दिनों भारत का युद्ध का दैनिक खर्च २२ करोड़ रुपए था। युद्ध को अधिक दिन तक जारी रखना आर्थिक दृष्टि से भारत के बूते के बाहर होता जा रहा था। भारत में अनेक कारखानों में गोला—बारूद तैयार करने का काम दिन—रात हो रहा था। फिर भी मोर्चे पर उसे लगातार पहुंचाना काफी कठिन हो गया था। ईंधन का भंडार भी कुछ ही दिनों में चुक जाने की स्थिति आ गई थी। वह समय भी ऐसा नहीं था कि किसी दूसरे देश से भारत को सहायता मिलती। अमेरिका से सहायता मिलने का तो प्रश्न ही नहीं था। थोड़ी बहुत सहायता रूस से अवश्य मिली थी। पर जैसा कि मैं कह चुका हूं कि उसका भी दबाव युद्ध बंद करने के लिए था। पर श्री शास्त्री जी ने कहीं भी यह नहीं दिखाया कि भारत

कठिनाइयों में है। भारत विजयी हुआ है यह दिखाते हुए ही उन्होंने युद्ध समाप्त किया। उनकी यह विशेषता कभी भी भूली नहीं जा सकती।

१९६५ के युद्ध में अनेक युवा भारतीय वैमानिकों ने दुश्मन के महत्वपूर्ण स्थानों पर बम बरसाकर जो यश प्राप्त किया था उसकी अनेक कहानियां काफी प्रचलित थी। दो बमबाज वैमानिक श्री अब्दुल हमीद और श्री कीलर बहुत ही लोकप्रिय हो गए थे। उस समय पाकिस्तान ने भारत के साथ युद्ध करने की तैयारी बहुत पहले से कर रखी थी। सीमावर्ती क्षेत्र में बहुत से बंकर बनाये गए थे। वे इतने मजबूत थे कि उस पर बम गिरने पर भी उसका कोई नुकसान नहीं हो सकता था। ऐसे बंकरों से होनेवाली मार समाप्त करने के लिए भारतीय जवानों को जान पर खेलकर उन्हें नष्ट करना पड़ा। बरकी के क्षेत्र में हमने ऐसे कुछ बंकर देखे। जमीन के ऊपर केवल दो–ढाई फुट ऊंचाई की सीमेंट की छोटी–सी कोठरी। पर उस 2 x 15 x 4 के अंदर दो–चार मशीनगनें और उन्हें चलाने वाले सैनिकों के लिए अच्छी व्यवस्था। इन बंकरों को तोड़ने वाला बालकराम नामक एक सैनिक हमने देखा। मशीनगन की मार बचाते हुए यह सैनिक जमीन पर सरपट खिसकता हुआ बंकर के पिछले भाग तक पहुंचा था और उसने एक हाथ से बम डालकर बंकर के अंदर शत्रु को मारा था। उस जवान को देखकर ऐसा लगता था कि यह तो अपने मुंह पर बैठी मक्खी भी नहीं मार सकता। हमारा इस बात पर विश्वास ही नहीं हो रहा था कि उसने इतने बड़े साहस का काम किया होगा। उसे जब पूछा तो उसने कहा, “वह काम मैंने कैसे किया, यह मैं भी नहीं बता सकता। पर उस समय मेरे मन में एक भावना पैदा हुई और मेरे हाथ से वह काम हो गया। उस समय मुझे किसी भी बात का डर नहीं लग रहा था।”

भारत को समझौता करना पड़ेगा। युद्ध में जिस पाकिस्तानी प्रदेश पर भारत ने कब्जा किया है, बाद में भी उसे अपने नियंत्रण में नहीं रखा जा सकेगा। समझौता वार्ता के लिए ताशकंद जाने के पहले भी श्री लालबहादुर शास्त्री इस बात को जानते थे कि हममें से कुछ पत्रकारों को उन्होंने अप्रत्यक्ष शब्दों में उस प्रकार का संकेत भी दिया था। इसके दो कारण थे। उस समय के जनसाधारण की भावना यह थी कि भारत पर आक्रमण करने वाले पाकिस्तान का जीता हुआ प्रदेश वापस न किया जाए। उस समय कुछ लोगों की धारणा यह भी थी कि इच्छोगिल नहर तक पहुंचकर और भारतीय तोपों के दायरे में आ जाने के बाद भी लाहौर पर कब्जा न करना फौजी दृष्टिकोण से एक भूल थी। पर जिस दृष्टि से लाहौर पर कब्जा करने का मोह भारतीय नेतृत्व ने टाला, लगभग उसी दृष्टि से कब्जे में आया पाकिस्तानी प्रदेश अपने हाथ रखने का विचार भी छोड़ना पड़ा । कुछ मात्रा में कश्मीर के अनुभव को विचार किया गया। उस स्थिति में लाहौर पर कब्जा करना बहुत आसान था। पर यह बात भी ध्यान से ओझल नहीं की जा सकती थी कि भारत विरोधी भावनाओं में ही पनपे नागरिकों के पालन–पोषण पर लगातार खर्च करते रहना कहा तक उचित होगा। विदेशी प्रवृत्तियों पर शासन बनाये रखने के लिए जिस क्रूर मनोवृत्ति की आवश्यकता होती है, वह भारत की संस्कृति में ही नहीं थी। पाकिस्तानी

प्रदेश वापस करने के लिए रूस और अमेरिका, दोनों का ही दबाव था। ताशकंद जाने के पहले भी लालबहादुर शास्त्री को यह ज्ञात था कि दुनिया के देशों से सम्बन्ध बनाये रखने के लिए दूसरों की कुछ सुननी ही पड़ती है। उस समय इस प्रकार की अफवाह भी फैली थी कि समझौते के लिए आये दबाव का तनाव शास्त्रीजी बरदाश्त नहीं कर सके और उन्हें दिल का दूसरा दौरा पड़ा। उन्हें पहला दौरा प्रधानमंत्री बनने के तुरंत ही बाद पड़ा था। दबाव की अफवाह पर मुझे पहले विश्वास नहीं हो पाया था।

पर बाद में कुछ और जानकारी मिली। उससे ऐसा लगा कि दबाव की कहानी में कुछ सचाई है। बाद में शास्त्री जी के साथ ताशकंद गए एक पत्रकार ने मुझे उस समय की कहानी बतायी। घटनाक्रम के अनुसार वह सच प्रतीत होती है। पर उसके भी पहले मेरे सामने एक प्रश्न कई बार खड़ा होता था और उसका मुझे कोई उत्तर नहीं मिलता था। शास्त्रीजी के ताशकंद में जो कार्यक्रम हुए उनकी एक रंगीन फिल्म भी श्री चव्हाण को, उनके उस समय रक्षामंत्री होने के कारण, भेंट की गई थी। दिल्ली में महाराष्ट्रीय सांस्कृतिक तथा शिक्षण संस्था की ओर से १९७१ में हमने महाराष्ट्र रंगायन नाम से एक बड़ा आडिटोरियम बनाया। उसमें बड़े प्रोजेक्टर की भी व्यवस्था की थी। श्री यशंवतराव चव्हाण के निजी सचिव श्री डोंगरे ने उस फिल्म की आठों रीले मेरे सुपूर्द कर दी। ताशकंद में ही शास्त्रीजी की मृत्यु होने के कारण वे रीलें पहले कही देखी नहीं गई थी। हमने उन रीलों को देखा। उनमें वह फिल्म भी थी जब ताशकंद के समझौते पर हस्ताक्षर हुए थे। समझौते के समय जो तालिया बजी, उसका चित्र परदे पर दिखाई दिया। उसमें श्री चव्हाण मुझे बहुत ही उदासीन दिखाई दे रहे थे। ऐसे समझौते पर जब हस्ताक्षर होते हैं खुशी से तालियां बजायी जाती है। मुझे ऐसा लगा कि श्री चव्हाण ने बेमन से तालियां बजायी है। मेरे मन में उसी समय यह संदेह पैदा हुआ कि यदि समझौता ठीक ही हुआ था तो भारतीय नेताओं के चेहरे पर खुशी क्यों नहीं व्यक्त होती।

मेरे पत्रकार मित्र ने जो कहानी बतायी वह इस प्रकार थी। शास्त्रीजी समझौता करने को तैयार थे, पर वे सम्मानपूर्ण समझौता चाहते थे। वे पाकिस्तानी प्रदेश तो वापस देने को तैयार थे, पर कश्मीर का हाजीपीर आदि क्षेत्र, जहां से भारत पर बार–बार आक्रमण हुए थे, देने को तैयार नहीं थे। उनका कहना था और वह उचित ही था कि भारत की भूमिका शुरू से यही रही है कि सारा कश्मीर हमारा है, उसे वापस देने के लिए न कहा जाए। पर रूसी नेताओं ने जो समझौता पहले से तैयार कर रखा था, वही मानने के लिए भारत को बाध्य किया गया। इसमें हाजीपीर दर्रा आदि कश्मीर का सभी क्षेत्र पाकिस्तान को वापस करने की व्यवस्था थी। शास्त्री जी इसके लिए तैयार नहीं थे। इस पर रूस की ओर से पहले यह कहा गया कि सुरक्षा परिषद में कश्मीर के प्रश्न पर अब तक हम आपका साथ देते आये हैं। हमारे वीटो के कारण ही सुरक्षा परिषद का कोई प्रस्ताव कार्यान्वित न हो सका। भविष्य में वह साथ हम आपको नहीं दे सकेंगे। “इस पर शास्त्रीजी ने कहा”, कोई हर्ज नहीं। समय आता है जब किसी देश को संसार के मंच पर अकेले

ही खड़ा होना होता है।" इस पर रशियन नेताओं ने एक कदम और आगे रखा। "ठीक है, आप हमारी न सुनिये। अमेरिका की पाकिस्तान को सहायता है ही। चीन भी उसके समर्थन में कभी भी खड़ा हो सकता है। इस समय आपकी सहायता के लिए हमें प्रत्यक्ष नहीं आना पड़ा, पर हमारे हवाई जहाज आपकी सहायता के लिए तैयार बैठे थे। पर इसके बाद आपको हमसे किसी प्रकार की सहायता की आशा नहीं करनी चाहिए।"

शास्त्री जी को इस विचार ने झुकने के लिए बाध्य कर दिया कि अमेरिका और चीन की संयुक्त सहायता के बल पर पाकिस्तान ने फिर आक्रमण किया तो वर्तमान स्थिति में बिना किसी सहायता के उसका मुकाबला करना कठिन हो जाएगा। उन्होंने इसी कारण समझौते को स्वीकृति दी। समझौते पर हस्ताक्षर करने के कुछ समय बाद उन्होंने अपने घर पर टेलीफोन किया और प्रतिक्रिया पूछी। प्रतिक्रिया बहुत ही प्रतिकूल थी। रंगीन फिल्म में श्री चव्हाण के चेहरे पर उदासी छाने का भी शायद यही कारण था। शास्त्री जी इस भावना से बेचैन हो उठे होंगे कि इस समझौते को भारत की जनता स्वीकार नहीं कर पायेगी। इसी बेचैनी के कारण उनका मानसिक तनाव बढ़ा होगा और उन्हें दिल का दूसरा दौरा पड़ा होगा। भारत की जीत, जीत नहीं रह गई। रूसियों के स्वार्थ ने उसे महान दुर्घटना में बदल दिया। रूस की इस नीति का एक कारण समझा जाता है। पाकिस्तान विभिन्न कारणों से अमेरिका का पिछलग्गू बन गया था। रूस चाहता था कि पाकिस्तान को अमेरिका से कुछ दूर हटाया जाए। जब राष्ट्रीय स्वार्थ प्रबल होता है, अपने मित्र राष्ट्रों के स्वार्थों की भी बलि चढ़ाना धर्म बन जाता है। दुनिया का अब तक का इतिहास यही कहता है। यही है राजनीति।

श्री लालबहादुर शास्त्रीजी जब ताशकंद गए, उन्हें विदाई देने के लिए गए पत्रकारों में मैं भी था। उन्होंने जाते समय हर एक से पूछताछ की। मैं उनके पीछे था। मेरा ख्याल था कि सामान्यतः उनका ध्यान मेरी ओर नहीं जाएगा। पर वे अचानक पीछे घूमें और मुझे देखते ही कहा 'अच्छा, तो आप भी आये हैं। जीतेजी मुझे उनका वही अन्तिम दर्शन था। उस समय का उनका चेहरा आज भी मेरी आंखों के सामने है। १९६६ की १० जनवरी की रात और ११ जनवरी की प्रातः लगभग तीन बजे मुझे श्री चव्हाण के निजी सचिव श्री डोंगरे का फोन आया। शायद उन्हें शास्त्रीजी की मृत्यु की खबर पहले ही लग गई थी। उन्होंने मुझे खबर नहीं बतायी। पर पूछा ताशकंद से क्या कोई खबर आयी है, मैं नींद में से ही उठा था। अतः मुझे कुछ मालूम नहीं था। उन्होंने कहा, पता कीजिए। **'नवभारत टाइम्स' के दफ्तर में टेलीफोन करते ही वह दुर्भाग्यपूर्ण खबर मिली। फिर नींद** का प्रश्न ही नहीं था। दिन निकलते ही "उनकी मृत्यु में कुछ रहस्य है। यह स्वाभाविक मृत्यु नहीं है," इस प्रकार की चर्चा शुरू हो गई थी। उनका शव लेकर हवाई जहाज शाम को पालम हवाई अड्डे पर उतरा। हवाई अड्डे से लेकर उनके घर तक मैं उनकी गाड़ी के बिलकुल पास था। उनका चेहरा खुला था। उस पर एक दो जगह निलाई लिए हुए काले दाग थे। शायद उन दागों के कारण उन्हें जहर पिलाये जाने की खबर फैल चुकी

थी। सचाई जानने की मेरी भी इच्छा थी। शाम को लगभग छह बजे। १० जनपथ के उनके बंगले के बाहर उनका शव अंत्यदर्शन के लिए रखा गया।

श्री लालबहादुर शास्त्री के मुख्य निजी सचिव श्री. सी. पी. एन. श्रीवास्तव से मेरा अच्छा परिचय था। वे उनकी पार्थिव देह के साथ ही ताशकंद से लौटे थे। शास्त्रीजी की मृत्यु का दु:ख उनसे संभाले नहीं संभल रहा था। वे रो ही रहे थे कि मैंने उनसे पूछा, “शास्त्री जी की मृत्यु में कुछ दगाबाजी या धोखा होने का संदेह आपको भी है क्या?” उन्होंने तुरंत कहा, ‘नहीं, नहीं, नहीं’,। मैंने जो दाग दिखाई पड़े थे, उसके बारे में भी पूछा। उन्होंने कहा, मृत्यु के बाद शव जल्द खराब न हो, इसलिए कुछ इंजेक्शन दिये गए थे, उन्हीं से वे दाग पड़े होंगे। इस बात की बाद में काफी चर्चा हुई कि उनकी मृत्यु में कुछ दगाबाजी थी। उन्हें जहर दिया गया। पर मैंने उस पर कभी भी विश्वास नहीं किया।

इंदिरा गांधी प्रधानमंत्री बनी

कांग्रेस के अध्यक्ष श्री कामराज के समर्थन के कारण ही पं. नेहरू के बाद श्री लालबहादुर शास्त्री प्रधानमंत्री बन सके थे। उसी प्रकार श्रीमती इंदिरा गांधी के प्रधानमंत्री बन सकने का कारण भी श्री कामराज ही थे। पर उस समय मुझे लगा था कि नेताओं की एक–दूसरे के सम्बन्ध में ईष्या और जलन कामराज से भी अधिक महत्व का कारण थी। पं. नेहरू की मृत्यु के बाद श्री मोरारजी देसाई ने अनौपचारिक रूप से संसदीय कांग्रेस दल का मन आजमाने का कंसेसस श्री कामराज का सुझाव मान लिया था। पर इस बार उन्होंने चुनाव लड़ने का ही निश्चय किया। अत: नये प्रधानमंत्री के नाम की चर्चा में श्री मोरारजी देसाई, श्रीमती इंदिरा गांधी, इन दो नामों के अतिरिक्त अस्थायी प्रधानमंत्री श्री गुलजारीलाल नंदा, श्री स. का. पाटिल तथा श्री यशवंतराव चव्हाण के नाम भी चल रहे थे। कारण कुछ भी हो, श्री कामराज का झुकाव इंदिरा गांधी की ओर ही था। भारत सेवक समाज तथा भारत साधु समाज के संबंध में श्री नंदा की गतिविधियां श्री कामराज को कभी पसंद नहीं आयी थी। श्री स. का. पाटिल को लोग प्रतिक्रियावादी समझते थे। श्रीमती इंदिरा गांधी के प्रधानमंत्री बनने से पहले की बात है। कांग्रेस महासमिति के किसी अधिवेशन में श्री पाटिल ने एक प्रस्ताव रखा था। उसका समर्थन करने के लिए श्रीमती गांधी खड़ी हुई थीं। उन्होंने प्रारंभ में ही कहा, में श्री पाटिल द्वारा प्रस्तुत प्रस्ताव का समर्थन तो कर रही हूं। पर उन्होंने जो विचार प्रस्तुत किए है, उनसे मैं बिलकुल सहमत नहीं हूं। श्री चव्हाण प्रगतिशील तो माने जाते थे पर शायद श्री कामराज की यह धारणा थी कि वे उनके नियंत्रण में नहीं रहेंगे। मेरी यह निश्चित धारणा है कि श्री कामराज का समर्थन इंदिरा गांधी को मिलने का एकमात्र कारण उनका यह विश्वास था कि वे उनके कथनानुसार ही चलेंगी।

यह निश्चित रूप से कहना कठिन है कि प्रत्यक्ष चुनाव में खड़े होते तो श्री यशवंतराव चव्हाण क्या चुनकर आते? पर प्रारंभिक चर्चा में यह अवश्य दिखाई दे रहा था कि उन्हें अच्छा समर्थन प्राप्त है। मेरी धारणा यह है कि प्रधानमंत्री पद का ताज अपने सिर पर चढ़ने की संभावना नहीं है, यह देखते ही श्री. स. का पाटिल ने एक नयी कल्पना को हवा में छोड़ दिया और उसका उद्देश्य केवल यह था कि श्री मोरारजी देसाई, इंदिरा गांधी या यशवंतराव चव्हाण, इनमें से कोई भी प्रधानमंत्री बनने न पाये। उन्होंने भारतीय राजनीति में सामूहिक नेतृत्व (collective leadership) नाम से एक नये शब्द को जन्म दिया। इस सम्बन्ध में मेरी उनसे एक बार बात भी हुई थी। उन्होंने जिस ढंग से अपने विचार प्रस्तुत किए, उससे उनकी बुद्धिमत्ता ही प्रकट हो रही थी। उस समय मुझ पर उसका असर भी पड़ा था। प्रधानमंत्री कौन हो, यह चर्चा प्रारंभ होते ही उन्होंने कहा, 'पं. नेहरू और शास्त्रीजी की मृत्यु के बाद हमें इस सचाई को अब आंखों से ओझल नहीं करना चाहिए कि हममें से कोई भी एक नेता देश को सफल नेतृत्व नहीं दे सकता। अब

सामूहिक नेतृत्व ही स्वीकार करना पड़ेगा। सामूहिक नेतृत्व की दृष्टि से उन्होंने उस समय के सत्रह–अठराह नेताओं के नाम लिए। उसमें उत्तर प्रदेश के श्री चन्द्रभानु गुप्त और श्री यशवंतराव चव्हाण का नाम तो था ही, श्री कृष्ण मेनन का भी नाम था जिनका वे हमेशा मजाक उड़ाया करते थे। नामों की सूची बताने के बाद उन्होंने सहज में ही कहा, 'एक बार सामूहिक नेतृत्व की बात स्वीकार करने के बाद इस बात का कोई महत्व नहीं रह जाता कि प्रधानमंत्री कौन बनता है। श्री गुलजारीलाल नंदा भी प्रधानमंत्री बनें तो भी इसमें क्या हर्ज है?'

श्री पाटिल के मुख से यह सुनकर मुझे आश्चर्य लगा कि श्री नंदा के प्रधानमंत्री बनने में उन्हें कोई आपत्ति नहीं है, क्योंकि तब तक की निजी चर्चा में वे श्री नंदा का हमेशा मजाक ही उड़ाया करते थे। पहले तो मेरी धारणा बनी थी कि उन्होंने उक्त विचार देशहित की भावना से ही रखा है। पर बाद में बात धीरे–धीरे अधिक स्पष्ट हो गई। वे दक्षिणपंथी कहलाने पर भी हमेशा ही श्री मोरारजी देसाई के विरूद्ध थे। वे कहा करते थे कि यह आदमी किसी का कोई काम नहीं करेगा। पर उस समय की उनकी सामूहिक नेतृत्व की कल्पना केवल श्री यशवंतराव चव्हाण को रास्ते से हटाने के लिए थी। इस बात का ज्ञान राजनीति के दांवपेंच दूर से देखनेवाले मेरे जैसे पत्रकार को पहले नहीं हुआ। पर वह ज्ञान श्री चव्हाण को हुए बिना कैसे रहता। श्री पाटिल का यह ख्याल था कि उम्र में बड़े होने के कारण श्री चव्हाण को उनकी सारी शक्ति उनके (पाटिल) पक्ष में लगा देनी चाहिए थी। पर वह नहीं हो रहा है, यह देखते ही उन्होंने श्री चव्हाण का घोड़ा रेस से अलग करने का प्रयत्न किया। श्री पाटिल श्री नंदा के समर्थन में खड़े हो रहे है, यह देखते ही श्री चव्हाण ने श्रीमती इंदिरा गांधी को समर्थन देने की चाल चली। इस संदर्भ में एक दिन उन्होंने मुझसे जो कहा वह मुझे आज भी याद है। रोज की तरह मैं शाम को उनके बंगले पर गया था। कुछ उत्तेजनापूर्ण स्वर में उन्होंने मुझसे कहा, आज सुबह मैं इंदिरा जी से कह आया हूं कि मैं आपका समर्थन करूंगा। पर इसके आगे का उनका वाक्य मुझे अधिक महत्व का लगा। उन्होंने कहा, किसी भी परिस्थिति में मैं श्री नंदा को प्रधानमंत्री नहीं बनने दूंगा। मेरे ख्याल में यह बात बहुत देर में आयी कि श्री पाटिल द्वारा खेले दांव का यह उत्तर है। मुझे बाद में यह भी याद आया कि श्री चव्हाण के घर पर ही श्री जमनालाल बजाज के पुत्र संसद सदस्य श्री कमलनयन बजाज ने कहा था कि हमें अब स्टेपनी प्रधानमंत्री नहीं चाहिए। ध्यान रहे कि श्री लालबहादुर शास्त्री की मृत्यु के बाद भी मंत्रिमण्डल में दूसरे क्रम पर होने के कारण श्री नंदा ही अस्थायी प्रधानमंत्री बने थे।

श्री मोरारजी देसाई की सहायता से ही श्री यशवंतराव चव्हाण राजनीति में ऊपर उठे। बम्बई जैसे बड़े द्विभाषिक राज्य के वह मुख्यमंत्री भी बने। श्री देसाई के कारण विधानसभा के गुजराती सदस्यों के मत मिलने से ही यह हो सका था। फिर भी प्रधानमंत्री के पद के संघर्ष में उन्होंने श्री मोरारजी देसाई का समर्थन नहीं किया। उसका रहस्य मेरी समझ में नहीं आ रहा था। एक दिन सहज में ही मैंने उन्हें इसका कारण पूछा। उन्होंने

कहा, श्री मोरारजी देसाई ने मेरा राजनीतिक उपयोग किया, और मैंने भी उनका किया। यह उत्तर सुनने के बाद मैंने उस समय तो उन्हें कुछ नहीं कहा, पर उस समय जो विचार मन में आया वह आज लिख रहा हूं। श्री यशवंतराव चव्हाण का अनुमान था कि श्री मोरारजी देसाई ने उनका राजनीतिक उपयोग किया, 'पर मैंने किया' यह उनकी स्वीकृति थी। सचाई की कसौटी पर अनुमान और स्वीकृति में अंतर होता ही है। आज लगता है कि श्री चव्हाण ने मुझे जो बताया वास्तविक कारण वह नहीं था। बाद की कई घटनाओं से भी यह सिद्ध हो चुका है कि श्री चव्हाण में राजनीतिक साहस की हमेशा कमी रही है। यह प्रचार काफी वर्षों तक चलता रहा कि संयुक्त महाराष्ट्र के आंदोलन में श्री मोरारजी देसाई ने एक सौ पांच लोग मारे। श्री चव्हाण इस भय से आतंकित हुए होंगे कि श्री मोरारजी देसाई का समर्थन करने पर महाराष्ट्र का जनमत फिर से उनके खिलाफ हो जाएगा। यदि यह कारण स्वीकार न किया जाए तो इस बात का अर्थ ही नहीं लगता कि लालबहादुर शास्त्री के मंत्रिमण्डल में मोरारजी देसाई का समावेश कराने के लिए चुपचाप प्रयत्न करने वाले श्री चव्हाण समय आने पर उनके पीछे डटकर खड़े होने का साहस नहीं कर पाये।

परन्तु जितनी मेरी जानकारी है उससे मुझे अवश्य ऐसा लगता है कि श्री मोरारजी देसाई के मन में श्री चव्हाण के प्रति अपनेपन की ही भावना थी। १९६९ में कांग्रेस का विभाजन होने का बाद एक दिन बातचीत में उन्होंने मुझसे सहज में ही कहा, "यदि उस समय रावसाहब प्रधानमंत्री बनना चाहते थे, तो उन्होंने मुझसे क्यों नहीं कहा। स्वयं पीछे रहकर उन्हें प्रधानमंत्री बनाने में मुझे बड़ी खुशी होती।" श्री मोरारजी निजी चर्चा में श्री चव्हाण को रावसाहब कहा करते थे। इसी प्रकार श्री चव्हाण राजनीति में चहारदीवारी से उतरकर जब श्रीमती इंदिरा गांधी के गुट में शामिल हुए तब कहा गया था कि श्री चव्हाण की कुछ कमजोरी का पता लगने के कारण उन पर दबाव डाला गया था। इस सम्बन्ध में भी मेरी एक बार श्री मोरारजी देसाई से बात हुई थी। उन्होंने बताया कि उनके खिलाफ एक फाइल तैयार करने के लिए एक अधिकारी से कहा गया। उसी ने आकर मुझे बताया कि उसने उस काम से इनकार किया है। श्री देसाई ने आगे यह भी कहा कि राजनीति में जो रहता है उससे कभी न कभी कोई भूल हो ही जाती है। पर उसे छिपाकर रखने का प्रयत्न करने पर उसका बोझ हमेशा सिर पर चढ़ा रहता है। जिसे राजनीति में रहना हो उसे चाहिए कि जो आये उसे सिर पर लेकर फेंक दिया जाए। उस विषय की चर्चा कुछ समय तक बड़े जोरशोर से होती है। फिर वह अपने आप समाप्त हो जाती है। श्री मोरारजी देसाई का व्यवहार कुछ इसी प्रकार का था।

श्री कामराज का समर्थन होने के कारण श्रीमती गांधी के लोकसभा की सदस्या न होने पर भी, कांग्रेस संसदीय दल की नेता चुनकर आने में कोई संदेह नहीं बचा था। उन दिनो लोकतंत्र की दृष्टि से अलिखित संकेत था कि लोकसभा का सदस्य ही कांग्रेस दल का नेता हो सकता है। श्री लालबहादुर शास्त्री के मंत्रिमण्डल में आने के बाद उनका

मंत्रित्व बनाये रखने के लिए उन्हें राज्यसभा का सदस्य चुन लिया गया था। कांग्रेस संसदीय दल के नेता के चुनाव परिणाम के सम्बन्ध में प्रश्न केवल इतना ही था कि मतों का अंतर कितना होगा। पत्रकारों ने इस सम्बन्ध में कई अनुमान लगाए थे। मेरा अनुमान था कि श्री मोरारजी को १७५ मत मिलेंगे। प्रत्यक्ष में उन्हें १७३ मत मिले। श्री लालबहादुर शास्त्री जी के मंत्रिमण्डल में वरिष्ठता का प्रश्न पैदा हुआ और उस समय श्री मोरारजी का समावेश मंत्रिमण्डल में नहीं हुआ। पर श्रीमती गांधी के साथ उनका संघर्ष होने के बाद भी उन्हें उनके मंत्रिमण्डल में तो लिया ही गया, उस समय कि स्थिति के दबाव के कारण वे उपप्रधानमंत्री भी बने। यह इसी का सबूत था कि कांग्रेस संसदीय दल में वे कितने लोकप्रिय थे। उन्हें वित्त मंत्रालय भी सौंपा गया।

प्रारम्भिक काल में इस बात का अनुभव ही नहीं हुआ कि श्रीमती गांधी प्रधानमंत्री है। सन १९६६ में वे प्रधानमंत्री बनी और १९६७ में उन्हें आम चुनावों का मुकाबला करना पड़ा। उन्होंने शास्त्री जी के मंत्रिमण्डल में विशेष परिवर्तन नहीं किया था। श्री गुलजारीलाल नंदा गृहमंत्री बने हुए थे और श्री यशवंतराव चव्हाण रक्षामंत्री। पर उनके प्रारंभिक कार्यकाल में भी एक बात का अनुभव हो रहा था। ऐसी कई घटनाएं सामने आ रही थी कि पाकिस्तान में भारत की विजय के कारण श्री लालबहादुर शास्त्री की बढ़ी हुई लोकप्रियता श्रीमती गांधी को नहीं सुहा रही है। पुरानी यह अफवाह तो थी ही कि नेहरू के जीवनकाल में जो कामराज योजना बनी थी उसमें श्री लालबहादुर शास्त्री का नाम श्रीमती गांधी ने खुद लिखा था। इस प्रकार के भी समाचार थे कि श्री लालबहादुर शास्त्री के मंत्रिमण्डल में होते हुए भी वे उन्हें प्रतिक्रियावादी समझती थी। उन दिनों संसदीय क्षेत्रों में श्रीमती गांधी द्वारा एक अमेरिकन पत्र को दी गई भेंटवार्ता की भी काफी चर्चा हुई थी। उसमें श्रीमती गांधी ने कहा था कि यदि यही नीतियां बनी रही तो मंत्रिमण्डल में रहना चाहिये या नहीं, इस बात पर मुझे विचार करना पड़ेगा।

शायद उनके मन में हीनता की यह भावना जम गई हो कि लालबहादुर शास्त्री जी की लोकप्रियता की पृष्ठभूमि में वे टिक नहीं सकेंगी। पं. नेहरू के और काम चाहे कितने ही उल्लेखनीय क्यों न हो, उनके कार्यकाल के अंत में भारत को हार का मुंह देखना पड़ा। शास्त्री जी के कार्यकाल में भारत ने विजय पायी। शायद शास्त्री जी की अधिक लोकप्रियता का यह कारण हो सकता है। मृत्यु के बाद यह तुलना करना कदाचित उचित नहीं होगा कि कौन अधिक लोकप्रिय था। पर पं. नेहरू और श्री लालबहादुर शास्त्री की मृत्यु के बाद जनसाधारण के प्रेम में जो उफान आया, उसमें दिखाई दिया अंतर सदा के लिए मन में बैठ गया। पं. नेहरू की मृत्यु गर्मी के दिनों में मई महीने में हुई। दोपहर दो बजे उनका शरीर अंत्यदर्शन के लिए रखा गया। दिल्ली में गर्मी काफी कड़ी होती है। पर धूप का उतरना प्रारंभ हो गया था। दर्शन के लिए आने वालों को धूप अधिक कष्टकर नहीं लग रही थी। रात में दस बजे तक भीड़ छंट चुकी थी। वातावरण शांत बन चुका था। पर जब शास्त्री जी की मृत्यु हुई थी वे दिन कड़ाके की सर्दी के थे। शास्त्री जी का

पार्थिव शरीर अन्तिम दर्शन के लिए शाम को लगभग छह बजे रखा गया था। सर्दी ऐसी थी, जिसमें मनुष्य की हड्डी भी कांप उठती थी। फिर भी सुबह तक उनके दर्शन के लिए लगातार भीड़ लगी हुई थी। पत्रकार के रूप में मैं शास्त्री जी का अन्तिम दर्शन बहुत ही निकट से कर चुका था। पर एक नागरिक के नाते मन में भावना यह थी कि परिवार के साथ उनका अन्तिम दर्शन किया जाए। अत: रात में लगभग दस बजे गया। बड़ी लम्बी लाइन लगी थी। मुझे लगा कि घंटे दो घंटे तक इस लाइन में अपनी बारी नहीं आ सकती। घर वापस गया और सुबह चार बजे फिर आया। पर लाइन कम नहीं हुई थी। देहाती लोग ऊनी कपड़े के अभाव में कड़ाके की सर्दी में कुड़कुड़ा रहे थे। पर वे अपने प्रिय नेता का अन्तिम दर्शन किए बिना जाने का नाम ही नहीं ले रहे थे। लगभग पौने छह बजे हम दर्शन कर पाये। यह थी उनकी लोकप्रियता। पर श्रीमती गांधी के एक निजी सहायक श्री यशपाल कपूर को मैंने कहते हुए सुना था कि "हम शास्त्री जी को पन्द्रह दिन में भुलवा देंगे।" देश का सिर दुनिया में ऊंचा उठाने वाले व्यक्ति को भुला देने का विचार मुझे अच्छा नहीं लगा। मैंने यह बात श्री यशवंतराव चव्हाण से कही। उन्होंने कुछ कहा तो नहीं, पर मैंने देखा कि उनकी भी आंखों में आंसू भर आये थे। इससे यही लगता था कि शास्त्री जी को भुलाने का जो प्रयत्न हो रहा है, वह उन्हें भी अच्छा नहीं लगा है।

रक्षामंत्री के रूप में श्री यशवंतराव चव्हाण के दिल्ली आने पर महाराष्ट्र के मुख्यमंत्री श्री मा.स. कन्नमवार बने थे। वे विदर्भ का अलग राज्य चाहते थे। संयुक्त महाराष्ट्र के प्रश्न पर मैंने उनका हमेशा ही विरोध किया। पर उसके कारण उनका मुझ पर जो स्नेह था उसमें कभी कोई अंतर नहीं आया। संयुक्त महाराष्ट्र के बनने के बाद मैंने एक बार कुछ दबी जुबान में मेरे द्वारा की गई उनकी आलोचना का उल्लेख किया और उनसे अनुरोध किया कि वे अब उस पर ध्यान न दें। पर उन्होंने तुरंत ही कहा, "उस आलोचना को ध्यान में रखने का कारण ही क्या है। तुमने जो विरोध किया उसमें मेरे बारे में कोई निजी क्रोध नहीं था। संयुक्त महाराष्ट्र के सम्बन्ध में तुम्हारे प्रेम के कारण तुमने वह आलोचना की थी उन्हें लोग बहुत ही ढीलाढाला और देहाती समझते थे। कुछ लोगों की भावना तो यह भी थी कि उन्हें मुख्यमंत्री बनाकर भूल की गई है। पर वे महाराष्ट्र के संत स्वामी रामदास के उस कथन की तरह थे जिसमें उन्होंने कहा था कि "मनुष्य में अनेक कलाएं होनी चाहिए," फिर वेशभूषा कितनी ही गंवारू क्यों न हो (वेश असावा बावला, अंतरी असाव्या नाना कला)।"

उन दिनों श्री राजनारायण समाजवादी मजदूर नेता के रूप में प्रसिद्ध थे। मजदूरों की कुछ मांगों के संदर्भ में उन्होंने बम्बई बंद का आयोजन किया था। अपना नेतृत्व सफल बनाने की दृष्टि से बम्बई जाने से पहले वे श्री यशवंतराव चव्हाण से मिले। लगता है कि वे उनके द्वारा श्री कन्नमवार पर कुछ दबाव डालना चाहते थे। किसी को भी प्रत्यक्ष नाराज न करने का चव्हाण का स्वभाव था। अत: उन्होंने श्री राजनारायण के कहने पर श्री

कन्नमवार को टेलीफोन किया। शुरू के दो—चार वाक्य सुनते ही श्री कन्नमवार की समझ में आ गया कि इस टेलीफोन का उद्देश्य क्या है। उन्होंने टेलीफोन खराब होने के कारण कुछ सुनाई नहीं देता, यह जताने के लिए दो—चार बार ऐं—ऐं किया और कहा, साहब, फोन पर ठीक सुनाई नहीं दे रहा है। आपको जो कुछ कहना है लिखकर भेज दीजिए। श्री कन्नमवार जानते थे कि ऐसी बातें श्री चव्हाण लिखकर नहीं भेज सकते।

बाद में श्री राजनारायण बम्बई गए और श्री कन्नमवार से मिले। प्रारम्भिक कुछ बातें होने के बाद श्री राजनारायण ने कहा, “क्या आप नहीं जानते हैं कि मैं कौन हूं?” श्री कन्नमवार ने नम्रता के साथ कहा, “हां, मैं जानता हूं कि आपका नाम राजनारायण है और मजदूरों के नेता हैं।” इस पर श्री राजनारायण ने आवाज कुछ तेज की और कहा, ‘यदि आपने मेरी बात नहीं सुनी तो मैं बम्बई में आग लगा दूंगा। यह सुनते ही श्री कन्नमवार ने भी अपनी आवाज चढ़ायी और दो—चार ठेठ गालियां देकर कहा—निकल जा यहां से। इतना ही नहीं, धक्का मार कर निकाल—बाहर करने के लिए उन्होंने अपने सिपाहियों को भी बुलाया। श्री राजनारायण को इस सबकी उम्मीद नहीं थी। उन्हें कंपकपी छूटी। श्री कन्नमवार ने उस समय जो रूप धारण किया था, उससे एक लाभ निश्चित हुआ। उस समय बम्बई बंद नहीं हो सका। यह घटना स्वयं श्री कन्नमवार ने उनकी मृत्यु के आठ दिन पहले मुझे बतायी थी। मैं तब किसी काम से बम्बई गया था और उनसे मिला था।

महाराष्ट्र की राजनीति की दृष्टि से श्री यशवंतराव चव्हाण और श्री वसंतराव नाईक, ये दो नाम बहुत दिनों तक साथ लिए गए। श्री कन्नमवार के बाद श्री वसंतराव नाईक को महाराष्ट्र का मुख्यमंत्री बनाने का निर्णय श्री चव्हाण ने ही किया था। उन दिनों यह भावना काफी जोरों पर थी कि महाराष्ट्र का मुख्यमंत्री पद मराठा जाति में उत्पन्न व्यक्ति के हाथ ही होना चाहिए। श्री नाईक बंजारा जाति के थे। श्री बालासाहब देसाई भी उस पद के उम्मीदवार थे। उन्हें मुख्यमंत्री न बनाने के कारण श्री देसाई बहुत दिनों तक श्री चव्हाण पर नाराज से रहे। वैसे देखा जाए तो श्री यशवंतराव चव्हाण का स्वभाव निर्णयात्मक नहीं था। पर इस मामले में उन्होंने अवश्य ही निर्णयात्मक रुख अपनाया था। मुझे याद है कि दिल्ली के कुछ मराठी पत्रकारों के सामने उन्होंने स्पष्ट कहा था, यद्यपि बहुमत श्री बालासाहब देसाई के पक्ष में है, फिर भी मैने श्री वसंतराव नाईक को मुख्यमंत्री बनाने का निर्णय किया है।

मुझे आज भी ऐसा लगता है कि श्री यशवंतराव चव्हाण ने श्री बालासाहब देसाई के बजाय श्री वसंतराव नाईक को महाराष्ट्र का मुख्यमंत्री बनाकर अच्छा ही किया। श्री देसाई की प्रतिमा कुछ तानाशाह जैसी थी और उससे जनसाधारण के मन में आतंक पैदा होता था। श्री वसंतराव नाईक व्यवहार में बहुत ही मीठे व्यक्ति थे। मुझे भी एक बार इस बात की अनुभूति हुई थी कि जनसाधारण के मन में श्री बालासाहब देसाई के विषय में किस प्रकार की भावना थी। उन दिनों वे महाराष्ट्र के गृहमंत्री थे। उनके साथ मेरे संबंध

अच्छे थे। समाचार भारती नामक समाचार संस्था के प्रारम्भिक कार्य के लिए मैं विभिन्न राज्य सरकारों के मंत्रियों से संपर्क बढ़ा रहा था। एक बार बम्बई जाने पर श्री देसाई से मिलने उनके बंगले पर गया था। कुछ रात हो चुकी थी। बातचीत कर जैसे ही मैं बाहर निकला, श्री देसाई ने पूछा कैसे जायेंगे? मैंने कहा, सड़क पर जहां टैक्सी मिल जाएगी, ले लूंगा। श्री देसाई ने कहा, रूकिये। मैं टैक्सी मंगा देता हूं। उनके घर डयूटी करने वाला पुलिस सिपाही टैक्सी ले आया। उस टैक्सी से मैं जहा ठहरा था, गिरगांव में माधवाश्रम तक आया। उसी रात मुझे दिल्ली लौटना था। मैंने टैक्सी वाले से कहा, "रूको, मैं ऊपर से सामान लेकर आता हूं। मुझे स्टेशन जाना है।" पर जब मैं सामान लेकर लौटा, टैक्सी नहीं थी। श्री देसाई के मालाबार हिल के बंगले से माधवाश्रम तक आने का किराया लिए बिना ही टैक्सीवाला चला गया था। मुझे बहुत आश्चर्य हुआ। बाद में जब इस विषय की चर्चा मैंने बम्बई के एक पत्रकार मित्र से की तो उसने कहा, इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। वह भाग न गया होता तो ही आश्चर्य की बात होती। श्री देसाई के बंगले पर टैक्सी जाती है, उसे किराया नहीं मिलता। उस टैक्सीवाले ने सोचा होगा कि माधवाश्रम तक का किराया तो डूबा ही है। आगे स्टेशन तक जाकर डूबते हुए किराये को और बढ़ाया क्यों जाए?

यह उदाहरण इस बात का है कि गृहमंत्री के नाते श्री देसाई का बम्बई के जनसाधारण पर कितना आतंक था। पर इस बात को यदि छोड़ दिया जाए तो उनका स्वभाव बहुत ही अच्छा था। मेरे एक पत्रकार मित्र बहुत ही कठिनाई में आ गए थे। उनकी एक अच्छी नौकरी छूट चुकी थी और दूसरी मिलना बहुत ही कठिन हो गया था। वे बम्बई से प्रकाशित होने वाले एक पत्र का दिल्ली प्रतिनिधित्व प्राप्त करने के लिए प्रयत्न कर रहे थे। उनकी हालत देखकर मैं भी यही चाहता था कि किसी प्रकार उनका काम बन जाए। श्री यशंवतराव चव्हाण के निजी सचिव श्री डोंगरे ने मुझे बताया कि श्री देसाई और पत्र के मालिक के काफी अच्छे सम्बन्ध हैं। यदि श्री देसाई ने आपके पत्रकार मित्र की सिफारिश की तो उनका काम अवश्य हो जाएगा। उन्होंने ही मुझे सुझाया कि आजकल दिल्ली में उन्हें कोई अधिक नहीं पूछता। आप उनके सम्मान में छोटी–सी ही क्यों न हो, दावत दे दीजिए। मुख्यमंत्री पद न मिलना और दिल्ली में कुछ पूछताछ न होना, इससे वे आजकल बहुत ही असंतुष्ट हैं। आपने यदि उन्हें बुलाया तो वह असंतोष भी कम हो जाएगा और आपके मित्र का काम भी आसानी से हो जायेगा।

मुझे इसमें कोई कठिनाई नहीं थी। उनके दिल्ली आते ही मैंने उन्हें अपने घर भोजन के लिए निमंत्रित किया। तब तक वे श्री यशवंतराव चव्हाण के घर ही ठहरते थे। भोजन केवल घरेलू न हो, इस दृष्टि से मैंने अपने कुछ पत्रकार मित्रों को भी निमंत्रित किया। 'नवभारत टाइम्स' के उस समय के संपादक श्री अक्षय कुमार जैन भी उपस्थित थे। पूरा कार्यक्रम अच्छी तरह सम्पन्न हुआ। बातचीत के बीच मैंने अपने मित्र के काम का कुछ चलते–चलते उल्लेख किया। उस समय उन्होंने कुछ नहीं कहा। पर उन्हें पहुंचाने

के लिए मैंने अपने एक पत्रकार मित्र को उनके साथ गाड़ी में भेजा। उससे उन्होंने कहा, इंदूरकर जी बहुत ही अच्छे आदमी हैं। वे जो कहे वह काम मुझे करना ही चाहिए। उन्हें कह दीजिए कि उनका और कोई काम हो तो अवश्य बतायें। मैं बड़ी खुशी से करूंगा। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि उन्होंने मेरे पत्रकार मित्र का काम किया।

उनके दिल में यह कांटा चुभता रहता था कि श्री यशवंतराव चव्हाण ने उन्हें महाराष्ट्र का मुख्यमंत्री नहीं बनने दिया। कई लोगों के सामने उन्होंने अपनी वेदना व्यक्त भी की थी। बहुत समय तक उन्होंने श्री यशवंतराव चव्हाण का सहारा भी नहीं छोड़ा था। पर कुछ समय बाद वे निराश हो गए। उन्हें इस बात का विश्वास हो गया था कि वे श्री चव्हाण की सहायता से कभी मुख्यमंत्री नहीं बन सकेंगे। उन्होंने श्रीमती गांधी के साथ सीधा सम्बन्ध बढ़ाना प्रारंभ किया। उन्होंने दिल्ली में अपने ठहरने का स्थान भी बदल दिया। पंचतारांकित होटलों में वे ठहरने लगे। एक बार वे अशोक होटल में ठहरे थे। हममें से कुछ पत्रकारों को पता लगा। होटल में उनके कमरे में टेलीफोन करने पर श्री बालासाहब देसाई ने ही स्वयं वह उठाया। शायद वे पत्रकारों को टालना चाहते थे। पत्रकार ने मराठी में ही पूछा, 'बालासाहब देसाई हैं?' उत्तर मिला, नहीं है। यह भी मालूम नहीं कि वे कब लौटेंगे। टेलीफोन करने वाले पत्रकार को आवाज श्री देसाई की ही लगी। पर बात पक्की कर लेने के लिए उसने मराठी में ही पूछा, 'आप कौन है? मराठी में ही उत्तर मिला। 'मैं अशोक होटल का बेयरा बोल रहा हूं'। पत्रकार को मजाक करने की सूझी। उसने पूछा—अशोक होटल के बेयरे मराठी में कब से बोलने लगे? जवाब नहीं मिला। सिर्फ टेलीफोन का रिसीवर जोर से पटकने की आवाज आयी।

कांग्रेस में आग लगी

१९६६ में श्रीमती इंदिरा गांधी जब प्रधानमंत्री बनी, वे राज्यसभा की सदस्य थीं। श्री मोरारजी देसाई उपप्रधानमंत्री और वित्तमंत्री बने थे। पर गृह मंत्रालय पहले की तरह श्री गुलजारीलाल नंदा के ही पास था। श्री लालबहादुर शास्त्री के कार्यकाल में वे कार्यवाहक प्रधानमंत्री थे, इस कारण श्री मोरारजी देसाई के सामने उन्हें वरीयता में तीसरा स्थान के लिए प्रस्तुत किया गया था। पर वे ही नंदाजी श्रीमती गांधी के मंत्रिमंडल में बने रहते हुए भी वरिष्ठता की दृष्टि से तीसरे स्थान पर आ गए थे। श्री नंदाजी विचारों से कट्टर कम्युनिस्ट विरोधी थे तथा भारत सेवक समाज और भारत साधु समाज जैसे आंदोलनों के समर्थक थे। कई कांग्रेसी संसद सदस्य उन्हें पाखंडी कहते थे और उन पर प्रतिक्रियावादीपन की मुहर भी लगायी जाती थी। रूस और चीन में अनबन हो जाने के कारण भारत की कम्युनिस्ट पार्टी में फुट पड़ चुकी थी। पर कहना पड़ेगा कि उस फुट की ओर ध्यान देकर उनसे जितना लाभ देश के गृहमंत्री को उठाना चाहिए था, वह बुद्धि और सूझबूझ श्री नंदा जी के पास नहीं थी। उनके कार्यकाल में कम्युनिस्ट गतिविधियों को देश विरोधी घोषित करनेवाला एक श्वेतपत्र प्रकाशित हुआ। हम पत्रकारों की धारणा थी कि उसमें ठोस और पर्याप्त जानकारी होगी। पर श्वेतपत्र देखकर निराश ही होना पड़ा। उसमें ऐसी कोई जानकारी नहीं थी, जिसके आधार पर कम्युनिस्टों की किसी भी गतिविधि को निश्चित रूप से देश विरोधी कहा जा सके। मेरी धारणा तो यह है कि इस श्वेतपत्र के कारण कम्युनिस्टों की राजनीतिक स्थिति खराब होने के बजाय वह और अधिक अच्छी हो गई।

पर कम्युनिस्ट इस बात तो न भूल सके कि गृहमंत्री श्री नंदा की उन पर टेढ़ी नजर है। उनके गृहमंत्रित्व के काल में संसद भवन के सामने साधु समाज का बहुत बड़ा प्रदर्शन हुआ। प्रदर्शन को कहीं हिंसात्मक मोड़ मिल गया और उसके परिणामस्वरूप संसद भवन के आसपास कई वस्तुओं को, विशेषकर मोटरगाड़ियों को, तहस–नहस किया गया। कई मोटरगाड़ियां जला दी गई। एक मोर्चा कांग्रेस के अध्यक्ष श्री कामराज के घर पर भी गया था। उन दिनों यही धारणा थी कि श्री कामराज के निजी अंगरक्षक श्री निरंजन द्वारा पिस्तौल का प्रयोग करने के कारण ही वह बच पाये थे।

पर उस समय उस विध्वंस का एक रहस्य मेरे लिए बना रहा। मैं हमेशा यह मानता था कि साधुओं के भड़क उठने पर वे गुंडागिरी पर भी उतारू हो सकते है। उस समय जो हिंसा की घटनाएं हुई उनका एक निश्चित स्वरूप था। जो मोटरगाड़ियां जलायी गई उनके संदर्भ में साधारणत: एक ही पद्धति अपनायी गई थी। मोटर का बोनट खोलकर कार्बोरेटर में रहनेवाले पेट्रोल का उपयोग कर मोटरों में आग लगायी गई थी। मोटर में ताला लगा हाने पर भी बोनट खोलकर गाड़ी में आग लगाने की बात सामान्य रूप से साधु समझे जानेवाले के लिए कुछ कठिन प्रतीत होती है। उसके निमित्त कुछ तकनीकी ज्ञान आवश्यक है। वह साधुओं के पास कैसे हो सकता था? एक ही बात संभव दिखायी

देती है। प्रदर्शन करने वाले साधुओं में तोड़फोड़ की कार्रवाईयों में कुशल कुछ लोग जानबूझकर घुसे होंगे। श्री नंदाजी के साथ कम्युनिस्टों की दुश्मनी का ध्यान रखकर संदेह होता है कि शायद इस प्रकार का प्रयत्न कम्युनिस्टों की ओर से हुआ हो। आज भी निश्चित रूप से कुछ भी नही कहा जा सकता। पर इतना तो अवश्य ही कहा जा सकता है कि श्री नंदाजी के गृह मंत्रीपद की बलि इसी प्रदर्शन की घटना ने ले ली।

सन १९६६ में श्रीमती इंदिरा गांधी के प्रधानमंत्री बनने के बाद मार्च १९६७ में आम चुनाव होने तक का काल राजनीतिक दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय नहीं है। श्रीमती गांधी संसद के दोनों सदनों में आती थीं, पर विशेष बोलती नहीं थी। उनकी हमेशा आलोचना करने वाले समाजवादी नेता डा. राममनोहर लोहिया उन्हें 'गूंगी गुड़िया' कहा करते थे। श्रीमती गांधी उसका भी उत्तर नहीं देती थी। संसद में उन्हें ठीक ढंग से भाषण देना तो आता ही नहीं था। अधिकारियों द्वारा लिखकर दिया भाषण पढ़ना भी उनके लिए कठिन हो जाता था। बोलते समय वे बहुत लड़खड़ाती थी। इसी संदर्भ में डॉ. राममनोहर लोहिया की कुछ चर्चा आवश्यक प्रतीत होती है। लोकसभा के प्रथम निर्वाचन से ही कम्युनिस्ट सदस्यों ने यह रूख अपनाया था कि देश के दरिद्रनारायण का दु:ख संसद के चौराहे पर प्रस्तुत करने की जिम्मेदारी केवल उनकी है। पर संसद के मंच से देश की दरिद्रता का पहली बार सच्चा खाका खींचा श्री राममनोहर लोहिया ने ही। उन्होंने सरकारी आकड़ों के हवाले से ही यह प्रमाणित कर दिया कि देश के जनसाधारण की दैनिक आय पांच आने (नये इकत्तीस पैसे) से भी कम है। लोकसभा में हुए उनके उस भाषण की गूंज मैं आज तक भूल नहीं सका।

डॉ. लोहिया हिंदी और अंग्रेजी में समान रूप से अच्छा बोलते थे। पर उनके दो–चार भाषण छोड़ दिये जाए तो वे मेरे पत्रकार मन पर कभी गहरी छाप नहीं डाल सके। उनके पाण्डित्य और जनसाधारण की स्थिति के सम्बन्ध में उनके मन की बेचैनी के बारे में आज भी मेरे मन में कोई संदेह नहीं है। पर उनके कई भाषण सुनने के बाद मेरे मन पर उनकी एक छाप पड़ी है। कारण कुछ भी हो, पर उनके मन में पं. नेहरू और नेहरू परिवार के संबंध में कड़वाहट चरम सीमा पर थी। उसके कारण कभी–कभी उनका विवेक भी टूट जाता था। बाद में उनकी यह कड़वाहट मुझे श्री मधु लिमये और श्री राजनारायण आदि समाजवादी नेताओं में भी दिखाई दी।

कांग्रेस दल ने १९६७ के आम चुनाव प्रधानमंत्री श्रीमती गांधी के नेतृत्व में लड़ा। १९६५ में पाकिस्तान के साथ जो युद्ध हुआ था उसमें प्राप्त विजय का संबल कांग्रेस दल के पास था। पर युद्ध के समय जो दल के नेता थे वे श्री लालबहादुर शास्त्री जीवित नहीं थे। और नया नेतृत्व जिन श्रीमती गांधी के पास था, उनके संबंध में जनसाधारण की यह धारणा बन चुकी थी कि वे लालबहादुर शास्त्री की परम्परा से अलग हैं। शायद इसीलिए इस चुनाव में कांग्रेस को पहले जैसी सफलता नहीं मिली। केन्द्र में कांग्रेस की सरकार बनी पर पहले जो बहुमत होता था, वह काफी मात्रा में कम हो गया। केरल, तामिलनाडु

और पश्चिम बंगाल में कांग्रेस की सरकारें बनी नहीं रह सकी। पर देश की राजनीति पर जिस हिंदी प्रदेश की पकड़ स्वाधीनता के प्रारंभ से थी, उसे इस चुनाव में भी प्रारंभ में विशेष धक्का नहीं लगा था। विधानसभाओं में कांग्रेस के सदस्यों की संख्या कम अवश्य हो गई थी, पर उत्तर प्रदेश, बिहार, राजस्थान और मध्यप्रदेश, इन चारों हिंदी भाषी राज्यों में चुनाव के बाद प्रारंभ में कांग्रेस की ही सरकारें बनी।

इसमें कोई संदेह नहीं कि १९६७ के चुनाव में कांग्रेस जनमानस से कुछ दूर हटी। १९६५ के भारत—पाक युद्ध में विजय की पृष्ठभूमि में इसका अर्थ कुछ इस प्रकार भी लगाया जाता है। भारतीय जनमानस पर सामान्यत: व्यक्तिपूजा छायी हुई है। कांग्रेस दल ने पं. जवाहरलाल नेहरू के व्यक्तित्व के बल पर लगातार तीन आमचुनाव जीते। १९६२ में हुए चीनी आक्रमण से उस व्यक्तित्व में दाग लग गया। इसमें संदेह नहीं कि यदि पं. नेहरू जीवित होते और उन्हीं के नेतृत्व में चुनाव होता तो भी कांग्रेस को पहले जैसी विजय न मिलती। १९६५ के युद्ध ने जिस व्यक्तित्व को उठाया था वे श्री लालबहादुर शास्त्री देश के दुर्भाग्य से जीवित नहीं रह सके। नयी प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी के व्यक्तित्व का प्रभाव तब तक जनमानस पर नहीं पड़ा था। वह डालने के लिए श्रीमती इंदिरा गांधी ने क्या किया और उसका देश ही राजनीति पर क्या परिणाम हुआ, यह एक अलग इतिहास है और उसकी चर्चा यथासमय होगी ही।

व्यक्तित्व के बीच संघर्ष राजनीति का अनिवार्य हिस्सा होता है। वह यदि वहीं तक सीमित हो तो उसमें विशेष हर्ज भी नहीं होता। पर जब उस पर आदर्शों का मुलम्मा चढ़ाया जाता है तो बात कुछ दूसरी हो जाती है और उसका भलाबुरा असर देश पर भी होता है। स्वाधीनता के पश्चात महात्मा गांधी ने सलाह दी थी कि कांग्रेस को विसर्जित कर दिया जाय और अपने—अपने आर्थिक आदर्शों के अनुसार राजनीतिक दल स्थापित कर काम किया जाए। पर वास्तविकता हो या न हो, स्वाधीनता को प्राप्त करने के साधन के रूप में भी कांग्रेस लोगों के सामने थी। अत: सत्ता का उपभोग करने का जब समय आया, कांग्रेस नाम की पूंजी छोड़ने को कांग्रेस नेता तैयार नहीं थे। साधारणत: सत्ता छोड़ने को कोई भी तैयार नहीं होता। इस दृष्टि से इस प्रवृत्ति पर विशेष आपत्ति भी नहीं की जा सकती। पर देश का यह दुर्भाग्य ही था कि कांग्रेस भी अधिक समय तक सत्ता का केन्द्र कायम नहीं रह सकी। प्रारम्भिक दिनों में समाचारपत्रों में यह विवाद काफी चलता था कि संगठन बड़ा है या संसदीय दल। पं. नेहरू संसदीय दल के नेता थे। शायद इसीलिए उनकी भूमिका यह थी कि संसदीय दल संगठन के नियंत्रण में नहीं रह सकता। १९५० के अंत में नासिक में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। उसमें पं. नेहरू और श्री पुरुषोत्तमदास टंडन के बीच हुए मतभेदों के परिणामस्वरूप टंडनजी को त्यागपत्र देना पड़ा। उसके बाद कुछ समय तक कांग्रेस के अध्यक्ष नेहरूजी थे। पर बाद में जो भी कांग्रेस के अध्यक्ष बने, लगभग सभी उनके हाथ के खिलौने ही थे।

पं. नेहरू के कार्यकाल में संसदीय दल की कीमत बनी हुई थी और यह लोकतंत्रीय विचारधारा के अनुकूल ही था। पर नेहरू की मृत्यु के बाद जब श्री लालबहादुर शास्त्री प्रधानमंत्री बने तब संसदीय कांग्रेस दल का बहुमत किसके पक्ष में है, यह बात क्या वास्तव में आजमायी गई थी? इस प्रकार का संदेह मैं व्यक्त कर चुका हूं। पर कम से कम उस समय कांग्रेस के अध्यक्ष श्री कामराज ने पत्रकार सम्मेलन में कहा तो था कि बहुमत लालबहादुर शास्त्री के पक्ष में है। पर श्रीमती इंदिरा गांधी के चुनाव के समय अपना समर्थन उनके पीछे खड़ा करते समय अत्यंत सावधानी से बात करने वाले कांग्रेस संसदीय दल के कुछ संसद सदस्यों को श्री कामराज ने स्पष्ट रूप से कहा था, "क्या आप समझते है कि आप दल के नेता का चुनाव करेंगे ? संसदीय दल का नेता भी मुख्यमंत्रियों की इच्छानुसार बनेगा।" श्रीमती गांधी का जब चुनाव हुआ था, कांग्रेस राज्यों के सभी मुख्यमंत्री राजधानी में अड्डा जमाकर बैठे थे। अगले ही वर्ष १९६७ के प्रारम्भ में आम चुनाव होनेवाले थे। अपना राजनीतिक भविष्य मुख्यमंत्रियों के हाथ होने के कारण वे जैसा कहे, उसे बिना विरोध स्वीकार करना संसद सदस्यों के लिए अनिवार्य ही था। इस प्रकार प्रारम्भ में कांग्रेस में संगठन की आवाज कमजोर हुई और संसदीय दल की बढ़ी। आगे चलकर वह सत्ता मुख्यमंत्रियों के हाथ आ गई। पर वहां भी वह कायम न रह सकी। मुख्यमंत्रियों का राजनीतिक भविष्य प्रधानमंत्री के हाथ आ गया। प्रधानमंत्री की इच्छानुसार राज्यों के मुख्यमंत्री बदले जाने का युग शुरू हो गया। संघठन की सत्ता संसदीय दल में, फिर इने–गिने मुख्यमंत्रियों के हाथ में, और अंत में प्रधानमंत्री बननेवाले एक व्यक्ति के हाथ में केन्द्रित हो गई। जब एक व्यक्ति के हाथ में सत्ता केन्द्रित हो जाती है तो उसी को तानाशाही कहा जाता है। कांग्रेस दल में सत्ता केन्द्रित होने का संक्षेप में यही इतिहास है।

पं. नेहरू को महान लोकतंत्रवादी कहा जाता है। प्रश्न उठता है कि फिर उन्होंने कांग्रेस संगठन को कमजोर क्यों बनाया? दुनिया के तीन महान देश है– रूस, चीन और अमेरिका। वे अनेक बातों में परस्पर विरोधी भी हैं। रूस और चीन को बहुत से लोग लोकतंत्रीय देश नहीं मानते। पर वे दोनों अपने आपको प्रजातंत्र ही घोषित करते हैं। जहां अमेरिका में कई राजनीतिक दल हैं, वहीं रूस और चीन में सत्ताधारी कम्युनिस्ट पार्टी के अतिरिक्त किसी दूसरे दल का अस्तित्व हो ही नहीं सकता। पर इन तीनों देशों में एक बात की समानता है। वहां दल का ही महत्व है। वहां दल के माध्यम से ही सत्ता के स्थान तक पहुंचा जा सकता है। दल को अपनी इच्छानुसार मोड़ देने की शक्ति तीनों ही देशों के नेता कहे जानेवाले लोगों में नहीं है। पर भारत में वह स्थिति पैदा हो गई। भारत में लोकतंत्र के आधार पर राजनीतिक दलों का विकास ही नहीं हुआ। जिनका थोड़ा बहुत हुआ भी, वे साधनों के अभाव में पीछे रह गए। भारत के अधिकांश दल नेताओं के हाथ के खिलौने हैं। यह अलग चर्चा का विषय है कि भारतीय जनता इस स्थिति को क्यों बरदाश्त करती है। पर इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि भारत में सही तौर पर लोकतंत्र विकसित न होने देने का दायित्व भारत के पहले प्रधानमंत्री पं. नेहरू पर है।

इसका मुझे एक ही कारण दिखाई देता है कि पं. नेहरू मे संगठन शक्ति की कमी थी। यदि संगठन प्रबल रहता तो वे अधिक समय तक प्रधानमंत्री नहीं रह सकते थे। उनके प्रधानमंत्रित्व के प्रारंभिक काल में ही उनकी इच्छा के विरूद्ध सरदार वल्लभभाई पटेल के बल पर श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन कांग्रेस के अध्यक्ष चुने गए थे। संगठन से संसदीय दल बड़ा है, यह सिद्धान्त पं. नेहरू ने अपने प्रधानमंत्री पद को बचाने के लिए ही आगे बढ़ाया था और वे अपने जीवनकाल तक उसमें सफल भी रहे।

केंद्रीय मंत्रिमण्डल में रक्षामंत्री के रूप में श्री यशवंतराव चव्हाण प्रथम आये। उनसे प्रारंभिक कुछ वर्ष बहुत ही अच्छे गए। कहना पड़ेगा कि भाग्य ही उनके साथ था। रक्षामंत्री बनने के लिए जिस दिन उन्होंने दिल्ली में कदम रखा, उसी दिन नेफा क्षेत्र से चीन ने वापस लौटने की एकतरफा घोषणा की। माना गया कि यह उनके आने का असर है। उनके रक्षामंत्रित्व के काल में ही भारत–पाक युद्ध हुआ और उसमें जो विजय प्राप्त हुई, उसके सम्मान के वे प्रमुख साजीदार थे। १९६७ के चुनाव के बाद श्रीमती इंदिरा गांधी ने जो मंत्रिमण्डल बनाया उसमें उन्हें गृहमंत्री पद दिया गया। उनकी संसदीय प्रतिभा को यह चुनौती ही थी। इसमें मतभेद की काफी गुंजाइश है कि रक्षामंत्री के रूप में उन्हें जो यश मिला उसमें उनके स्वयं के करतब का कितना हिस्सा था। उन दिनों यह चर्चा चल पड़ी थी कि युद्ध के दिनों में जो दृढ़ता प्रधानमंत्री लालबहादुर शास्त्री ने दिखाई दी थी, उस प्रकार की दृढ़ता रक्षामंत्री होने पर भी श्री चव्हाण में नहीं थी। युद्ध के बाद मैंने उनसे एक भेंटवार्ता की थी। रक्षा मंत्रालय के उनके जिस कमरे में यह वार्ता हुई, उसी कमरे में जनरल चौधरी के साथ विचार–विमर्श कर युद्ध संबंधी कई निर्णय लिये गये थे। यह स्वयं श्री चव्हाण ने मुझे बताया था। मुझे यह भी स्मरण है कि उसी संदर्भ में उन्होंने यह भी कहा था कि भारत–पाक युद्ध के कारण तीसरा महायुद्ध तो नहीं शुरू हो जाएगा? इस प्रकार का संदेह उनके मन में बीच–बीच में पैदा हो जाता था। कहा जा सकता है कि यह उनके मन की दुविधा का ही प्रतीक था।

पर गृहमंत्री के रूप में श्री यशवंतराव चव्हाण का कार्यकाल बहुत ही सफल रहा। संसद में, विशेषत: लोकसभा में कांग्रेस का बहुमत कुछ कम हो गया था। विपक्षी दलों में एक से एक धाकड़ वक्ता थे। कई कठिन सवाल पैदा हो जाते थे। गृहमंत्री के रूप में श्री चव्हाण ने लगभग सभी सवालों को बहुत ही अच्छे ढंग से निपटाया। उनके सम्बन्ध में विपक्षो दलों में भी आदर की भावना थी। पर मुझे एक–दो उदाहरण अवश्य ऐसे याद है जब गृहमंत्री के रूप में उनके द्वारा अपनाया गया रूख मुझे नहीं भाया था। पश्चिम बंगाल में मार्क्सवादी सरकार थी। धारणा यह बनी थी की मार्क्सवादी अपने विरोधियों का शारीरिक सफाया करने का प्रयत्न कर रहे हैं। समाचारपत्रों में पश्चिम बंगाल में होनेवाली हिंसात्मक घटनाओं की खबरें काफी आती थीं। एक कांग्रेसी संसद सदस्य की मार्क्सवादी कार्यकर्ताओं द्वारा बुरी तरह पिटाई होने के समाचार लोकसभा में जोरशोर से उठा था। उस समय गृहमंत्री के नाते श्री चव्हाण के भाषण में जो आवेश और रोष व्यक्त हुआ

था, उसका आज भी मुझे स्मरण है। पर संभवत: उसी सप्ताह मार्क्सवादी कहे जानेवाले कुछ लोगों के द्वारा राष्ट्रीय झंडे को अपमानित किए जाने की घटना भी संसद के सामने आयी। लेकिन उस समय पहले जैसा रोष और आवेश श्री चव्हाण के भाषण में नहीं था। मुझे लगता है कि अपने दल के ही नहीं, किसी भी व्यक्ति पर होनेवाले अत्याचारों की ओर गृहमंत्री को अवश्य गंभीरता से देखना चाहिए। पर राष्ट्रीय झंडे का अपमान उससे भी अधिक आपत्तिजनक बात मानी जानी चाहिए।

श्री चव्हाण का निजी व्यवहार सबसे ही बहुत मीठा रहता था। उससे उनका प्रारंभिक असर सभी पर बहुत ही अच्छा होता था। कोई व्यक्ति उनके पास किसी निजी काम से जाय तो वे उसे ना नहीं करते थे। पर जिसके काम की हामी भरी है वह होना ही चाहिए, इस प्रकार की उनकी भूमिका न होने का ही अनुभव बहुतों को मिला है। उनकी इस प्रवृत्ति के कारण उन्हे यहां जानने वाले मराठी भाषी लोग उन्हें निजी चर्चा में 'गोडबोले' कहा करते थे। मराठी में यह पारिवारिक नाम है और उसका शाब्दिक अर्थ 'मीठा बोलने वाले' होता है। यह संभव है कि राजनीति में होने के कारण उन्हें इस प्रकार का अपना स्वभाव जानबूझकर बनाना पड़ा होगा। उनके ऐसे स्वभाव से आज मुझे कुछ भी बुरा नहीं लगता। पर प्रारंभिक काल में मुझे वह अवश्य खटका था।

श्री चव्हाण के साथ मेरे संबंध केवल पत्रकार के रूप में ही नहीं थे। सामाजिक क्षेत्र में मेरे काम के कारण भी थे और वे बाद में भी बहुत अच्छे बने रहे। श्री लालबहादुर शास्त्री के प्रधानमंत्रित्व के काल की एक घटना है। वे किसी दौरे पर विदेश जानेवाले थे। प्रधानमंत्री के साथ कुछ पत्रकारों को ले जाने की प्रणाली उस समय भी थी। इसी प्रकार कई दूसरे देश, विशेषत: रूस और अमेरिका की सरकारें भारतीय पत्रकारों को अपने देश के दौरों पर ले जाती थीं और वहां उनकी अच्छी खातिरदारी भी होती थी। इसके दो उद्देश्य हो सकते थे। एक तो यह कि अपनी विचारधारा और अपनी अच्छाईयों की छाप भारतीय पत्रों के माध्यम से भारतीय जनमानस पर डाली जाए और दूसरा उद्देश्य यह हो सकता था कि पत्रकारों के माध्यम से भारत में अपने विचारों की लॉबी तैयार की जाए। पत्रकार के रूप में मैंने लगभग सारा भारत देखा है, पर विदेश जाने का अवसर मुझे कभी नहीं मिला। इसके कई कारण हो सकते है। हो सकता है कि मुझमें ही कुछ कमी हो। आज मुझे इस बात का खेद नहीं है कि मैं विदेश नहीं जा सका। पर ईमानदारी के साथ मैं यह नहीं कह सकता कि उन दिनों भी मेरी विदेश जाने की इच्छा नहीं थी।

पं. नेहरू के काल में भारतीय भाषाओं में काम करनेवाले पत्रकारों को विदेश जाने का अवसर लगभग नहीं के बराबर मिलता था। पर श्री लालबहादुर शास्त्री के कार्यकाल में हालात कुछ बदले। इससे मुझे भी यह इच्छा हुई कि उनके साथ विदेश जाने का अवसर मिले। शास्त्री जी से भी मेरे सम्बन्ध अच्छे थे। पर उस समय मुझे ऐसा लगा कि यदि श्री चव्हाण ने शास्त्रीजी से मेरे लिए कहा तो शास्त्रीजी इन्कार नहीं करेंगे। मैंने श्री चव्हाण के पास अपनी इच्छा व्यक्त की। उन्होंने कहा "मैं शास्त्रीजी से अवश्य बात

कहता हूं।" बाद में उन्होंने यह भी बताया कि बात हो गई। मेरे मन को लगा कि अब मेरा काम अवश्य हो जायेगा। पर प्रत्यक्ष में कुछ भी नहीं हुआ। राज्यमंत्री श्री हजरनवीस के साथ भी मेरे संबंध थे। एक दिन बातों में मैंने उनसे कहा कि श्री चव्हाण द्वारा कहने पर मेरा काम नहीं हुआ। कई कारणों से श्री हजरनवीस की राय श्री चव्हाण के सम्बन्ध में अच्छी नहीं रह गई थी। उनका कहना था कि श्री चव्हाण नें श्री लालबहादुर शास्त्री से कहा ही नहीं होगा। पर मुझे उनकी बात जंच नहीं रही थी। श्री चव्हाण ने कहा ही न होगा, यह मानने को मेरा मन तैयार नहीं हो रहा था। अपनी बात का विश्वास दिलाने के लिए श्री हजरनवीस ने शास्त्रीजी के मुख्य निजी सचिव श्री सी. पी. एन. श्रीवास्तव से मेरी भेंट करा दी।

यह शिकायत तो मैंने उनसे की ही कि शास्त्री जी के कार्यकाल में भी भाषाई पत्रकारों की सरकार में पूछ नहीं हो रही है, उसके साथ ही यह भी कहा कि श्री यशवंतराव चव्हाण द्वारा कहने पर भी मेरे बारे में कुछ नहीं हुआ। श्री श्रीवास्तव ने मुझे एक ही सवाल पूछा, "क्या सचमुच श्री चव्हाण ने शास्त्री जी से कहा था? उनके सवाल की ध्वनि यह थी कि यदि श्री चव्हाण ने कहा होता तो मेरा काम हुआ ही होता। श्री शास्त्रीजी ने कार्य की यह पद्धति अपनायी थी कि मंत्रिमण्डल के अपने किसी भी सहयोगी से कोई भी बात हो, उसे वे अपने मुख्य निजी सचिव श्री श्रीवास्तव को अवश्य बता देते थे। जो समझना था वह मैं समझ गया। पर इस बात की चर्चा श्री चव्हाण से मैंने आगे कभी नहीं की।

श्री कामराज का समर्थन न होता तो श्रीमती इंदिरा गांधी क्या प्रधानमंत्री बन सकती थी? इस प्रश्न का "हां" में उत्तर देना बहुत ही कठिन है । श्रीमती गांधी का सदा यह दावा रहा है कि वे प्रगतिशील विचारों का प्रतिनिधित्व करती हैं। श्री कामराज की प्रगतिशीलता के बारे में कभी किसी ने संदेह व्यक्त नहीं किया। पर श्रीमती गांधी और श्री कामराज के बीच एक अंतर था और वह स्पष्ट दिखाई देता था। श्री कामराज का जीवन और उनका रहन–सहन जनसाधारण को अपने निकट का प्रतीत होता था। पर श्रीमती गांधी के संबंध में कई कारणों से जनसाधारण के मन में महान आकर्षण था। कुछ लोग तो उन्हें वास्तव में देवी या देवता समझते थे और वे भी जनसाधारण के हित करने का दावा करते हुए भी रहन–सहन और जीवन के व्यवहार में उनसे बहुत दूर ही रहती थी। इसी कारण जब श्री कामराज और श्रीमती गांधी के बीच मतभेद होने के समाचार फैलने लगे, उस समय कुछ पत्रकारों को आश्चर्य नहीं हुआ। पर प्रारंभ में इन मतभेदों को केवल अफवाहें कहा जाता था।

कांग्रेस की सत्ता बनाये रखने की दृष्टि से विपक्षी दलों को कमजोर बनाने का लक्ष्य पं. नेहरू के काल में भी था। विपक्ष के लोगों को तरह–तरह के प्रलोभन देकर कांग्रेस में खींचने के प्रयत्न किए गए। आवडी कांग्रेस में समाजवादी ढांचे की समाज रचना का लक्ष्य स्वीकार किया गया और उसके भुलावे में कई समाजवादी युवक कार्यकर्ता आ गए। अब अलग समाजवादी के रूप में बने रहने का कोई अर्थ नहीं है, ऐसा लगकर

प्रत्यक्ष में कोई प्रलोभन न मिलने पर भी वे कांग्रेस में आ गए। पर सत्ता का प्रलोभन पाकर कांग्रेस जनों द्वारा दलबदल करने की शुरुआत १९६७ के चुनाव के बाद ही हुई। मुख्यमंत्री पद के लालच से उत्तर प्रदेश में श्री चरणसिंह अपने कुछ सहयोगियों के साथ बाहर निकले तो मध्य प्रदेश में पुराने विंध्य प्रदेश के प्रमुख नेता कप्तान अवधेश प्रताप सिंह के पुत्र श्री गोविंद नारायण सिंह ने नाटकीय ढंग से दल छोड़कर उस समय की मध्यप्रदेश की सरकार के मुख्यमंत्री श्री द्वारका प्रसाद मिश्र के सिंहासन को हिला दिया। इससे कोई इन्कार नहीं कर सकता कि "इन दोनों" घटनाओं में अपने तात्कालक राजनितिक उद्देश्य से भारतीय जनसंघ ने ही दलबदल को बढ़ावा दिया था। अत: आगे चलकर भारतीय राजनीति की जो तस्वीर बनी और 'आयाराम—गयाराम' की जो राजनीति उभरी, उसकी जिम्मेदारी से भारतीय जनसंघ भी मुक्त नहीं हो सकता।

मध्य प्रदेश के मुख्यमंत्री पं. द्वारका प्रसाद मिश्र के विरूद्ध कांग्रेस दल में विद्रोह होकर मध्य प्रदेश विधानसभा स्थगित हो गई। लोकसभा के मंच पर मध्यप्रदेश का प्रश्न उठा। विपक्षी सदस्यों की मांग एक ही थी। विपक्ष को सरकार बनाने का अवसर दिया जाय। अफवाह यह थी कि मुख्यमंत्री पं. द्वारका प्रसाद मिश्र विधानसभा विसर्जित कर फिर से चुनाव कराने की सलाह राज्यपाल को देने जा रहे हैं। इस विषय पर लोकसभा में जो चर्चा हुई उसका केन्द्र मुख्य रूप से इसी बात पर था कि क्या राज्यपाल को वह सलाह स्वीकार करनी चाहिए। विपक्ष की मांग यही थी कि राज्यपाल को वह सलाह स्वीकार नहीं करनी चाहिए। गृहमंत्री के रूप में श्री चव्हाण का इस चर्चा में बहुत ही अच्छा भाषण हुआ। उन्होंने लोकसभा में केवल संविधान की व्यवस्था के अनुसार भूमिका अपनायी। मुख्यमंत्री पं. द्वारका प्रसाद मिश्र बहुमत में नहीं है, यह बात विधानसभा के मंच पर प्रमाणित नहीं हुई थी। विधानसभा के कुछ कांग्रेसी सदस्यों द्वारा विद्रोह कर दल से बाहर निकलने के कारण यह दिखाई देने लगा था कि विधानसभा में मुख्यमंत्री को बहुमत का समर्थन नहीं है। श्री चव्हाण ने कहा, विधानसभा के मंच पर पराजित मुख्यमंत्री ने भी यदि विधानसभा विसर्जित करने की सलाह दी तो संविधान के अनुसार राज्यपाल को वह माननी ही होगी।

इस पर काफी शोर—शराबा हुआ। लगने लगा कि विधानसभा विसर्जित करने की मुख्यमंत्री की सलाह राज्यपाल स्वीकार कर लेंगे और पं. द्वारका प्रसाद मिश्र की कामचलाऊ सरकार के रहते मध्यप्रदेश में मध्यावधि चुनाव होंगे। विरोधी नेताओं के लिए यह काफी बड़ी चिंता का विषय बन गया। जिन कांग्रेसी सदस्यों ने पं. मिश्र के विरूद्ध विद्रोह किया था वे फिर से चुनाव का खतरा उठाने को तैयार नहीं थे। पर श्री चव्हाण ने उस समय जो भूमिका अपनायी थी उसमें नैतिक दृष्टि से भी कोई अनुचित बात नहीं थी। किसी भी कारण से क्यों न हो, दल के विधानसभाई सदस्यों ने मुख्यमंत्री को सहयोग देने से इन्कार किया तो फिर से जनता की राय मांगने की मांग करने वाले मुख्यमंत्री को संविधान की दृष्टि से इन्कार कैसे किया जा सकता है? क्योंकि लोकतंत्र में जनता की राय पर ही

आखिरी निर्णय होता है। विपक्षी सदस्यों की चिंता इतनी ही नहीं थी कि सरकार बनाने का अवसर उन्हें तुरंत मिलता है या नहीं, उनकी चिंता का कारण यह धारणा भी थी कि जिस दल की कामचलाऊ सरकार के रहते चुनाव होता है, उस दल को चुनाव में भी उससे काफी लाभ होता है।

गृहमंत्री श्री चव्हाण ने लोकसभा में यद्यपि यह भूमिका अपनायी थी कि मुख्यमंत्री द्वारा विधानसभा विसर्जित करने की सलाह मिलने पर राज्यपाल को वह माननी ही पड़ती है तो भी कांग्रेस के अध्यक्ष श्री कामराज की सलाह से विपक्षियों को सरकार बनाने का अवसर देने का निर्णय हुआ था। श्रीमती इंदिरा गांधी प्रधानमंत्री तो बन गई थीं पर केवल उनकी इच्छा के अनुसार तब तक सरकारी निर्णय नहीं होते थे। जब यह विषय चल ही रहा था, एक दिन मैं श्री चव्हाण के बंगले पर उनसे बात कर रहा था। इतने में एक टेलीफोन आया। वह मंत्रिमण्डल के उनके एक सहयोगी श्री दिनेश सिंह का था। उन दिनों कहा जाता था कि श्रीमती इंदिरा गांधी के साथ श्री दिनेश सिंह की बहुत ही निकटता है। टेलीफोन पर हुई चर्चा से मुझे जो ज्ञात हुआ वह यह था कि श्री दिनेश सिंह जानना चाहते थे कि विधानसभा विसर्जित करने की पं. द्वारका प्रसाद मिश्र की सलाह श्री चव्हाण क्यों नहीं मान रहे हैं? एक प्रकार से वह सूचना ही थी कि प्रधानमंत्री की इच्छा वह सलाह मानने के पक्ष में है। श्री चव्हाण ने मुझे कहा, देखिये, इस प्रकार दबाव डाले जाते हैं। श्री चव्हाण ने उक्त निर्णय कांग्रेस अध्यक्ष श्री कामराज की सलाह से लिया होने के कारण वह बदला जाना संभव नहीं था। मेरी तो धारणा यह है कि श्री कामराज और श्रीमती गांधी के बीच यहीं से अनबन शुरू हुई।

यह बताना बहुत कठिन है कि पं. द्वारका प्रसाद मिश्र के संबंध में श्रीमती गांधी को विशेष अपनापन क्यों था। सरदार पटेल की मृत्यु के बाद पं. नेहरू और श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन के बीच जब बिगड़ी थी, उस समय पं. नेहरू का व्यवहार पसंद न आने के कारण पं. मिश्र ने कांग्रेस छोड़ दी थी और 'जन कांग्रेस' नाम से एक संगठन भी स्थापित किया था। १९५२ के चुनाव में उन्होंने 'जनकांग्रेस' के नाम से सीमित मात्रा में भाग भी लिया। पर उन्हें सफलता बिलकुल नहीं मिली। उनका टाट पूरी तरह उलट गया। पं. नेहरू का स्वभाव अपने विरोधी को कभी भी न भूलने का था। कांग्रेस में वापस लौटने के पं. द्वारका प्रसाद मिश्र के प्रयत्नों को उन्होंने बहुत समय तक चारा नहीं डाला। श्रीमती गांधी के प्रयत्नों से ही पं. मिश्र कांग्रेस में वापस आ सके। पर श्रीमती इंदिरा गांधी के ही कार्यकाल में उनका महत्व बढ़ा। १९६९ में और उसके बाद भी बहुत समय तक राजधानी में कहा जाता था कि श्रीमती गांधी के लिए राजनीतिक किलेबंदी पं. द्वारका प्रसाद मिश्र ही करते हैं। उन्हें उन दिनों श्रीमती इंदिरा गांधी का 'चाणक्य' कहा जाता था।

श्रीमती इंदिरा गांधी और श्री कामराज के बीच अनबन होने की खबरें अब अधिक फैलने लगी। बीच–बीच में श्री कामराज के संबंध में श्रीमती गांधी जो कुछ कहने लगी

उससे स्पष्ट हो गया कि कांग्रेस अध्यक्ष के प्रति उनके मन में अब कोई आदर नहीं है। दोपहर में रोज थोड़ी देर सोने की कामराज की आदत थी। वे सो रहे हैं, इस प्रकार हाथ से संकेत कर उनके संबंध में निरादर श्रीमती गांधी के व्यवहार में व्यक्त होने लगा। उसी में से यह बात निकली कि कांग्रेस का अध्यक्ष अब कोई और होना चाहिए, क्योंकि श्री कामराज बहुत वर्षों से कांग्रेस के अध्यक्ष है। पं. नेहरू के जीवनकाल में ही श्री कामराज कांग्रेस के अध्यक्ष बने थे। कांग्रेस संगठन काफी दुर्बल हो चुका था, पर अभी यह स्थिति नहीं आयी थी कि श्रीमती गांधी जिसे कहें, वही कांग्रेस का अध्यक्ष बने। श्री कामराज की सलाह से ही कांग्रेस के अध्यक्ष में परिवर्तन हो सकता था। इन्हीं परिस्थितियों के कारण श्री निजलिंगप्पा का नाम आगे आया। श्री निजलिंगप्पा उस समय कर्नाटक के मुख्यमंत्री थे। मुख्यमंत्री के रूप में वे काफी सुखी थे। मुख्यमंत्री पद छोड़कर कांग्रेस का अध्यक्ष बनने की उनकी इच्छा बिलकुल नहीं थी। इस प्रकार की खबरें फैलने लगी कि मुख्यमंत्री रहते हुए भी वे कांग्रेस के अध्यक्ष बनें, इस प्रकार की इच्छा श्रीमती गांधी की है। श्री निजलिंगप्पा को कांगेस का अध्यक्ष बनाने का विरोध श्री कामराज नहीं कर रहे थे। पर वे चाहते थे कि संगठन के लिए पूरा समय देने वाले व्यक्ति को ही कांग्रेस का अध्यक्ष बनाना चाहिए। श्री निजलिंगप्पा धीरे–धीरे इस बात के लिए तैयार हो गए थे कि यदि श्री कामराज तैयार हो तो वे मुख्यमंत्री पद के साथ कांग्रेस का अध्यक्ष पद भी संभाल लेंगे। पर मुख्यमंत्री पद छोड़ने को वे तैयार नहीं थे। एक दिन रात में श्री निजलिंगप्पा का शब्दशः राजनीतिक घेराव हुआ और दूसरे दिन समाचार प्रकाशित हुआ कि वे कांग्रेस के अध्यक्ष बन रहे हैं। यह भी तय हुआ था कि कुछ समय बाद वे मुख्यमंत्री पद छोड़ देंगे।

पर अध्यक्ष बदल देने से कांग्रेस संगठन पर श्री कामराज की जो पकड़ थी वह कम नहीं हुई। श्री निजलिंगप्पा अधिकांशतः महत्वपूर्ण निर्णय श्री कामराज की सलाह से ही लिया करते थे। उन दिनों कहा जाता था कि कांग्रेस का नेतृत्व सिंडीकेट के हाथ में है। सिंडीकेट में कामराज, स. का. पाटिल, संजीव रेड्डी, निजलिंगप्पा और बंगाल के नेता श्री अतुल्य घोष गिने जाते थे। उस समय के समाचारपत्रों में प्रचालित शब्दावली “सिंडिकेट” शब्द प्रतिक्रियावादी प्रवृत्ति का द्योतक बन गया। पर इनमें श्री कामराज बहुत पहले से प्रगतिशीलता के प्रतीक समझे जाते थे और इसीलिए बायी ओर झुके पं. नेहरू ने ही उन्हें कांग्रेस का अध्यक्ष बनाया था। श्री स. का. पाटिल और श्री अतुल्य घोष कांग्रेस के लिए धनसंग्रह करनेवाले होने के कारण उन्हें अवश्य प्रतिक्रियावादी कहा जाता था। श्री निजलिंगप्पा पर प्रगतिशीलता की मुहर नहीं लगी थी पर उन्हें कोई प्रतिक्रियावादी भी नहीं कहता था। श्री संजीव रेड्डी के संबंध में उस समय कोई कुछ विशेष कहता ही नहीं था। क्योंकि लोकसभा के अध्यक्ष होने के कारण प्रतिदिन ही राजनीति के साथ उनका कुछ संबंध ही नहीं था। श्री चंद्रशेखर, श्री मोहन धारिया, श्री कृष्णकांत, श्री अर्जुन अरोड़ा आदि ने प्रगतिशीलता का मोर्चा संभाला था और समयबद्ध कार्यक्रम की भाषा शुरू हुई थी। बहुत जोरों के साथ कहा जा रहा था कि क्रांतिकारी कदम उठाए बिना देश आगे नहीं बढ़ सकता। कांग्रेस संगठन में दलबंदी शुरू हो गई थी। श्रीमती गांधी प्रगट रूप से किसी

का पक्ष लेती नहीं दिखाई दे रही थीं, पर हवा यही थी कि उनका झुकाव प्रगतिशील गुट की ओर है। इसी वातावरण में १९६९ के प्रारंभ में हरियाणा राज्य के फरीदाबाद नगर में कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन हुआ। आगे चलकर जो घटनाएं होने वाली थी, उनके पूर्व चिह्न के रूप में फरीदाबाद अधिवेशन में कांग्रेस में सचमुच आग लग गयी। प्रात: लगभग दस बजने का समय था। विषय निर्वाचन समिति की बैठक चल रही थी। बिजली का शार्ट सर्किट होकर मुख्य पंडाल में आग लग गयी। उस समय मैं वहीं था। प्रारंभ में आग का स्वरूप बहुत ही मामूली था। वहां उस समय जो कांग्रेस और देश के प्रमुख नेता और कार्यकर्ता थे, उनमें से किसी ने भी यदि समय पर थोड़ी सी सावधानी बरतकर आग बुझाने का प्रयत्न किया होता तो वह अधिक न फैलती। पर देश के नेतृत्व का दावा करने वाले बड़े–बड़े नेता अपनी जुतियां भी वहां छोड़ जब भाग रहे थे, उस समय का वह दृश्य मैं आज भी भुला नहीं पा रहा हूं। मुझ पर तो यह असर पड़ा है कि फरीदाबाद में जो कुछ हुआ, उसमें केवल कांग्रेस अधिवेशन का कपड़े का पंडाल ही जलकर खाक नहीं हुआ तो उसमें तब तक जो कांग्रेस थी वह भी उसमें जलकर राख हो गयी। उसके बाद इस या उस नेता के नाम से काँग्रेस पहचानी जाने लगी। उनके पीछे जो खड़े हुए, उन्होंने भी नाम तो कांग्रेस का लिया पर वास्तव में वे थे कांग्रेस की आत्मा से हीन हड्डियों के जीवहीन कंकाल।

इस अधिवेशन में उस समय प्रगतिशीलता का झंडा फहराने वाले श्री धारिया और श्री मोरारजी देसाई के बीच एक गोष्टी में काफी खिचपिच हुई थी। पर यह अधिवेशन देश के इतिहास को मोड़ देनेवाला साबित हुआ। इसका एक और अलग कारण था। अध्यक्ष के नाते श्री निजलिंगप्पा ने जो भाषण तैयार किया उसमें सरकारी कहे जाने वाले उद्योगों के संबंध में कुछ आलोचनात्मक उल्लेख था। उन दिनों सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योगों के विषय में किसी प्रकार की आलोचना करना प्रतिक्रियावादपन का प्रतीक समझा जाता था। ऐसी आलोचना करने वालों को निजी पूंजीपतियों का दलाल भी कहा जाता था। शायद इसीलिए कांग्रेस अध्यक्ष के उन विचारों के विरूध्द अधिवेशन के प्रांगण में ही हस्ताक्षरों की एक मुहिम शुरू हो गई। इसकी भनक निजलिंगप्पा के कानों पर पड़ते ही अपने एक भाषण में वे भड़क उठे। उन्होंने बड़े आवेश के साथ कहा, मुझे प्रतिक्रियावादी कहने वालों को पहले देखना चाहिए कि उनके पैरों के नीचे क्या जल रहा है? हस्ताक्षरों की इस मुहिम को श्री चंद्रशेखर, श्री धारिया आदि का तो खुलेआम समर्थन था ही, पर कहा जा रहा था कि प्रधानमंत्री श्रीमती गांधी भी उसका समर्थन कर रही है। इस मुहिम के बारे में श्री निजलिंगप्पा के भड़क उठने का कारण भी शायद यही था। श्री निजलिंगप्पा राजनीति में नये नहीं आये थे। श्रीमती गांधी को पता था कि वे प्रगतिशील है या प्रतिक्रियावादी हैं। यदि उनकी बनावट प्रतिक्रियावादीपन की थी तो जिसकी प्रतिभा साफ–साफ प्रगतिशीलता की थी, उस व्यक्ति को बदलने के लिए उनका घिराव कर काँग्रेस का अध्यक्ष बनाने की क्या आवश्यकता थी?

गिरि राष्ट्रपति कैसे बनें।

कांग्रेस के संगठन में श्री कामराज तथा श्रीमती गांधी के बीच अनबन शुरू होने के कारण जो चिंगारी पड़ी थी उसकी ज्वाला बनकर भड़क उठने के लिए प्रकृति ने भी एक अवसर दे दिया। उस समय के राष्ट्रपति श्री जाकिर हुसैन की हृदय की गति रूक जाने से अचानक मृत्यु हो गई और उस पद पर किसे बैठाया जाय, इस बात को लेकर ही आगे का महाभारत हुआ। पर उसकी चर्चा करने के पहले राष्ट्रपति पद के संदर्भ में तब तक जो कुछ हुआ था, उसकी संक्षिप्त चर्चा करना अनुचित न होगा।

भारत के पहले राष्ट्रपति राजेन्द्र प्रसाद थे। मैंने अपने अब तक की पत्रकारिता के जीवन में सात राष्ट्रपति देखे। मैं उनमें केवल राजेन्द्र बाबू को ही आदर्श राष्ट्रपति कह सकता हूं। पर प्रथम आम चुनाव के बाद भी पं. जवाहरलाल नेहरू उन्हें राष्ट्रपति पद पर बैठाना नहीं चाहते थे। वे चाहते थे कि चक्रवर्ती सी राजगोपालाचारी को उस पद से सम्मानित किया जाय। लॉर्ड माउंटबेटन के जाने के बाद कुछ समय उन्हें गवर्नर जनरल भी बनाया गया था। सरदार पटेल की मृत्यु के बाद कांग्रेस संगठन पर भी पं. नेहरू हावी हो गए थे। वे प्रधानमंत्री पद के साथ–साथ कांग्रेस के भी अध्यक्ष बन चुके थे। पर उस स्थिति में भी कांग्रेस संगठन एक जीवित संगठन था। कांग्रेस में राजाजी की तुलना में राजेन्द्र बाबू का सम्मान अधिक था। पहले राष्ट्रपति के रूप में उनका निर्वाचन हुआ और सर्वपल्ली राधाकृष्णन उपराष्ट्रपति बनाये गए। डॉ. राजेन्द्रप्रसाद तथा पं. नेहरू के बीच काफी मतभेद थे। मतभेद का मुख्य कारण था, दोनों की प्रवृत्तियों में अंतर। डॉ. राजेन्द्र प्रसाद भारतीय संस्कृति के प्रतीक थे, तो पं. नेहरू पश्चिमी संस्कृति के रंग में रंगे थे। पर दोनों के बीच के मतभेद कभी बाहर प्रगट नहीं हुए। मतभेदों के विषयों पर दोनों के बीच काफी पत्र–व्यवहार भी हुआ था। पर उसमें से एक शब्द भी उन दिनों बाहर नहीं आया। दोनों की मृत्यु के बाद वह अब लगभग सब प्रगट हो चुका है।

डॉ. राजेन्द्र प्रसाद अपने व्यक्तिगत जीवन को उनके राजनीतिक जीवन में कभी भी बाधक नहीं बनने देते थे। इसके संबंध में हृदय को स्पर्श करने वाले एक उदाहरण की याद आती है। राजेन्द्र बाबू दूसरी बार राष्ट्रपति बन चुके थे। २६ जनवरी का गणतंत्र दिन था। संविधान के अनुसार राष्ट्रपति जल, स्थल तथा वायुसेना का मुख्य सेनापति होता है। राष्ट्रप्रमुख और मुख्य सेनापति इन दोनों पदों से प्राप्त अधिकार के कारण उस दिन परेड की सलामी लेने की उसी की जिम्मेदारी होती है। प्रतिवर्ष के अनुसार उस दिन सलामी लेने के लिए राजेन्द्र बाबू राजपथ पर उपस्थित थे। २६ जनवरी की शाम को राष्ट्रपति भवन में एक स्वागत समारोह होता है। उसमें विदेशों के कूटनीतिक प्रतिनिधियों के अतिरिक्त राजधानी के विभिन्न वर्गों के लोगों को चाय पीने बुलाया जाता है। उन दिनों सरकार द्वारा स्वीकृत पत्रकार के रूप में मुझ जैसे पत्रकारों को भी निमंत्रण रहता था। पर उस दिन यजमान के रूप में डॉ. राजेन्द्र प्रसाद के बजाय उपराष्ट्रपति डॉ. राधाकृष्ण

दिखाई दिये। राजेन्द्र बाबू को सुबह राजपथ पर देखा था। अत: यह जानने की उत्सुकता बढ़ी कि वे इस समारोह में क्यों नहीं है। पूछताछ करने पर जो ज्ञात हुआ वह किसी के भी मन को झकझोर देने वाला था।

पिछली रात दो बजे राजेन्द्र बाबू की बड़ी बहन की मृत्यु हो गई थी और गणतंत्र दिन के राष्ट्रीय कार्यक्रम पर कोई भी असर न हो इसलिए उन्होंने उस समाचार को राष्ट्रपति भवन के बाहर ही नहीं जाने दिया था। सबेरे का सरकारी कार्यक्रम पूरा करने के बाद शाम का कार्यक्रम अनौपचारिक होने के कारण उसकी जिम्मेदारी उपराष्ट्रपति पर छोड़कर वे अपनी बहन का अन्तिम संस्कार करने के लिए निगम बोध घाट पर गए थे। इस बड़ी बहन ने ही राजेन्द्र बाबू का पालन–पोषण किया था। अत: उस पर वे अपनी मां की तरह प्रेम करते थे। पर निजी सुख–दु:ख और राजनीतिक जिम्मेदारियों के बीच का अंतर बनाये रखने का उनका स्वभाव था। बाद में ऐसे राष्ट्रपति भी हुए जिन्होंने पत्नी की दाढ़ में दर्द होने के कारण सरकारी कार्यक्रम रद्द कर दिये। उनका नाम न लेना ही उचित होगा।

दूसरे आमचुनाव के बाद भी पं. नेहरू राजेन्द्र बाबू को राष्ट्रपति नहीं बनाना चाहते थे। कहा जाता है कि उन्होंने उपराष्ट्रपति श्री राधाकृष्णन से यह कह दिया था कि अब उन्हें ही राष्ट्रपति बनाया जायेगा। खबरे यहां तक थी कि श्री राधाकृष्णन उपराष्ट्रपति पद पर बने रहने को अब तैयार नहीं है। पर कांग्रेस संसदीय दल का बहुमत यही चाहता था कि डॉ. राजेन्द्र प्रसाद ही राष्ट्रपति पद पर बने रहें। किसी भी बात के लिए आज की तरह उन दिनों हस्ताक्षरों का आंदोलन शायद ही दिखाई पड़ता था। पर उसकी भी शुरुआत हुई और पं. नेहरू को अपनी बात छोड़नी पड़ी। डॉ. राजेन्द्र प्रसाद और डॉ. राधाकृष्णन दोनों ही अपने–अपने पदों पर बने रहे। अब तक के इतिहास में लगातार दो बार राष्ट्रपति बनने वाले अकेले राजेन्द्र बाबू ही हैं।

१९६२ के आम चुनाव के बाद डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन राष्ट्रपति चुने गए। उनके कार्यकाल में चीन और पाकिस्तान के साथ लड़ाई हुई और पं. नेहरू और श्री लालबहादुर शास्त्री इन दो प्रधानमंत्रियों की मृत्यु होकर श्रीमती इंदिरा गांधी प्रधानमंत्री बनीं। इसमें संदेह नहीं कि सर्वपल्ली राधाकृष्णन महान विद्वान थे। पर देश के जनजीवन में और राजनीति में उन्हें कोई स्थान प्राप्त नहीं था। पं. नेहरू के कारण ही वे उपराष्ट्रपति बने थे और उन्हीं के कारण वे राष्ट्रपति पद तक पहुंचे थे। पर यह नहीं कहा जा सकता कि पं. नेहरू ने उनके लिए जो कुछ किया था उसके बोझ से वे जरा भी झुके थे।

बात उस समय की है जब डॉ. राधाकृष्णन उपराष्ट्रपति थे। उपराष्ट्रपति राज्यसभा का अध्यक्ष भी होता है। उन दिनों राज्यसभा के सभापति और लोकसभा के अध्यक्ष प्रश्नोत्तर काल के समय सदन में अवश्य उपस्थित रहते थे। प्रधानमंत्री पं. नेहरू भी प्रश्नोत्तरकाल के घंटे को टालते नहीं थे। उनसे संबंधित प्रश्न जिस सदन में हो, वे वहां अवश्य ही रहते थे। उस दिन वे राज्यसभा में थे। योजना मंत्रालय उन दिनों पं. नेहरू के

पास था। मद्रास के निकट आवडी में कांग्रेस का अधिवेशन कुछ ही समय पहले हुआ था। वहां पंचवर्षीय योजना के संबंध में सरकार की ओर से कुछ साहित्य बांटा गया था। योजना आयोग के संबंध में एक प्रश्न था। उसके एक पूरक प्रश्न में एक विपक्षी सदस्य ने आरोप लगाया कि कांग्रेस के अधिवेशन में योजना से सम्बन्धित साहित्य बांटकर सरकारी सम्पत्ति का दुरूपयोग किया गया है। पं. नेहरू ने जवाब दिया, "आवडी में देश का बुद्धिमान वर्ग जमा हुआ था। सरकार की नीति यह रही है कि योजना के विभिन्न पहलुओं पर देश के बुद्धिवादियों में चर्चा हो। अत: वह साहित्य वहां बांटा गया।" इस जवाब पर विपक्षी सदस्य संतुष्ट हो ही नहीं रहे थे। पर प्रतिक्रियास्वरूप विपक्षियों द्वारा कुछ शोरगुल हो, इसके पहले ही डॉ. राधाकृष्णन ने पं. नेहरू की ओर देखा और कहा, "बुद्धिमत्ता पर कांग्रेस दल का ही एकाधिकार नहीं है।" इस पर विपक्षी दलों के सदस्य खिलखिलाकर हंस पड़े। उस हंसी की आवाज समाप्त होने के पहले ही डॉ. राधाकृष्णन दूसरे प्रश्न की ओर बढ़ गए थे। और उन्होंने इस विषय पर होने वाला अधिक शोरगुल टाल दिया था। विपक्षी सदस्य भी इस खुशी में थे कि पं. नेहरू को अच्छी डांट पड़ी।

डॉ. राधाकृष्णन राज्यसभा का संचालन बड़ी मर्यादा के साथ इस प्रकार करते थे कि उससे सदन की प्रतिष्ठा ही बढ़ती थी। राज्यसभा की तुलना में उन दिनों लोकसभा में अधिक शोरगुल और अनियंत्रण की सी स्थिति दिखाई देती थी। उस समय लोकसभा के स्पीकर श्री अनंतशयनम अय्यंगार थे। एक बार मैंने अपनी साप्ताहिक डायरी में लोकसभा और राज्यसभा में दिखाई देने वाले इस अंतर को व्यक्त करने का प्रयत्न भी किया। उसकी मुझे कुछ आंच भी लगी। मैंने लिखा था कि लोकसभा में होने वाला कामकाज देखकर किसी स्कूल में शिक्षक के नियंत्रण में चलने वाली कक्षा का स्मरण हो आता है, तो राज्यसभा का कामकाज किसी कॉलेज की कक्षा की तरह दिखाई देता है जो प्राध्यापक के नियंत्रण में चल रही हो। मेरी यह डायरी 'नवभारत टाइम्स' में प्रकाशित हुई थी। मैंने सोचा भी नहीं था कि मेरे द्वारा इस प्रकार के मत प्रदर्शन पर किसी का ध्यान जायेगा। क्योंकि उन दिनों हिंदी में प्रकाशित समाचार और विचार सरकारी क्षेत्र में ध्यान देने योग्य समझे ही नहीं जाते थे। पर स्पीकर श्री अनंतशयनम अयंगार ने मुझे बुलाया और कहा, "आपने लोकसभा को अपमानित करने वाली बात क्यों लिखी। आपका प्रेस कार्ड रद्द क्यों न कर दिया जाए?" मैंने कहा, लोकसभा का अपमान करने का मेरा कोई इरादा नहीं था। उन्होंने कहा, वैसा हो भी सकता है। पर आपके लेख सें यह व्यक्त होता है कि राज्यसभा की तुलना में लोकसभा में होनेवाले कामकाज का स्तर कुछ नीचा है। श्री अयंगार ने कहा, मेरा तो उस ओर ध्यान भी न गया होता। पर आपके ही प्रदेश के एक सदस्य द्वारा इस ओर ध्यान दिलाने के कारण मुझे आपको बुलाना पड़ा। क्षमायाचना का औपचारिक पत्र देकर वह बात तो वहीं समाप्त हो गई। पर बाद में मुझे पता चला कि नासिक के कांग्रेसी सदस्य श्री गोविंदराव देशपांडे ने मेरे लेख का वह अंश अंग्रेजी में अनुवादित कर उन्हें दिया था। उनका मुझ पर नाराज होने का एक छोटा–सा कारण भी था। वे हमेशा ऊंची आवाज में बोला करते थे। मैंने उनके एक भाषण को

"भीमदेवी" उपमा दी थी और यह भी लिखा था कि भाषण में कुछ विशेष ठोस बात नहीं थी।

इस घटना से मेरा एक लाभ भी हुआ। श्री अयंगार के घर मुझे बार–बार जाने का अवसर मिलने लगा। वे इडली, बड़ा, सांबर आदि खूब खिलाते थे और उसके साथ राजनीतिक विषयों पर चर्चा कर उस सम्बन्ध में अपने विचार भी बताते थे। यह धारणा है कि लोकसभा का स्पीकर बनने के बाद वह किसी दल का नहीं होता। उसके द्वारा दिये गये निर्णय निष्पक्ष ही होते हैं। इस विषय पर भी एक बार श्री अयंगार से बात हुई। उन्होंने कहा, हम निष्पक्ष होने का दावा करते हैं और हमारा व्यवहार भी वैसा ही है, यह दिखाने के लिए हम सदन में नाटक भी काफी करते है। पर जिस प्रकार बिल्ली या बंदर कैसी भी छलांग लगाये तो भी वह अपने पैर पर ही खड़ा होता है, उसी प्रकार हमारा भी अन्तिम निर्णय कांग्रेस दल के ही पक्ष में जाता है, क्योंकि आगे निर्वाचन के समय तो हमें कांग्रेस दल का ही सहारा लेना पड़ता है। बहुमत की सहायता के बिना हमें स्पीकर का पद भी कैसे मिलता।

भारत और चीन के बीच अनबन तो डा. राधाकृष्णन के राष्ट्रपति बनने से पूर्व ही शुरू हो गई थी। पर प्रत्यक्ष आक्रमण उनके राष्ट्रपति होने के बाद ही हुआ। डॉ. राजेन्द्र प्रसाद और पं. नेहरू के बीच अनेक विषयों पर मतभेद थे। पर वह जब तक राष्ट्रपति थे, फुसफुसाहट के रूप में भी कभी बाहर उसकी चर्चा नहीं हुई। पर उनके बाद राष्ट्रपति भवन में जाने वाले संसद सदस्य बताते थे कि पं. नेहरू ने चीन के प्रश्न पर जो नीति अपनायी उसकी राधाकृष्णन कड़ी आलोचना करते थे। उन दिनों लोगों को यह भी पता था कि उनकी राय नेहरू की पुत्री श्रीमती इंदिरा गांधी के संबंध में भी अच्छी नहीं है। शायद इसीलिए जब १९६७ में उनकी पांच वर्ष की अवधि समाप्त होने को आयी, उन्हें दूसरी बार राष्ट्रपति बनाने का विचार श्रीमती गांधी के मन में तो आया ही नहीं, औरों के मन में भी नहीं आया। इसका एक कारण शायद यह भी हो सकता है कि उनकी आंखें बहुत ही कमजोर हो गई थीं और उन्हें बहुत ही मोटी कांच का चष्मा लगता था।

श्रीमती गांधी के कार्यकाल में पहले राष्ट्रपति डा. जाकीर हुसैन हुए। डॉ. राधाकृष्णन जब राष्ट्रपति बने, उन्हें उपराष्ट्रपति बनाया गया। सरल स्वभाव और अपने अच्छे व्यवहार से वे डा. राजेन्द्र प्रसाद की ही याद दिलाते थे। डॉ. जाकीर हुसैन धर्म से मुसलमान होने के कारण चुनाव के समय उनके बारे में गलत–सलत प्रचार काफी हुआ। विशेषत: भारत–पाक युद्ध के समय उनके संबंध में कई झूठी कथायें, विशेष रूप से जनसंघ कार्यकर्ताओं द्वारा फैलायी गई। पर मुझ पर उनका असर उनकी शुद्ध राष्ट्रीय प्रवृत्ति का है। जिन मुस्लिम नेताओं को मैं जानता हूं उनमें उनकी तुलना मैं केवल श्री रफी अहमद किडवई से ही कर सकता हूँ। दोनों ही केवल सम्पूर्ण भारत का हित चाहते थे। गणतंत्र का पहला दशक बीतते–बीतते सत्ताधीशों की नीति के कारण साम्प्रदायिक दंगे फिर पनपने लगे थे। चीन से अनबन शुरू होने के बाद सन १९६२ के प्रारंभ में विज्ञान भवन

में राष्ट्रीय एकात्मता परिषद की पहली बैठक हुई थी। उस समय श्री जाकीर हुसैन बिहार के राज्यपाल के रूप में बैठक में शामिल हुए थे। इस बैठक में उन्होंने जो कुछ कहा, उसे कभी भी भुलाया नहीं जा सकता। उन्होंने कहा, हम अपने व्यवहार से ही भारतीय एकात्मता के दरारें डालते हैं। चुनाव के समय जातपात का विचार कर उम्मीदवार तय करते हैं। मौलाना अबुल कलाम जैसे वरिष्ठ नेता को भी गुडगांव (हरियाणा) जैसे मुस्लिम बहुल क्षेत्र से खड़ा करना पड़ता है। इसी से साम्प्रदायिक प्रवृत्तिया बढ़ती है। उन्होंने आगे यह भी कहा, “मुस्लिम बहुल निर्वाचन क्षेत्र से चुनकर आने के बजाय मौलाना अबुल कलाम आजाद हिंदू बहुल निर्वाचन क्षेत्र से खड़े होकर चुनाव में हार भी जाते तो भी भारतीय एकात्मता को उससे अधिक बल मिलता।” श्री जाकिर हुसैन के ये विचार केवल सैद्धांतिक नहीं थे। विभाजन के बाद बचे हुए पूर्व पंजाब से काफी मुसलमान पाकिस्तान चले गए थे और वह क्षेत्र हिन्दू बहुल बन गया था। पर अम्बाला विधानसभा निर्वाचन क्षेत्र से अब्दुल गफ्फार नामक कांग्रेस के एक मुस्लिम कार्यकर्ता हिन्दुओं के मतों के बल पर ही चुनकर आते थे। इसे एक संयोग ही कहना होगा कि राष्ट्रीयता की मूर्ति श्री जाकिर हुसैन की मृत्यु हो गई और देश की एकात्मता में दरारें डालने वाली घटनाएं एक के बाद एक होती गई।

श्री जाकिर हुसैन की मृत्यु के बाद यह सवाल उठा कि अब राष्ट्रपति कौन बनेगा। उस समय श्री वराह व्यंकटगिरि उपराष्ट्रपति थे। तब तक जो परम्परा बन गई थी, उसके अनुसार उपराष्ट्रपति को ही राष्ट्रपति बनाया जाता था। पर राज्यसभा के अध्यक्ष के नाते श्री वराह व्यंकटगिरि जिस प्रकार व्यवहार करते थे उससे उनके सम्बन्ध में काफी कुछ कहा जाता था। अवस्था के अनुसार उन्हें कई बातों का ध्यान ही नहीं रहता था। उदाहरण के लिए सब सदस्यों की बातें ठीक से सुनाई देने के लिए वे माइक्रोफोन की जो तारें कान में लगाते थे, उठते समय उसे निकालना ही भूल जाते थे। परिणामस्वरूप कई बार वे तारें टूट जाती थीं। कांग्रेसी सदस्यों में भी उनके व्यवहार के बारे संतोष नहीं था। अत: इसकी कोई आशा नहीं थी कि वे कांग्रेस की ओर से राष्ट्रपति पद के लिए उम्मीदवार बनाये जायेंगे। इसके अतिरिक्त उन दिनों एक विचार और भी चल रहा था। भारतीय संविधान के अनुसार राष्ट्रपति का पद सबसे श्रेष्ठ है। उसे उत्तर भारत के डॉ. राजेन्द्र प्रसाद ने विभूषित किया। दक्षिण भारत के सर्वपल्ली डा. राधाकृष्णन को भी उसे सुशोभित करने का सम्मान मिला। भारतीय समाज की एक बहुत बड़ी इकाई मुस्लिम समाज है। उसके डॉ. जाकिर हुसैन भी राष्ट्रपति बन चुके थे। राष्ट्रीय एकात्मता की दृष्टि से अब यह सम्मान भारत के दलित समाज के प्रतिनिधि को मिलना चाहिए। यह विचार मेरे जैसे कुछ पत्रकारों के मन में तो आया ही, मुझे यह भी ज्ञात हुआ था कि वह गृहमंत्री श्री यशवंतराव चव्हाण जैसे प्रमुख नेताओं के भी मन में आया था। कुछ समाचारपत्रों में भी जगजीवन राम राष्ट्रपति बनने की संभावना का समाचार भी प्रकाशित हो गया था। मुझे तो यह भी जानकारी मिली थी कि श्री यशवंतराव चव्हाण ने प्रधानमंत्री श्रीमती गांधी के पास भी उनके नाम की चर्चा की थी, पर श्रीमती गांधी ने यह कहकर उसे टाल दिया

था कि उससे मंत्रिमण्डल का संतुलन बिगड़ जायेगा। उस समय उन्होंने किसी दूसरे का नाम भी नहीं सुझाया था।

१९६९ के मई महीने में बंगलौर में कांग्रेस महासमिति की बैठक थी। उसी समय कांग्रेस संसदीय बोर्ड की बैठक में राष्ट्रपति पद के लिए कांग्रेस का उम्मीदवार निश्चित होना था। कांग्रेस के तथाकथित प्रगतिशील और प्रतिक्रियावादी समझे जाने वाले सिंडिकेट के बीच तनाव बढ़ रहा था। बैंकों पर सामाजिक नियंत्रण अथवा राष्ट्रीयकरण यह था विवाद का मुख्य प्रश्न। कांग्रेस ने अधिकांश अधिवेशनों में मैं 'महाराष्ट्र टाइम्स' की ओर से जाता था। पर किसी कारणवश बंगलौर नहीं जा सका था। 'महाराष्ट्र टाइम्स' द्वारा बुलाये जाने के कारण हो अथवा मेरे निजी काम से हो, मैं उस समय बम्बई में था। बम्बई में ही समाचारपत्रों में मैंने पढ़ा कि कांग्रेस संसदीय बोर्ड ने राष्ट्रपति पद के उम्मीदवार के रूप में उस समय के लोकसभा के सभापति श्री नीलम संजीव रेड्डी का चुनाव बहुमत से निश्चित किया गया है और श्रीमती गांधी ने श्री जगजीवनराम का जो नाम सुझाया था वह मंजूर न होने के कारण वे बहुत भड़क उठी हैं। समाचार में यह भी था कि जगजीवन राम के नाम का समर्थन करने में साथ न देने के कारण वे श्री यशवंतराव चव्हाण पर बहुत नाराज हैं। जहां तक मुझे स्मरण है, कांग्रेस कार्यकारिणी में अथवा संसदीय बोर्ड मे कितने ही मतभेद हो, मतविभाजन कराकर निर्णय कराने की प्रणाली कम से कम तब तक नहीं थी। समाचारपत्रों में भी यह प्रकाशित नहीं होता था कि निर्णय मतविभाजन के द्वारा हआ है। यह भी एक अभूतपूर्व घटना थी कि प्रधानमंत्री पद पर आसीन व्यक्ति की इच्छा के विरूध्द निर्णय लिया गया था।

मैं 'महाराष्ट्र टाइम्स' के कार्यालय में बैठा ही था कि एक टेलीफोन आया। टेलीफोन पर संदेश था कि, श्री यशवंतराव चव्हाण बंगलौर से लौट आये हैं और उन्होंने चर्चा के लिए पत्रकारों को बुलाया है। 'महाराष्ट्र टाइम्स' के संपादक श्री गोविंदराव तलवलकर के साथ मैं भी बम्बई में श्री चव्हाण का निवास 'रिवेरा भवन' के उनके फ्लैट पर पहुंचा। और भी अनेक मराठी पत्रकार वहां उपस्थित थे। श्री चव्हाण बहत ही क्षुब्ध दिखाई दिये। वे कुल मिलाकर पत्रकारों को यही समझाना चाहते थे कि श्रीमती गांधी ने उनके विरूद्ध जो आक्रोश मचाया है वह अनुचित है। बाद में जो आरोप—प्रत्यारोप हुए, उसमें यह भी कहा गया कि श्री चव्हाण ने श्री जगजीवनराम का समर्थन करने का आश्वासन श्रीमती गांधी को दिया था। पर ऐन मौके पर उसे तोड़कर उन्होंने विश्वासघात किया है। श्री चव्हाण ने भी स्पष्टीकरण दिया जिसमें उन्होंने इस तरह की कोई बात स्वीकार नहीं की। उन्होंने कहा उस समय उनकी भूमिका केवल छोटी—सी ही थी। मैं इस या उस के विरूद्ध नहीं था। वोट देने का अवसर आया और कांग्रेस के ही एक उम्मीदवार के पक्ष में वोट दिया। इसमें मुझसे क्या भूल हुई?

इस सम्बन्ध में मेरी धारणा इस प्रकार बनी है। मैं इस बात की चर्चा कर चुका हूं कि राष्ट्रपति पद के लिए श्री चव्हाण ने ही श्री जगजीवनराम का नाम सुझाया था। संतुलन

टूटने के नाम पर उस समय श्रीमती गांधी ने ही उससे इनकार किया था। पर बाद में सिंडिकेट की ओर से प्रस्तुत हुए श्री संजीव रेड्डी के नाम के सम्बन्ध में उनके मन में कई गलत या सही संदेह पैदा हुए और उन्होंने ऐन मौके पर श्री जगजीवनराम का नाम प्रस्तुत किया। श्री चव्हाण उनका समर्थन करेंगे यह विश्वास उन्हें इसलिए था कि पहले उन्होंने ही वह नाम सुझाया था। पर श्री चव्हाण ने समर्थन नहीं किया और बाजी उलट गई। इसलिए वे श्री चव्हाण पर ही सबसे अधिक नाराज हुई। श्रीमती गांधी को श्री जगजीवनराम का नाम पसंद नहीं है, यह स्पष्ट होने पर श्री कामराज आदि ने श्री संजीव रेड्डी का समर्थन करने के लिए श्री चव्हाण को पहले ही तैयार कर लिया होगा। ऐन मौके पर श्रीमती गांधी द्वारा श्री जगजीवन राम का नाम आगे करने पर उसका समर्थन करना श्री चव्हाण को इसीलिए कठिन हो गया होगा कि वे कामराज से बंध चुके थे। श्रीमती गांधी के लिए बात बदल देना उस समय उन्हें संभव नहीं हुआ होगा। लोकसभा के स्पीकर के रूप में श्री संजीव रेड्डी का व्यवहार बहुत ही अच्छा था। उनका कानून का ज्ञान यद्यपि सिमित था, पर समय को संभाल लेने की कला उन्हें अच्छी तरह आती थी। ठीक उसके विपरीत उसी काल में मुख्यत: श्री यशवंतराव चव्हाण द्वारा सुझाये जाने के कारण लोकसभा के डिप्टी स्पीकर बने श्री रघुनाथराव खाडिलकर की हालत थी। वे सदन में स्पीकर की कुर्सी पर बैठे हो और किसी बात को लेकर शोरगुल न हो, ऐसी स्थिति अपवाद रूप में ही दिखाई देती थी। श्री खाडिलकर और शोर–शराबा ये शब्द उन दिनों संसदीय क्षेत्र में पर्यायवाची बन गए थे।

इस संदर्भ में मैं एक बात कभी समझ नहीं पाया। श्री संजीव रेड्डी के नाम की चर्चा बंगलौर में संसदीय बोर्ड की बैठक होने के काफी पहले शुरू हो गई थी। चर्चा शुरू होते ही श्रीमती गांधी ने यह स्पष्ट क्यों नहीं किया यह नाम उन्हें पसंद नहीं है। चुनाव हारने के बाद इस संबंध में स्वयं श्री रेड्डी द्वारा एक सार्वजनिक सभा में दी गई जानकारी और भी अचंबे में डालने वाली है। उन्होंने कहा था, राष्ट्रपति पद के लिए मेरे नाम की चर्चा शुरू होने पर एक बार मैं स्वयं प्रधानमंत्री श्रीमती गांधी से मिला था। मैंने उनसे कहा, राष्ट्रपति पद के लिए मेरे नाम की चर्चा हो रही है। ऐसा नहीं है कि मैं उस बड़े पद को नहीं चाहता। पर आपकी इच्छा के विरूद्ध राष्ट्रपति बनने को मैं बिलकुल तैयार नहीं हूं। आपके मन में कोई दूसरा नाम हो तो मैं खड़ा ही नहीं रहूंगा। श्री संजीव रेड्डी ने सार्वजनिक सभा में श्रीमती गांधी द्वारा उन्हें दिया हुआ जो उत्तर बताया वह इस प्रकार था, “मेरे सामने कोई दूसरा नाम नहीं है। उस पद के लिए उपयुक्त उम्मीदवार कम से कम आज आपके सिवा दूसरा नहीं दिखाई देता” जिस ढंग से उस समय श्री संजीव रेड्डी बोले उससे कम से कम मुझे उस समय ऐसा प्रतीत नहीं हुआ कि वे कुछ झूठ बोल रहे हों। पर यदि यह सच हो तो श्री संजीव रेड्डी के बारे में श्रीमती गांधी का विचार क्यों कर बदला?

यह खुला दास्तान है कि बंगलौर में कांग्रेस संसदीय बोर्ड की बैठक में श्रीमती इंदिरा गांधी नहीं चाहती थी कि श्री संजीव रेड्डी को राष्ट्रपति पद का उम्मीदवार बनाया जाए। पर उनकी इच्छा के विरूद्ध वह निर्णय लिया गया और वे नाराज हुई। पर ऐसा नहीं कहा जा सकता कि उसी समय विपक्षी दल के उम्मीदवार श्री व्यंकट वराहगिरि को उन्होंने समर्थन देने का निश्चय किया था। वैसा होता तो श्री सजीव रेड्डी के नामजदगी के दो आवेदनपत्रों पर श्रीमती गांधी ने हस्ताक्षर न किए होते। उन दिनों उस संदर्भ में एक और चर्चा सुनाई दी थी। वह चर्चा इस प्रकार की थी कि श्री संजीव रेड्डी के चुने जाने के बाद श्रीमती इंदिरा गांधी को प्रधानमंत्री पद से हटा दिया जाय। इसीलिए 'मरता क्या न करता' इस नियम के अनुसार उन्होंने निश्चय किया कि श्री संजीव रेड्डी का राष्ट्रपति पद पर चुनाव ही न होने दिया जाय। वास्तव में क्या ऐसी कोई योजना थी? मैंने इस सम्बन्ध में जो पूछताछ की उसमें मुझे ऐसी कोई योजना दिखाई नहीं दी। संविधान की व्यवस्था में राष्ट्रपति को स्पष्ट रूप से यह अधिकार नहीं है। पर यह मानना होगा की श्रीमती इंदिरा गांधी का मन संशयों से भर गया था। शायद इसका कारण यह था कि संविधान के अनुसार प्रधानमंत्री की नियुक्ति राष्ट्रपति करता है। ऐसा माना जाता है कि जो नियुक्ति करता है उसे उस व्यक्ति को हटाने का भी अधिकार होता है। जिन श्री कामराज के बल पर वे प्रधानमंत्री बनी थीं वे ही उन्हें अब उनके दुश्मन दिखाई देने लगे थे।

इस सम्बन्ध में एक बात और सामने आती है। अपनी इच्छा के विरूद्ध हो तो बहुमत का निर्णय न मानकर उसके विरोध में खड़े होने की प्रवृत्ति नेहरू घराने में प्रारंभ से ही है। कांग्रेस के अध्यक्ष पद पर कांग्रेस जनों ने ही टंडन जी को निर्वाचित किया था। पं. नेहरू के हाथ प्रधानमंत्री के रूप में जो सत्ता थी उसके बल पर उन्होंने टंडन जी को त्यागपत्र देने के लिए बाध्य किया। श्री संजीव रेड्डी को राष्ट्रपति पद का उम्मीदवार बनाने का निर्णय उचित हो अथवा अनुचित, परंतु यह बहुमत का निर्णय था। लोकतंत्र की मान्यता तो यही थी कि अपना विरोध होते हुए भी उसे स्वीकार कर लिया जाता। पर ऐसा नहीं हुआ। पं. नेहरू और इंदिरा गांधी की तरह ही कांग्रेस के अधिकांश नेताओं में लोकतंत्र को मन से कार्यान्वित करने की बात पनप ही नहीं पायी। श्री कामराज हो अथवा सिंडिकेट के नाम से पहचाने जाने वाले अन्य नेता हों, यही चाहते थे कि उनके समर्थन से श्रीमती इंदिरा गांधी प्रधानमंत्री होने के कारण उन्हें उनके नियंत्रण में रखना चाहिए। श्री मोरारजी देसाई के विरूद्ध कामराज आदि इसीलिए थे कि वे उनके हाथ का खिलौना नहीं बनेंगे, यह वह जानते थे। मेरी समझ में यह विचार ही गलत है कि देश का प्रधानमंत्री कुछ लोगों की इच्छा के अनुसार ही काम करें। पर उसी प्रकार प्रधानमंत्री का यह सोचना भी गलत होगा कि हर बात उसकी इच्छा के अनुसार ही हो। पर मनुष्य का यह आम स्वभाव होता है और वह यही चाहता है कि दूसरे उसकी इच्छानुसार चलें। दूसरे नेताओं की तुलना में कामराज काफी अच्छे रहे हैं। पर इस मानव सहज भावना से वे भी मुक्त नहीं रह सके।

इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है कि श्रीमती गांधी ने, गुप्त रूप से ही क्यों न हो, श्री व्यंकट वराहगिरि का समर्थन करने का निर्णय कब किया। मेरे कुछ पत्रकार मित्रों की धारणा यह थी कि श्रीमती गांधी का समर्थन मिलने की बात तय होने पर ही श्री गिरि उपराष्ट्रपति पद से त्यागपत्र देकर राष्ट्रपति पद के उम्मीदवार बने। इस संदर्भ में उनका नामजदगी पत्र प्रस्तुत कये जाने के पूर्व उनकी लखनऊ यात्रा की भी बात कहीं जाती है। पर मुझे वैसा नहीं लगता। क्योंकि वैसा कुछ होता हो उस समय समाजवादी नेता श्री मधु लिमये ने श्री गिरि का आवेदन—पत्र भरा ही न होता। मुझे यह संदेह कभी भी नहीं हुआ कि इस मामले में श्री मधु लिमये ने श्रीमती इंदिरा गांधी के साथ हाथ मिलाया होगा। वे अपने आपको प्रगतिशील कहते थे। अत: श्री गिरि का नाम प्रस्तुत करने में उनकी भूमिका केवल इतनी ही थी कि सिंडिकेट के उम्मीदवार का विरोध करना। उन्हें उस समय शायद इतनी ही उम्मीद होगी कि कांग्रेस के प्रगतिशील कहलाने वाले उनकी कुछ सहायता करेंगे।

आगे चलकर एक बार मैंने श्री मधु लिमये से कहा, यदि आपने श्री गिरि का नामजदगी पत्र न भरा होता तो देश की तसवीर जिस प्रकार बदली है, वह न बदली होती। उन्होंने कहा, मुझे सचमुच यह उम्मीद नहीं थी कि प्रधानमंत्री अपने ही दल के उम्मीदवार को हराने के लिए इतना आगे बढ़ेंगी। किन्तु मेरी धारणा के विपरीत कुछ लोग उन दिनों बल देकर कहते थे कि चाहे श्री मधु लिमये को इस बात का पता न हो, पर श्रीमती गांधी द्वारा समर्थन का स्पष्ट आश्वासन मिले बिना श्री गिरि उपराष्ट्रपति पद का त्यागपत्र देकर चुनाव के लिए खड़े ही नहीं हो सकते थे। संविधान में यह व्यवस्था है कि राष्ट्रपति की अनुपस्थिति में उनका दायित्व उपराष्ट्रपति संभाले। दोनों अनुपस्थित हो तो चुनाव होने तक सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश यह काम संभाले। यह व्यवस्था संविधान में आकस्मिक स्थिति के लिए की गई है। इस व्यवस्था का उपयोग करना पड़ा और उस समय के सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश श्री हिदायतुल्ला को राष्ट्रपति के रूप में कुछ समय काम करना पड़ा।

श्री संजीव रेड्डी को राष्ट्रपति बनने न देने के लिए कोई बात बाकी नहीं उठा रखनी है, यह विचार श्रीमती गांधी के मन में ठीक किस समय आया इस बारे में दो राय हो सकती है। पर यह स्पष्ट है कि नामजदगी पत्र भरने के कुछ ही समय बाद उस विचार ने जोर पकड़ा था। संसद के सेंट्रल हाल में ही पहली बार सुना कि श्री संजीव रेड्डी को श्रीमती गांधी का समर्थन नहीं है। श्री गिरि का प्रचार जोरशोर से शुरू हो गया था। पुराने मजदूर नेता होने के कारण कहा जाता था कि वे प्रगतिशीलता के प्रतीक हैं। इतना ही नहीं एक छपा हुआ पर्चा भी बांटा गया जिसमें संजीव रेड्डी के चरित्र पर किचड़ उछाला गया था। उस पर्चे के कारण चुनाव के बाद श्री गिरि के विरूद्ध चुनाव याचिका पेश हई और उसकी काफी चर्चा भी हुई। श्री गिरि ने यह भूमिका अपनायी थी कि उस पर्चे से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं था और न्यायालय ने उनके पक्ष में निर्णय दे दिया। पर पर्चा बंटा

था, यह बात भी न्यायालय में साबित हो गई। चुनाव की धूमधाम में इस पर्चे के प्रकाशन का सम्बन्ध आंध्र प्रदेश की एक महिला सदस्य से लगाया जा रहा था।

प्रधानमंत्री श्रीमती गांधी अपने ही दल के उम्मीदवार श्री संजीव रेड्डी का समर्थन कर रही हैं या नहीं, इस सम्बन्ध में जब तरह–तरह की अफवाहें उड़ रही थी, उन्हीं दिनों अंग्रेजी शब्द "काँशस" (आत्मा की पुकार) का काफी प्रयोग हुआ। राष्ट्रपति पद के चुनाव के संदर्भ में इस शब्द का अर्थ केवल यही बताया जाता था कि कांग्रेस के विधान मण्डल और संसद के सदस्य उसे वोट दें जिसे उचित समझें। पर प्रत्यक्ष व्यवहार में यह श्री संजीव रेड्डी के विरूद्ध चलायी गई मुहिम ही थी। हम अपनी आत्मा की पुकार के अनुसार वोट देंगे, इस आशय के पत्रों पर विधानमंडल तथा संसद सदस्यों के हस्ताक्षर लिए जाने लगे। साफ दिखाई दे रहा था कि दल में फूट पड़ गई है। इस दृष्टि से भी प्रयत्न किया गया कि दल की नेता श्रीमती इंदिरा गांधी विद्रोह की इन प्रवृत्तियों के विरूद्ध भूमिका अपनायें, पर श्रीमती गांधी ने वैसा करने से साफ इन्कार किया। उन्होंने कहा, यह मैं कैसे कह सकती हूं कि विधानमंडल और संसद के सदस्य अपनी आत्मा की आवाज के विरूद्ध मत दें। अब तक यह काफी स्पष्ट हो गया था कि कौन किस ओर है। महाराष्ट्र को छोड़ इस निर्वाचन के प्रश्न पर अधिकांश राज्यों की कांग्रेस में फूट पड़ गई थी। प्रतीत होने लगा था कि जिस राज्य के मुख्यमंत्री का झुकाव श्रीमती इंदिरा गांधी की ओर था, उस राज्य के विधानमंडल और संसद सदस्यों के अधिक मत श्री गिरि को मिलेंगे। पर तब तक संगठन की चौखट टूटी नहीं थी। विधानमंडल और संसद के कई सदस्यों ने यह भूमिका अपनायी थी कि संगठन ने जिसे उम्मीदवार चुना, वही अपना उम्मीदवार है। संगठन का अनुशासन तोड़ने के लिए कई लोगों का मन तैयार नहीं हो रहा था। शायद इसीलिए सिंडिकेट के नेताओं, और जो सिंडिकेट में नहीं थे, पर राष्ट्रपति पद के उम्मीदवार के प्रश्न पर सिंडिकेट के विचारों से सहमत थे, श्री मोरारजी देसाई तथा श्री यशवंतराव चव्हाण जैसे अनेक नेताओं को ऐसा लगता था कि उनका उम्मीदवार चुन लिया जायेगा। पत्रकार के नाते मेरी तो यह धारणा बनी थी कि जरूरत से ज्यादा आत्मविश्वास में ही ये लोग खो गए। श्री गिरि ने हर राज्य का दौरा किया था। श्रीमती इंदिरा गांधी के विशेष दूत के रूप में श्री इंद्रकुमार गुजराल, श्री चंद्रशेखर, श्री मोहन धारिया, श्री कृष्णकांत आदि लोग विभिन्न राज्यों मे जा रहे थे। पर कांग्रेस के अध्यक्ष श्री निजलिंगप्पा, श्री कामराज, श्री अतुल्य घोष, श्री स. का. पाटिल, श्री यशवंतराव चव्हाण आदि लोग प्रचार के लिए दिल्ली से बाहर लगभग गए ही नहीं। जो खास दुल्हा श्री संजीव रेड्डी थे वे इस ख्याली पुलाव में मस्त थे कि राष्ट्रपति पद की जयमाला शीघ्र ही उनके गले में पड़ेगी। मतदान के कुछ ही दिन पूर्व जब उनसे पूछा गया कि आंध्र प्रदेश में उन्हें कितना समर्थन प्राप्त होगा। मुझे स्मरण है कि उन्होंने विश्वास के साथ कहा था, लगभग १०० प्रतिशत। पर मतदान होते ही यह स्पष्ट हो गया कि उनकी उम्मीदवारी में बहुत बड़ा सुरंग उनके अपने प्रदेश में ही लग गया था।

श्री संजीव रेड्डी कांग्रेस के उम्मीदवार हैं और उन्हें विजयी बनाना ही होगा। इस प्रकार की जिद मेरी जानकारी में उस समय दो ही व्यक्तियों में थी। महाराष्ट्र के मुख्यमंत्री श्री वसंतराव नाईक और केन्द्र में कृषि राज्यमंत्री श्री अण्णासाहब शिंदे। गुजरात के मुख्यमंत्री श्री हितेन्द्र देसाई ने भी श्री संजीव रेड्डी के लिए भरसक प्रयत्न किया। पर कांग्रेस में फूट के बीज काफी मात्रा में पड़ चुके थे। महाराष्ट्र के युवा नेता श्री मोहन धारिया, श्री चन्द्रशेखर के साथ तरुण तुर्कों की सूची में होने के कारण श्री गिरि के पक्ष में काम कर रहे थे। यह भी स्पष्ट था कि डिप्टी स्पीकर श्री रघुनाथ खाडिलकर, जिन्हें मजाक में नाना फडनवीस कहा जाता था, श्रीमती गांधी का खुलेआम समर्थन कर रहे थे। इन दोनों ने ही महाराष्ट्र के विधानमंडल और संसद सदस्यों को फोड़ने का प्रयत्न किया। पर मुख्यमंत्री श्री नाईक की कुशलता से महाराष्ट्र में कांग्रेसी सदस्यों का शत–प्रतिशत मतदान श्री संजीव रेड्डी के पक्ष में हुआ। दिल्ली में श्री अण्णासाहब शिंदे कमर बांधकर खड़े थे। इसलिए उन दिनों निश्चयपूर्वक कहा गया कि पांच सदस्यों को छोड़कर महाराष्ट्र में किसी का मत श्री गिरि के पलड़े में नहीं पड़ा। श्री खाडिलकर और श्री मोहन धारिया के अतिरिक्त विदर्भ के श्री देवराव पाटिल, श्री तुलसीदास जाधव और उस समय के राज्यमंत्री श्री डी. आर. चव्हाण के मत संजीव रेड्डी को नहीं मिले।

इनमें से श्री देवराव पाटिल का कारण बिलकुल निजी था। उनकी और महाराष्ट्र के मुख्यमंत्री श्री वसंतराव नाईक की, जो विदर्भ में उनके ही जिले के थे, नहीं बनती थी। वे एक सीधेसादे किसान थे। मुझे उनमें विचारों का गहरापन कभी नहीं दिखाई दिया। श्री संजीव रेड्डी की ओर श्री वसंतराव नाईक थे, अतः उन्होंने रेड्डी के विरूद्ध भूमिका अपनायी। श्री तुलसीदास जाधव मूलतः श्री मोरारजी देसाई के साथ थे। बाद में वे महाराष्ट्र के किसान मजदूर पार्टी में गए। कांग्रेस में लौटने पर भी महाराष्ट्र की राजनीति में उनकी और यशवंतराव चव्हाण की पटरी नहीं बैठ रही थी। वे हम मराठी पत्रकारों से कहते थे कि मैं बहत घुटन महसूस कर रहा हूं। राष्ट्रपति पद के चुनाव के कारण उन्हें श्री यशवंतराव चव्हाण के विरूद्ध काम करने का अवसर मिला और उसका उपयोग उन्होंने बड़ी जिद के साथ किया। श्री तुलसीदास जाधव ने जो राजनीतिक भूमिका अपनायी थी, उसका मैं समर्थन नहीं कर सकता, पर उनका व्यवहार मन में और, बाहर कुछ और इस प्रकार का नहीं था। उनकी भूमिका बिलकुल साफ थी।

इसके विपरीत श्री डी. आर. चव्हाण की स्थिति थी। महाराष्ट्र में किसान मजदूर पार्टी मूलतः मराठों का राजनीतिक दल था और प्रत्यक्ष व्यवहार में जाति की भावना पर बना होने के कारण कुछ समय तक काफी मजबूत था। उस दल की शक्ति कम करने की दृष्टि से श्री यशवंतराव चव्हाण उन्हें कांग्रेस में ले आये और पं. नेहरू के कार्यकाल में उन्होंने उन्हें उपमंत्री पद भी दिलाया। पर श्री डी. आर. चव्हाण महाराष्ट्र में श्री यशवंतराव चव्हाण का प्रभुत्व तो मानते थे किन्तु उनके सम्बन्ध में उनके मन में कभी भी अपनापन पैदा नहीं हुआ। निजी चर्चा में वे उनके विरूद्ध काफी कुछ कहा करते थे। पर श्री यशवंतराव

चव्हाण की बुद्धिमत्ता और उस समय की जनप्रियता के कारण उनके खिलाफ सार्वजनिक रूप में कोई भूमिका अपनाने का साहस उनमें नहीं था। आत्मा की आवाज के अनुसार हस्ताक्षरों का आंदोलन जब काफी जोरों पर था, मुझसे श्री अण्णासाहेब शिंदे ने कहा, मैंने सुना है कि आत्मा की आवाज के अनुसार मत देने के प्रश्न पर श्री तुलसीदास जाधव और श्री डी. आर. चव्हाण ने हस्ताक्षर किए हैं। आप जरा पता तो कीजिए।

पत्रकार के रूप में मैं भी सच्ची स्थिति जानने को उत्सुक था। १५ अगस्त के स्वाधीनता दिन के कारण राष्ट्रपति भवन में जो स्वागत समारोह हुआ, उसमें मुझे अवसर मिल गया। पहले मैं श्री तुलसीदास जाधव को थोड़ा अलग ले गया और उन्हें उनके हस्ताक्षर के बारे में पूछा, उन्होंने तुरंत कहा—– हां, मैंने हस्ताक्षर किए है और उसके जो परिणाम होंगे, उसका सामना करने की मेरी तैयारी है। मैं श्री डी. आर. चव्हाण को भी एक तरफ ले गया और उनसे भी पूछा, सचाई क्या है? श्री चव्हाण ने कहा, देखिये, इंदूरकरजी मुझे श्री त्रिगुण सेन ने कहा है— भाई पानी में रहकर मगर से बैर नहीं किया जाता। मैंने इसीलिए हस्ताक्षर किया हैं। पर मेरा हस्ताक्षर अपनी आत्मा की आवाज के अनुसार मत देने के लिए है। मैं श्री गिरि को मत देने के लिए वचनबद्ध नहीं हुआ हूं। उन दिनों श्री त्रिगुण सेन केन्द्रीय मंत्रिमण्डल में पेट्रोलियम विभाग के मंत्री थे और श्री डी.आर. चव्हाण उसी विभाग में राज्यमंत्री थे।

उनके उत्तर से जो समझना चाहिए था, वह मैं समझ गया। इस घटना का उल्लेख मुझे श्री गिरि के राष्ट्रपति बनने के बाद अपने पत्र के माध्यम से करना पड़ा। पुणे के कुछ पत्रकारों के सामने श्री डी. आर. चव्हाण ने मतदान के सम्बन्ध में कुछ विचार प्रगट किए थे। उसमें उन्होंने कहा था, 'श्री गिरि को मत देने का निर्णय हमें बड़े साहस के साथ लेना पड़ा था। मैंने इस विषय की चर्चा अपनी धर्मपत्नी से की थी। और यह भी कहा था कि श्री गिरि को मतदान करने के परिणामस्वरूप शायद मुझे मंत्रीपद भी छोड़ना पड़ेगा। पर मेरी धर्मपत्नी ने कहा, अपना सब कुछ लूट जाय तो भी हर्ज नहीं। पर हमें श्रीमती इंदिरा गांधी के समर्थन में ही डटकर खड़ा होना चाहिए।' जब श्री डी. आर. चव्हाण के उक्त विचार प्रकाशित हुए, राष्ट्रपति भवन में उन्होंने मुझे जो कुछ कहा, उसकी याद ताजी थी। मैंने, मुझसे उस समय उन्होंने जो कुछ कहा, उसे प्रश्नोत्तर रूप में समाचार बनाकर 'महाराष्ट्र टाइम्स' के पास भेज दिया। वह प्रकाशित भी हो गया। मुझे एक बात बहुत दिनों तक सता रही थी। अपनी वीरता जतानेवाली जो बात उन्होंने पत्रकारों से कही थी, वह बेबुनियाद अवश्य थीं पर उस आशय का समाचार भेजना पत्रकारिता की दृष्टि से कहां तक उचित था? क्योंकि उन्होंने यह बात मुझे निजी तौर पर कही थी। पर मैं श्री डी.आर.चव्हाण के ढोंग पर चिढ़ उठा था और उसी आवेश में मैंने वह समाचार भेजा था। श्री डी. आर. चव्हाण भी श्री यशवंतराव चव्हाण की तरह ही कराड के रहनेवाले थे। कराड के लोगों का श्री डी. आर. चव्हाण के शब्दों की अपेक्षा मेरे द्वारा भेजे गये समाचार पर अधिक विश्वास था। मेरे द्वारा भेजा समाचार जिस दिन प्रकाशित हुआ उसके

दूसरे ही दिन कराड नगर के बाहर श्री डी. आर. चव्हाण का मंत्री की हैसियत से एक समारोह था। वातावरण इतना गरम हो गया था कि अपने विभाग के अधिकारियों की सलाह के अनुसार उन्हें यह स्थगित कर देना पड़ा। अर्थात यह सब मुझे तब बताया गया था, जब मैं कुछ दिन बाद कराड गया था।

जिस दिन श्री संजीव रेड्डी और श्री वराह व्यंकटगिरि को मिले मतों की गिनती होकर परिणाम घोषित हुआ। मैं संसद भवन में ही था। संसद भवन के एक बड़े कमरे में गिनती हो रही थी और उसका परिणाम घंटे दो घंटे बाद संसद के सेंट्रल हॉल में ज्ञात हो रहा था। अन्तिम निर्णय के संबंध में उत्सुकता अपनी चरम सीमा पर पहुंच गई। आखिर कुछ रात हो जाने पर अन्तिम परिणाम घोषित हुआ और श्री वराह व्यंकटगिरि राष्ट्रपति निर्वाचित घोषित किए गए। स्वभावत: सिंडिकेट वालों के मुंह लटक गए और इंडिकेट वालों के चमक उठे। तब तक सिंडिकेट के विरूद्ध जो लोग थे, उन्हें “इंडिकेट” के नाम से बुलाया जाने लगा था। दूसरे दिन के समाचारपत्रों में समाचार प्रकाशित हुआ कि श्री गिरि का विजय समाचार प्रकाशित होते ही उनकी पत्नी श्रीमती सरस्वती गिरि ने श्रीमती इंदिरा गांधी को कसकर आलिंगन किया था। इससे रहा—सहा संदेह भी मिट गया कि विपक्ष के उम्मीदवार को जिताने में श्रीमती गांधी का हाथ था या नहीं।

दल के उम्मीदवार को जिताने के लिए दूसरे दलों के सदस्यों को तोड़कर उनसे मत प्राप्त करने का प्रयत्न इसके पहले भी कई बार हुआ था। पर दल में ही फूट डालकर अपने ही दल के उम्मीदवार को हराने की यह घटना आधुनिक भारतीय इतिहास में बिलकुल नयी थी। इस कदम के समर्थन में यह आरोप लगाया जा रहा था कि कांग्रेस के अध्यक्ष श्री निजलिंगप्पा ने जनसंघ के दो नेताओं से बातचीत की। पर यह कभी भी स्पष्ट नहीं हुआ कि ये नेता कौन थे। श्री निजलिंगप्पा ने आरोप को बेबुनियाद भी बताया था। पर यदि बातचीत की भी हो तो वह अपने दल के उम्मीदवार को जिताने के लिए थी। पर ऐसा आरोप लगाने वालों ने प्रत्यक्ष में अपने दल के उम्मीदवार को हराने के लिए विपक्षी कम्युनिस्ट दल के साथ हाथ मिलाया था। विजय के वातावरण में इस सच्चाई की अधिक चर्चा नहीं हुई की विपक्षियों से हाथ मिलाने का जो आरोप उन्होंने लगाया था, वही काम उन्होंने भी किया था। श्री गिरि राष्ट्रपति बने और देश की राजनीति में एक नया परिच्छेद लिखा जाने लगा।

कांग्रेस का विभाजन

अब यह विशेष मतभेद की बात नहीं रह गई हैं कि राष्ट्रपति के चुनाव के संदर्भ में श्रीमती इंदिरा गांधी का व्यवहार दल के अनुशासन के विरूद्ध था उस काल में भी इस चर्चा की शुरुआत तुरंत हो गई कि उनके विरूद्ध अनुशासन की कार्रवाई की जाए। श्री मोरारजी देसाई जी की राय थी कि कार्रवाई तुरंत की जाए। पर श्री कामराज, श्री अतुल्य घोष, श्री. स. का. पाटिल जैसे सिंडिकेट के नेताओं को इस प्रकार का कदम उठाने का साहस नहीं हो रहा था। चर्चा का लम्बा दौर शुरू हुआ। कुछ लेखकों ने इसका निष्कर्ष यह निकाला है कि इससे सिंडिकेट के नेताओं की मानसिक दुर्बलता प्रगट हुई है। पर मेरा निष्कर्ष कुछ और है। ये लोग कैसे भी हों, तो भी कांग्रेस संगठन में ही बड़े हुए थे। संगठन के संबंध में उनके मन में विशेष प्रकार का अपनापन था। उनके मन में यह डर समाया हुआ था कि प्रधानमंत्री जैसे व्यक्ति पर अनुशासन की कार्रवाई करने का परिणाम संगठन टूटने में हो सकता है। इसी प्रकार का भय पहले सरदार पटेल तथा श्री पुरुषोत्तमदास टंडन के व्यवहार से व्यक्त हो चुका था। अन्त में अनुशासन की कार्रवाई हुई और दल का विभाजन भी हो गया। कुछ लोगों की धारणा यह थी कि यदि प्रारंभ में ही श्रीमती गांधी के विरूद्ध अनुशासन की कार्रवाई हो जाती तो शायद देश की तस्वीर कुछ अलग बनती। कांग्रेस नेतृत्व की ढिलाई और अनिश्चयात्मक वृत्ति के कारण श्रीमती गांधी को जो शक्ति मिलती गई वह शायद न मिली होती। इस बात के समर्थन में एक उदाहरण दिया जाता हैं। किसी भवन में आग लग जाय तो आग से भवन की वस्तुओं को बचाने का प्रयत्न करने के बजाय इस बात की ओर तुरंत और अधिक ध्यान देने की आवश्यकता होती है कि आग अधिक फैलने न पाये। इसके लिए जिस भाग में आग लगी हो उस भाग का शेष आग से सम्बन्ध तोड़ना पहला काम होता है। पर आम आदमी का प्रयत्न अपने घर की कीमती चीजों को बचाने का होता है। अधिकांश कीमती चीजें तो बच ही नहीं पाती। आग अधिक फैलती जाती है। कहना पड़ता है कि संगठन को टूटने से बचाने के प्रयत्न में श्री कामराज आदि का व्यवहार भी किसी साधारण व्यक्ति की तरह ही हुआ।

ठीक इसके विपरीत श्रीमती इंदिरा गांधी का व्यवहार था। वे कांग्रेस के बड़े नेता पं. जवाहरलाल नेहरू की पुत्री थी और उन्हीं के बल पर कांग्रेस की अध्यक्ष भी बन चुकी थी। पर संगठन के कार्यकर्ता के रूप में उनका विकास नहीं हुआ था। अत: श्री कामराज आदि के मन में संगठन के प्रति जो अपनापन था, ममता की जो भावना थी, वह उनके मन को छू भी नहीं सकी थी। कांग्रेस संगठन के वरिष्ठ नेता अनुशासन की कार्रवाई की चर्चा ही करते रहे और श्रीमती गांधी ने साहस के साथ एक के बाद एक कदम उठाना शुरू कर दिया। इसका उन्होंने कभी विचार ही नहीं किया कि संगठन पर अथवा देश पर उसका क्या परिणाम होगा।

फरीदाबाद कांग्रेस अधिवेशन के बाद दिल्ली के मावलंकर सभा भवन में हुई कांग्रेस महासमिति की एक बैठक में भूतपूर्व राजाओं के प्रिविपर्स बंद करने का निश्चय किसी अन्य प्रस्ताव में अचानक एक संशोधन प्रस्तुत कर करा लिया गया था। उस समय श्री निजलिंगप्पा कहीं गए थे और उनकी बजाय कोई और अध्यक्षता कर रहा था। इस संशोधन की पूर्वसूचना नहीं थी और पुराने कांग्रेसजनों को लगता था कि यह संशोधन सरकार स्वीकार नहीं करना चाहिए क्योंकि वह शांति के साथ रियासतों या विलीनीकरण कराते समय सरदार पटेल ने भूतपूर्व राजाओं को जो वचन दिया था, उसके विपरीत था और यह आरोप भी हो सकता था कि सरकार राजाओं के साथ विश्वासघात कर रही हैं। वैसे भी प्रिवीपर्स की रकम कुल मिलाकर अधिक नहीं थी। साल में पांच–छह करोड़ ही बनती थी, और वह भी धीरे–धीरे और कम हो रही थी। क्योंकि सरदार पटेल द्वारा दिये आश्वासन के अनुसार भी किसी भूतपूर्व राजा को जितनी तनख्वाह मिलती थी उसका उत्तराधिकारी उतनी ही तनख्वाह पाने का हकदार नहीं बनता था। वह काफी कम हो जाती थी। पर उक्त संशोधन 'तरुण तुर्क' मोहन धारिया ने प्रस्तुत किया था और उसके पास होने पर कहा गया था कि यह बहुत बड़ा क्रांतिकारी कदम उठाया गया है। कुछ समय बाद श्रीमती गांधी ने भी यह घोषित कर दिया कि सरकार कांग्रेस महासमिति के उस निश्चय को स्वीकार कर रही है।

पर श्री निजलिंगप्पा के कांग्रेस अध्यक्ष बनने के बाद चर्चा का मुख्य विषय था बैंकों का राष्ट्रीयकरण हो अथवा उन पर सामाजिक नियंत्रण हो। प्रगतिशील कहलाने वाले कांग्रेस के तरुण तुर्कों की तथा कम्युनिस्टों की मांग थी कि उनका राष्ट्रीयकरण होना ही चाहिए। वित्तमंत्री श्री मोरारजी देसाई ने अपना यह विचार कई बार प्रगट किया था कि पहले सामाजिक नियंत्रण की प्रक्रिया अपनानी चाहिए और उससे यदि उद्दिष्ट सिद्ध न हो तो फिर राष्ट्रीयकरण करना चाहिए। तब तक यह स्पष्ट नहीं हुआ था कि इस संबंध में प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी की राय क्या है। पर श्री गिरि के राष्ट्रपति बनने के बाद एक दिन अचानक समाचार मिला कि प्रधानमंत्री की सलाह के अनुसार श्री मोरारजी देसाई के पास से वित्त विभाग हटा लिया गया है और देश की प्रमुख चौदह बैंकों का राष्ट्रीयकरण किया गया है। कुछ ही समय बाद दूसरा समाचार आया। श्री मोरारजी देसाई ने उपप्रधानमंत्री पद से भी त्यागपत्र दे दिया है। राष्ट्रपति पद के लिए संजीव रेड्डी का समर्थन मंत्रिमण्डल में से मोरारजी देसाई ने जितना किया उतना ही अथवा उससे कुछ अधिक ही श्री यशवंतराव चव्हाण ने किया था। अत: यह भी समाचार फैला कि वे भी त्यागपत्र दे रहे हैं। हम राजधानी में काम करने वाले पत्रकार समाचारों की खोज में इधर से उधर और उधर से इधर लगातार दौड़ रहे थे। उस समय श्री निजलिंगप्पा जनपथ पर एक बंगले में रहते थे। श्री मोरारजी देसाई, श्री यशवंतराव चव्हाण, श्री कामराज आदि चर्चा के लिए वहां आये थे। वे जब लौट रहे थे, हममें से एक पत्रकार ने श्री चव्हाण से सीधा सवाल किया, "क्या आप भी त्यागपत्र देने वाले हैं?" जिस ठसक के साथ श्री चव्हाण ने उत्तर दिया वह मुझे सदा याद रहेगा। उन्होंने कहा था, "जी नहीं, बिलकुल नहीं"

कह नहीं सकता कि श्री यशवंतराव चव्हाण त्यागपत्र देंगे, यह खबर कैसे फैली। बंगलौर में राष्ट्रपति पद के उम्मीदवार के सम्बन्ध में श्री यशवंतराव चव्हाण ने जो भूमिका अपनायी थी वह श्रीमती गांधी द्वारा अपनायी गई भूमिका के विरूद्ध थी। कुछ क्षेत्रों में यह भी कहा गया कि श्रीमती गांधी के स्थान पर उन्हें प्रधानमंत्री बनाने का आश्वासन दिया गया था। अत: उन्होंने संजीव रेड्डी का समर्थन किया था। इस किंवदंती पर मेरा विश्वास नहीं है। श्री यशवंतराव चव्हाण की प्रकृति साहस भरे निर्णय लेने की कभी नहीं रही। पर इसका अर्थ यह नहीं कि उन्हें प्रधानमंत्री पद की चाह नहीं थी। बिना विशेष खतरा उठाए वह मिल जाय तो उसे वे अवश्य चाहते थे। शायद इसीलिए बंगलौर में कांग्रेस संसदीय बोर्ड की बैठक में संजीव रेड्डी के पक्ष में मतदान करने के बाद मराठीभाषी संसद सदस्यों की दो–चार बैठकें लेने के अतिरिक्त राष्ट्रपति पद के निर्वाचन में उन्होंने कुछ विशेष काम किया ही नहीं। श्री मोरारजी से वित्त विभाग छीनकर उन्हें अपमानित कर श्रीमती गांधी ने उन पर अन्याय किया, जिसके परिणामस्वरूप उन्होंने उपप्रधानमंत्री पद से त्यागपत्र दे दिया। संभवत: यही कारण था कि यह सब साफ दिखाई देने पर भी श्री चव्हाण अपना मंत्रीपद छोड़ने का खतरा उठा नहीं सके।

श्रीमती इंदिरा गांधी ने भी कोई खतरा न उठाने की श्री यशवंतराव चव्हाण के स्वभाव की कमजोरी पहचान ली थी। उन दिनों महाराष्ट्र के अनेक नेता श्रीमती गांधी से मिलने आया करते थे। श्री वसंत दादा पाटिल भी कई बार आये। श्रीमती गांधी से मिलकर आने के बाद श्री वसंतदादा पाटिल ने ही नीचे लिखी घटना हमें बतायी थी। उन दिनों बातचीत करते समय श्रीमती गांधी श्री यशवंतराव चव्हाण के विरूद्ध काफी कुछ कहा करती थी। श्री पाटिल ने उन्हें पूछा, श्री यशवंतराव चव्हाण पर आप अधिक नाराज दिखाई देती हैं। पर आपने कदम श्री मोरारजी देसाई विरूद्ध उठाया, यह कैसे? इस पर श्रीमती गांधी ने कहा, 'मैंने श्री मोरारजी के पास से केवल वित्त विभाग हटा लिया था। उन्हें उपपंतप्रधान पद को छुआ तक नहीं था। पर वे स्वाभिमानी हैं। मैं जानती थी कि वित्त विभाग हटा लेने पर वे उपप्रधानमंत्री पद पर भी नहीं रहेंगे। पर श्री चव्हाण के पास से मैं यदि उनका विभाग हटा भी लेती तो भी कुछ विशेष फर्क न होता। वे वैसे ही चिपके रहते। इसीलिए उनके सम्बन्ध में मैने अभी कुछ नहीं किया।' आगे चलकर हुआ भी वही। पर उसकी चर्चा आगे होगी।

त्यागपत्र न देने के कारण यह स्पष्ट हो गया था कि श्री यशवंतराव चव्हाण, श्री कामराज, श्री मोरारजी भाई आदि के साथ नहीं है। पर उस समय श्रीमती गांधी की ओर भी वे नहीं झुके थे। उस समय की उनकी भूमिका का मजाक उड़ाते हुए कई पत्रों ने लिखा कि वे बीच की दीवार पर बैठे है। इस प्रकार के कार्टून भी प्रकाशित हुए कि वे बीच की दीवार पर (अंग्रेजी शब्द फेंस) बैठे हुए है। उस समय उनके व्यवहार का अर्थ यह लगाया जा रहा था कि वे किसी भी समय किसी ओर झुक सकते हैं। पर विचार की दृष्टि से मुझे उनकी नीति उस समय ठीक प्रतीत हो रही थी। मैं इलाहाबाद का ही

रहनेवाला था। अत: श्रीमती गांधी का स्वभाव और उनके अनेक गुणों की और व्यवहार की मुझे बचपन से ही जानकारी थी। राजनीति में भी उनके जो कदम उठे थे, उन्हें मैने बहुत ही निकट से देखा था। अत: उनके बारे में मेरे मन मे कसी प्रकार के आदर की भावना नहीं थी। पर उसी प्रकार सिंडिकेट में जो लोग है, उनके बारे में भी मुझमें कोई अपनापन नहीं था। मेरे मन पर यह छाप पड़ी थी कि यह वर्ग षड्यंत्रकारी है। इसे देश के भले–बुरे से कोई लेना–देना नहीं है। अर्थात इसमें मैं श्री मोरारजी देसाई को अपवाद समझता था। वे उस समय सिंडिकेट के साथ थे, पर सिंडिकेट में नहीं थे। सिंडिकेट के नेताओं ने ही उन्हें प्रधानमंत्री बनने नहीं दिया था। सिंडिकेट में श्री कामराज और उनके बाद श्री निजलिंगप्पा के सम्बन्ध में भी मेरे मन में कुछ आदर था। पर कुल मिलाकर सिंडिकेट की ओर मैं तिरस्कार की ही दृष्टि से देखता था। इसलिए श्री चव्हाण ने जो रूख अपनाया था वह मुझे ठीक लगता था। वे बीच की दीवार पर बैठे है इस बात को लेकर मैंने उनकी कभी आलोचना नहीं की।

उस समय कांग्रेस तीन गुटों में बंट गई थी। एक गुट प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी का था, दूसरा गुट उन पर अनुशासन की कार्रवाई करनी चाहिए ऐसा कहने वाला संगठनवादी का था और तीसरा गुट था किसी भी ओर न झुका हुआ श्री यशवंतराव चव्हाण का। उस समय श्री यशवंतराव चव्हाण अखिल भारतीय नेता बन चुके थे। पर उनकी जड़े महाराष्ट्र में ही थीं। १९६५ के भारत–पाक युद्ध में विजय के बाद उस समय के रक्षामंत्री के रूप में उत्तर प्रदेश की उनकी सार्वजनिक सभाओं में लाख–लाख, दो–दो लाख लोगों की उपस्थिति मैंने देखी थी। उस समय उनकी जो अखिल भारतीय प्रतिमा बनी थी वह बाद में टीक नहीं सकी। महाराष्ट्र के बाहर उनके अनेक सहयोगियों की यही शिकायत थी कि वे महाराष्ट्र के बाहर कुछ देखते ही नहीं। महीने में कम से कम वे एक–दो बार कराड (उनका निर्वाचन क्षेत्र और निवास स्थान) जाते ही हैं। राजनीतिक नेता के नाते उन्हें यह देखना आवश्यक था कि देश के–कांग्रेस के जीवन में जो प्रबल मंथन हो रहा है उसमें उनके द्वारा अपनायी गयी भूमिका कार्यकर्ताओं को कितनी पसंद आयी है। यह बताने की भी आवश्यकता थी कि उनकी अपनी निश्चित भूमिका क्या है? इसी में से यह विचार निकला कि बम्बई में कार्यकर्ताओं का एक शिबिर आयोजित किया जाय। सितम्बर के महीने में बम्बई के पाटकर हॉल में यह शिबिर हुआ। तब तक की चव्हाण गृहमंत्री थे और उस रूप में कहीं भी जाने आने के लिए वायुसेना के हवाई जहाज का उपयोग कर सकते थे। वायुयान में मंत्री के लिए अलग छोटा सा कमरा भी होता था। मैं भी उनके साथ बम्बई का शिविर देखने गया। आगे की घटना मैं यह स्पष्ट करने के लिए लिख रहा हूं कि श्रीमती गांधी के सम्बन्ध में उनके मन में किस प्रकार के विचार थे।

श्री यशवंतराव चव्हाण यह जानते थे कि श्रीमती गांधी के सम्बन्ध में मेरे मन मे विशेष आदर नहीं है। इस विषय पर मेरी उनके साथ कई बार बात भी हुई थी। हवाई

जहाज जब बम्बई की ओर बढ़ रहा था, श्री चव्हाण ने मुझे अपने कमरे में बुलाया और कुछ चर्चा चली। मैंने अपनी राय स्पष्ट रूप से बता दि की श्रीमती गांधी जिस प्रकार के कदम उठा रही है, वे देश के लिए बहुत ही घातक सिद्ध होंगे। उस समय श्री चव्हाण के मुंह से निकला एक वाक्य मेरे अंत:पटल पर अंकित हो गया। उन्होंने कहा, "देखिये, इंदूरकर जी यदि घर की कोई स्त्री अपनी आबरू खुली करने लगे तो उसे घर के दूसरों को ढांकना ही पड़ता है।" उनके इस वाक्य में अनुशासन की कार्रवाई करने की जो चर्चा चल पड़ी थी उसके प्रति तो उनकी असहमति व्यक्त हो ही रही थी, पर साथ ही उन्होंने श्रीमती इंदिरा गांधी की तुलना उस स्त्री के साथ की थी जिसे अपनी आबरू खुली करने में कोई हिचक नहीं होती।

राष्ट्रपति पद के चुनाव के संदर्भ में मुख्य संघर्ष इंडिकेट और सिंडिकेट में ही हुआ था, पर उस संघर्ष को समाजवादी सिद्धांतों का मुल्लमा चढ़ाया गया था। अत: बम्बई के शिविर में समाजवाद पर चर्चा होना स्वाभाविक था। समाजवाद की परिभाषा पर काफी चर्चा हुई और उसमें मजाक भी काफी हुआ। पर उसमें भी लोगों की भावनाएं प्रगट हो रही थीं। एक ने पूछा – समाजवाद और सत्तावाद ये एक–दूसरे के पर्यायवाची शब्द है क्या? किसी ने कहा, सम्यक अर्थात बहुत "माजना" ही समाजवाद है क्या? मराठी में "माज" शब्द का अर्थ उन्मत्त होना भी होता है। मंच पर से नहीं, पर श्रोताओं में से एक आवाज आयी। समाज के खर्च पर "माजना" अर्थात मस्ती के साथ जीना इसी को आज समाजवाद कहा जाता है। कांग्रेस द्वारा स्वीकृत समाजवाद की कोई निश्चित परिभाषा नहीं है। अत: उस शब्द की परिभाषा करने के जो प्रयत्न शिबिर में चल रहे थे उसमे श्री यशवंतराव चव्हाण ने भी अपना योगदान दिया। गांवों के पुराने घरों मे अनाज से भरे मटकों की जो थापी होती है उसे मराठी मे उतरंड कहा जाता है। श्री चव्हाण ने कहा, "उतरंड में सबसे नीचे के मटके का मुंह खुला करने को ही मैं समाजवाद समझता हूं।" इसमें जहां तक समाज के सबसे नीचे के वर्ग ही स्थिति सुधारने की भावना है उस पर किसी प्रकार का आक्षेप नहीं किया जा सकता। पर सबसे नीचे के उतरंड की जो उपमा उन्होंने दी थी, वह मुझे उस समय भी खली थी। मन में उसी समय विचार आया। उतरंड को (मटकों की थापी), उसमें अनाज भरा होने के कारण, उस घर की समृद्धि का प्रतीक समझते हैं। उतरंड का अर्थ है एक पर एक अनाज से भरे मटके। सबसे नीचे के मटके का मुंह खुला करने का अर्थ है सबको अलग–अलग रखना होगा। मटकों के बिखरने के कारण उसमें अनाज का संग्रह नहीं किया जा सकेगा, जिस घर में अनाज से भरे मटकों की थापी नहीं है वह समृद्ध भी नहीं रह सकता।

उस शिबिर में श्री यशवंतराव चव्हाण द्वारा अपनायी गई भूमिका का पूरी तरह स्वागत हुआ। उसका समर्थन किया गया। शिबिर में विचारों की जो धारा बह रही थी, उसके विरूद्ध केवल दो ही व्यक्ति बोले, वे थे, श्री तुलसीदास जाधव और श्री रघुनाथराव खाडिलकर। उपस्थित कांग्रेस कार्यकर्ता श्री तुलसीदास जाधव को बोलने ही नहीं देना

चाहते थे। उनके भाषण के बीच काफी टोकाटाकी हुई। पर श्री यशवंतराव चव्हाण द्वारा अनुरोध किये जाने पर श्री तुलसीदास जाधव को बोलने दिया गया। श्री खाडिलकर ने अपने भाषण में मराठी समाचारपत्रों के संपादकों पर आरोप लगाया था कि वे पैसा लेकर लिखते हैं। 'महाराष्ट्र टाइम्स' के संपादक श्री गोविंदराव तलवलकर ने तब तक श्री यशवंतराव चव्हाण द्वारा अपनायी भूमिका का ही समर्थन किया था। वे उस समय पाटकर हाल में मेरे पास ही बैठे थे। उन्हें ऐसा लगा कि यह उन्हीं पर हमला है। वे एकदम आवेश में आ गए और श्री खाडिलकर के भाषण के बीच ही जोर शोर से कहने लगे, "यह झूठ है, यह झूठ है।" मैंने उन्हें रोका और कहा, हम पत्रकार के रूप में यहां उपस्थित हैं। पत्रकार को सभा की कार्रवाई केवल देखनी और सुननी होती है। वह उसमें भाग नहीं ले सकता। कोई उसे गालियां दे तो भी उसे चुपचाप सुननी पड़ेगी। इस सम्बन्ध में पत्रकार को जो कुछ कहना है वह हम अपने कालमों में कह ही सकते हैं। श्री तलवलकर को मेरी बात समझ में आ गई और वे चुप हो गए। उसके बाद उन्होंने कहा भी कि यदि आज इंदूरकर जी ने रोका नहीं होता तो काई अप्रिय घटना हो जाती।

बम्बई के उस शिविर में श्री यशवंतराव चव्हाण ने एक विचार और प्रस्तुत किया था जो मुझे पसंद भी आया और याद भी रहा। कांग्रेस नेताओं में जो संघर्ष पैदा हुआ था उससे कांग्रेस के टूटने के चिन्ह दिखाई दे रहे थे। श्री चव्हाण ने दोनों गुटों से नम्रतापूर्वक अनुरोध करते हुए कहा था, हमारा संकल्प समाज के जीवन में परिवर्तन लाने का है। कांग्रेस संगठन उसका एक साधन है। समाज परिवर्तन, यह एक लड़ाई है और लड़ाई जीतने के लिए हथियार आवश्यक होता है। उसे तोड़कर लड़ाई जीती नहीं जा सकती। यह विचार उन्होंने बम्बई के शिविर में बहुत ही प्रभावी ढ़ंग से रखा। पर उस हथियार को तोड़ने में आगे चलकर उन्होंने भी हाथ बटाया वह क्यों और कैसे, उसका अपना एक अलग इतिहास है।

शिविर के बाद श्री यशवंतराव चव्हाण के साथ ही मैं पुना गया और पुना से कराड। राजनीतिक विवाद में उन्होंने एक विशेष भूमिका अपनायी थी और वे कराड के ही रहने वाले थे, अत: उन्हें मिलने के लिए आने वालों का वहां तांता लगा था। इसमें आश्चर्य की कोई बात भी नहीं थी। मैं केवल पत्रकार था। कराड में वैसे मेरा कोई सम्बन्ध भी नहीं था। पर मैं 'महाराष्ट्र टाइम्स' का दिल्ली प्रतिनिधि होने के कारण मेरा वहां के समाचारपत्र पाठकों से अच्छा परिचय था। यह ज्ञात होने पर कि मैं वहां आया हूं, सौ—दो सौ लोग मुझे भी मिलने आये। यह इसी बात का सबूत था क उन दिनों 'महाराष्ट्र टाइम्स' के माध्यम से जो विचार मैं प्रगट कर रहा था वे पाठकों को पसंद आ रहे है। उन लोगों से मिलकर मुझे प्रसन्नता हुई और मैंने कुछ गर्व का भी अनुभव किया।

लौटते समय अहमदाबाद में बढ़े पैमाने पर साम्प्रदायिक दंगा होने की खबर मिली। श्री चव्हाण ने गृहमंत्री होने के कारण अहमदाबाद के रास्ते दिल्ली लौटने का निश्चय किया। मैं भी उनके साथ था। उस समय गुजरात के मुख्यमंत्री श्री हितेन्द्र देसाई थे। उनका

स्पष्ट झुकाव श्री मोरारजी देसाई की ओर था। श्री यशवंतराव चव्हाण के साथ होने के कारण अहमदाबाद के कुछ पत्रकारों के साथ मैं भी कर्फ्यू लगे क्षेत्र में घूम सका। सम्पत्ति का काफी विध्वंस हुआ देखा। कई जगह लगी आग तो तब तक बुझी भी नहीं थी। दंगा कैसे हुआ इस सम्बन्ध में कई कारण बताये जा रहे थे। पर मैंने जो पूछताछ की उससे मुझे लगा कि इस दंगे का मूल कारण आर्थिक था।

देश के दुर्भाग्यपूर्ण विभाजन के बाद सिंधी हिंदू निर्वासित होकर भारत आये। उनमें से काफी संख्या में गुजरात में बस गए। अहमदाबाद को अपना निवास स्थान बनाने वाले भी काफी संख्या में थे। अहमदाबाद में कपड़े की जो मिले हैं उनमें से अधिकांश पर गुजराती हिंदू सेठों का स्वामित्व था। पर अहमदाबाद में कपड़े का व्यापार बोहरा जाति के मुसलमानों के हाथ में था। सिंध में अपना सब कुछ लुटता हुआ देखकर जो हिन्दू भारत आये, उनका मन मुस्लिम समाज के विषय में काफी कटुता से भरा था। पहले उन्होंने अपनी उपजीविका के लिए कपड़े की फुटकर बिक्री का व्यवसाय शुरू किया। पहले वे पटरियों पर बैठते थे, अत: उन पर दुकान का किराया और नौकर—चाकर आदि का खर्च नहीं था। अत: वे दुकानों की तुलना में कम कीमत पर कपड़ा बेचने लगे। उनका धंधा बढ़ता गया और बोहरा मुसलमानों का धंधा गिरने लगा। इन बोहरा व्यापारियों को इस बात पर स्वभावत: कुछ रंज था कि ये सिंधी हिन्दू आने के कारण उनका व्यापार कम हो गया है। इस बीच सिंधी व्यापारियों में सिंधी मार्केट नाम से अपना एक अलग बाजार भी खड़ा कर लिया था। कहीं थोड़ी सी कहा—सुनी हो गई और उसमें सिंधी मार्केट को आग लगा दी गई। सिंधी व्यापारियों की यह धारणा बनी कि मुस्लिम व्यापारियों ने ही यह आग लगायी होगी। फिर क्या था। वर्षों से जो कड़वाहट इकट्ठी हुई थी वह उफनकर बाहर आ गई। उनका विवेक समाप्त हो गया और उनका क्रोध बोहरा मुसलमानों तक ही सीमित नहीं रहा। बोहरा मुस्लिम समाज काफी धनी था, अत: उसे विशेष हानि नहीं पहुंच सकी। पर 'ठोकर लगी पहाड़ से, तोड़े जीने का पत्थर' इस कहावत के अनुसार आमतौर पर मजदूरी कर पेट भरने वाले गरीब मुसलमानों पर उन्होंने अपना क्रोध उतारा। ऐसा नहीं कहा जा सकता कि औरों ने उसमें हाथ नहीं बंटाया। पर मूलत: यह संघर्ष आर्थिक कारणों से शुरू हुआ था।

आठ अक्टूबर, १९६९ के प्रकाशित पत्रों में एक सनसनीखेज खबर थी। श्रीमती इंदिरा गांधी के गुट में कांग्रेस कार्यकारिणी के जो सदस्य थे उन्होंने कांग्रेस के अध्यक्ष श्री निजलिंगप्पा को एक बहुत ही बड़ी चिट्ठी लिखी थी। उन दिनों श्री सी. सुब्रमण्यम तामिलनाडु प्रदेश कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष थे और उसी पद की हैसियत से वे कांग्रेस कार्यकारिणी के भी सदस्य थे। तामिलनाडु की कांग्रेस पर उन दिनों श्री कामराज का नियंत्रण था और श्री सुब्रह्मण्यम को उस पद से हटना पड़ा था। कांग्रेस संविधान के अनुसार श्री सी. सुम्रह्मण्यम कांग्रेस कार्यकारिणी के सदस्य नहीं रह गए थे। पर तब तक अध्यक्ष श्री निजलिंगप्पा ने उन्हें सूचित नहीं किया था। जो पत्र लिखा गया था उसमें

इस प्रकार की सूचना देने वाला पत्र लिखने पर कांग्रेस अध्यक्ष के प्रति कड़ा विरोध प्रगट किया था। इस पत्र पर श्रीमती इंदिरा गांधी के गुट में जो पहले से थे, उन श्री जगजीवन राम, श्री फकरुद्दीन अली अहमद आदि नेताओं के तो हस्ताक्षर थे ही, उस पर श्री यशवंतराव चव्हाण का भी हस्ताक्षर था। इसका स्पष्ट अर्थ यह था कि श्री यशवंतराव चव्हाण ने अपनी अब तक की तटस्थता की अथवा बीच की दीवार पर बैठने की भूमिका छोड़ दी है और वे श्रीमती इंदिरा गांधी के गुट में शामिल हो गए हैं। हम पत्रकारों की समझ में कोई उचित कारण नहीं आ रहा था जिससे उनकी इस अचानक भूमिका परिवर्तन का ईमानदारी से समर्थन किया जा सके। उसी दिन दिल्ली के प्रेस एसोसिएशन द्वारा श्री चव्हाण से मिलने के लिए चायपान का कार्यक्रम पहले से आयोजित था। उसमें इस विषय की चर्चा होना स्वाभाविक था।

उस दिन मैंने श्री यशवंतराव चव्हाण से बहुत ही तीखे प्रश्न पूछे। भूमिका में परिवर्तन के संबंध में श्री चव्हाण का स्पष्टीकरण केवल इतना ही था कि श्री सी. सुब्रह्मण्याम की कार्यकारिणी की सदस्यता रद्द करने का कांग्रेस अध्यक्ष का निर्णय बहुत गलत था। वह मुझे पसंद नहीं आया। इसलिए मुझे यह भूमिका अपनानी पड़ी। इस बीच के समय में हममें से कुछ पत्रकारों ने काफी जानकारी प्राप्त की थी। उसके बल पर मैंने पूछा, कांग्रेस के अध्यक्ष श्री निजलिंगप्पा से आपकी बोलचाल तो बंद नहीं थी। उस संयुक्त पत्र पर हस्ताक्षर करने से पहले कांग्रेस अध्यक्ष से आप टेलीफोन पर पूछ सकते थे कि क्या आपने सचमुच ऐसा पत्र लिखा है? आपने पूछा क्यों नहीं? मैंने यह बहुत ही कम देखा है कि श्री चव्हाण को आया क्रोध उनके चेहरे पर भी प्रगट हुआ हो। पर उस समय वे अपना क्रोध संभाल नहीं सके और उन्होंने अपनी आवाज चढ़ाकर कहा, 'वह आपको अच्छी तरह मालूम है।'

मैं इस पर कुछ और पूछने वाला था। पर मेरे कुछ पत्रकार मित्रों ने मुझे रोका। उन्हें मालूम था कि श्री चव्हाण के साथ मेरे काफी नजदीकी संबंध हैं। उक्त चायपान का कार्यक्रम आयोजित करने में मेरा भी काफी हाथ था। मेरे पत्रकार मित्रों ने मुझसे कहा, यह उचित नहीं है कि तुम ही उन्हें गुस्सा दिलाने वाले सवाल पूछो।

इस सम्बन्ध में हमें कुछ जानकारी मिली थी। कांग्रेस संगठन के कई मंत्रियों में से एक मंत्री थे श्री शंकरदयाल शर्मा। उन्होंने ही कांग्रेस अध्यक्ष को सुझाया था कि इंदिरा गुट के श्री सी. सुब्रह्मण्यम तमिलनाडु कांग्रेस के अध्यक्ष के नाते ही कार्यकारिणी में थे। वे अब अध्यक्ष न होने के कारण उनकी सदस्यता अपने आप समाप्त हो जाती है। उन्हें वैसा सूचित कर दिया जाय। इससे कार्यकारिणी में इंदिरा गांधी के समर्थकों की संख्या भी कम हो जायेगी। श्री निजलिंगप्पा ने मुंह से तो "हां" कह दिया। पर इस संबंध में उनका अपने मन में कोई निर्णय नहीं हुआ था। श्री शंकरदयाल शर्मा ने उस आशय का पत्र तैयार किया। टाईप कराकर हस्ताक्षर के लिए कांग्रेस अध्यक्ष के पास दिया। श्री निजलिंगप्पा के पत्र रख लिया और कहा, बाद में मैं हस्ताक्षर कर भेज दूंगा। उनके मन

में श्री शंकरदयाल शर्मा के सम्बन्ध में कुछ संदेह थे। इधर उस पत्र की एक प्रतिलिपि श्रीमती गांधी के पास पहुंच गई। प्रत्यक्ष में पत्र भेजा नहीं गया, पर वह भेजा जा चुका है इस धारणा से पिछली रात आक्रमण की योजना बनायी गई थी।

उन दिनों श्रीमती गांधी के शिविर से जो पत्र निवेदन, समाचार आदि निकलते थे, रात ग्यारह बजे के बाद ही उनका मुहूर्त होता था। जिस प्रकार उक्त पत्र प्रत्यक्ष में रवाना होने के पहले ही श्रीमती गांधी के पास पहुंच गया था। उसी प्रकार कांग्रेस कार्यालय से अन्य महत्वपूर्ण कागजात भी प्राप्त करने की पूरी व्यवस्था श्रीमती गांधी की ओर से की गई थी। कांग्रेस का विभाजन होने के बाद भी वह बहुत समय तक बनी हुई थी। इसके लिए कांग्रेस कार्यालय में वेतन लेकर काम करने वाले कर्मचारियों को तरह–तरह के प्रलोभन दिये गए थे। ईमानदारी के साथ जो कर्मचारी कांग्रेस कार्यालय में काम कर रहे थे, उनमें से ही कुल प्रमुख कर्मचारियों ने मुझे यह स्थिति बतायी थी। मुझसे उन्होंने यह अनुरोध भी किया था कि मैं कांग्रेस अध्यक्ष को बता दूं कि वे जिन पर अधिक विश्वास कर रहे हैं, वे ही विश्वासपात्र नहीं है। कांग्रेस अध्यक्ष के निजी सचिव श्री वी. के. कपूर के बारे में ही यह संदेह था। मैंने तो नहीं, पर किसी ने भी श्री वी. के. कपूर से सावधान रहने के लिए श्री निजलिंगप्पा को कहा भी था। पर उनका उस पर विश्वास न होने के कारण ही, अथवा अन्य कोई कारण हो, उन्होंने श्री वी. के. कपूर के सम्बन्ध में कोई कदम नहीं उठाया। श्री शंकर दयाल शर्मा को उनके कार्य का पुरस्कार मिलता ही गया। इस घटना के बाद वे तुरंत इंदिरा गुट में शामिल हो गए। बाद में वे कांग्रेस के अध्यक्ष, केन्द्रीय मंत्री, राज्यपाल आदि बनते ही रहे।

मेरे मन में यह जानने की काफी उत्सुकता थी कि यशवंतराव चव्हाण द्वारा अचानक भूमिका बदल देने का वास्तविक कारण क्या था? इसके निमित्त मेरा प्रयत्न बराबर जारी था। यह तो उम्मीद की ही नहीं जा सकती थी कि प्रत्यक्ष श्री चव्हाण को पूछने से सच्चाई ज्ञात हो जायेगी। श्री चव्हाण के साथ जिनके–जिनके निकट के सम्बन्ध थे, उन्हें तरह–तरह के प्रश्न पूछकर मैं उत्तर की खोज कर रहा था। अधिकांश का उत्तर यही था कि ठीक–ठीक कारण बताया नहीं जा सकता। एक दिन मैंने महाराष्ट्र के भूतपूर्व मुख्यमंत्री श्री वसंत नाईक से पूछा। राष्ट्रपति पद के लिए श्री संजीव रेड्डी का समर्थन करने का जो निर्णय हुआ था, उसे कार्यान्वित करने का काम महाराष्ट्र में श्री वसंतराव नाईक ने ही किया था। मेरा ख्याल था कि भूमिका में परिवर्तन करने से पहले श्री चव्हाण ने श्री नाईक के साथ कुछ चर्चा अवश्य की होगी। पर पूछने पर श्री नाईक ने कहा, 'पहले मुझे कुछ भी नहीं मालूम था। जिस दिन उनकी भूमिका में परिवर्तन होने की खबर समाचारपत्रों में छपी, उसी दिन सुबह उन्होंने मुझे टेलीफोन किया था। उन्होंने मुझे टेलीफोन पर ही बताया कि मैंने अब श्रीमती गांधी का समर्थन करने का निश्चय किया है। ठीक है न? इस पर मैंने कहा, जब आपने तय ही कर लिया है तो अब मैं क्या कहूं?'

श्री संजीव रेड्डी के मामले में श्री यशवंतराव चव्हाण का साथ देने वाले दूसरे नेता थे भूतपूर्व कृषि राज्यमंत्री श्री अण्णासाहब शिंदे। मैंने इस विषय की चर्चा उनसे कई बार चलायी। पर हर बार वे टालते रहे। किंतु एक दिन खुले मन से चर्चा के बीच वे कह गए, 'जिस दिन यह हुआ, मैं उन्हीं के घर था। हम कुछ बात कर रहे थे कि रात में लगभग दस बजने के समय प्रधानमंत्री के यहां से श्री चव्हाण को बुलाया गया। श्री चव्हाण ने कहा, कुछ गंभीर बात लगती है। रात का बुलावा उसी का चिन्ह है। मैंने श्री चव्हाण से कहा, "श्री संजीव रेड्डी के राष्ट्रपति पद के चुनाव हेतु मत प्राप्त करने के लिए मैंने काफी काम किया था अतः यह स्वाभाविक है कि प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी मुझ पर रूष्ट हों। मुझे मंत्रिमण्डल से हटाने की उनकी इच्छा हो तो आप उसे तुरंत स्वीकार कर लें। मुझे उसमें जरा भी बुरा नहीं लगेगा।" उसके बाद मैं घर लौटा।

दूसरे दिन काफी सुबह श्री यशवंतराव चव्हाण ने स्वयं टेलीफोन कर मुझे तुरंत घर बुलाया। मंत्री बनने के बाद खुद नम्बर घुमाकर किसी को बुलाने का शायद यह उनका पहला ही अवसर होगा। जाने पर उन्होंने मुझे बताया कि कल रात मैंने श्रीमती इंदिरा गांधी का समर्थन करने का निश्चय किया है। पर यह नहीं बताया कि प्रधानमंत्री के घर कल क्या बातें हुई और क्यों कर उन्हें वह निर्णय लेना पड़ा। इस पर चारों ओर से विचार करने के बाद मुझे दो ही बातें संभव दिखाई देती हैं। उक्त मुलाकात में श्रीमती इंदिरा गांधी ने श्री चव्हाण के सामने दो–टूक सवाल रखा होगा। "हमें आपकी यह तटस्थता की भूमिका मंजूर नहीं है। यदि आपको पूरी तरह हमारे साथ न रहना हो तो आप मंत्री भी नहीं रह सकते" सत्ता के इस या उस पद पर स्वाधीनता के प्रारंभ से ही श्री चव्हाण रहते आये थे। अतः श्री चव्हाण को यह लगा होगा कि वे बिना पद के नहीं रह सकते। अतः उन्होंने अपनी इच्छा के विरूद्ध श्रीमती इंदिरा गांधी का समर्थन करने का निर्णय किया होगा।

कुछ लोगों को लगता है कि इस विचारधारा में श्री चव्हाण के साथ न्याय नहीं हो रहा है। उन्होंने श्रीमती गांधी का समर्थन करने का निश्चय अनिच्छा से ही, पर महाराष्ट्र की कांग्रेस टूटने से बचाने के लिए किया। श्रीमती गांधी द्वारा बहकाये जाने के कारण हर प्रदेश में कांग्रेस का संगठन टूट गया था। श्री मोहन धारिया, श्री रघुनाथराव खाडिलकर, श्री तुलसीदास जाधव, श्री डी. आर. चव्हाण तथा श्री देवराव पाटिल आदि का सहारा लेकर महाराष्ट्र की कांग्रेस में भी फूट डालने का प्रयत्न हो ही रहा था। तब तक सफलता नहीं मिली थी। पर यह नहीं कहा जा सकता था कि वह मिलेगी ही नहीं। कम से कम महाराष्ट्र की कांग्रेस बचाने के लिए श्रीमती गांधी का समर्थन श्री चव्हाण का ईमानदारी के साथ एक प्रयत्न था। पर इस विचारधारा को मानने में एक बहुत बड़ी अड़चन है। यदि सचमुच श्रीमती गांधी का समर्थन करने के पीछे यही दृष्टिकोण था तो उसके संबंध में श्री चव्हाण ने अपने सहयोगियों से खुलकर चर्चा क्यों नहीं की। दूसरी बात यह कि इसमें श्री चव्हाण राजनीतिक दृष्टि से भी अदूरदर्शी साबित हुए। कांग्रेस न टूटने की दृष्टि से

श्री चव्हाण ने जो कदम उठाया, उसके कारण महाराष्ट्र में कुछ समय तो कांग्रेस नहीं टूटी। पर राजनीतिक घटनाओं को जो मोड़ मिलते गए उससे महाराष्ट्र में भी कांग्रेस के कई टुकड़े हो गए। इसके स्थान पर यदि श्री यशवंतराव चव्हाण मंत्री पद का मोह छोड़कर, "हथियार तोड़कर लड़ाई जीती नहीं जा सकती", अपनी इस भूमिका पर बने रहते तो हो सकता था कि कुछ और ही चित्र बनता।

श्री यशवंतराव चव्हाण ने जिस प्रकार अपनी भूमिका बदली, उसे लोगों ने "आत्म समर्पण" नाम दिया। उसे आत्मसमर्पण कहा जाए या न कहा जाए, पर वे श्रीमती गांधी का फिर से विश्वास भी नहीं प्राप्त कर सके। उक्त घटना के बाद श्री चव्हाण के व्यवहार में और बोलने में एक विशेष अंतर दिखाई देने लगा। खुले दिल से बात करने का उनका जो स्वभाव था वह कम हो गया। कुछ अकेले रहने की प्रवृत्ति बढ़ने लगी। श्री चव्हाण बहुत ही अच्छे वक्ता थे। मुद्दों की गुत्थियां एक–एक कर सुलझाने की उनकी प्रतिभा असाधारण थी। अपनी बात समझाने के लिए उन्हें आवाज में उतार–चढ़ाव नहीं लाना पड़ता था। इस घटना के बाद वे आवाज चढ़ाकर बोलने लगे। कहा जाता है कि मनुष्य का जब अपनी ही बात पर विश्वास नहीं होता, वह ऊंची आवाज में बोलता है। कहा नहीं जा सकता कि यही बात श्री चव्हाण के बारे में भी थी या नहीं।

श्री यशवंतराव चव्हाण और श्रीमती इंदिरा गांधी के बारे में कई घटनाएं आगे चलकर बतानी है। पर श्रीमती गांधी के संबंध में यह बात ध्यान में रखने लायक है कि वे उसे कभी नहीं भूलतीं, जिसने उनके विरूद्ध कभी भी कुछ किया हो। उनकी यह प्रवृत्ति आनुवांशिक थी। पं. नेहरू का भी यही स्वभाव था। पर उसे वे बाहर आने नहीं देते थे। श्री अण्णासाहब शिंदे मंत्रीपद स्वेच्छा से छोड़ने को तैयार थे। उन्होंने श्री यशवंतराव चव्हाण से वैसा कहा भी था। श्रीमती गांधी ने श्री शिंदे को मंत्रिमण्डल में तो बनाये रखा, पर उनके गुणों को कभी पुरस्कृत नहीं किया। मंत्रिमण्डल में श्री अण्णासाहब शिंदे जैसे इनेगिने लोग ही थे, जिन्हें अपने विभाग की पूरी जानकारी हो, जो अपने विभाग का प्रशासन बहुत ही अच्छी तरह चला सकते हों, और जो संसद में भी सरकारी बात प्रभावपूर्ण ढंग से रख सकते हों। श्री फकरूद्दीन अली अहमद और उनके बाद श्री जगजीवन राम कृषि तथा खाद्यमंत्री बने। पर श्री शिंदे ही राज्य मंत्रीपद से सब काम देखते थे। किन्तु उनकी पदापेन्नति कभी नहीं की गई। बल्कि उन्हीं के विभाग में बुद्धप्रिय मौर्य को राज्यमंत्री बनाया गया। उनके सम्बन्ध में कई कथाएं चल रही थीं। यह भी श्री शिंदे का अपमान ही था। मैंने एक बार उनसे वैसा कहा भी। उन्होंने उस समय तो कुछ नहीं कहा, पर बाद में पता चला कि उन्होंने उसके बाद त्यागपत्र भी दिया था। वह वापस लेने के लिए उन्हें बाध्य किया गया। श्री चव्हाण के प्रति वे वफादार थे। उन्हें कठिनाइयों डालने वाली कोई भूमिका वे नहीं ले सकते थे। कुशल राज्यमंत्री होने पर भी उन्हें निरंतर जिस मानसिक घुटन का अनुभव लेना पड़ा, मेरी जानकारी में वैसा अनुभव किसी दूसरे को नहीं मिला होगा।

निकाला जाय या न निकाला जाय, इस पर विचार करते–करते कांग्रेस कार्यकारिणी की एक बैठक में श्रीमती इंदिरा गांधी के विरूद्ध अनुशासन की कार्रवाई की गई। उन्हें कांग्रेस संगठन से निकाल दिया गया। उत्तर प्रदेश के श्री चन्द्रभानु गुप्त, राजस्थान के श्री मोहनलाल सुखाड़िया आदि कुछ मुख्यमंत्रियों ने उन्हें जितना बन सका, प्रयत्न किया। कई रातें बैठकें होती रहीं, जिसका मुख्य उद्देश्य था कि पिछला सब भुलकर सब इकट्ठे रहे और कांग्रेस एक ही बनायी रखी जाय। एक दिन कांग्रेस के अध्यक्ष श्री निजलिंगप्पा को श्रीमती गांधी की ओर से दोपहर के भोजन का निमंत्रण भी मिला। उन्होंने पत्रकारों को विस्तार से बताया कि भोजन में कौन–कौन से पदार्थ थे। पर परिस्थिति में सुधार के संबंध में वे कुछ नहीं कह सके। उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री श्री चन्द्रभानु गुप्त का तब तक झुकाव श्रीमती इंदिरा गांधी की ओर अधिक था। लेकिन उनका विकास कांग्रेस संगठन के एक कार्यकर्ता के रूप में होने के कारण वे अपने ही दल के उम्मीदवार को गिराने के श्रीमती इंदिरा गांधी के कार्य का समर्थन नहीं कर सकते थे। उनका सिंडीकेट के साथ किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं था। श्री कामराज के बारे में भी उन्हें कोई अपनापन नहीं था। श्री कामराज की शक्ल–सूरत को लक्ष्य कर वे कई बार उन्हें मजाक में यमराज कहा करते थे। श्रीमती गांधी का प्रधानमंत्री पद बना रहे, इस भूमिका से समझौता चाहने वाले सभी सहमत थे। पर अपनी कार्रवाई के लिए उन्हें कम से कम खेद प्रगट करना चाहिए, इतनी ही उनकी मांग थी। पर श्रीमती गांधी को उतनी भी मंजूर नहीं थी।

उन दिनों के समाचारपत्रों में इस आशय के काफी समाचार प्रकाशित हुए कि श्रीमती गांधी को कांग्रेस से निकालने का कांग्रेस कार्यकारिणी ने जो निर्णय किया था उसके विरूद्ध जनसाधारण में तूफान उठा था। दिल्ली के जंतर–मंतर रोड पर कांग्रेस का प्रधान कार्यालय था। अब वह जनता पार्टी का कार्यालय बन गया है। इस कार्यालय पर हुए कुछ प्रदर्शन मैंने भी देखे। एक प्रदर्शन में कांग्रेस के अध्यक्ष श्री निजलिंगप्पा को धक्कमधक्का भी किया गया। "हाय–हाय" के नारे तो उन्हें तथा अन्य नेताओं को लक्ष्य कर लगते ही थे। उस समय मुझे ऐसा लगा था कि श्रीमती गांधी के प्रति सही या गलत, आत्मीयता के कारण यह सब हो रहा है। फिर भी सभ्य और सुसंस्कृत मन पर उसका अच्छा असर नहीं पड़ता था। पर कुछ दिनों बाद महाराष्ट्र के मुख्यमंत्री श्री वसंतराव नाईक ने बताया कि ये प्रदर्शन किस प्रकार होते थे। उन्होंने कहा, श्री यशवंतराव चव्हाण ने भूमिका बदली और हम पूरी तरह श्रीमती गांधी की ओर झुक गये। होनेवाली बैठकों में मैं भी शामिल होने लगा। जिस दिन श्री निजलिंगप्पा के साथ धक्कमधक्का हुआ, उसके पहले दिन उसके आयोजन की जानकारी बैठक में ही हमें मिली थी। मुझे वह अच्छा नहीं लगा। मैंने कहा, जिन्हें हम किसी समय दल का अध्यक्ष कहा करते थे, उसके विरूद्ध इस प्रकार के प्रदर्शन करना उचित नहीं है। इस पर बैठक में उपस्थित श्रीमती सुभद्रा जोशी ने कहा "पर अब उसे रोक कैसे जा सकता है। उन्हें पैसे पहले ही दिये जा चुके हैं (They have already been paid)" इस बैठक में और कौन उपस्थित था यह मैंने पूछा नहीं और न श्री नाईक ने ही बताया था। उन दिनों श्रीमती सुभद्रा जोशी राष्ट्रीय

स्वयंसेवक संघ और साम्प्रदायिकता विरोधी मोर्चे के नेता के नाम से काफी प्रसिद्ध थीं और समझ जाता था कि वे श्रीमती गांधी के काफी निकट हैं।

इसके बाद कांग्रेस का विभाजन हुआ। यह किसी ने नहीं कहा कि हम कांग्रेस का विभाजन कर रहे हैं। श्री निजलिंगप्पा तथा कामराज गुट ने श्रीमती गांधी और उनके सहयोगियों को कांग्रेस से निकाला और उन्हें श्रीमती गांधी की कांग्रेस ने दोनों गुटों का दावा एक ही था, उन्हीं की कांग्रेस सच्ची कांग्रेस है। श्री निजलिंगप्पा आदि का केन्द्र के तथा कई राज्यों के कांग्रेस कार्यालयों पर नियंत्रण था, तो श्रीमती गांधी के हाथ में केन्द्र की सरकार थी। गुजरात छोड़कर दूसरे कई राज्यों की कांग्रेस सरकारें भी थीं। उस समय उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री पद पर श्री चन्द्रभानु गुप्त थे। वे श्री निजलिंगप्पा के साथ थे। पर उत्तर प्रदेश का कांग्रेस संगठन, संसद और विधानमण्डलों के सदस्य सभी स्तरों पर बंट गए थे। श्रीमती गांधी का साथ श्री कमलापति त्रिपाठी तथा हेमवती नंदन बहुगुणा दे रहे थे।

चुनाव के पूर्व

सरकार जिस दल की होती है उस दल के अधिवेशनों और बैठकों के लिए सरकार तरह–तरह की सुविधाएं देती है। कांग्रेस का विभाजन होने के पूर्व भी वे मिलती थीं और विपक्षी सदस्य उस संबंध में शिकायतें भी किया करते थे। पर तब तक यह नहीं देखा गया था कि पुलिस कांग्रेस की बैठकों और अधिवेशनों के लिए स्वयंसेवकों का भी काम करें। पं. नेहरू के कार्यकाल में भी सार्वजनिक सभाओं में गुप्तचर विभाग के लोग कांग्रेस सेवा दल की वर्दी पहनकर सुरक्षा की दृष्टि से स्थान–स्थान पर बैठे अवश्य होते थे। पर उनके जिम्मे सभा का कोई काम नहीं होता था। कांग्रेस कार्यकारिणी द्वारा श्रीमती इंदिरा गांधी को दल से निकालने के बाद उनके दल का पहला मेला नयी दिल्ली के 'विठ्ठलभाई पटेल' हाऊस के प्रांगण में हुआ। वहां मैंने पुलिस को स्वयंसवकों का काम करते भी देखा। यह अधिवेशन आंध्र प्रदेश के हरिजन नेता श्री सी. संजीवैया की अध्यक्षता में हुआ था। अब तक व्यक्तियों की पहचान दल के नाम से हुआ करती थी। पर कांग्रेस विभाजन का परिणाम यह हुआ कि व्यक्ति के नाम से दल या संगठन पहचाना जाने लगा। भारतीय राजनीति में यह नया प्रयोग शुरू हुआ था। इस अधिवेशन में मैंने श्रीमती गांधी को उनके भाषण के बीच रोते हुए भी देखा। उन्होंने रोते–रोते यह विचार प्रस्तुत किया कि देश के लिए अपना पूरा जीवन बिता देने वाले पं. नेहरू की पुत्री को उन्होंने कांग्रेस से निकाल दिया है। इस बात पर अब आप ही लोग विचार कीजिए। मुझे उनका रोना लोगों की सहानुभुति प्राप्त करने के लिए एक नाटक ही लगा। क्योंकि जहां तक मुझे स्मरण है, जिस कारण यह महाभारत हुआ, उसका अपने ही दल के उम्मीदवार को गिराने की अपनी कार्रवाई का समर्थन उनके इस भाषण में भी नहीं था। उसका खुलेआम समर्थन करने का साहस न उनमें तब था और न कभी बाद में आया। अपने भाषणों में उन्होंने इस विषय की चर्चा ही नहीं की।

इस अधिवेशन में पत्रकारों और उनके माध्यम से देश को यह समझाने का प्रयत्न किया जा रहा था कि कांग्रेस महासमिति के सदस्यों में से अधिकांश उनकी ओर है। हर राज्य से उपस्थित सदस्यों की संख्या भी बतायी गई। पर पत्रकारों के पास ऐसा कोई साधन नहीं था जिससे वे जान सकें कि जो संख्या बतायी जा रही है वह ठीक है अथवा, जिन्हें महासमिति का सदस्य माना जा रहा है वे सचमुच पहले महासमिति के सदस्य थे। पत्रकारों की कठिनाई इसलिए और भी बढ़ गई थी कि निजलिंगप्पा की कांग्रेस की ओर से भी यही दावा किया जा रहा था। विठ्ठलभाई पटेल हाऊस में जो अधिवेशन हो रहा था उसके निमित्त बने पंडाल में प्रवेश करते समय मुझे एक सादी वेशभूषा में खड़े व्यक्ति ने टोका और मेरा प्रवेश पत्र मांगा। वह गुप्तचर विभाग का ही आदमी था। मैं उसे पहचानता था। मैंने उससे कहा, यह कोई सरकारी समारोह नहीं है। कांग्रेस का अधिवेशन है। तुम कैसे प्रवेश पत्र पूछ सकते हो। उसने कहा, साहब मैं क्या करूं? मुझे यही आदेश

मिला है। इस पर मैंने उससे कहा, फिर तुम्हारे अन्य सहयोगियों ने कांग्रेस सेवा दल की जो वर्दी पहनी हैं, वैसी वर्दी तो पहनो। तुम्हारी इस वेशभूषा में मैं तुम्हे प्रवेश पत्र नहीं दिखाऊंगा। पता नहीं उसे क्या लगा। उसने मुझे सलाम किया और जाने दिया।

कांग्रेस संगठन विभाजित होने के कारण संसदीय काँग्रेस दल भी बंट गया था। संसदीय काँग्रेस दल का बहुमत दल की नेता श्रीमती इंदिरा गांधी के पक्ष में है, यह प्रदर्शित करने के लिए एक बैठक आयोजित की गई। अधिकांश मुख्यमंत्री श्रीमती गांधी के समर्थक थे। अत: इसमें संदेह नहीं था कि कांग्रेस के टिकट पर निर्वाचित अधिकांश संसद सदस्य श्रीमती गांधी का समर्थन करेंगे। अब तक संसदीय कांग्रेस दल की बैठक पत्रकारों के लिए खुली नहीं होती थी। पर यह बैठक पत्रकारों के लिए खुली थी। समाचार की दृष्टि से कौन उपस्थित है इसके बजाय कौन उपस्थित नहीं है, यही मुख्य बात थी। मैं मराठी समाचारपत्र के लिए काम करता था। अत: मेरा ध्यान महाराष्ट्र के संसद सदस्यों तक ही सीमित था। वैसे उत्तर प्रदेश से चुनकर आये लोकसभा के एक सदस्य श्री मसुरिया दीन की ओर भी मेरा ध्यान गया। वे एक पुराने हरिजन कांग्रेस कार्यकर्ता थे और पं. नेहरू के कार्यकाल में, जब तक संयुक्त निर्वाचन क्षेत्र थे, वे नेहरू के साथ आरक्षित स्थान से खड़े होते थे और भारी बहुमत से चुनकर भी आते थे। उनमें नेहरू परिवार के सम्बन्ध में बहुत ही आदर था और कुछ अंशों में वे नेहरू परिवार का ही एक अंग बन गए थे। पर अपने ही दल के उम्मीदवार को गिराने का नेहरू पुत्री का व्यवहार उन्हें नहीं भाया था। सिंडिकेट के साथ किसी प्रकार का संबंध न होते हुए भी संगठन की दृष्टि से उन्होंने श्री निजलिंगप्पा का साथ दिया था। उन्होंने मुझसे कई बार इस बात की चर्चा की थी कि कांग्रेस कार्यकारिणी में निजलिंगप्पा के साथ कौन–कौन हैं। उन्हें इस बात पर विश्वास नहीं हो रहा था जब मैंने उन्हें बताया कि कांग्रेस के एक महामंत्री श्री शंकरदयाल शर्मा दुरंगी भूमिका अपना रहे हैं। पर कुछ दिनों में सचाई सामने आ गई और उन्होंने मान लिया कि वे भूल कर रहे थे। श्री मसुरियादीन इस बैठक में उपस्थित नहीं थे

एक बैठक में महाराष्ट्र के संसद सदस्यों में से बम्बई के श्री बी. टी. कुलकर्णी तथा भूतपूर्व मंत्री श्री आर. एम. हजरनवीस उपस्थित नहीं थे। मैंने यह समाचार किसी प्रकार की टीका–टिप्पणी किए बिना 'महाराष्ट्र टाइम्स' को भेजा। मेरा ख्याल था कि श्री आर.एम. हजरनवीस जानबूझकर बैठक में अनुपस्थित रहे हैं। क्योंकि श्रीमती इंदिरा गांधी ने १९६७ के आम चुनाव के बाद जो मंत्रिमण्डल बनाया था, उन्हें उसमें लिया तो नहीं ही था, यह औपचारिकता भी वे निभा नहीं पायी थी कि पहले से उन्हें बता देती कि मैं आपको नही ले सकूंगी। वे उनके टेलीफोन की रात भर राह देखते रहे, पर वह नहीं आया। मेरी धारणा है कि श्री लालबहादुर शास्त्री के साथ उनकी निकटता ही उनके लिए खतरे का कारण बन गई थी। श्री लालबहादुर शास्त्री की मृत्यु के बाद जितने थोड़े समय तक वे मंत्रिमण्डल में रहे, मुझसे कई बार कहा करते थे कि मंत्री बने रहने में उन्हें अब कोई रुचि नहीं रह गई है। श्रीमती इंदिरा गांधी के सम्बन्ध में उनकी राय भी अच्छी नहीं

थी। पर उन्हें यह बात बहुत अखर गई कि श्रीमती गांधी ने उन्हें पूछा तक नहीं। उनकी यह मानसिक स्थिति उन्होंने मेरे पास कई बार व्यक्त भी की थी। इसलिए मुझे ऐसा लगा था कि अवसर मिलने पर वे श्रीमती गांधी का साथ नहीं देंगे। मुझे ऐसा लगने का एक कारण और भी था। श्री हजरनवीस के मन में श्री यशवंतराव चव्हाण के प्रति तिरस्कार की भावना थी। वे उन्हें सार्वजनिक जीवन में धोखेबाज कहा करते थे। श्री चव्हाण अपनी पहले की भूमिका छोड़कर श्रीमती गांधी के गुट में शामिल हो गए थे। इसलिए भी मुझे लगता था कि श्री हजरनवीस श्रीमती गांधी का साथ नहीं देंगे। पर मेरा अनुमान गलत हो गया। श्री हजरनवीस ने श्रीमती गांधी को यह लिखकर भेजा कि मैं पूरी तरह आपका समर्थन करता हूं। पर बैठक में उनकी अनुपस्थिति प्रकाशित करने के सम्बन्ध में उन्होंने मुझसे कुछ नहीं कहा।

श्री बी. टी. कुलकर्णी के सम्बन्ध में मेरी कोई धारणा नहीं थी। कहा जाता था कि वे बम्बई के होने के कारण उनके श्री. स. का. पाटिल तथा मोरारजी देसाई के साथ अच्छे सम्बन्ध हैं। इसी कारण वे राज्यसभा में निर्वाचित हुए थे। जो संसद सदस्य प्रगतिशील कहलाते थे, उनमें भी उनकी गिनती नहीं होती थी। अत: यह स्वाभाविक था कि जिधर श्री मोरारजी देसाई और पाटिल होंगे उधर ही श्री कुलकर्णी रहेंगे। वे बैठक में अनुपस्थित भी थे। 'महाराष्ट्र टाइम्स' में प्रकाशित समाचार का असर हो या और कोई कारण हो उन्होंने श्रीमती गांधी के प्रति अपना समर्थन तार द्वारा सूचित किया। महाराष्ट्र के ही कुछ सदस्यों ने मुझे बताया कि मेरे उस समाचार के कारण वे मुझ पर बहुत नाराज हैं। कुछ दिन बाद श्री यशवंतराव चव्हाण के घर महाराष्ट्र के संसद सदस्यों को रात का भोजन था। पत्रकार के रूप में मुझे भी निमंत्रण था। उस समय वहां श्री कुलकर्णी भी थे। मुझे उस दिन की एक बात अच्छी तरह स्मरण है कि मेरा उनसे अच्छा परिचय होने पर भी वे मुझे बात करना टालते रहे। बाद में वह कांग्रेस संसदीय दल के उपनेता नियुक्त हुए और पाँडिचेरी के उपराज्यपाल भी। मेरे साथ उनके संबंध बाद में फिर अच्छे हो गये।

श्री निजलिंगप्पा की कांग्रेस को संसदीय दल में अधिक समर्थन नहीं था अत: उनके सदस्यों को विपक्ष में बैठना पड़ा। १९६७ के चुनाव में कांग्रेस थोड़े से ही बहुमत से सरकार बना पायी थी।

कांग्रेस का विभाजन होने के बाद श्रीमती इंदिरा गांधी की सरकार तो बनी रही। पर उस समय भी यह स्पष्ट था कि उस सरकार के पीछे बहुमत नहीं है। वह दायें कम्युनिस्ट दल के बल पर ही किसी प्रकार टिकी हुई थी। विभाजन के बाद दायीं कम्युनिस्ट पार्टी ने स्पष्ट रूप से श्रीमती गांधी का समर्थन करने की भूमिका अपनायी। १९७१ में श्रीमती गांधी की कांग्रेस को भारी बहुमत मिलने के बाद भी आपातकाल तक यह स्थिति बनी हुई थी। उन दिनों दाये कम्युनिस्टों को "वफादार विरोधी दल" कहा जाता था। उस काल में श्रीमती इंदिरा गांधी के बंगले पर दायी कम्युनिस्ट पार्टी के नेता श्री भूपेश गुप्त का जाना–आना काफी बढ़ा था। राजधानी में यह भी कहा जाने लगा था कि किसी

सरकारी विभाग में काम न होता हो तो उसका औचित्य श्री भूपेश गुप्त को समझा देने पर काम तुरंत हो जाता है।

निम्नलिखित घटना कांग्रेस का विभाजन होने के बाद कुछ ही महीनों के अंदर की है। इस घटना में जो मध्यस्थ बने थे उन पं. मौलीचन्द्र शर्मा ने ही मुझे वह बतायी थी। पं. मौलीचन्द्र शर्मा डॉ. श्यामाप्रसाद मुखर्जी के बाद भारतीय जनसंघ के अध्यक्ष बने थे। जनसंघ के और नेताओं के साथ उनकी न बनने के कारण वे जनसंघ से बाहर निकले और कांग्रेस में गए। उन्होंने हरियाणा से कांग्रेस के टिकट पर एक चुनाव भी लड़ा। पर वे उसमें सफल नहीं हुए। पं. नेहरू के जीवनकाल में वे उनके यहां काफी जाते—आते थे। श्रीमती इंदिरा गांधी के प्रधानमंत्री बनने के बाद वे और अधिक जाने—आने लगे। उन दिनों श्री अटल बिहारी वाजपेयी भारतीय जनसंघ के अध्यक्ष थे। उन्हें पं. मौलीचन्द्र शर्मा ने श्रीमती गांधी का एक संदेश दिया। राजनीतिक परिस्थिति के कारण रूस के संकेत पर चलनेवाली कम्युनिस्ट पार्टी के समर्थन पर हमें अवलम्बित रहना पड़ रहा है। इसमें जो खतरा है वह हम जानते हैं। इस समर्थन की कभी तो कीमत चुकानी ही पड़ेगी और वह देश के लिए घातक होगी। आप राष्ट्रवादी हैं। आपका समर्थन मिल जाए तो हमें कम्युनिस्टों पर अवलम्बित नहीं रहना पड़ेगा। इसके बाद दो एक बार श्री वाजपेयी और श्रीमती गांधी की भेंट भी हुई। पर भेंट में इस विषय पर स्पष्ट चर्चा नहीं हुई।

श्री वाजपेयी ने पं. मौलीचन्द्र शर्मा के माध्यम से ही उत्तर भेजा। बांयें कम्युनिस्टों के सम्बन्ध में आपकी धारणा बिलकुल ठीक है। आज की स्थिति में आपकी सरकार बनी रहने के लिए समर्थन देने में भी हमें कोई आपत्ति नहीं दिखाई देती। इसके लिए हमें प्रशासन में कोई हिस्सा भी नहीं चाहिए। पर मैं अपने सहयोगियों को किस प्रकार समझाऊं की आप भारतीय जनसंघ का समर्थन चाहती हैं। इसके निमित्त हमें कोई लिखित पत्र चाहिए। इसी प्रकार आप और आपके दल के लोग जनसंघ के प्रति जो गालीगलौज करते हैं, वह भी कम होना चाहिए। श्री शर्मा ने मुझसे कहा कि श्री वाजपेयी का यह संदेश मैंने श्रीमती गांधी को पहुंचाया। श्रीमती गांधी ने कहा कि मुझे इसमें कोई बात अनुचित नहीं दिखाई देती। उन्हें बता दीजिए कि उनकी बात मुझे मंजूर है। पं. शर्मा ने आगे कहा, पर मैं यह श्री वाजपेयी को बताता, उसके पहले ही कम्युनिस्टों के साथ श्रीमती गांधी का कुछ समझौता हो जाने का समाचार पत्रों में प्रकाशित हो गया। मुझे लगा कि मैं व्यर्थ में ही बीच में पड़ा और अकारण मुंह की खायी। इस सम्बन्ध में आगे चलकर एक बार मैंने श्री वाजपेयी से भी पूछा। उन्होंने कहा, इंदूरकर जाने दो, ऐसी बातों की चर्चा नहीं की जाती। पर उस समय भी उनके मुंह से यह नहीं निकल सका था कि पं. मौलीचन्द्र शर्मा ऐसा संदेश लाये ही नहीं थे।

विभाजन के बाद कांग्रेस के नाम से जो दो गुट बने थे, दोनों का ही दावा था कि बहुमत उनके पीछे है। दोनों ही गुटों की यह साबित करने की स्वाभाविक रूप से इच्छा थी कि कांग्रेस का साधारण प्रतिनिधि भी उन्हीं की कांग्रेस को अपनी काँग्रेस मानता

है। अत: काँग्रेस के दोनों गुटों ने अपने वार्षिक अधिवेशन करने का निश्चय किया। संगठन कांग्रेस का अधिवेशन १९६९ में दिसम्बर के अन्तिम सप्ताह में अहमदाबाद के पास गांधी नगर में हुआ। और उसके तीन–चार दिन बाद १९७० की जनवरी के प्रारंभ में बम्बई में इंदिरा गांधी की कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। इस अधिवेशन में श्री जगजीवनराम कांग्रेस के अध्यक्ष बने थे और श्रीमती गांधी की कांग्रेस जगजीवनराम के नाम से पहचानी जाने लगी थी। मैं पत्रकार के रूप में दोनों ही अधिवेशनों में उपस्थित था। अधिवेशन के लिए सरकारी सहायता के रूप में दोनों और स्थिति समान थी। गुजरात में मुख्यमंत्री श्री हितेन्द्र देसाई संगठन कांग्रेस में थे तो श्री यशवंतराव चव्हाण के कारण श्रीमती इंदिरा गांधी की ओर झुके कार्यकुशल श्री वसंतराव नाईक महाराष्ट्र के मुख्यमंत्री थे।

दोनों गुट दावा कर रहे थे कि उन्हीं की कांग्रेस असली है। इन गुटों की दूसरे गुट के बारे में शिकायत भी लगभग समान ही रहती थी। पर जनसाधारण की उपस्थिति की दृष्टि से गांधी नगर में हुआ अधिवेशन अधिक प्रभावी था। यह धारणा मेरी ही नहीं, दोनों अधिवेशनों में उपस्थित कई पत्रकारों की बनी। तेज सवारी के द्वारा भी गांधीनगर से अहमदाबाद की दूरी आधा–पौना घंटे की थी। गांधी नगर में उस समय स्थानीय बस्ती भी अधिक नहीं थी। गुजरात की राजधानी के रूप में उसका विकास हो ही रहा था। पर फिर भी खुले अधिवेशन के समय गांधी नगर में अथाह जनसागर उमड़ा पड़ा दिखाई दे रहा था। पर बम्बई में अधिवेशन स्थल था आजाद मैदान। यह शहर के बीचोबीच और वी. टी. स्टेशन के लगभग सामने है। फिर भी वह किसी भी समय भरा दिखाई नहीं दिया। पर कहना पड़ेगा कि इस कम या अधिक उपस्थिति का सम्बन्ध आगे की घटनाओं से नहीं था। गांधी नगर के अधिवेशन में यह दिखाई देने पर भी कि संगठन कांग्रेस को जनता का भारी समर्थन प्राप्त है, आगे चलकर उसका प्रभाव कम ही होता गया। पर श्रीमती इंदिरा गांधी की कांग्रेस का आकर्षण बम्बई जैसे शहर में जनसाधारण को प्रतीत न होने पर भी देश में उसका प्रभाव बढ़ता ही गया।

इन दोनों अधिवेशनों में मुझे एक अंतर और दिखाई दिया। कांग्रेस के पुराने अधिवेशन जिन लोगों ने देखे थे उन्हें गांधी नगर का अधिवेशन उसी प्रकार का लगा। अधिवेशन का पंडाल, अधिकांश नेता, कांग्रेस महासमिति के सदस्य और पत्रकार एक–दूसरे से बहुत दूर नहीं थे। पर बम्बई में प्रतिनिधि निवास, पत्रकार निवास, प्रमुख नेता निवास जैसी कोई व्यवस्था ही नहीं थी। उस समय की राजनीति की दृष्टि से जिनका थोड़ा बहत मूल्य था, ऐसे प्रदेश के नेताओं को भी बहुत बढ़िया पंचतारांकित होटलों में ठहराया गया था। पत्रकारों की व्यवस्था भी ऐसे ही खर्चीले होटलों में की गयी थी। विभिन्न प्रदेशों के प्रतिनिधियों का एक भोजन मंडप में खाना आदि जो बातें दूसरे अधिवेशनों में हमेशा दिखाई देती थी, उसका बम्बई में पूरी तरह अभाव था। पानी की तरह पैसा बह रहा था। मैं कभी भी नहीं समझ पाया कि यह पैसा कहां से आ रहा है। पत्रकार के नाते मेरी भी व्यवस्था चर्च गेट के पास एक वातानुकूलित होटल में की गई थी। एक छोटा–सा कमरा

सब सुविधाओं से पूर्ण। उसमें हम तीन पत्रकार ठहरे थे। भोजन की व्यवस्था भी होटल में ही थी। तीन दिन के बाद होटल छोड़ते समय मुझे जिस बिल पर हस्ताक्षर करने पड़े, वह छह सौ या सात सौ रुपए का था। मैं यह नहीं बता सकता कि यह पैसा किसने दिया। यह सिर्फ एक उदाहरण है इस बात का कि बम्बई में किस प्रकार खर्च हो रहा था।

पर साधारण प्रतिनिधियों की व्यवस्था के सम्बन्ध में मैंने बहुत सारी शिकायतें सुनीं। न संडास की व्यवस्था, न नहाने को पानी। भोजन भी कुछ ही लोगों को मिल पाता था। प्रतिनिधि निवास का स्थान बहत दूर होने के कारण प्रतिनिधियों के लिए अधिवेशन में आना भी कठिन हो रहा था। मैं चाहता अवश्य था कि जाकर खुद स्थिति को देखूं । पर कई कठिनाइयों के कारण उस समय वह मुझसे न बन सका। इसी अधिवेशन से कांग्रेस की भीतरी राजनीति में पैसे का उपयोग बढ़े पैमाने पर होने लगा। श्री चन्द्रशेखर जैसे समाजवादी कहलाने वाले तरुण तुर्क की व्यवस्था सचिवालय के पास रिट्ज जैसे पंचतारांकित होटल में की गई थी। भुवनेश्वर में कांग्रेस की संस्कृति में परिवर्तन शुरू हुआ था। बम्बई में वह पूरी तरह बदली दिखाई दी।

यह अधिवेशन ऐतिहासिक समझा जाय, ऐसी एक घटना और हुई। इस अधिवेशन में श्री यशवंतराव चव्हाण ने जो भाषण दिया, उसकी चर्चा बाद में बहुत दिनों तक होती रही। उनका यह भाषण मराठी में था। शाम का समय था। डूबते हुए सूरज को साक्षी बनाकर उन्होंने श्रीमती गांधी से कहा, समाजवाद की दिशा में जो कदम उठाया गया है उसमें अब किसी हालत में भी पीछे नहीं लौट सकते। श्रीमती गांधी की ओर हाथ दिखाकर उन्होंने कहा, यदि आप भी पीछे लौटना चाहें तो भी हमलोग पीछे नहीं हटेंगे। उसके बाद समाजवाद की दिशा में देश की सचमुच कितनी प्रगति हुई इस बारे में राजनैतिक इतिहास लिखने वालों की दो राय हो सकती है। पर यह तो निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि शायद डूबते सूरज को साक्षी रखने का ही असर था कि बम्बई अधिवेशन के बाद श्री यशवंतराव चव्हाण का राजनीतिक प्रभाव धीरे–धीरे कम ही होता गया।

बम्बई अधिवेशन के बाद अफवाहें फैलने लगी कि श्री यशवंतराव चव्हाण का गृह मंत्रालय बदला जाने वाला है। प्राप्त होने वाली सुविधाओं की दृष्टि से प्रधानमंत्री के बाद रक्षामंत्री तथा गृहमंत्री का पद महत्वपूर्ण होता है। प्रधानमंत्री के अतिरिक्त इन्हीं दो मंत्रियों को कहीं भी जाने–आने के लिए वायुसेना के हवाई जहाज का उपयोग करने का अधिकार होता है। एक दिन श्री चव्हाण से बातचीत करते समय इन अफवाहों की भी चर्चा हुई। श्री यशवंतराव चव्हाण ने बहुत ही गंभीरता से कहा, पं. जवाहरलाल नेहरू के कहने पर मैं महाराष्ट्र का मुख्यमंत्री पद छोड़कर रक्षामंत्री बना। रक्षामंत्री के रूप में मैंने देश की रक्षा के सम्बन्ध में एक पंचवार्षिक योजना शुरू की थी। मेरी इच्छा थी कि वह योजना पूरी होने तक रक्षामंत्री पद पर बना रहूं। पर मेरी इच्छा न होते हुए भी मुझे गृहमंत्री बनाया

गया। वहां भी मैंने अपनी क्षमता के अनुसार काम किया और कर रहा हूं। पर अब यदि मेरा विभाग बदला गया तो मैं यहां नहीं रहूंगा। सीधा कराड लौट जाऊंगा।

यह संयोग ही था कि श्रीमती इंदिरा गांधी ने वित्तमंत्री पद संभालने के लिए श्री चव्हाण को जब बुलाया, मैं उन्हीं के बंगले पर था। पहले मुझे यह नहीं मालूम था कि उन्हें प्रधानमंत्री ने किसलिए बुलाया है। चेहरे पर मन की भावना व्यक्त न होने देने वाले श्री चव्हाण उस दिन लौटने पर बहुत उदास दिखाई दिए। मैंने पूछा, क्या कुछ खास बात हुई? श्री चव्हाण ने कहा, 'मुझे झुकने के लिए बाध्य कर दिया गया' (I was humbled down)। बाद में उन्होंने बताया कि उन्हें वित्तमंत्री बनाया जा रहा है। श्री चव्हाण को वित्तमंत्री पद दिया जा रहा है, यह खबर समाचारपत्रों में छपने के बाद एक कार्टून भी प्रकाशित हुआ था। उसमें दिखाया गया था कि श्री चव्हाण का हवाई जहाज श्रीमती गांधी उड़ाकर ले जा रही हैं और नीचे हक्केबक्के होकर खड़े श्री चव्हाण को वे हाथ से 'टाटा' कर रही है। उन्हें वित्तमंत्री पद तो दिया गया था पर उस विभाग का महत्वपूर्ण आर्थिक गुप्तचर विभाग श्रीमती गांधी ने अपने हाथ में ही रखा था। श्री मोरारजी देसाई से वित्त विभाग ले लेने के बाद श्रीमती गांधी ही वित्तमंत्री बनी थीं और उन्होंने एक बजट भी प्रस्तुत किया था। यह गुत्थी मुझे अब तक नहीं सुलझ सकी कि ऐसा कौन सा बंधन था जिसके कारण अपमानित होने का अनुभव करने पर भी श्री चव्हाण मंत्रीपद से त्यागपत्र देने का निर्णय नहीं ले सके। मैंने भी उस समय उन्हें यह पूछना उचित नहीं समझा कि आप अपने कथनानुसार अब कराड वापस क्यों नहीं जा रहे हैं?

बम्बई अधिवेशन के बाद उन मुख्यमंत्रियों को हटाने का क्रम प्रारंभ हो गया जिन्होंने श्रीमती इंदिरा गांधी का समर्थन करने में आनाकानी की थी। श्री कमलापति त्रिपाठी, श्री हेमवतीनंदन बहुगुना आदि के गुट में विधानमण्डलों के जो सदस्य थे उन्होंने अपना समर्थन हटा लेने के कारण उत्तर प्रदेश में यह स्थिति पैदा हो गई कि श्री चन्द्रभानु गुप्त की सरकार नहीं चल सकी। यह स्थिति नहीं थी कि श्री त्रिपाठी और बहुगुणा के गुट में जो सदस्य थे उनके बल पर इंदिरा गांधी के समर्थकों की सरकार कायम हो सके। श्री चरणसिंह १९६७ में ही कांग्रेस छोड़ चुके थे और भारतीय जनसंघ की सहायता से मुख्यमंत्री पद का उपभोग भी उन्होंने किया था। उस समय की संविद सरकार का प्रयोग अधिक समय तक नहीं चल पाया था। पर कांग्रेस के बम्बई अधिवेशन के बाद उत्तर प्रदेश में स्थिति यह बनी थी कि श्री चरणसिंह का भारतीय क्रांति दल संख्या की दृष्टि से निर्णायक भूमिका अदा कर सकता था। स्वभावत: उत्तर प्रदेश में जोड़तोड़ की राजनीति प्रारंभ हुई। वहां के राजनीतिक दांवपेंच को देखने के लिए मुझे 'महाराष्ट्र टाइम्स' की ओर से लखनऊ भेजा गया।

१९६७ में दलबदलकर उनकी सरकार गिराने के कारण श्री चन्द्रभानु गुप्त व्यक्तिगत रूप से भी चरणसिंह पर नाराज थे। पर भारतीय जनसंघ के नेताओं ने उन्हें समझााया कि वर्तमान स्थिति में उत्तर प्रदेश में राष्ट्रपति का शासन आने देने का अर्थ

श्रीमती इंदिरा गांधी के हाथ सत्ता सौंपना होगा। श्री चरण सिंह की मुख्यमंत्री बनने की महत्वाकांक्षा है। उसे यदि हम मान ले तो श्रीमती गांधी के हाथ कम से कम उत्तर प्रदेश की सत्ता तो नहीं जायेगी। भारतीय जनसंघ के नेताओं की यह धारणा थी की पं. नेहरू और नेहरू परिवार पर श्री के चरणसिंह बहुत ही नाराज होने के कारण वे किसी भी हालत में श्रीमती गांधी की ओर नहीं झुकेंगे। बातचीत शुरू हुई और श्री चन्द्रभानु गुप्त के घर श्री चरण सिंह आये। जनसंघ और संगठन कांग्रेस के श्री गुप्त आदि के साथ उनकी चर्चा हुई। उस समय कुछ और पत्रकारों की तरह मैं भी गुप्त के घर पर था। चर्चा के बाद हमें बताया गया कि श्री चरणसिंह मुख्यमंत्री बनेंगे और उन्हें जनसंघ और संगठन कांग्रेस दोनों का समर्थन होगा। यह निश्चित होने के बाद मेरी दृष्टि से लखनऊ का राजनीतिक खेल समाप्त हो गया था। लखनऊ तक आया ही था इसलिए दूसरे दिन सुबह मैं एक दिन के लिए कानपुर गया। उसी शाम मैं दिल्ली लौटने वाला था। मैंने यह समाचार भी भेज दिया था कि संगठन कांग्रेस और जनसंघ का समर्थन प्राप्त कर श्री चरणसंह मुख्यमंत्री बनेंगे। पर कानपुर से लखनऊ लौटकर दिल्ली जाने वाली गाड़ी में बैठा ही था कि शाम को प्रकाशित एक समाचारपत्र के विशेषांक पर मेरी नजर पड़ी। समाचार था कि श्रीमती गांधी के गुट का समर्थन प्राप्त कर श्री चरणसंह मुख्यमंत्री हो रहे हैं। एक दिन में सारी तस्वीर बदल गई थी। पिछली रात को जो समाचार मैंने दिया वह गलत हो गया था। यह इस बात का एक और प्रमाण था श्री चरणसिंह राजनीतिक दृष्टि से कितने अविश्वसनीय हैं। उस दिन लखनऊ में यह अफवाह भी थी कि पच्चीस लाख रुपए पर यह सौदा हुआ है। श्रीमती गांधी के समर्थन से श्री चरणसिंह ने मुख्यमंत्री पद का जो मुकुट पहना था उसके कांटे उन्हें जल्दी ही चुभने लगे और उनकी सरकार का जीवन भी अधिक समय कायम नहीं रह सका।

जिस प्रकार उत्तर प्रदेश में श्री चन्द्रभानु गुप्त मुख्यमंत्री नहीं रह सके, उसी प्रकार गुजरात में भी संगठन कांग्रेस के श्री हितेन्द्र देसाई की सरकार को भी सुरंग लग गया। गुजरात में जो लोग शुरू से श्रीमती इंदिरा गांधी का साथ दे रहे थे, उनमें श्री घनश्याम ओझा प्रमुख थे। गुजरात में संगठन कांग्रेस को छोड़कर जगजीवनराम कांग्रेस में आने वालों की संख्या इतनी बढ़ी कि श्रीमती गांधी के दल की सरकार आसानी से कायम हो सकी। श्री घनश्याम ओझा मुख्यमंत्री बने। श्री मोरारजी देसाई गुजरात के बड़े नेता होने पर भी उसे अपने नियंत्रण में नहीं रख सके। श्री ओझा के भाग्य में भी अधिक दिन मुख्यमंत्री पद का सुख भोगना नहीं था। उन्हें यह संदेह था कि उनके दल में उनके विरूद्ध षड्यंत्र शुरू हुआ है और उसे श्रीमती गांधी का अप्रत्यक्ष समर्थन है। श्री घनश्याम ओझा सरल और विनीत स्वभाव के कार्यकर्ता थे। उन्हें राजनीतिक उठापटक नहीं आती थी। वे तंग हो गए। पर अपना दु:ख किसे बतायें?

एक बार वे दिल्ली से अहमदाबाद जा रहे थे। हवाई जहाज में महाराष्ट्र के मुख्यमंत्री श्री वसंतराव नाईक भी थे। वह हवाई जहाज अहमदाबाद होकर बम्बई जानेवाला

था। श्री नाईक को देखकर श्री ओझा उनके पास आकर बैठे और जैसे सहज में ही पूछा हो, नाईक साहब बाई (इंदिरा जी) आपसे क्या बात करती है? श्री नाईक ने कहा, हां, अच्छी तरह बात करती हैं। इस पर श्री ओझा ने अपना दुःख व्यक्त करते हुए कहा, पर मुझसे तो वह बोलती ही नहीं। मैं राज्य से संबंधित महत्व के प्रश्न लेकर जाता हूं। वह केवल सुन लेती है। सामने रखी फाइल के कागज पलटती रहती है। जवाब बिलकुल नहीं देती। इस पर श्री नाईक ने कहा, ओझा साहब यह जानबूझकर नहीं होगा। दूसरे कामों में उनका मन उस समय उलझा होने के कारण आपको वैसा लगा होगा। इस पर श्री ओझा ने तुरंत कहा, जी नहीं। ऐसा नहीं है। मेरे खिलाफ शिकायतें लेकर जो लोग जाते है उनका कहना वे ध्यान लगाकर सुनती है। यह घटना बाद में श्री नाईक ने ही मुझे बताई थी। श्री ओझा कुछ दिन बाद संगठन कांग्रेस में गए और जनता पार्टी बनने के बाद वे उसमें शामिल हुए।

पर इस प्रकार के कुछ उदाहरण छोड़ दिये जायं तो कांग्रेसजनों का प्रवाह इंदिरा गांधी की कांग्रेस की ओर ही बह रहा था। उनमें से कई के साथ मेरी निजी चर्चा हुई थी और उनमें से कई के मुख से मैंने श्रीमती इंदिरा गांधी की तीखी आलोचना भी सुनी थी। मुझे इस बात पर आश्चर्य होता था कि ये लोग इस प्रकार कैसे बदल जाते हैं। इस संबंध में श्री वसंत दादा पाटिल के साथ एक बार मेरी चर्चा हुई। उन्होंने कहा, "इंदूरकरजी इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। जिस गाड़ी में इंजिन नहीं लगा होता, उसके डिब्बों में कोई भी नहीं बैठता। किसी कारणवश भरी हुई रेलगाड़ी बीच से ही काट दी गई तो जिस भाग में इंजिन जुड़ा है उस भाग के डिब्बों में जगह न होने पर भी लोग घुसकर भारी भीड़ होते हुए भी बैठना पसंद करते हैं। जिसमें इंजिन नहीं है उसमें बैठे रहने के लिए कोई तैयार नहीं होता। राजनीति में भी यही होता है। आज की राजनीति में श्रीमती इंदिरा गांधी एक बहुत ही शक्तिशाली इंजिन हैं।"

श्री वसंत दादा पाटिल ने मुझे बताया कि मनुष्य का स्वभाव उगते हुए सूरज को नमस्कार करने का होता है। इसी संदर्भ में पेशवाओं ने अन्तिम काल में पुणे में घटी एक घटना भी उन्होंने मुझे बताई। वह इस प्रकार थी। पुणे का पतन सन्निकट था। अंग्रेजों ने उसे चारों ओर से घेर रखा था। उस समय के पेशवाओं ने नगर सेठ–साहूकारों और प्रतिष्ठित नागरिकों की एक बैठक बुलायी। प्रस्तुत संकट की चर्चा करते हुए कहा, यह समय हम सबके जीवन में महत्वपूर्ण है। हमें स्वाधीनता और गुलामी के बीच चुनाव करना है। हमने तो अन्तिम दम तक लड़ने का निश्चय किया है। हमें आशा है कि आप भी हमारा साथ देंगे। पर यदि आपको अंग्रेजों से मिले किसी भेदिये का पता हो तो उनका नाम बता दें। उसे दंडित करना सबके हित में होगा। उपस्थित लोगों ने एक स्वर से कहा, "हां, सरकार, हम सब आपके साथ हैं। हमारे शरीर में जब तक जान है तब तक हम अंग्रेजों के पैर पुणे में जमने नहीं देंगे" उसी दिन पुणे पर अंग्रेजों का कब्जा हो गया। दूसरे दिन अंग्रेजों ने उन्हीं सेठ–साहूकारों और प्रतिष्ठित नागरिकों की बैठक बुलायी और

कहा, “सबको बराबर न्याय और अच्छा शासन देने हम आये हैं। हमें आपका सहयोग चाहिए। पर यदि पेशवाओं का कोई भेदिया हो तो आप लोग उसका नाम बता दें। उसे उचित सजा देनी होगी।” इस पर उपस्थित लोगों ने एक स्वर से कहा? “हां सरकार, हम सब आपके साथ हैं। आपकी ही राह देख रहे थे। पेशवाओं के अत्याचारी शासन से हम ऊब चुके थे।” संक्षेप में कहा जा सकता है कि स्वार्थ एक ऐसी शक्ति है जिससे व्यक्ति कभी भी किसी ओर भी झुक सकता है। अस्तु।

मैं यह भी नहीं कह सकूंगा कि संगठन कांग्रेस में जो संसद सदस्य बचे थे वे किसी आदर्श से प्रेरित थे। उस समय श्री मोरारजी देसाई तो थे ही, श्री कामराज भी लोकसभा के सदस्य थे। श्री कामराज पहले भी इस बात के लिए प्रसिद्ध थे कि लोकसभा में उन्होंने अपना मुंह कभी नहीं खोला। श्री कामराज के सम्बन्ध में यह भी एक कारण था कि वे अंग्रेजी में भाषण नहीं कर सकते थे। पर दूसरे कई सदस्य अपनी भाषा में भाषण करते थे और उसका साथ–साथ हिंदी और अंग्रेजी में अनुवाद भी होता था। पर श्री कामराज के विपक्ष में बैठने के कारण कोई परिवर्तन नहीं हुआ। उस काल में श्री मोरारजी देसाई ने एक दो बार भाषण किया था। उनके भाषण में सरकार द्वारा अपनायी गई नीतियों की आलोचना तो थी पर उसमें कटुता बिलकुल नहीं थी। श्रीमती गांधी पर उन्होंने निजी कहे जा सकने वाले आरोप कभी नहीं लगाए और श्री मोरारजी के सम्बन्ध में सार्वजनिक रूप से किसी प्रकार की कटू आलोचना करते हुए श्रीमती इंदिरा गांधी को भी मैंने कभी नहीं सुना ।

संगठन कांग्रेस के श्री रामसुभग सिंह लोकसभा के सदस्य थे। काफी समय तक वे संसदीय कांग्रेस दल के महामंत्री भी थे। चीनी आक्रमण के समय श्री कृष्ण मेनन विरोधी मोर्चे का नेतृत्व उन्होंने ही किया था। श्री जाकिर हुसैन को राष्ट्रपति बनाने का जब निश्चय किया गया, उन्होंने उनके प्रचार का अभियान सफलता के साथ चलाया था। वे मूलत: राष्ट्रीय विचारधारा के थे। जिस प्रकार श्रीमती गांधी ने अपने दल के उम्मीदवार को गिराकर श्री गिरि को विजयी बनाया और जिसका परिणाम कांग्रेस विभाजन में हुआ, शायद इसी कारण वह श्रीमती गांधी के प्रति काफी कड़वाहट के साथ बोलते थे। उनके भाषण में श्रीमती गांधी की कुछ निजी आलोचना भी होती थी। बाद में वे फिर चुनकर नहीं आये। संगठन कांग्रेस में वे कुछ वर्ष बने रहे। पर राजनीतिक वनवास न सह सकने के कारण इंदिरा कांग्रेस में आये। परंतु राजनीति में उन्हें कहीं कोई स्थान नहीं मिल सका। राजनीतिक वनवास में ही वे बीमार पड़े और काफी दिनों तक बीमार रहने के बाद उनकी मृत्यु हो गई।

कांग्रेस का विभाजन होने के बाद संगठन कांग्रेस में तीन महिलाएं भी आयीं। उनमें से एक श्रीमती शारदा मुखर्जी थीं। उनकी नेहरू परिवार से निकटता थी। उनके पति एयर वाइस मार्शल सुब्रतो मुखर्जी की जापान में अचानक मृत्यु होने के बाद, कांग्रेस के साथ उनका वैसा कोई संबंध न होने पर भी मूल मराठी भाषी होने के कारण उन्हें रत्नागिरी से लोकसभा के लिए कांग्रेस का टिकट दिया गया था और वे निर्वाचित भी हुई

थीं। कांग्रेस जब एक थी तब भी वह सदस्य के रूप में लोकसभा में अधिक नहीं चमकीं। कांग्रेस का विभाजन होने के बाद भी उनका व्यवहार संयम और मर्यादापूर्ण था। श्रीमती गांधी से उनकी निकटता थी तो भी जब उन्हें लगा कि उनका व्यवहार गलत है, वे उनके गुट में नहीं गई। जनता कार्यकाल में उन्हें राज्यपाल बनाया गया था। दूसरी महिला थीं श्रीमती सुशीला नैय्यर। उनका विकास महात्मा गांधी के आश्रम में होने के कारण उनकी विचारधारा काफी मात्रा में आदर्शों पर आधारित थी। जनता पार्टी में संगठन कांग्रेस का विलय होने तक वे कांग्रेस में ही थीं। जनता कार्यकाल में वे लोकसभा की सदस्य भी बनी थीं।

तीसरी महिला सदस्य श्रीमती तारकेश्वरी सिन्हा का इतिहास बिलकुल अलग रहा है। चढ़ती तरुणाई में ही वे लोकसभा की सदस्य बनीं और पं. नेहरू के कार्यकाल में उन्हें उपमंत्री पद मिला। उनमें वक्तृत्व कला तो थी ही, उसे शेरो–शायरी का पुट देना भी वे जानती थीं। अत: उपमंत्री के रूप में ही वे काफी चमकी थीं। उस समय यह भी धारणा थी कि श्री मोरारजी देसाई के प्रति उनकी राजनीतिक निष्ठा तो है ही, व्यक्तिगत निष्ठा भी है। उनके संबंध में कुछ अफवाहें भी प्रचलित थीं। कांग्रेस विभाजन के पूर्व श्रीमती तारकेश्वरी सिन्हा ने श्रीमती गांधी के विरूद्ध प्रचार का मोर्चा भी संभाला था। कई बार उनका विरोध व्यक्तिगत आलोचना का भी रूप धारण कर लेता था। उन्होंने श्रीमती गांधी के विरूद्ध समाचारपत्रों में भी काफी कुछ लिखा था। कांग्रेस विभाजन के बाद उनके द्वारा श्रीमती गांधी की आलोचना होती थी। उसे सुनकर भी उन दिनों यदि कोई यह भविष्यवाणी करता कि वे आगे चलकर इंदिरा कांग्रेस में जाने वाली हैं, तो उसकी गिनती पागलों में ही की जाती।

उन्हीं दिनों श्रीमती तारकेश्वरी सिन्हा के संदर्भ में घटी एक मजेदार घटना मुझे याद आ रही है। कांग्रेस का विभाजन कुछ ही दिन पूर्व हुआ था। श्री चन्द्रशेखर श्रीमती गांधी के दायें–बायें हाथों में से थे। एक दिन की बात है। संसद के सेंट्रल हॉल के बाहर जो बड़ा प्रांगण है, उसमें श्री चन्द्रशेखर और श्रीमती तारकेश्वरी सिन्हा की भेंट हुई। श्री चन्द्रशेखर ने श्रीमती तारकेश्वरी सिन्हा का हाथ पकड़ा और कहा, "तू कहां उन बूढ़ों के चंगुल में फंसी पड़ी हो। तुझे तो हमारे साथ आना चाहिए।" हाथ पकड़ने का यह दृश्य किसी फोटोग्राफर की पकड़ में आ गया और वह एक साप्ताहिक में प्रकाशित भी हुआ। बीच के काल में गंगा में बहुत पानी बह गया था और सत्ताधारी दल से दूर रहने का खेल श्रीमती तारकेश्वरी सिन्हा को कठिन प्रतीत होने लगा था।

मुझे उनकी बदलती हुई प्रवृत्ति का कुछ अनुमान हो गया था। वे एक दिन सेंट्रल हॉल में मेरे पास ही बैठी हुई थीं कि मैंने पूछ लिया–– सुनता हूं कि आप जल्दी ही इंदिरा कांग्रेस में जा रही हैं।, क्या यह सच है? वे इस बात को लेकर मुझ पर बहुत नाराज हुईं कि मैंने उनकी राजनीतिक वफादारी के प्रति संदेह व्यक्त किया है। उन्होंने कहा, पत्रकार ऐसी ही झूठी खबरें फैलाते हैं। मैंने उस समय उनसे इतना ही कहा कि "चालू घटनाओं को देखकर हमलोग कुछ अंदाजा लगाते हैं। ऐसा नहीं है कि वह हमेशा

सच ही होता है।" पर इसके कुछ ही दिन बाद में वे इंदिरा कांग्रेस में शामिल हो गई। यह आपातकाल जारी होने के काफी पहले की घटना है। श्री चन्द्रशेखर श्रीमती इंदिरा गांधी की प्रगतिशील कार्रवाईयों के सम्बन्ध में काफी निराश हो चुके थे। पर वे जाहिर तौर पर कुछ बोलते नहीं थे। विठ्ठलभाई पटेल हाऊस के मावलंकर हॉल में इंदिरा कांग्रेस की महासमिति का अधिवेशन चल रहा था। वहां नीचे के मंजिल पर दरवाजे के पास श्रीमती सिन्हा की श्री चन्द्रशेखर से भेंट हुई। इस बार श्रीमती सिन्हा ने श्री चन्द्रशेखर का हाथ पकड़ा और कहा, "चन्द्रशेखर तुम कह रहे थे न कि बूढ़ों के साथ क्यों रह रही हो? अब मैं बुढ़ों का चक्कर छोड़कर इधर आ गई हूं।" श्री चन्द्रशेखर ने कुछ नहीं कहा। मैं पास में ही खड़ा था। आज मैं मानता हूं कि उस समय मैंने जो कुछ कहा, उचित नहीं था। पर मेरे मुंह से निकल ही गया, "आप बुढ़ों के चक्कर में नहीं पड़ी थीं। बुढ़े आपके चक्कर में आ गए थे" इस पर श्रीमती सिन्हा मुझ पर बहुत नाराज हुई और उन्होंने जो मुंह में आया, मुझे कह डाला। उनकी इस नाराजगी पर मुझे गुस्सा नहीं आया क्योंकि मैंने ही उन्हें छेड़ा था। श्रीमती तारकेश्वरी सिन्हा को कांग्रेस में प्रवेश तो मिल गया। पर उनका राजनीतिक पुनर्वास नहीं हो सका। कांग्रेस का फिर से विभाजन होने के बाद उन्होंने रेड्डी, स्वर्णसिंह तथा अर्स इस नाम से प्रसिद्ध कांग्रेस का सहारा लिया। पर उनका राजनीतिक वनवास बना ही रहा।

श्रीमती तारकेश्वरी सिन्हा के सम्बन्ध में पं. नेहरू के कार्यकाल की घटना है। वे हाल ही में चुनकर आयी थी। युवा तो थीं ही, उनका रहन–सहन भी आकर्षक था। इस कारण बहुत से संसद सदस्य उनकी ओर आकर्षित होते रहे। कुछ समय तक यह भी विवाद था कि संसद सदस्यता के लिए आवश्यक आयु भी उनकी है या नहीं। महाराष्ट्र की दो महिलाएं–नागपुर की श्रीमती अनुसयाबाई काले और पुना की श्रीमती इंदिराबाई मायदेव–कांग्रेस के टिकट पर लोकसभा में चुनकर आयी थीं। दोनों चाहती थीं कि कम से कम उन्हें उपमंत्री पद मिले। इनमें से श्रीमती अनुसयाबाई काले तो पुराने मध्य प्रदेश की विधानसभा में उपसभापति भी रह चुकी थीं। हम दो में से किसी एक को ही उपमंत्री पद मिलना संभव था। दोनों की इस अभिलाषा में कोई अनुचित बात भी नहीं थी कि वह उन्हीं को मिले। दोनों के मन की इस दुर्बलता को पहचानकर हम कुछ पत्रकार उनका मजाक भी करते थे। श्रीमती अनुसयाबाई काले से कहते थे कि हमने अभी इंदिराबाई मायदेव को पं. नेहरू के कमरे से निकलते देखा, तो इंदिरा बाई मायदेव से कहते कि अनुसूयाबाई को देखा। इस पर दोनों चिढ़ती थीं। पर प्रत्यक्ष में श्रीमती तारकेश्वरी सिन्हा की जब नियुक्ति हुई, श्रीमती इंदिराबाई मायदेव की तो प्रतिक्रिया विशेष ज्ञात नहीं हो सकी, पर श्रीमती अनुसयाबाई काले बहुत खीज उठी थीं। उन्हें ही नहीं, दूसरों को भी यही लगा था कि आकर्षक तरुणाई के कारण ही उनकी उपमंत्री पद पर नियुक्ति हुई है। इस घटना का श्रीमती काले पर इतना अधिक असर हुआ कि वे भी अपने गाल और होंठ रंगकर सुंदर दिखाई देने का प्रयत्न करने लगीं। पर बुढ़ापे के कारण उसका असर कुछ उलटा ही हुआ। उनका चेहरा बहुत ही अजीब दिखाई देने लगा था।

१९७१ का चुनाव

बम्बई अधिवेशन के बाद कांग्रेस महासमिति के एक अधिवेशन में एक आर्थिक प्रस्ताव पर हुई चर्चा के समय भूतपूर्व राजाओं को दिये जानेवाला प्रिवीपर्स बंद करने का श्री मोहन धारिया का एक संशोधन अचानक स्वीकार कर लिया गया। उस समय सभा भवन में उपस्थित सदस्यों की संख्या भी कम थीं। इसके पहले भी संसद के मंच पर कम्युनिस्ट तथा समाजवादी सदस्य प्रिवीपर्स बंद करने की मांग बार–बार करते रहे थे। उस समय सरकार की ओर से बराबर एक ही उत्तर दिया जाता था, "रियासतों का विलीनीकरण करते समय प्रिवीपर्स जारी रखने का वचन दिया गया है। उस वचन से यदि पीछे हटे तो सरकार की ओर से कही जाने वाली किसी भी बात पर कोई विश्वास नहीं करेगा।" एक बात और भी कही जाती थी कि प्रिवीपर्स पर खर्च होने वाली रकम धीरे–धीरे कम हो रही है। एक–दो पीढ़ियों में ही वह खत्म हो जायेगी। फिर जो वचन दिया गया है उसे क्यों तोड़ा जाय? इसी के समर्थन में कुछ लोग निजी चर्चा में एक तर्क और प्रस्तुत करते थे। प्रिवीपर्स जिन्हें मिलते थे, उन राजे–महाराजों के जब तक कांग्रेस के विरूद्ध खड़े होने का वातावरण था तब तक इस प्रकार का कदम उठाने की थोड़ी बहुत राजनीतिक आवश्यकता थी, पर अब कुछ अपवादों को छोड़कर सभी राजे–महाराजों के कांग्रेस के ही छत्र के नीचे आ जाने के कारण अब यह कदम उठाने की क्या आवश्यकता हैं? पर प्रगतिशीलता का दावा करने वाले अपनी बात पर डटे रहते थे। उन्हें पांच–सात करोड़ रुपए का यह खर्च प्रतिक्रियावाद का चिन्ह प्रतीत होता था।

पर उस समय भी कम से कम तीन बड़े राजघराने श्रीमती गांधी की कांग्रेस के विरूद्ध थे। ग्वालियर की महारानी विजयाराजे सिंधिया भारतीय जनसंघ में थी, और बड़ौदा के श्री फत्तेसिंह गायकवाड़ पहले कांग्रेस में होने पर विभाजन के बाद संगठन के साथ रहने के कारण इंदिरा कांग्रेस से दूर हट गये थे, और जयपुर की महारानी गायत्री देवी भी स्वतंत्र पार्टी में थी। कुछ दिन तक तो यह संदेह बना रहा कि कांग्रेस महासमिति द्वारा स्वीकृत उक्त संशोधन सरकार कार्यान्वित करेंगी या नहीं। पर श्रीमती गांधी ने उसे कार्यान्वित करने का निश्चय किया। बैंकों का राष्ट्रीयकरण, भूतपूर्व राजाओं के प्रिवीपर्स बंद करने का निर्णय, गरीबों के संबंध में अत्यंत आत्मीयता प्रगट करने वाले श्रीमती गांधी के भाषण आदि के कारण श्रीमती गांधी के कांग्रेस दल की प्रतिमा बहुत ही प्रगतिशील बन गई थी। संभवतः इसी वातावरण का लाभ उठाने की दृष्टि से २७ दिसम्बर, १९७० को श्रीमती गांधी की सलाह के अनुसार राष्ट्रपति श्री वराह वेंकटगिरि ने लोकसभा विसर्जित कर भारत के राजनीतिक इतिहास में पहली बार मध्यावधि चुनाव की घोषणा की। दिसम्बर के तीसरे सप्ताह तक संसद का शीतकालीन अधिवेशन चल रहा था। पर यह संदेह भी किसी के मन में नहीं आया कि श्रीमती गांधी मध्यावधि चुनाव का विचार कर रही है। लोकसभा और विधानसभा के चुनाव अब तक साथ–साथ होते थे। पर इस मध्यावधि

चुनाव से उनके अलग—अलग होने का क्रम प्रारंभ हो गया। दोनों चुनाव अलग—अलग करने का कारण यह बताया गया कि दोनों चुनावों में अलग—अलग प्रश्न होते हैं। चुनाव एक साथ लेने के कारण मतदाताओं के मन में गड़बड़ी पैदा हो जाती है। पर १९७७ और १९८० में कहा गया कि लोकसभा के चुनाव में ही जनता की सच्ची राय प्रगट होती है। उस राय के विपरीत यदि राज्यों में सरकारें हों तो वहां जनता की राय दुबारा लेनी चाहिए। भारतीय संविधान की यह व्यवस्था अभी भी बनी हुई है कि केन्द्र और राज्यों में अलग—अलग सरकारें हो सकती हैं। पर १९८० के चुनाव प्रचार में यह विचार बहत ही जोरदार ढ़ंग से प्रस्तुत किया गया कि केन्द्र और राज्य में एक ही दल की सरकारें होना प्रशासन ठीक चलने की दृष्टि से अत्यंत आवश्यक है

१९७१ के चुनाव में श्रीमती गांधी के दल को भारी सफलता मिली। श्रीमती इंदिरा गांधी की कांग्रेस के विरूद्ध संगठन कांग्रेस, भारतीय जनसंघ, स्वतंत्र पार्टी तथा समाजवादी दल का आपस में चुनाव तक सीमित तालमेल बैठा था। इस तालमेल को बड़ा मोर्चा कहा जाता था। इस मोर्चा का जनता के सामने कोई ऐसा स्पष्ट कार्यक्रम नहीं था जिससे पता लगता कि यदि उसे चुनाव में विजय प्राप्त हुई तो परस्पर विरोधी विचारों के ये दल देश की भलाई के लिए निश्चित रूप से क्या कार्यक्रम अपनायेंगे। इस मोर्चे की भूमिका मुख्य रूप से केवल इतनी ही थी कि श्रीमती गांधी और उनके दल की हार होनी चाहिए। ठीक इसी का लाभ श्रीमती गांधी ने उठाया। उनकी ओर से एक छोटा सा पोस्टर देशभर में लगाया गया था। वह बहुत ही प्रभावी साबित हुआ। उसमें कहा गया था कि "वे कहते हैं कि इंदिरा गांधी को हटाओ। मैं कहती हूं कि गरीबी को हटाओ। अब आप ही चुनिये।" यह बात दूसरी थी कि चुनाव के बाद विपक्षी सदस्यों ने जब यह कहना शुरू किया कि चुनाव में आश्वासन देने पर भी आप गरीबी को नहीं हटा सकीं, तो श्रीमती गांधी ने कहा था कि मैंने ऐसा कोई आश्वासन नहीं दिया था।

उस निर्वाचन के समय मैंने बिहार और उत्तर प्रदेश के कुछ विशेष निर्वाचन क्षेत्रों का दौरा किया था। मैंने कई निर्वाचन क्षेत्रों में देखा कि श्रीमती गांधी के पक्ष में वास्तव में लहर उठी है। मैंने उस समय 'महाराष्ट्र टाइम्स' में वैसा लिखा भी। पर सभी निर्वाचन क्षेत्रों में सब कुछ सीधी तरह नहीं चल रहा था। उन दिनों संगठन कांगेस की प्रसिद्ध नेता श्रीमती तारकेश्वरी सिन्हा के निर्वाचन क्षेत्र में मैं गया था। उनके विरूद्ध श्री धर्मवीर सिन्हा को खड़ा किया गया था। मैं दोनों उम्मीदवारों से मिला था। श्रीमती तारकेश्वरी सिन्हा कह रही थीं कि वे निश्चय ही चुनकर आयेंगी। श्री धर्मवीर सिन्हा का कोई खास दावा नहीं था। पर निर्वाचन क्षेत्र में दो—चार घंटे घूमने के बाद मैंने समाचार भेजा था कि श्रीमती तारकेश्वरी सिन्हा का चुनकर आना लगभग असंभव है।

दूसरे जिन महत्वपूर्ण निर्वाचन क्षेत्रों में मैं घूमा, उनमें से एक समाजवादी नेता श्री मधु लिमये का था। वे उस समय बिहार के मुंगैर निर्वाचन क्षेत्र से खड़े थे। श्री लिमये पूरे भारत की दृष्टि से बड़े महत्व के संसद सदस्य तो थे ही, मराठी भाषी होने के कारण

उनके भविष्य के सम्बन्ध में 'महाराष्ट्र टाइम्स' के पाठकों को भी विशेष दिलचस्पी हो सकती थी। उन दिनों श्री लिमये के सम्बन्ध में मेरे मन में विशेष अपनापन भी था। संसद के सामने एक प्रदर्शन हुआ था उसमें पुलिस ने उन्हें इतना पीटा था कि उनकी पीठ छिलकर लाल हो गई थी। उस समय गृहमंत्री के रूप में श्री यशवंतराव चव्हाण अस्पताल में उनसे मिलने आये थे और संसद में इस विषय की चर्चा होने पर उन्होंने कहा था कि इस प्रकार का अमानुष बर्ताव करने वाले पुलिस अधिकारी को कड़ी सजा दी जायेगी। पर कम से कम हम पत्रकारों को पता नहीं चला कि उस पुलिस अधिकारी के विरूद्ध क्या कुछ कार्रवाई हुई।

मैं यू. एन. आई. के संवाददाता के साथ एक दिन शाम को मुंगैर पहुंचा। हमने एक छोटे से होटल में अपना बोरिया–बिस्तर रखा ही था कि मेरे मित्र यू. एन. आई. के संवाददाता को श्रीमती इंदिरा गांधी की कांग्रेस के उम्मीदवार श्री देवनंदन प्रसाद यादव नीचे रास्ते पर से जाते दिखाई दिये। परिचय होने के कारण मेरे मित्र ने उन्हें ऊपर बुलाया। आते ही उन्होंने कहा, बहुत भूख लगी है। कुछ खाने को दीजिए। हमने होटल के नौकर से कुछ मंगवाया और मैंने अपने होलडाल से एक पॅकेट बिस्कुट निकाला और उनसे कहा, जब तक खाने के लिए और आ रहा है तब तक इसे खाइये। उन्होंने उसमें से कुछ बिस्कुट जल्दी–जल्दी खाये, पानी पिया और कहा, अब पूछिये। हमने पूछा, चुनाव में कौन जीतेगा। उन्होंने एक सेकेण्ड भी सोचने में समय नहीं खोया और कहा, जो अधिक पोलिंग बूथ हथिया लेगा, वही। उन दिनों भी बिहार और पश्चिमी उत्तर प्रदेश में पोलिंग बूथ हथियाने की प्रवृत्ति काफी थी। उसे अंग्रेजी में 'स्टँपिंग ऑफ बूथ्स' कहा जाता था। निर्वाचन अधिकारी को डरा–धमकाकर चूप बैठने के लिए कहना और सभी मतदानपत्र हथियाकर अपने उम्मीदवार के नाम के आगे ठप्पा लगाना। साधारणत: सर्वत्र यही पद्धति अपनायी जाती थी। जिसके पास अधिक गुंडे हों, उसका निर्वाचित होना अधिक आसान समझा जाता था। पोलिंग बूथ हथियाने की यह पद्धति किसी एक दल तक ही सीमित नहीं थी। अपनी–अपनी शक्ति के अनुसार सभी दल उसमें उलझते थे। इस चुनाव में श्री देवनंदन प्रसाद यादव विजयी हुए। आगे चलकर उनकी नियुक्ति शिक्षा मंत्रालय में उपमंत्री पद पर हुई। जनता कार्यकाल में एक बार उन्हें उनके उस वाक्य का मैंने स्मरण दिलाया तो उन्होंने कहा–हां, मैंने वैसा कहा था और उस चुनाव में वैसा हुआ भी था।

पर उनकी यह स्वीकृति एक अर्धसत्य था। एक ओर राजनीतिक खेल इसलिए खेला गया कि वे चुनकर आयें और श्री मधु लिमये को अधिक मत न प्राप्त हो सके। उसकी जानकारी वहां पहुंचने पर हमें दूसरे दिन सुबह मिली। बिहार प्रदेश जाति–उपजाति की भावना से बहुत ही पीड़ित है। श्रेष्ठ जातियों में से भूमिहार और राजपूत जाति के लोग वहां अधिक हैं, तो पिछड़ी जातियों में यादव जाति के लोगों की संख्या अधिक बतायी जाती है। इस चुनाव में तीन उम्मीदवार थे। कांग्रेस के श्री देवनंदन प्रसाद यादव, समाजवादी श्री मधु लिमये, और इन दोनों के अतिरिक्त मुंगैर से चालीस मील दूर

स्थित एक छोटी सी रियासत गिदौर के महाराजा भी चुनाव में खड़े थे। उनके कार्यकर्ताओं ने जो जानकारी दी उसकी सचाई दो—चार स्थानों पर पूछकर हमने उसी समय परख ली थी।

गिदौर महाराज के कार्यकर्ताओं ने हमें बताया कि उन पर जो अन्याय हुआ है, उसके परिमार्जन के लिए वे चुनाव में खड़े हैं। अन्याय होने की उनकी कहानी इस प्रकार थी। उन्हें दिल्ली बुलाकर कहा गया था कि वे इंदिरा गांधी की कांग्रेस की ओर से उम्मीदवार के रूप में खड़े हों। उनकी स्वीकृति मिलने पर उन्हें नकद पांच हजार रुपए और चुनाव प्रचार के लिए चार जीपें दी गई। महाराजा इस खुशी में थे कि वे सत्ताधारी दल कांग्रेस के उम्मीदवार हैं अत: उनके चुने जाने में कोई संदेह नहीं है। उम्मीदवारी का आवेदन जिस दिन भरना था, उस दिन महाराजा कांग्रेस की ओर से मिली चार जीपें और उनकी अपनी दूसरी मोटरों का लगभग जुलूस सा बनाकर मुंगैर की जिला कचहरी में आये। पर आवेदन पत्र भरने के पूर्व जिला अधिकारी ने बताया कि कांग्रेस ने अपनी उम्मीदवारी उन्हें नहीं दी है।

स्वभावत: इस पर महाराज क्रोधित हुए और उन्होंने अपने समर्थकों की वहीं पर सभा की और उसमें उन पर जो अन्याय हुआ था, उसका विस्तार से वर्णन किया। समर्थकों ने नारे लगाये कि इस अन्याय का परिमार्जन होना ही चाहिए। आप निर्दलीय उम्मीदवार के रूप में खड़े रहिए। जनता के अनुरोध को स्वीकार कर महाराजा ने निर्दलीय उम्मीदवार के रूप में अपना आवेदन पत्र भरा। उनके कार्यकर्ताओं के प्रचार की एक ही भूमिका थी। अन्याय परिमार्जन करने के लिए महाराज को विजयी कीजिए। यदि उन पर सचमुच अन्याय हुआ था तो वह श्रीमती गांधी के दल ने किया था। दल का टिकट देना स्वीकार कर बाद में उन्हें इनकार कर दिया गया था। पर उनके कार्यकर्ता प्रचार कर रहे थे श्री मधु लिमये के विरूद्ध। अपराध किसी का और सजा किसी और को। पर आगे चलकर सारी स्थिति स्पष्ट हो गई। श्री मधु लिमये का समर्थन राजपूत जाति के काफी लोग कर रहे थे। गिदौर के महाराजा भी राजपूत थे। उन्हें यादव जाति के वोट तो मिल ही नहीं सकते थे, राजपूत जाति के ही मिलते। महाराजा के खड़े होने से वे वोट विभाजित हो रहे थे। मैंने उस समय के अपने एक लेख में लिखा था कि श्री मधु लिमये का चुनकर आना काफी कठिन है। श्री मधु लिमये की पत्नी श्रीमती चंपा लिमये ने जनता कार्यकाल में लिखे अपने लेख में मेरे इस लेख का उल्लेख भी किया था। मेरा यह निष्कर्ष गलत नहीं था कि राजपूत मतों को विभाजित करने के लिए ही गिदौर के महाराजा को खड़ा करने का खेल खेला गया था। उस समय उस खेल में सफलता भी मिली। पर फिर एक उपचुनाव में बिहार ने ही बांका निर्वाचन क्षेत्र से श्री मधु लिमये लोकसभा में चुनकर आये थे।

मैं जिन क्षेत्रों में घूमा था, उनमे से एक महत्वपूर्ण निर्वाचन क्षेत्र था रायबरेली। इस निर्वाचन क्षेत्र के चुनाव के समय जो बाते हुई उनसे आगे चलकर भारतीय राजनीति को एक नया मोड़ मिला। इस निर्वाचन क्षेत्र में प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी खड़ी थीं

और उनके विरूद्ध समाजवादी दल के श्री राज नारायण थे। उन्हें कम्युनिस्टों को छोड़कर सभी विपक्षी दलों का समर्थन था। प्रधानमंत्री होने के बाद श्रीमती गांधी ने अपने लिए रायबरेली निर्वाचन क्षेत्र चुना था और १९६७ में वे वहां से चुनकर भी आयी थीं। श्रीमती गांधी के रायबरेली की प्रतिनिधि बनने के बाद उस नगर का काफी विकास हुआ। कई सरकारी कारखाने खुले और निजी कारखानों को लायसेंस दिये गए। विपक्षी दलों की ओर से उन पर यह आरोप भी लगाया जाता था कि अपने निजी लाभ के लिए श्रीमती गांधी ने सरकारी अधिकारों का दुरूपयोग कर रायबरेली का बेतहाशा विकास किया है। पर मैं इस प्रकार के आरोप पर विशेष ध्यान नहीं देता था। क्योंकि इसे यदि अधिकारों के दुरूपयोग का दोष माना जाए तो उससे पं. नेहरू और कुछ मात्रा में श्री मोरारजी देसाई को छोड़कर मंत्री पद पर पहुंचे किसी नेता को इससे मुक्त नहीं किया जा सकता।

इस निर्वाचन क्षेत्र में जाने से पहले वहां होने वाले चुनाव प्रचार के संबंध में मैंने कुछ बातें सुन रखी थीं। बहुत बड़े पैमाने पर पैसा बहाया जा रहा है। श्री राजनारायण चुनाव प्रचार का स्तर बहुत ही नीचे गिरा रहे है। यह भी कहा जाता था कि मतदाताओं को अपनी ओर आकृष्ट करने के लिए श्रीमती गांधी की ओर से कम्बल, धोतियां, साड़ियां आदि का बहुत बड़े पैमाने पर वितरण हुआ है। इनमें से कुछ बातें चुनाव के बाद श्रीमती गांधी के विरूद्ध प्रस्तुत चुनाव याचिका में उठायी भी गई थीं। पर मुझे उनसे कुछ लेना—देना नहीं है। रायबरेली में मैंने जो देखा और जो सुना उसी के बल पर कुछ लिख रहा हूं।

मेरे एक पत्रकार मित्र श्री किदवई ने अपनी गाड़ी से मुझे लखनऊ से रायबरेली शहर के पास लाकर छोड़ दिया था। उन्हें भूतपूर्व मंत्री श्री दिनेश सिंह के निर्वाचन क्षेत्र प्रतापगढ़ जाना था। गाड़ी से उतरते ही जो साइकिल रिक्शा मुझे दिखाई दिया उसमें मैं बैठा। उसे शहर ले चलने के लिए मैंने कहा। मैं हमेशा इसी पद्धति को अपनाता था। किसी भी निर्वाचन क्षेत्र की स्थिति का पता लगाना हो तो यथासंभव सबसे नीचे के स्तर पर वहां का हालचाल पूछिए। रिक्शा चालू होने पर मैंने रिक्शा वाले से पूछा, अरे भाई! चुनाव के क्या हाल है? उसने कहा, साहब! बहुत जोर है। मैंने पूछा, यह तुम कैसे कहते हो? रिक्शा वाले ने कहा, दोनों के पास काफी गाड़ियां है। बिलकुल ठीक तो नहीं बता सकता। पर राजनारायण के पास साठ—सत्तर गाड़ियां होंगी और श्रीमती गांधी के पास तीन सौ के आसपास। हम इतने में शहर में पहुंचे और दिखाई देने लगा कि सचमुच चुनाव की तैयारियां जोरों पर हैं। छोटा सा रायबरेली शहर कांग्रेस और समाजवादी दल के झंडे और झंडियों से भरा दिखाई दे रहा था। झंडे देखकर लगता था कि शहर दो राजनीतिक विचारधाराओं में बंट गया है। मैं श्री राजनारायण के कार्यालय में गया। वहां राजनारायण नहीं थे। पर कुछ कार्यकर्ता मिले। उनकी मुझ पर जो छाप पड़ी वह यह थी कि वे परिश्रमी हैं, जिद से काम करने वाले हैं और उनमें निजी राजनीतिक स्वार्थ बहत ही कम हैं। उनके कार्यालय में मुझे बहुत टीमटाम भी नहीं दिखाई दी।

इसके बाद मैं श्रीमती गांधी के कार्यालय में गया। उस दिन उनकी वहां एक प्रचार सभा होने वाली थी। इसके लिए उन्हें आना था। मुझे बताया गया कि अधिकांश कार्यकर्ता उनका स्वागत करने के लिए हवाई अड्डे पर गये हैं। जो दो–चार लोग मुझे मिले उनमें एक युवा विद्यार्थी था और वही उस कार्यालय का प्रमुख था। थोड़ी सी जानकारी लेने के बाद मैं वहां से निकला। वह विद्यार्थी भी मेरे साथ बाहर आया। मुझसे उसने कहा, मेरा राजनीति से कोई संबंध नहीं है। हाल में ही मैं एम. ए. हुआ हूं। इन लोगों से संबंध बना रहा तो शायद सरकारी नौकरी मिल जायेगी, इस आशा से कम वेतन पर काम कर रहा हूं। मेरी आज तक यह समझ में नहीं आया कि उसने मुझे यह क्यों बताया। पर एक बात की अनुभूति हुई। राजनारायण के कार्यालय में वेतनिक कर्मचारी नहीं दिखाई पड़े थे। यहां वे थे।

मेरे मस्तिष्क में उस समय जो दूसरा सवाल घूम रहा था वह यह था कि नीचे के स्तर पर चुनाव प्रचार होने की बात वहां तक ठीक है। इसका पता कैसे लगाया जाय। दल से सम्बन्धित लोग तो एक–दूसरे के विरूद्ध ऐसे आरोप लगायेंगे ही। मेरे मस्तिष्क में वे विचार घूम ही रहे थे कि मैं स्टेशन के रास्ते पर चल पड़ा। नजदीक था। पैदल ही जाना था। शहर से स्टेशन की ओर जाते समय मुझे दाहिनी ओर एक काफी लम्बी दीवार दिखाई दी। मैं यह नहीं बता सकता कि यह दीवार किसके अधिकार में थी। पर पोस्टर लगाने, नारे लिखने आदि के लिए उसका काफी उपयोग किया गया था। मैं देखने लगा कि प्रचार के स्तर की दृष्टि से इन पोस्टरों और नारों में क्या कुछ मिलता है? श्रीमती इंदिरा गांधी के विरूद्ध प्रतीत होने वाला एक नारा लिखा दिखाई दिया। "इंदिरा राज का देखो खेल, खा गयी गल्ला और पी गई तेल"। इस नारे को निश्चित रूप से निचले स्तर का ही कहना पड़ेगा। पर कहा जा सकता है कि इस नारे में एक आर्थिक दृष्टिकोण भी था। यह नारा लिखने वाले को शायद यह सुझाना था कि इंदिरा गांधी के राज में अनाज और तेल भी नहीं मिलता। इतने में मेरा ध्यान उसी दीवार पर लिखे दूसरे नारे पर गया। वह राजनारायण और उनके सहयोगियों के विरूद्ध था। "वाजपेयी का तेल कड़वा, सुचेता रंडी, राजनारायण भडवा"। इसी के पास दूसरा नारा भी था। "मोरारजी देसाई, कामराज की दुहाई, सुचेता तेरी लुगाई"। मैं समझ नहीं पाया, इन नारों का स्तर क्या समझा जाय। आज तक यह भी न समझ पाया कि क्या इन नारों से कोई आर्थिक या राजनीतिक अर्थ सूचित होता है। यदि पहले नारे की जिम्मेदारी राजनारायण पर डाली जाय तो दूसरे दो नारों की जिम्मेदारी श्रीमती गांधी पर डालनी ही पड़ेगी।

मैं एक बात की खोज और करना चाहता था। कम्बल, धोती, साड़ी आदि का वितरण किये जाने के आरोप में कहा तक सचाई है। पर बतायेगा कौन? देने वाला तो बतायेगा ही नहीं, लेने वाला भी उसकी स्वीकृति नहीं देगा। मेरी यह धारणा बनी कि इस संबंध में कोई निश्चित जानकारी नहीं मिलेगी। अत: लखनऊ लौटने की दृष्टि से मैं रायबरेली स्टेशन पहुंचा। लखनऊ की ओर जाने वाली गाड़ी आने में डेढ़–दो घंटे का

समय था। व्यर्थ में इधर–उधर घूमकर पैरों को क्यों थकाया जाय, यह सोचकर मैंने प्रथम श्रेणी का टिकट लिया और आराम करने की दृष्टि से वेटिंग रूम में आया। मैं बैठा ही था कि वेटिंग रूम का चपरासी आया और उसने मेरे टिकट का नम्बर आदि लिखने के लिए रजिस्टर आगे बढ़ाया। मैंने आवश्यक जानकारी उसमें दर्ज की और सहज में ही उससे पूछ बैठा, अरे भाई! चुनाव लड़ने वाले उम्मीदवारों में से किसी ने कम्बल, साड़ियां, धोतियां आदि कुछ बांटा था क्या? उसने तुरंत कहा, "हां सरकार, बांटा गया था। पर मुझ गरीब को कुछ नहीं मिला। कुछ चीजें तो श्रीमती गांधी ने स्वयं बांटी। पर उनके पास अधिक समय नहीं था। उन्होंने बांटने की चीजें यहीं के लोगों को दे दीं। उन्होंने जो बांटा ही नहीं खुद ही खा गए।" चपरासी ने यह तो बताया ही कि चीजें बांटी गई, उसे उसमें कुछ अनुचित भी नहीं लगा था। उसे खेद केवल इतनी ही बात का था कि उसे स्वयं उसमें से कुछ नहीं मिला।

इस चुनाव में श्रीमती गांधी की कांग्रेस को जो विजय प्राप्त हुई वह निश्चय ही आंखों में चकाचौंध पैदा करने वाली थी। उस समय देश में जो वातावरण था, बिहार और उत्तर प्रदेश के दौरों में मैंने उसका अनुभव किया था। उसे ध्यान में रखते हुए चुनाव में श्रीमती गांधी की विजय पर विशेष आश्चर्य की बात नहीं थी। उन दिनों भारतीय जनसंघ के नेता श्री बलराज मधोक ने कहा था कि यह "बाई" की नहीं "स्याही" की करतूत थी। पर उनके आरोप पर मुझे कभी भी विश्वास नहीं हुआ। श्री बलराज मधोक का इस बात पर बहुत अधिक विश्वास था कि रशिया ने एक ऐसी अदृश्य स्याही दी जिसका उपयोग मत–पत्रिकाएं तैयार करने में हुआ। इस स्याही की विशेषता यह थी कि मतदान के समय इस स्याही से लगी मुहर नहीं दिखाई देती थी। पर मतों की गिनती के समय वह दिखाई देने लगती थी। इस बात को लेकर श्री मधोक ने एक मुकदमा भी चलाया। पर वे आवश्यक सबूत प्रस्तुत नहीं कर सके और मुकदमा खारिज कर दिया गया। इसके बावजूद अदृश्य स्याही की बात पर श्री मधोक का विश्वास अटल था, यद्यपि कम से कम मुझे वैसा कभी नहीं लगा।

पर यह भी सच है कि १९७१ के चुनाव में कुछ निर्वाचन क्षेत्रों में जो परिणाम आये उनसे मुझे भी उस काल में काफी अचरज हुआ था। मैंने कई आमचुनाव देखे। चुनाव के पूर्व का वातावरण देखकर जो अंदाजा हमलोग लगाते थे वह अधिकतर ठीक ही निकला था। १९७१ के चुनाव में भी श्रीमती तारकेश्वरी सिन्हा और श्री मधु लिमये के चुनाव के सम्बन्ध में मेरा अंदाजा ठीक ही निकला। उस वर्ष मतदान के दिन मैं दिल्ली में ही था। बाहरी दिल्ली निर्वाचन क्षेत्र को छोड़कर सभी मतदान क्षेत्रों में घूमा भी था। मतदान के दिन जो हवा थी उसे देखकर चांदनी चौक निर्वाचन क्षेत्र से श्रीमती इंदिरा गांधी कांग्रेस की उम्मीदवार श्रीमती सुभद्रा जोशी के निर्वाचित होने में मेरे मन में कोई संदेह नहीं था। पर दूसरे मतदान केन्द्रों का वातावरण देखकर ऐसा लगता था कि भारतीय जनसंघ के सभी उम्मीदवार चुने जायेंगे। मेरे मन में जरा भी यह संदेह नहीं था कि दक्षिण

दिल्ली निर्वाचन क्षेत्र से श्री बलराज मधोक चुनाव नहीं जीत सकेंगे। पर दिल्ली में भारतीय जनसंघ के सभी उम्मीदवार हार गए। संदेह अवश्य हुआ कि कहीं कुछ गड़बड़ी अवश्य हुई है। पर वह क्या थी यह निश्चित रूप से कभी नहीं बताया जा सका। आगे चलकर इस चुनाव में निर्वाचित कांग्रेस के श्री अमरनाथ चावला का चुनाव खर्च के संबंध में निर्वाचन कानून की व्यवस्थाएं तोड़ने के कारण रद्द हो गया। उसके बाद दिल्ली महानगरपालिका का जो चुनाव हआ उसमें भारतीय जनसंघ को स्पष्ट बहुमत मिला। अत: यह संदेह और भी बढ़ा कि लोकसभा के चुनाव में कुछ गड़बड़ी अवश्य हुई होगी। पर अपने मन में भी मैं कभी इस निर्णय पर नहीं पहुंच पाया कि सचमुच गड़बड़ी हुई थी, और हुई थी तो वह क्या थी?

श्रीमती इंदिरा गांधी के लिये १९७१ का वर्ष बहुत ही अच्छा रहा। चुनाव में दो तिहाई से अधिक बहुमत प्राप्त होने के कारण संसद में, विशेषत: लोकसभा में कम्युनिस्टों पर अवलम्बित रहने की आवश्यकता नहीं रही। पं. उमाशंकर दीक्षित को, जिनका नेहरू घराने के साथ पुराना सम्बन्ध था, गृहमंत्री पद पर नियुक्त किया गया। कुछ महत्वपूर्ण विभाग काटकर श्री यशवंतराव चव्हाण को पहले ही वित्तमंत्री बनाया जा चुका था। रक्षामंत्री पद पर श्री जगजीवनराम की नियुक्ति की गई और कृषि तथा खाद्यमंत्री पद पर श्री फकरूद्दीन अली अहमद की। गृहमंत्री के रूप में श्री उमाशंकर दीक्षित संसद में कभी नहीं चमके। हमें यह गुत्थी कभी सुलझ नहीं पायी कि गृह मंत्रालय जैसा सभी दृष्टियों से महत्वपूर्ण विभाग उन्हें क्यों दिया गया। अवस्था की दृष्टि से उनकी गिनती पुरानी पीढ़ी के लोगों में ही करनी पड़ेगी। यह सुनने में भी नहीं आया कि स्वाधीनता आंदोलन में उन्होंने कुछ महत्वपूर्ण हाथ बटाया हो। मैं जानता हूं कि १९४० में वे मारवाड़ी असोसिएशन के सेक्रेटरी के रूप में बम्बई में थे। शायद स्वाधीनतापूर्व के काल में उनके माध्यम से सेठ साहूकारों से कांग्रेस को पैसा मिलता होगा। पर यदि वैसा होता तो उन्हें पहले भी कुछ और महत्व देते। पर वैसा नहीं हुआ। उनकी जो तसवीर मेरे सामने उभरी है वह पर्दे के पीछे काम करने वाले की है। इसकी चर्चा आगे चलकर होगी ही। उसी समय श्री कुमार मंगलम्, श्री सिद्धार्थ शंकर रे, श्री एच. आर. गोखले को भी केन्द्रीय मंत्रिमण्डल में लिया गया।

श्रीमती गांधी के मंत्रिमण्डल में दूसरे महत्वपूर्ण मंत्री श्री जगजीवनराम थे। कांग्रेस के विभाजन के बाद बम्बई में जो अधिवेशन हुआ, उसमें वे ही अध्यक्ष थे। उनके रक्षामंत्री बनने के बाद उसी वर्ष पाकिस्तान के साथ युद्ध हुआ और उसमें विजय भी प्राप्त हुई। रक्षामंत्री बनने के बाद श्री जगजीवनराम ने मेरी समझ से एक महत्वपूर्ण कार्य किया। श्री कृष्णमेनन जब रक्षामंत्री थे, छोटे—बड़े सभी सैनिक अधिकारियों में यह भावना पनपी थी कि उनकी स्थिति वेतनिक कर्मचारियों से अधिक नहीं है। अत: उनमें अपनी जिम्मेदारी जिद के साथ निभाने का उत्साह नहीं था। श्री यशवंतराव चव्हाण ने रक्षामंत्री बनने के बाद अधिकारियों के साथ सम्मानपूर्ण बर्ताव शुरू किया और १९६५ के युद्ध में उसका

अच्छा फल भी मिला। श्री जगजीवन राम ने साधारण सैनिकों में भी उठना—बैठना शुरू किया और मुझे लगता है कि १९७१ की विजय में उनके इस बर्ताव का भी काफी बड़ा हाथ था।

राष्ट्रपति के चुनाव के प्रश्न को लेकर कांग्रेस संगठन में जो तूफान उठा उसमें श्रीमती इंदिरा गांधी को केन्द्र के जिन प्रमुख मंत्रियों का प्रारंभ से ही समर्थन था वे थे श्री जगजीवनराम तथा श्री फकरुद्दीन अली अहमद। पर दोनों के सम्बन्ध में श्रीमती गांधी का व्यवहार बिलकुल अलग था। श्री वराह वेंकटगिरि का कार्यकाल समाप्त होने के बाद श्री फकरुद्दीन अली अहमद राष्ट्रपति बने। पर १९६९ मे कांग्रेस संसदीय बोर्ड ने श्री जगजीवन राम का नाम स्वीकार न करने के कारण आगे की सारी घटनाएं हुई थीं। १९७४ के राष्ट्रपति निर्वाचन के समय जब श्रीमती इंदिरा गांधी की इच्छा ही सब कुछ थी, श्री जगजीवन राम को राष्ट्रपति बनने के लिए पूछने की औपचारिकता निभाने का भी समाचार नहीं छपा था। मेरी दृष्टि में इसका एक ही कारण था। श्री फकरुद्दीन अली अहमद श्रीमती गांधी के प्रति पूरी तरह वफादार थे। वे श्रीमती गांधी की प्रसन्नता के लिए कोई भी कदम उठाने को तैयार रहते थे।

इस संदर्भ में निम्नलिखित घटना मुझे श्री अण्णासाहब शिंदे के मुंह से अचानक ज्ञात हो गई थी। उन दिनों श्री अण्णासाहब शिंदे कृषि मंत्रालय में राज्यमंत्री थे और श्री फकरूद्दीन अली अहमद उस विभाग के प्रमुख मंत्री थे। उस समय एक रूसी प्रतिनिधिमण्डल भारत आया था। रूस केरल के तटवर्ती भारतीय समुद्र में मछलियां पकड़ने का अधिकार चाहता था और इस दृष्टि से मछुआरों की नावों को भारतीय किनारे पर लगाने की ओर उन मछुआरों को भारतीय किनारे पर उतरने की सुविधा उसे चाहिए थी। श्री दुर्गा प्रसाद धर योजना मंत्री थे। उनका साफ—साफ झुकाव रूस की ओर था। बात कैसे बनायी गयी, इसकी मझे जानकारी नहीं है। पर संबंधित फाइल जब कृषि मंत्रालय में आयी, यह धारणा बनी थी कि वह प्रधानमंत्री के कार्यालय से आयी है और प्रधानमंत्री की राय यह सुविधा रूस को देने के पक्ष में है। पर विषय से संबंधित कृषि मंत्रालय के अधिकारी ने फाइल पर लिखा कि इस प्रकार की सुविधा देना देश के हित में नहीं होगा। उस अधिकारी के सामने भारत का इतिहास था। विदेशियों को इसी प्रकार केवल व्यापार की सुविधा देने का बहुत ही बुरा नतीजा निकला था। पर श्री फकरूद्दीन अली अहमद को लगा कि श्रीमती गांधी ये सुविधाएं देना चाहती है। अत: उन्होंने विभाग के वरिष्ठ अधिकारी का विरोध ठुकराकर विभाग की स्वीकृति फाईल पर लिख दी। पर जब यह प्रश्न मंत्रिमण्डल की बैठक में उपस्थित हुआ, श्रीमती गांधी का ध्यान सहज में ही उस ओर गया। वे चौंक उठीं और उन्होंने कहा, देश इसे सहन नहीं कर सकेगा। वह फाईल एक तरफ कर दी गई और देश पर आने वाला एक महान संकट टल गया।

पर श्री जगजीवन राम की स्थिति यह नहीं थी। उन्हें इस बात का हमेशा अहसास रहता था कि उनका अपना स्वतंत्र अस्तित्व है। प्रधानमंत्री बनने की उनकी महत्वाकांक्षा,

पं. नेहरू जब जीवित थे, तब से थी। श्री यशवंतराव चव्हाण और श्री जगजीवन राम मंत्रिमण्डल में वर्षों साथ रहे। पर दोनों की आपस में कभी नहीं बनी। अपनी इच्छा के विरूद्ध झुकते जाना यही दोनों का स्वभाव था। दोनों ने बाद में श्रीमती गांधी का साथ छोड़ा। पर तब तक काफी देर हो चुकी थी। श्री जगजीवन राम जब कांग्रेस के अध्यक्ष थे, उनके मुंह से एक बार निकला था कि मैं कांग्रेस का केवल नामधारी अध्यक्ष नहीं हूं (I' m not a sleeping President)। इस पर समाचार पत्रों में थोड़ा बहुत तूफान उठा। संभवत: श्री जगजीवन राम से कहा गया कि आप कांग्रेस का अध्यक्ष पद या मंत्रीपद, इनमें से कोई एक चुन लीजिए। कहने वालों को भी पता था कि वे क्या चुनेंगे। उन्होंने मंत्रीपद चुना। पर उन्हें अपने मंत्रीपद का भी पूरा सम्मान नहीं मिला। १९६५ के युद्ध के बाद विजय के हकदार के रूप में प्रधानमंत्री श्री लालबहादुर शास्त्री और श्री यशवंतराव चव्हाण को देशवासियों ने सिर पर उठाया था। १९७१ की विजय १९६५ की तुलना में काफी बड़ी थी। पर उसका श्रेय रक्षामंत्री श्री जगजीवन राम को बिलकुल नहीं मिला। मुझ पर तो यह असर है कि सरकारी माध्यमों के द्वारा जानबुझकर इस प्रकार का प्रयत्न किया गया। इस विजय के बाद जो समारोह होते थे, उन्हें दूरदर्शन पर दिखाते समय श्री जगजीवन राम के सामने आते ही लगता था कि सम्बन्धि टेप काट दी गई है। इतने वर्षों के बाद भी मुझे ऐसा नहीं लगता कि यह बिना किसी के आदेश के हुआ होगा।

नागालैण्ड

१९७१ में ही नागालैण्ड राज्य की स्थापना के बाद वहां की विधानसभा के लिए प्रथम चुनाव हुए। उस चुनाव के निरीक्षण के लिए दिल्ली से जो पत्रकार गए थे, उनमें मैं भी था। मुझे भारत के इस भूभाग के सम्बन्ध में बहुत ही दिलचस्पी थी। उस समय नागालैण्ड की कुल आबादी लगभग चार लाख थी। इस छोटी सी आबादी वाले प्रदेश को राज्य का दर्जा देने का विधेयक पहले ही पास हो चुका था। नागालैण्ड के स्थान पर उसे दूसरे राज्यों की तरह नागा प्रदेश कहने का संशोधन तो नामंजूर हो ही चुका था, अंग्रेजी को वहां की राजभाषा के रूप में भी स्वीकृति दी गई थी। विद्रोही नागाओं के सम्बन्ध में बहुत पढ़ा था और बहुत सुना भी था। इसलिए इच्छा थी कि वहां की समस्या समझूं। लोग कहते थे कि वहां की समस्या बहुत ही बिगड़ चुकी है। जो वास्तव में पास है उन्हें दूर ढकेलने और जो सचमुच दूर है उन्हें पास लाने की भारत सरकार की नीति के कारण फौजी नियंत्रण में वह प्रदेश वर्षो तक रहने के बाद भी विद्रोही नागाओं पर काबू पाने में सफलता नहीं मिली। हमारे जाने के पूर्व ही वहां के विद्रोही नागाओं में दो गुट हो गए थे। उनमें से एक भारत सरकार के प्रति थोड़ी सी सहानुभूति रखता था। उसकी चर्चा आगे करुंगा। पर हम चुनावों का निरीक्षण करने गए थे। अत: पहले यह बताना होगा कि हमने वहां क्या देखा।

प्रत्यक्ष मतदान होते समय हमने कई मतदान केन्द्रों का निरीक्षण किया। सभी केन्द्रों पर वोट देने के लिए खड़े स्त्री—पुरुषों की लम्बी—लम्बी लाइनें थीं। चुनाव में नागा नेशनल ऑर्गेनाइझेशन, जो एन. एन. ओ. इस संक्षिप्त नाम से पहचाना जाता था, विजयी हुआ। विद्रोही नागा नेता फिजी के साथ जिस दल की निकटता समझी जाती थी, वह पराजित हुआ। वह चुनाव भारतीय कानून के अनुसार हो रहा था। प्रत्यक्ष चुनाव को देखते समय हमें एक बात अखरी थी। भारतीय कानून के अनुसार अवस्था के २१ वर्ष पूर्ण होने पर ही व्यक्त मतदान का अधिकार प्राप्त करता है। उससे कम अवस्था वाले को वह अधिकार नहीं होता। पर मतदाताओं की कतारों में हमने कई ऐसे लड़के—लड़कियां देखीं, जिनकी अवस्था दस—बारह वर्ष से अधिक नहीं प्रतीत होती थी।

हममें से कुछ ने एक चुनाव अधिकारी का ध्यान उस ओर खींचा भी। उसने कहा, वैसा हो सकता है। पर मैं कुछ नहीं कर सकता। जिनका नाम मतदाताओं की सूची में है उन्हें मैं मतदान करने से रोक नहीं सकता। मैं यह नहीं बता सकता कि वे नाम सूची में कैसे आये। आप जैसा कहते हैं वैसा हो तो बाद में चुनाव याचिका के द्वारा सवाल उठाया जा सकता है। हमने इस बात का पता लगाने का प्रयत्न किया कि यह हुआ कैसे? उस समय वातावरण ऐसा था कि शहर से कुछ दूरी पर जो गांव थे, वहां प्रत्यक्ष जाकर, घर—घर घुमकर नाम दर्ज करना संभव ही नहीं था। नामांकन करने का काम जिसे सौंपा जाता था, उसे अपनी जान का खतरा लगता था। अत: कई स्थानों पर पुलिस के

थाने में ग्राम प्रमुख को बुलाया गया और उसने जो नाम बताये वे उसी तरह लिख लिए गए। ग्राम प्रमुख को सबकी आयु याद न होने के कारण यह हुआ हो सकता है। यह भी हो सकता है कि केन्द्र सरकार के प्रति जिस दल की थोड़ी बहुत सहानुभूति थी, उसे जिताने के लिए यह प्रपंच रचा गया होगा। एन. एन. ओ. को नागालैण्ड की कांग्रेस ही कहा जाता था।

कारण कुछ भी हो, पर हमने मुख्य रूप से अनुभव यह किया कि उस भूभाग में भारत के सम्बन्ध में जरा भी अपनापन नहीं है। नागालैण्ड की राजधानी कोहिमा में भी भारतीय रात–बेरात घूम नहीं सकते थे। वहां आमतौर पर नागा शब्द का अर्थ भारत विरोधी ही समझा जाता था। लोग कहते थे कि वहां कोई अंडरग्राउंड नागा है तो कोई ओवरग्राउंड है। भारतीय नागा कोई भी नहीं है। ऐसा क्या हुआ इस पर समुचित विचार स्वाधीनता के पहले हो ही नहीं सकता था। स्वाधीनता के बाद वह तुरंत होना चाहिए था। पर वह भी नहीं हुआ। बल्कि इसके विपरीत ऐसे ही कदम उठाए गए जिससे इस भूभाग के लोग भारत से एकरूप न होने पायें। प्रसिद्ध मिशनरी माइकेल स्कॉट विद्रोही नेता फिजो का समर्थन कर रहे थे। अत: पं. नेहरू ने उनके विरूद्ध भूमिका अपनायी थी। पर उनका ध्यान इस ओर कभी नहीं गया कि दूसरे मिशनरी वहां क्या कर रहे हैं। फिर उनकी गतिविधियों पर नियंत्रण करने की बात तो दूर ही रही।

डॉ. आराम के नेतृत्व में शांति मिशन के नाम से विद्रोही नागा और भारत सरकार के बीच मित्रतापूर्ण सम्बन्ध जोड़ने की बात का प्रचार काफी हुआ था। पर प्रत्यक्ष में वहां क्या किया जा रहा है इसकी समय पर पूछताछ नहीं हुई। डॉ. आराम उस समय नागालैण्ड में एक बहुत बड़ी हस्ती थी।

भारत में विविधता में एकता की बात बहुत कही जाती है। विशेषत: पिछड़े प्रदेशों की संस्कृति बनाये रखने की बात भी बहुत की जाती है। नागालैण्ड के लोगों की पुरानी संस्कृति बनी रहे, उनका भारत के दूसरे भागों के लागों द्वारा शोषण न हो इसलिए नागालैण्ड में दूसरे प्रदेश के भारतीयों के आने–जाने पर प्रतिबंध था। हम पत्रकारों को भी परमिट लेना पड़ा था। वहां अचल सम्पत्ति खरीदने में भारतीयों पर उस समय प्रतिबंध था और आज भी है। इसके कारण भारत की दृष्टि से कई बुरे परिणाम हुए। इस संबंध में मुझे आश्चर्य इस बात का हुआ कि वहां काम करने के लिए भेजे गए भारतीय अधिकारियों को तो उसका अंदाजा हो जाता था। पर केन्द्रीय राजनीतिक नेतृत्व को वह कभी नहीं होता था। यही कारण था कि अधिकारी कुछ कर नहीं सकते थे। जब हम नागालैण्ड गए, उस समय वहां श्री 'एस. सी. देव' नाम के एक बांगला भाषी अधिकारी थे जो उस समय कोहिमा के कमिश्नर थे। बाद में उनके कार्य के सम्मान में उन्हें "पद्मश्री" भी दिया गया।

नागालैण्ड को भारत से अलग रखने की केन्द्रीय सरकार की नीति उन्हें बिलकुल पसंद नहीं थी। उन्होंने हम पत्रकारों के साथ अनौपचारिक चर्चा करते समय कई ऐसी बातें बतायीं जिन पर हर भारतीय को विचार करना चाहिए। नागालैण्ड की संस्कृति बनाये रखने तथा दूसरे भारतीयों के आवागमन पर प्रतिबंध की सरकारी नीति के संबंध में उन्होंने कहा, संस्कृति बनाये रखने का अर्थ क्या है? नागालैण्ड के लोग आज जिस प्रकार अर्धनग्न और रंग–बिरंगे कपड़ों में हाथ में भाले लेकर रहते हैं, उन्हें उसी प्रकार रहने देना क्या यही संस्कृति की रक्षा का अर्थ है? वेशभूषा की संस्कृति कभी एक जैसी नहीं रहती। उसमें निरंतर परिवर्तन होता रहता है। उस वेशभूषा की रक्षा किसी संग्रहालय में करने की बात तो ठीक है। वह मैं और मेरे जैसे कुछ और लोग कर भी रहे हैं। दस–बीस वर्ष के बाद नागालोग यदि मुझसे पूछेंगे कि उनके पूर्वज कैसे रहते थे तो वह मैं उन्हें बता भी सकूंगा। पर वे अब भी वैसे ही रहे यह आग्रह उन्हें जानबूझकर पिछड़ा बनाये रखना ही होगा। रंग–बिरंगी पोशाकों में भालों को चलाते हुए नागाओं का दिल्ली में २६ जनवरी को प्रदर्शन करने से उनकी प्रगति नहीं होगी। संस्कृति के रूप में उनकी वेशभूषा बनाये रखने का जो प्रयत्न हम करते हैं वह भी सफल नहीं होगा। श्री देव के इस कथन की सचाई नागालैण्ड के दौरे में ही हमारे सामने आ गयी। विद्रोही नेता श्री फिजों के गांव खनूमा में हमलोग गए थे। वहां हमने देखा कि १६ से १८ वर्ष की जवान लड़कियां शरीर से बिलकुल चिपके तथा शरीर स्पष्ट दिखाई दे ऐसे पारदर्शक सूट पहने घूम रही थीं। सरकारी नीति के कारण नागालैण्ड में भारतीय संस्कृति का प्रवेश नहीं हो पाया था। पर वह स्थान अमेरिकी संस्कृति ने लेना प्रारंभ कर दिया था।

श्री देव ने ही एक और घटना बतायी। वह इस बात की आंखें खोल देने वाला उदाहरण है कि हमने भारत के लिए अनुकूल प्रवृत्तियों की नागा क्षेत्र में किस प्रकार उपेक्षा की है। नागालैण्ड में रानी गुडीलो नामक महिला आज भी जीवित है। उसने अंग्रेजी सत्ता के विरूद्ध भी विद्रोह किया था और उसे अंग्रेजों ने जेल में बंद किया था। नागाओं मे जो अनेक जातियां और उपजातियां है, उनमें से एक पर उसका प्रभुत्व है। उसकी जाति के लोग नागालैण्ड में तो रहते ही हैं उससे लगे मणिपुर और असम राज्य के क्षेत्रों में भी रहते हैं। उसकी इच्छा थी कि सभी नागा जातियां और उपजातियां एक राज्य में हों। यह इच्छा उसी तरह की थी जिस प्रकार तेलुगू भाषी अथवी मराठी भाषी प्रदेश एक करने की इच्छा से आंदोलन हुए थे और अंततोगत्वा भारत सरकार ने उसे स्वीकार किया था। पर रानी गुडीलो की इस इच्छा का विरोध मणिपुर और असम की सरकारे तो उनका क्षेत्र कटने की आशंका से कर रही थीं, नागालैण्ड के नेताओं को भी उससे विरोध था। पर उसका कारण जानकर मुझे तो आश्चर्य हुआ ही, औरों को भी वह होगा। रानी गुडीलो की कल्पना का यदि नागाराज्य बनता तो नागालैण्ड में इसाइयों का प्रभुत्व नहीं रह सकता था, क्योंकि रानी गुडीलो और उनकी जाति ईसाई धर्म को नहीं मानती।

श्री देव ने कहा, मांग मंजूर न होने के कारण रानी ने फिर विद्रोह का झंडा गाड़ दिया। उस विद्रोह को दबाने का दायित्व सरकार ने मुझ पर डाला। मैं जानता था कि रानी गुडीलो भारत विरोधी नहीं है। अत: उसके और उसके सहयोगियों के विरूद्ध कड़ी कार्रवाई करने का दिल नहीं हो रहा था। पर विद्रोह समाप्त होने के आसार नहीं दिखाई दे रहे थे। जिस भाग में रानी गुडीलो के निवास होने का संदेह था, उसे बम फेंककर उध्वस्त कर देने की भी सलाह दी गई। मुझे वह पसंद नहीं आयी। मैं कहीं सहज में ही कह गया था कि यदि रानी गुडीलो से मेरी भेंट हो जाती तो मैं उन्हें बता सकता कि उनके द्वारा अपनाया गया विद्रोह का रास्ता किस प्रकार गलत है। मैं यह नहीं जानता कि यह बात रानी के गिरोह तक कैसे पहुंची। पर एक दिन मुझे संदेश मिला कि मिलने की आपकी इच्छा हो तो मुलाकात हो सकती है। पर आपको पूरी तरह नि:शस्त्र और अकेले आना पड़ेगा। मेरे कई सहयोगियों ने मुझे कहा, इसमें जान को खतरा है। मुझे जाने का साहस नहीं करना चाहिए। कम से कम बिना हथियार लिए जाने की शर्त तो मानी ही न जाय। पर मैंने खतरा उठाने का निर्णय किया।

जगह तय हुई और मैं वहां अकेला और बिना कोई हथियार लिए ही गया। मुझे एक जीप में बैठाया गया और मेरी आंख बांध दी गई। मैं ठीकठाक तो नहीं कह सकता कि जीप कितनी देर चलती रही थी। पर चार–पांच घंटे तो अवश्य चली होगी। आवाज से ऐसा लग रहा था कि जीप पहाड़ी पर बड़े कठिन पथरीले रास्ते जा रही है। अंत में जीप रूकी और मुझे उतारा गया। मेरी आंख खुलने पर मैंने देखा कि मेरे दोनों ओर बंदूकधारी सिपाहियों की लम्बी कतार लगी हुई है। कुछ देर तक ऐसा लगा कि मैं यहां से अब जीवित नहीं लौट सकूंगा। पर मन में कुछ विचार आया और मैंने पूरे जोर के साथ "जयहिंद" का नारा लगाया। जयहिन्द के नारे से ही मुझे उसका उत्तर मिला और मेरी जान में जान आयी। मेरी भेंट हुई और मैं रानी गुडीलो को समझा सका। उन्होंने आत्मसमर्पण का निश्चय किया। उनकी मांग के संबंध में कुछ भी कहने का मुझे अधिकार नहीं था। मैंने कहा, मैं श्रीमती इंदिरा गांधी के साथ आपकी भेंट करा देता हूं। आप उन्हें समझा दीजिए। भेंट हुई भी। पर नतीजा कुछ भी न निकला। श्री देव ने कहा, कभी–कभी मेरे मन में विचार आता है कि रानी गुडीलो के आत्मसमर्पण में मैंने जो हाथ बटाया उसमें मेरे द्वारा भारत के हित के विरूद्ध तो कोई काम नहीं हुआ। उसमें भी आज संतोष केवल इस बात का है कि रानी गुडीलो के जो सैनिक थे उन्हें मैंने नागालैण्ड की पुलिस में शामिल कर लिया। आज यहां एकमात्र वही वर्ग ऐसा है जिस पर पूरी तरह विश्वास किया जा सकता है।

श्री देव से यह घटना सुनने के बाद स्वभावत: हम पत्रकारों को लगा कि रानी गुडीलो से भी मिलना चाहिए। श्री देव ने हमारे लिए उसकी व्यवस्था भी करा दी। अब यह तो स्मरण नहीं है कि उनसे उस समय क्या बातें हुई। पर उनका घर देखकर मन पर सदा के लिए एक छाप पड़ गई। नागालैण्ड में हम कई नेताओं से मिले थे। पर

किसी के घर में हमें किसी भारतीय नेता का छोटा—मोटा चित्र भी नहीं दिखाई दिया था। केवल रानी गुडीलो के घर पर ही हमने एक कैलेंडर देखा जिस पर पं. जवाहरलाल नेहरू का चित्र था। रानी के सहयोगियों ने जो वेदनाएं व्यक्त कीं वे और भी दु:खद थीं। नागालैण्ड एक ऐसा पहाड़ी प्रदेश है जहां जीप ही परिवहन का मुख्य साधन हो सकता है। शांति मिशन के नाम पर डॉ. आराम के लिए जीपों का तांता लगा देने वाली सरकार को रानी गुडीलो के उपयोग के लिए दो—चार जीपों की व्यवस्था फिजूल खर्च प्रतीत होता था। साधन न होने के कारण वे अपने अनुयायियों से इच्छानुसार मिलजुल भी नहीं सकती थीं।

कश्मीर की तरह नागालैण्ड में भी शेष भारत के नागरिक अचल सम्पत्ति नहीं खरीद सकते थे। उन पर कानूनी रोक थी। इसी प्रकार वे अपने नाम पर खुलेआम व्यापार भी नहीं कर सकते थे। उद्देश्य था कि वहां के सीधे—साधे लोगों का शोषण न हो। इस उद्देश्य के विरोध में कुछ नहीं का जा सकता। पर प्रत्यक्ष में क्या हुआ। कोहिमा में मैंने जो देखा वही लिख रहा हूं। कोहिमा में हमने छोटे—छोटे कमरों की दुकानें देखीं। बाहर बोर्ड पर लिखा रहता था, मालिक—अमुक अंगामी, अमुक सेमा आदि। पर उसके आगे मैनेजर के रूप में मेहर सिंह, सुखलाल, गिरधारीलाल आदि नाम लिखे होते थे। जब इस संबंध में अधिक पूछताछ की तो पता चला कि यह कानून से बचने का रास्ता था। कमरा अंगामी नागा, या सेमा नागा के स्वामित्व का अथवा उसने किराये पर लिया हुआ। पर व्यापार करने की दृष्टि और उसके लिये आवश्यक परिश्रम करने की तैयारी न होने के कारण उस छोटे से कमरे का महीने में दो सौ, तीन सौ रुपया किराया लेकर किसी मेहरसिंह, सुखलाल या गिरधारीलाल को दे दिया गया था। उस समय पूरे नागालैण्ड की आबादी चार लाख कही जाती थी। उसी अनुपात में वह कोहिमा में भी होगी। इसी से अनुमान लगाया जा सकता है कि वहां अधिक से अधिक बिक्री कितनी होती होगी। छोटे—से कमरे का दो—तीन सौ रुपए किराया देने वाला दुकानदार अपने मुनाफे के साथ चीजों की कीमतें बढ़ाकर ही वसूल करेगा। जिनका शोषण न हो, इसलिए यह सारा प्रपंच था उसी से उनका दुगुना शोषण होने का रास्ता खुल गया था।

मैं कभी भी यह नहीं समझ सका कि नागा प्रदेश की राजभाषा अंग्रेजी क्यों निश्चित की गई। यदि सचमुच उस भूभाग में अंग्रेजी आमतौर पर बोली जाती होती तो वैसा करना उचित होता। पर वहां जो जानकारी मिली उसके अनुसार नागाओं की १६ उपजातियां थी और उन सबकी अगामी सेना आदि नाम से अलग बोलियां थीं। उनमें से कुछ बोलियों में आकाशवाणी पर कुछ गीत प्रसारित होना प्रारंभ हो गया था। मैं जब कोहिमा में था, मैंने वे सुने थे। वेदमंत्रों की तरह मुझे वे मधुर प्रतीत हुए। मैंने यह भी पता किया कि सोलह बोलियां बोलने वाले ये नागा आपस में किस भाषा में व्यवहार करते हैं। पता यह चला कि ये सोलह बोलियां और असमियां मिलकर एक और बोली बनी है जिसे नागासामी कहते है। नागाओं का आपसी व्यवहार इसी भाषा में होता है।

उस समय नागालैण्ड विधानसभा के सेक्रेटरी थे श्री हरी परांजपे। वे मेरे बहुत पुराने मित्र थे। उन्होंने मुझे बताया कि विधानसभा में अधिकांश भाषण नागासामी में ही होते हैं। पर राजभाषा अंग्रेजी होने के कारण रिकार्ड अंग्रेजी में रखना आवश्यक था। किन्तु अंग्रेजी और नागासामी दोनों पर जिनका प्रभुत्व हो, ऐसे लोग बहुत ही कम होने के कारण रिकार्ड रखने का काम बहुत ही कठिन हो गया है। अंग्रेजी के बजाय नागासामी को ही यदि राजभाषा बनाया जाता तो सवाल इतना ही होता कि उसे किस लिपि में लिखा जाय। पर जिस प्रकार मुसलमान आमतौर पर उर्दू को ही अपनी भाषा मानते है, उसी प्रकार ईसाई भी अंग्रेजी को अपनी भाषा समझते हैं। मेरी यह निश्चित धारणा है कि भारत का केन्द्रीय नेतृत्व धार्मिक दुराग्रह का शिकार हो गया और नागालैण्ड की राजभाषा अंग्रेजी निश्चित हुई।

कोहिमा के कमिश्नर श्री एस. सी. देव की भारत के प्रति बड़ी जबरदस्त वफादारी थी। नागा नेताओं को भारतीयता के साथ मिलाने के उनके प्रयत्न लगातार चलते रहते थे। संविधान की व्यवस्था के अनुसार विधानसभा अथवा संसद में चुनकर आने के बाद सविधान के प्रति वफादारी की शपथ लेनी होती है। पर श्री देव ने १९७१ के चुनाव में कोहिमा से जो उम्मीदवार खड़े थे, उन्हें आवेदन पत्र भरने के पहले भी वह लेने के लिए कहा। इतना ही नहीं, उन्होंने लाउड स्पीकर लगाकर सारे शहर में उसका प्रसारण भी कराया था। इस संबंध में पूछने पर उन्होंने कहा, किसी कानून के अंतर्गत यह करने का मुझे अधिकार नहीं था। पर कानून में ऐसा प्रतिबंध भी नहीं है कि आवेदन पत्र भरने के पूर्व संविधान के प्रति वफादारी की शपथ न ली जाए। नागाओं में भारत के सम्बन्ध में विद्रोह की भावना है। परिस्थिति से बाध्य होकर उनमें से कुछ चुनाव में भाग ले रहे हैं। वैसे नागा यह अत्यंत ईमानदार जाति है। मेरी कल्पना यह थी कि एक बार यदि भारतीय संविधान के प्रति वफादारी की शपथ उन्होंने ली और हजारों लोग जब उसे सुन चुके होंगे तो फिर वे विद्रोह का रास्ता नहीं अपनायेंगे।

आम धारणा यह है कि नागालैण्ड में ईसाइयों की आबादी अधिक होने के कारण इंग्लैण्ड की तरह उसका नाम नागालैण्ड रखा गया और राजभाषा अंग्रेजी निश्चित की गई। पर वास्तव में क्या वैसी स्थिति थी। इस प्रश्न का ठीक—ठीक उत्तर हमें वहां नहीं मिल सका। नागालैण्ड के हमारे दौरे में हमने कई गांव भी देखे। वहां जो आदिवासी वर्ग हमें बड़ी संख्या में दिखाई दिया, वह निश्चित रूप से ईसाई नहीं था। मैं उसे हिंदू भी नहीं कह सकता। पर उनमें विशेषतः अधिक अवस्था वाले पुरुषों के सिर पर दो—तीन अंगुल मोटी, हाथ डेढ़ हाथ लम्बी चोटियां दिखाई दीं। पर इन चोटियों के बाल पुराने ऋषि—मुनियों की तरह एक दूसरे में उलझे किसी मोटी रस्सी की तरह बंटे दिखाई देते थे। बताया गया कि ये लोग पत्थर के देवता पूजते हैं। नागालैण्ड में मिशनरियों को छोड़कर दूसरे स्कूल ही नहीं थे। अतः स्कूल में भरती करते समय ही लड़के अथवा लड़की का बाप्तिस्मा न हुआ हो तो भी उसका धर्म ईसाई ही लिखा जाता है और उसे

ईसाइयों जैसा नाम भी दिया जाता है। भारतीय संस्कृति के चिन्ह वहां हमें अधिक नहीं दिखाई दिये। कोहिमा से कुछ दूर पर ओखा नामक एक अच्छा गांव है। हमें बताया गया कि उस गांव का सम्बन्ध उषा अनिरूद्ध की कथा के साथ लगाया जाता है। दूर से हमें एक टूटा–फूटा मंदिर भी दिखाया गया। नागालैण्ड से लगा जो मणिपुर राज्य है वहां का जीवन आज भी कृष्ण कथाओं के साथ जुड़ा है। वहां का प्रसिद्ध मणिपुरी नृत्य कृष्ण कथा पर ही आधारित है। हमारी यह धारणा बनी कि नागालैण्ड जल्दी टूटने वाले हलके पत्थरों का पर्वतीय प्रदेश होने के कारण वहां पुराने सांस्कृतिक कोई भी चिन्ह नहीं बचे हैं। पर "नाग" इस शब्द ने अवश्य ही उसकी भारतीयता को बनाये रखा हैं।

नागालैण्ड में अमेरिकी संस्कृति का प्रवेश होने की बात मैं ऊपर लिख चुका हूं। पर उसी के साथ यह भी दिखाई दिया कि वेशभूषा की अमेरिकी संस्कृति का तो प्रवेश हुआ पर अमेरिका की कुछ अच्छी बातें भोले और सरल स्वभाव के नागाओं को नहीं सिखाई गई। मुझे वहां का वातावरण भारत के वैदिक काल की तरह दिखाई दिया। जब हम गए थे तब नागालैण्ड में किसके पास कितनी गायें हैं, इसी से उसके धनवान या गरीब होने का अनुमान लगाया जाता था। सामान्यत: नागा व्यक्ति का कद ठिगना होता है। उसी प्रकार वहां की गायों का कद भी छोटा ही था। उन दिनों यह जानकारी मिली कि किसी के पास सौ गायें हैं, तो किसी के पास डेढ़ सौ गायें हैं। ऐसा लगा था कि यहां दूध, दही, घी का अच्छा प्रयोग होता होगा। पर पूछताछ करने पर पता चला कि नागालैण्ड में गोपालन केवल गोमांस खाने के लिए ही होता था। वहां शायद इस बात का ज्ञान ही नहीं था कि गाय के दूध का भी स्वास्थ्य की दृष्टि से अच्छा उपयोग होता है। नागालैण्ड में गौओं की संख्या काफी होने पर भी चाय के लिए कंडेंस्ड् मिल्क अथवा दूध की पाउडर का प्रयोग करना पड़ता था। मुझे इस प्रश्न का उत्तर वहां कभी नहीं मिल सका कि ईसाई मिशनरियों ने उन्हें यह क्यों नहीं सिखाया कि गाय के दूध का प्रयोग स्वास्थ्यवर्धक है।

उन दिनों मैं बम्बई के 'महाराष्ट्र टाइम्स' में लिखता था। इससे सभी स्तर के मराठी पाठक मेरे नाम से परिचित थे। कोहिमा से नौ मील पर चकामा नामक गांव में एक सैनिक शिविर था। वहां के मुख्य अधिकारी कर्नल उपासनी नाम के मराठी भाषी व्यक्ति थे। उन्हें किसी प्रकार मालूम हुआ कि दिल्ली के पत्रकारों के साथ मैं भी आया हूं। उन्होंने मुझे रात के भोजन के लिये निमंत्रण दिया। कोहिमा से ले जाने की और रात में वापस पहुंचाने की व्यवस्था भी की। मैं भी यह जानने को उत्सुक था कि नागालैण्ड की कुल हालात के सम्बन्ध में फौजी अधिकारियों की क्या राय है। मैंने खुशी के साथ निमंत्रण स्वीकार किया। उन दिनों पत्रकार के नाते मुझे यत्र–तत्र शराब पीनी पड़ती थी और यद्यपि मुझमें उसकी चाह कभी भी पैदा नहीं हुई, पर मैंने उसका बिलकुल परहेज भी नहीं रखा था। विस्की से गिलास भरे गए और उसके घूंट चखते–चखते बातें शुरू हुई। बातों–बातों मे कर्नल उपासनी कुछ आवेश में आ गए। पर वह विस्की का परिणाम नहीं था। नागालैण्ड

की हालात के सम्बन्ध में उनके मन में जो भावनाएं इकट्ठी हो गई थीं उनका वह विस्फोट था। जिनका बहुत सारा जीवन फौज में ही गुजरा हो, उनका एक–दूसरे पेग से नशे में बहकना तो संभव ही नहीं था। उन्होंने मुझे पूछा, संसार में वास्तविक सत्य क्या है? (What is the real truth in the world)। मैं तो पहले समझ ही नहीं पाया कि उनके प्रश्न का वास्तव में निशाना क्या है? मैं चुपचाप उनकी ओर देखता रहा तो उन्होंने ही आगे कहा, मैं बताता हूं। सुनिये। संसार में मृत्यु यही केवल वास्तविक सत्य है। (Death is the only truth in the world)। आगे उन्होंने कहा, लगातार मृत्यु के सामने खड़े होने के कारण हम सचाई के बहुत ही निकट हैं और झूठेपन से दूर हैं। मैं अब भी नहीं समझ पाया था कि कर्नल उपासनी क्या सूचित करना चाहते हैं। पर उन्होंने ही आगे कहा, देश की सीमाओं की रक्षा करना हमारा काम है। राजनीतिक नेता निश्चित करें कि वह सीमा क्या हो। यदि उन्हें लगता हो कि नागालैण्ड विदेशियों का है तो दीमापुर को भारत की सीमा मान लीजिए। हम उसी की रक्षा करेंगे। पर एक बार सीमा की रक्षा का काम हमें सौंपने के बाद राजनीतिक नेताओं को उसमें हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए।

उन दिनों इस प्रकार की घटनाएं बहुत होती थीं कि विद्रोही नागा अकेले–दुकेले भारतीय सैनिक को देख उसकी जान ले लेते थे। पर संभवत: शांति मिशन के दबाव के कारण राजनीतिक आदेश था कि भारतीय सेना जवाबी कार्रवाई न करें। कर्नल उपासनी इस भावना से क्रोधित हो उठे थे कि उनकी आंखों के सामने भारतीय जवान मारे जा रहे हैं और वे कुछ नहीं कर सकते।

कर्नल उपासनी की ही नहीं, चकामा शिविर के दूसरे सैनिक अधिकारियों की भी यही भावना थी। ये सभी अधिकारी इस नीति के लिए पं. जवाहरलाल नेहरू को जिम्मेदार समझते थे। बाद में हम लोग मेस में खाना खाने गए। रात में लगभग ११–१२ का समय हो चुका था। यह नहीं कहा जा सकता कि उस समय शराब का असर बिलकुल नहीं होगा। वहां राजस्थान के एक मेजर शर्मा भी थे। उनके मुंह से पं. जवाहरलाल नेहरू के संबंध में जो बात निकली, सुनकर मुझे तो धक्का ही लगा। उन्होंने कहा, कभी–कभी मेरे मन में आता है कि पं. नेहरू के पुतले को जूतों का हार पहनाऊं (I want to garland Nehru's Statue with shoes)। मैं उस धक्के से संभल ही रहा था कि कर्नल उपासनी के मुंह से निकले वाक्य ने मुझे झटका ही दे दिया। "नहीं, नहीं, मिस्टर शर्मा यह जूतों को बरबाद करना होगा।" (No, no, Mr. Sharma, it will be the waste of shoes!)। ये वाक्य सुनने में आज भी भयंकर प्रतीत होंगे। पर उन्हें उस समय के वातावरण के कारण सैनिक अधिकारियों में जो भावना जगी थी उसका प्रतीक समझना चाहिए। उनका केवल उन शब्दों से प्रगट होने वाला अर्थ लगाना उचित नहीं होगा। वे अधिकारी भारत की रक्षा के लिए अपनी जान कुर्बान करने को तैयार थे। पर बिना किसी कारण अपने जवानों को बेमौत मरने देना वे पसंद नहीं कर सकते थे। उस समय के वातावरण का एक ही उदाहरण देना पर्याप्त होगा। चकामा शिविर से रात में लौटने के

बाद दूसरे दिन हमने सुबह देखा कि कोहिमा में जो एक ही पेट्रोल पंप था, उसे बम द्वारा उध्वस्त कर दिया गया था।

वरिष्ठ सैनिक अधिकारियों की उक्त भावना समझी जा सकती थी। इसके पीछे जो विचार है वह ठीक है कि अपराधी पर शासन होना ही चाहिए पर सैनिकों द्वारा वहां के सामान्य नागरिकों को अकारण यातनायें पहुंचाने की भी कई घटनाएं नागालैण्ड में सुनी। एक ऐसी घटना हमारी आंखों के सामने ही घटी, जिससे सुनी–सुनायी घटना भी सच प्रतीत होने लगी। नागालैण्ड में हमलोग जब घूमने निकले थे, हमारे साथ वहां की सरकार के प्रचार विभाग का एक अधिकारी था। कोहिमा के पास ही दो खुफिया सैनिक पहरेदारों ने हमे रोका। हम कौन हैं यह बताने के बाद भी वे उस प्रचार अधिकारी के साथ बहुत बुरी तरह पेश आये। उन्होंने उससे थोड़ी बहुत मारपीठ भी की। मेरे मन में उसी समय यह बात आयी कि इस प्रकार के व्यवहार से सामान्य नागरिकों में भारत के संबंध में अपनत्व कैसे पैदा होगा। यह सब हुआ था रम की दो बोतलों की चोरी होने के कारण। पास की सैनिक चौकी से रम की कुछ बोतलें गायब हुई थी। उसी समय यह भी ज्ञात हुआ कि सामान्य नागा व्यक्ति सामने सोना पड़ा होगा तो नहीं उठायेगा, पर रम की बोतल देखते ही उसे उड़ाने का मोह वह नहीं रोक सकता।

नागाओं के विद्रोह की बात बहुत की जाती है। उसमें काफी सचाई भी है। पर मुझे ऐसा लगता है कि आम आदमी में एक प्रकार की कबायली वृत्ति होती है, केवल अपना स्वार्थ देखने की, शहर प्रदेश और देश आदि की भावना बाद में आती है। नागालैण्ड के आम आदमी की स्थिति भी इससे अलग नहीं थी। उनके अलगाव की भावना को बढ़ावा दिया ईसाई मिशनरियों ने और दुर्भाग्य की बात यह रही कि उसे भारतीय नेतृत्व समय रहते नहीं पहचान सका। कबायली भावना किस प्रकार की होती है इसका उदाहरण हमें नागालैण्ड में ही मिला। नागालैण्ड के दौरे में हम विद्रोही नेता फिजो के गांव खनूमा गए। वहां दोपहर के भोजन की व्यवस्था थी। नागाओं की प्रथा के अनुसार भोजन के समय मधु (चावल की शराब) अवश्य होती है। भोजन के लिए हमारे साथ खनुमा का ग्राम प्रमुख भी था। उसने खूब पी थी। जब भोजन समाप्त होकर हमलोग चलने लगे तो उसे कुछ उत्साहित करने की दृष्टि से हमलोगों में से कुछ ने उससे कहा, जय नागा। हमें लगा था कि वह इस पर खुश होगा। पर उसने कहा, " नहीं–नहीं, जय नागा नहीं, जय खनूमा"। उसे जय नागा से भी "जय खनूमा" अधिक प्रिय था।

जैसा कि मैंने प्रारंभ में कहा, नागालैंड में विद्रोहियों के गुट थे। एक गुट भारत सरकार के प्रति कुछ अनुकूल हो गया था। दोनों अपने आपको क्रांतिकारी सरकार कहा करते थे। कोहिमा से कुछ ही दूरी पर भारत सरकार के प्रति अनुकूल क्रांतिकारी सरकार का दफ्तर था। उसे देखने की हमें अनुमति मिल गई थी। वहां का वातावरण फौजी कैम्प जैसा था। वहां के जवानों की वर्दी बिलकुल काली थी। जिसे देखने में वे भयानक लगते थे। यहां दूसरी सरकार के कुछ जवानों को बंदी बनाया गया था। भारत के प्रति अनुकूल

क्रांतिकारी सरकार के प्रमुख कघाटो सुखाई से भी हमारी भेंट हुई, पर वह कैम्प में नहीं। दोनों गुटों में जानलेवा दुश्मनी हो गई थी। दूसरे दल के व्यक्ति को गोली से उड़ा देने में कोई भी संकोच नहीं करता था। नागालैंड में बर्मा के सीमा पर नुहेनबुटो नाम का छोटा सा नगर है। यहां बर्फ आदि तो नहीं पड़ती। पर भयानक सर्दी होती है। उसे सूखी ठंडी कहते है। यहां की पुरानी संस्कृति का जो वर्णन हमें मिला वह भी बड़ा भयानक था। कोई भी युवक विवाह योग्य तब तक नहीं समझा जाता था जब तक वह दुश्मन के दो जवानों को मारकर उनके कटे सिर हाथ में लटकाकर न ले आये। यहां श्री कघोटा सुखाई हमसे मिलने आये। हमें बताया गया कि श्री कघाटो सुखाई काफी पढ़े–लिखे हैं और उन्होंने संस्कृत विषय लेकर एम.ए. किया है। बातचीत में भी वे हमें काफी पढ़े लिखे प्रतीत भी हुए। हमने उनके स्वागत के लिए पीने और खाने दोनों की व्यवस्था की थी। प्रारंभ में उन्हें पीने में तो कोई संकोच नहीं दिखाई दिया। पर उनके सामने प्लेट में रखे कवाब के टुकड़ों को वे हाथ नहीं लगा रहे थे। उन्हें शक था कि कहीं उसमें जहर न मिला हो। प्रारंभ में एक घंटे तक उनके मन में काफी शक सुबह था। हर पांच मिनट पर वह बाहर जाकर देख आते थे कि उनकी जान को कोई खतरा तो नहीं है। एक घंटे के बाद जब वे कुछ आश्वस्त हए, वे कवाब और मीट के टुकड़े भी खाने लगे। पर हमें यह देखकर बहुत आश्चर्य हुआ कि वे मीट के टुकड़े हड्डी समेत चना जैसे चबा जा रहे हैं। उनके दांत इतने मजबूत थे। इसका तो मुझे स्मरण नहीं है कि उनसे उस समय बातें क्या हुई थी।

नागालैण्ड की कुल हालत देखकर मुझे ऐसा लगा कि वहां आवश्यकता है श्री देव जैसे व्यवहारकुशल अधिकारियों की। इसी प्रकार नागालैण्ड में जो युवा वर्ग तैयार हो रहा है, उसे दूसरे राज्यों में जिम्मेदारी के, स्थान दिये जाने चाहिए। शेष भारत के साथ नागालैण्ड का आदान–प्रदान बढ़ना चाहिए। इस भूभाग को भारत से अलग रखने की जो भूल हुई है उसे तुरंत सुधारने की आवश्यकता है। शेष भारत और नागालैण्ड का जितना अधिक एकीकरण हो, करना आवश्यक हैं। पुणे के श्री रिसबूड नामक युवा ने इस दिशा में कदम भी उठाया। उन्होंने नागा की सेमा जाति की एक लड़की से विवाह किया और उसका नाम मीरा रखा। १९७१ में उन्हें दो छोटे लड़के थे। जहां ऐसा कहने का वातावरण था कि हमारा भारत के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, वे लड़के गर्व के साथ कहते थे कि वे मराठी हैं। नागा लड़की के विवाह करने के कारण श्री रिसबुडजी को प्रारंभ में कोहिमा में काफी कठिन परिस्थितियों से गुजरना पड़ा, पर बाद में वे राज्य सरकार के एक प्रमुख अधिकारी बने। बाद में कई वर्षों तक वे जब–जब दिल्ली आते थे, मेरी उनके भेंट होती रहती थी।

सीमावर्ती क्षेत्र का मेरा अनुभव यह है कि वहां के जो लोग ईसाई धर्म स्वीकार कर लेते हैं वे अपने आदिवासी जाति के दूसरे लोगों की सहायता तो करते ही नहीं, उनके साथ बहुत बुरी तरह पेश आते हैं। घटना नागालैण्ड की नहीं, पर उसी के आसपास

गॅरो हिल्स (अब का मेघालय) की है। दिल्ली के कुछ पत्रकारों का उस क्षेत्र का दौरा भारत सरकार द्वारा ही आयोजित हुआ था। हमने वहां यह देखा कि ईसाइयत का प्रचार उन स्थानों पर अधिक है। जहां यातायात के कुछ अच्छे साधन हैं। वहां हमें चर्चिल, आईझनहॉवर नाम के लोग मिले। उनका रहन—सहन गरीबी का था, फिर भी आधुनिक दिखाई देता था। पर कुछ और अंदर प्रवेश करने पर हमें ऐसे लोग दिखाई पड़े जिन्हें रहन—सहन से सच्चे आदिवासी कहा जा सकता है। युवा स्त्रियों के शरीर पर भी कमर के नीचे का कुछ भाग छोड़कर कोई कपड़ा नहीं दिखाई देता था। पर यहां के नाम भारतीय संस्कृति में सुपरिचित थे। कोई लतिका थी तो कोई अर्जुन था। यहां हमारे साथ एक प्रचार अधिकारी था। उसका नाम था श्री इंगटी। वैसे हमारे साथ उस अधिकारी का व्यवहार बहुत ही अच्छा था। इस विभाग में हम लोग जब घूम रहे थे, दस—बीस लोग कहीं से आ गए और कुछ कहने लगे। हमारी समझ में कुछ नहीं आ रहा था। पर हमारे साथ के अधिकारी श्री इंगटी बहुत ही क्रोधित हो गए और उन्होंने उन्हें हाथ के बेंत से मारा और भगा दिया। हमें आश्चर्य इस बात का लगा कि इतने भले प्रतीत होने वाले अधिकारी को इतना गुस्सा क्यों आया कि उसने हाथ तक उठाया। बाद में हमने जब पूछताछ की तो हमें बताया गया कि वे लोग हम पत्रकारों से ही मिलना चाहते थे। वे अपने आपको आहो नागा कहते हैं। उनकी धारणा है कि आहो नागा का अर्थ हिंदू नागा हैं। वे आपसे वहां के प्रशासन की ही शिकायत करना चाहते थे। इसीलिए श्री इंगेटी ने उन्हें आपसे मिलने नहीं दिया।

बंगला देश का निर्माण

१९७१ में भारत के पूर्व और उत्तर दोनों सीमाओं पर लड़ाई हुई। प्रत्यक्ष लड़ाई के समय मुझे वहां जाने का अवसर नहीं मिला। १९६५ के युद्ध के बाद मैंने कुछ पत्रकारों के साथ भारत के कब्जे में आये पाकिस्तानी प्रदेश को देखा था। १९७१ में पूर्व बंगाल में बंगला देश के स्वाधीनता का संग्राम जब चल रहा था, उत्तर भारत की सीमा पर भी वातावरण गरमाया हुआ था। उत्तर में युद्ध प्रारंभ होने के कुछ ही समय पहले मैंने तथा 'महाराष्ट्र टाइम्स' के संपादक श्री गोविंदराव तलवलकर ने पंजाब की सीमा का दौरा किया था। युद्ध के बाद समाचार संपादक श्री दि. वि. गोखले के साथ जम्मू सीमा पर दौरा करने का भी मुझे अवसर मिला था। लड़ाई के पहले जब गया था तो अनुभव किया था कि भारतीय जवान उत्साह से भरे हुए हैं। उनमें भावना यह थी कि १९६५ में विभिन्न कारणों से हम पाकिस्तानियों को पूरा सबक नहीं सिखा सके थे। इस बार युद्ध प्रारंभ होने पर वह सिखाये बिना नहीं रहेंगे। युद्ध के बाद जम्मू सीमा पर जवानों में मुझे इस बात पर संतोष दिखाई दिया कि उन्होंने पाकिस्तानियों को अच्छा सबक सिखाया है।

उन दिनों बहुत खुले तौर पर तो नहीं, पर निजी चर्चाओं में एक बात बलपूर्वक कही जा रही थी। बंगला देश को मुक्तिवाहिनी के प्रयत्नों से स्वतंत्रता नहीं मिली। भारतीय सेना ने वह उसे प्राप्त करा दी। उसी प्रकार पश्चिम पाकिस्तान की सीमा पर दिसम्बर के तीसरे सप्ताह में जो रणभेरियां बजीं, उसकी शुरुआत पाकिस्तान की ओर से नहीं, भारत की ओर से हुई थी। उन दिनों विभिन्न सूत्रों से मुझे जो जानकारी मिली थी, उसके आधार पर मुझे भी यही कहना पड़ेगा कि उक्त कथन में काफी सचाई थी। मेरे एक मित्र का लड़का फौज में था और वह एक टुकड़ी का कप्तान भी था। बाद में उसने मुझे बताया था कि वास्तविक मुक्तिवाहिनी हमलोग ही थे। मुक्तिवाहिनी के सैनिक के रूप में उसे गोली भी लगी थी। मुक्तिवाहिनी के माध्यम से जब लड़ाई चल रही थी, एक सावधानी और भी अपनायी गई थी। मुक्तिवाहिनी के लोग पकड़े गए और उनके पास शस्त्रास्त्र मिले तो वे पाकिस्तान में ही बने हैं यह दिखाने के लिए उस पर 'मेड इन पाकिस्तान' (Made in Pakistan) यह मुहर भी अंकित होती थी।

जिस दिन पाकिस्तान द्वारा भारत पर आक्रमण करने का समाचार आया, उसके एक दिन पहले की बात है। वातावरण धुधुआ रहा था। यह तो कोई नहीं कह सकता था कि लड़ाई कब शुरू होगी। पर वातावरण ऐसा था कि वह कभी भी शुरू हो सकती थी। समय शाम को साढ़े चार बजे का था। मैं संसद के सेंट्रल हाल में था। कृषि राज्यमंत्री श्री अण्णासाहब शिंदे मुझे वहां मिले। वे उसी समय संसद भवन के हवाई यातायात के बुकिंग कार्यालय से लौटे थे। उन्हें महाराष्ट्र प्रदेश कांग्रेस कमेटी की बैठक के लिए दूसरे दिन बम्बई जाना था। उन्होंने मुझसे कहा, बुकिंग वाले कहते हैं कि आपको जाना हो तो आज ही जाइये। कहा नहीं जा सकता कि कल हवाई जहाज जायेंगे या नहीं। दूसरे दिन

शाम को सात साढ़े सात बजे पत्र सूचना विभाग के कांफ्रेस हॉल में सीमा की स्थिति के संबंध में सरकारी प्रवक्ता का वक्तव्य हमलोग सुन ही रहे थे कि अचानक ब्लैक आऊट हो गया। थोड़ी देर के बाद हमें बताया गया कि पाकिस्तान ने उत्तरी सीमा पर भारत पर हमला कर दिया है। इस प्रकार उत्तर में लड़ाई शुरू हो गई। भारतीय सेना ने अधिकृत रूप से बांगला देश में भी प्रवेश किया। थोड़े ही दिनों में युद्ध का परिणाम निकल आया। पूर्व बंगाल में लेफ्टनेंट जनरल नियाजी ने लेफ्टनेंट जनरल जे. एस. अरोड़ा के सामने आत्मसमर्पण किया। बंगला देश का जन्म हुआ। बंग बंधु श्री मुजीबुर्रहमान का सपना साकार हो गया।

बंगला देश के निर्माण के संबंध में उन दिनों राजधानी में जो चर्चा हो रही थी उसका स्वरूप कुछ इस प्रकार था। बंगला देश का निर्माण उस समय भारत की राजनीतिक आवश्यकता थी। पाकिस्तानी अधिकारियों का पक्का इरादा था कि पूर्व बंगाल के स्वाधीनता आंदोलन को कुचल दिया जाए। पर बंगला देश में जो पंजाबी पाकिस्तानी सेना थी, उसकी ताकत मुक्तिवाहिनी को कुचलने के लिए कम पड़ने लगी। पश्चिम पाकिस्तान से और सेना भेजने का निश्चय किया गया। वह वहां यदि पहुंच जाती तो मुक्तिवाहिनी के रूप में जो भारतीय सैनिक पूर्व बंगाल में थे, उनकी शक्ति पर्याप्त न होती। अत: वहां के स्वाधीनता संग्राम को अन्तिम दौर तक पहुंचाने के लिए तत्काल दूसरा मोर्चा खोलना आवश्यक था। वैसा न किया गया होता तो दुनिया भर की उलझनें पैदा हो जाती। अमेरिका का पाकिस्तान को समर्थन था और अमेरिका ने यदि कुछ किया तो भारत को प्राप्त आश्वासन के अनुसार रूस उसके मुकाबले में खड़ा होता। कुछ समय के लिए यह सवाल पैदा हो गया था कि क्या दो महाशक्तियों को जूझने के लिए हमारे प्रदेश, मैदान प्राप्त होंगे ? उससे इस भूभाग में आपकी हानि हो सकती थी। लड़ाई जल्द समाप्त हो जाने के कारण वह अवसर नहीं आया। कहना पड़ता है कि उत्तरी सीमा पर दूसरा मोर्चा खोलने के कारण ही पाकिस्तानी सेना वहां उलझी और पूर्व बंगाल में युद्ध का निर्णय जल्द हो सका।

पश्चिमी पत्रकारों ने भारतीय नेतृत्व की इस बात को लेकर कड़ी आलोचना की है कि बंगला देश के स्वाधीनता संग्राम में मुक्तिवाहिनी की आड़ में भारतीय सैनिकों द्वारा गुप्त रूप से काम करना कहां तक उचित था? इसी प्रकार पाकिस्तान ने आक्रमण किया है यह बहाना लेकर उत्तरी सीमा पर दूसरा मोर्चा खोलना भी क्या उचित था? उनका कहना था कि माना कि पूर्व बंगाल में आम जनता के साथ ऐसा व्यवहार हो रहा था जिसे अमानवीय कहां जा सके। पर वह भी भारत ने जो कदम उठाये उसका समर्थन करने के लिए पर्याप्त नहीं प्रतीत होता। भारत के प्रथम प्रधानमंत्री पं. जवाहरलाल नेहरू ने इस नीति पर बार–बार बल दिया था कि दूसरे देशों के अंदरूनी मामलों में किसी को भी हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। फिर भारत इस बात पर विचार क्यों करे कि पाकिस्तान उसके अपने नागरिकों के साथ कैसा व्यवहार कर रहा है। कल यदि कुछ लोगों ने यह

भूमिका अपनायी कि भारत में कुछ लोगों पर अत्याचार हो रहा है और उन्हें उनकी सहायता करनी चाहिए तो वह भारत को कैसा प्रतीत होगा। विद्रोही नागाओं को पाकिस्तान द्वारा भड़काए जाने और शस्त्रास्त्रों की सहायता दी जाने के समाचार जब आ रहे थे तब भारत को कैसा लगता था? उसके विरूद्ध भारत ने शिकायत क्या नहीं की थी?

यह मानने के बाद भी कि मुक्तिवाहिनी में भारतीय सैनिक काफी मात्रा में थे और उत्तर में युद्ध की शुरुआत पाकिस्तान ने नहीं, भारत ने की थी। मुझे आज भी ऐसा लगता है कि श्रीमती इंदिरा गांधी के नेतृत्व में उस समय भारत ने जो कदम उठाये वे बिलकुल ठीक थे। इस संबंध में मेरी विचारधारा इस प्रकार है। हर देश को यह छूट होती है, और वह होनी भी चाहिए, कि उसकी अंतर्गत व्यवस्था में कोई दूसरा देश हस्तक्षेप न करें। पर इसका अर्थ यह नहीं है कि ऐसा करते समय उसे दूसरे देश की व्यवस्था तोड़ने की छूट मिल जाती है। पूर्व बंगाल में जो आंदोलन प्रारंभ हुआ उसे कुचलने के लिए पाकिस्तान ने जो रास्ते अपनाये उससे भारत के आर्थिक जीवन पर बहुत बडा दबाव आया।

पूर्व बंगाल में जीना जब असंभव हो गया तब लगभग एक करोड़ शरणार्थी जिसमें हिंदू और मुसलमान दोनों थे, भारत आये। इतनी बड़ी संख्या में शरणार्थियों का पालन–पोषण भारत की अर्थव्यवस्था पर बहुत बड़ा बोझ हो गया। अब तक का दुनिया का इतिहास यही है कि विभाजन के कारण जो शरणार्थी बनकर आते हैं वे फिर वापस नहीं लौटते। बंगला देश का आंदोलन यदि सफल न होता तो ये शरणार्थी भी वापस नहीं लौटने वाले थे। अब केवल भारत के आर्थिक स्वार्थ की दृष्टि से इस आंदोलन की सहायता करना भारत के लिए अनिवार्य हो गया। श्रीमती इंदिरा गांधी ने उन दिनों प्रधानमंत्री के नाते कहा था कि आये हुए शरणार्थी निश्चित रूप से वापस जायेंगे। श्रीमती गांधी ने जो इनेगिने आश्वासन पूरे किये है उनमें यह बहुत महत्व का आश्वासन था। उस समय आये हुए शरणार्थियों में से अधिकांश वापस गए।

आधुनिक भारत की एक विशेषता है। छोटी–मोटी बातों को लेकर भारतीय नेता आपस में खूब लड़ते हैं। पर दूसरे देश के आक्रमण का अथवा उसके साथ संघर्ष की बात आते ही सारा भारत एक होकर खड़ा हो जाता है। पूर्व बंगाल में पाकिस्तानियों द्वारा जो अत्याचार हो रहे थे उसके समाचारों से आम भारतीय जनमानस में चिढ़ पैदा हो गई थी। उसी में पाकिस्तान द्वारा उत्तरी सीमा पर हमला करने का समाचार आते ही सारा भारत एक होकर श्रीमती गांधी के समर्थन के लिए खड़ा हो गया। भारतीय जनसंघ के श्री अटलबिहारी वाजपेयी और श्रीमती इंदिरा गांधी की कभी भी आपस में नहीं बनी थी। पर उन्होंने एक बार सार्वजनिक सभा में श्रीमती गांधी को 'दुष्टसंहारिणी दुर्गा' की उपमा दी। उन दिनों श्रीमती इंदिरा गांधी का जनमानस पर कितना अधिक प्रभाव था इसके संबंध में एक बार उन्होंने ही मुझे बताया। उन्होंने कहा लोग कहते हैं कि आप जनसंघ वाले अखंड भारत के संबंध में बड़ी–बड़ी बातें तो बहुत करते हैं, पर आपके हाथों प्रत्यक्ष में

कुछ भी नहीं हुआ। देखिये, श्रीमती गांधी ने कम से कम पाकिस्तान तोड़कर तो दिखा दिया। इस संबंध में उस समय भी काफी मतभेद थे और बाद में भी बने रहेंगे कि १९७१ में भारत ने पाकिस्तान को जो सबक सिखाया उसका कितना लाभ भारत को हुआ और बाद में भी वह बना रहेगा। पर एक बात निश्चित है कि इस युद्ध में पाकिस्तान की आक्रमण शक्ति इतनी घट गयी की लगातार अमेरिकी फौजी सहायता मिलती रहने पर भी उसके कारण भारत को पहले जिस प्रकार का खतरा लगता था वैसा अब नहीं लगता।

उस काल में श्रीमती इंदिरा गांधी का व्यक्तित्व जिस प्रकार ऊपर चढ़कर चमका उसी प्रकार बंगबंधु मुजीबुर्रहमान भी भारत में बहुत लोकप्रिय हो गए थे। पाकिस्तान की जेल से छूटने के बाद ढाका जाते समय वे दिल्ली में थोड़ी देर रूके थे। हवाई अड्डे पर उनका बहुत ही शानदार स्वागत हुआ था और उनकी एक सार्वजनिक सभा भी हुई थी। सभा में उनका बंगला में भाषण हुआ था जो सबने ध्यान से सुना। ढाका में उनका जो स्वागत हुआ था उसका समाचार आकाशवाणी पर लगातार आ रहा था। उसे सुनने के लिए केवल दिल्ली में ही नहीं, सारे भारत में लाखों की संख्या में लोग कान से रेडियो लगाए घंटों तक बैठे थे।

श्री मुजीबुर्रहमान के संबंध में भारत में यह बार–बार बताया जाता था कि वे दूसरे पाकिस्तानी नेताओं की तरह नहीं है। पाकिस्तान की भारत और हिंदू विरोधी भूमिका उन्हें स्वीकार नहीं है। वे भारत के राष्ट्रीय प्रवृत्ति के मुसलमानों की तरह ही हैं। पर यह सब सुनते समय उस काल में भी मेरे मन में एक प्रश्न पैदा होता था। मुजीबुर्रहमान को पाकिस्तानी शासन कब से बुरे लगने लगे? पूर्व पाकिस्तान में रहने वाले हिंदुओं के संबंध में उन्हें अपनापन कब से लगने लगा? स्वाधीनता पूर्व के काल का इतिहास बताता है कि श्री मुजीबुर्रहमान श्री हसन सुहरावर्दी के युवा अनुयायियों में थे। उनसे ही उन्होंने राजनीति के संबंध में सबक सीखे। अधिकांश इतिहासकारों के अनुसार स्वाधीनता के पूर्व १९४६ में कलकत्ते में जो हत्याकाण्ड हुआ उस समय सुहरावर्दी बंगाल के मुख्यमंत्री थे। मुस्लिम लीग के नेता के रूप में उसकी जिम्मेदारी उन्हीं पर आती थी। यह घटना “कलकत्ता किलिंग” के नाम से प्रसिद्ध है। इस संबंध में कोई अधिकृत इतिहास ज्ञात नहीं है कि इस काल में श्री मुजीबुर्रहमान ने कौन–सी भूमिका अदा की थी। माना तो यही जायेगा कि श्री सुहरावर्दी की तरह ही उस समय उनके भी हाथ हिंदूओं के खून से सने रहे होंगे। जब तक पूर्व पाकिस्तान में केवल हिंदुओं पर अत्याचार होते रहे, उन्होंने किसी भी आंदोलन का आरंभ नहीं किया था। पर बंगला भाषी मुसलमानों की ओर भी पाकिस्तानी अधिकारियों की वक्रदृष्टि हई और उनकी आंखें खुल गई।

संस्कृत भाषा का एक सुभाषित है: “विद्या विनयेन शोभते”। प्रकृति का भी यह उदाहरण है कि पेड़ फलों से लद जाने पर झुक जाता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि १९७१ के युद्ध के बाद श्रीमती गांधी की प्रतिमा देश में बहुत ही ऊंची उठ गई थी। पर इससे उनके स्वभाव में जो विनम्रता आनी चाहिए थी, वह नहीं आयी। १९७१ के युद्ध

में विजय प्राप्त होने के बाद उस संबंध में उत्सव समारोह आदि होना स्वाभाविक था। दिल्ली में एक पुराना किला है। इसे पाण्डवों का किला कहा जाता है। इस किले के खंडहरों में सूचना तथा प्रसारण मंत्रालय के संगीत और नाटक विभाग ने भारत का स्वाधीनता संग्राम और उसके बाद देश की प्रगति का दिग्दर्शन करने वाला ध्वनि प्रकाश और संगीत से युक्त एक कार्यक्रम आयोजित किया। इसमें कोई संदेह नहीं कि कला की दृष्टि से यह कार्यक्रम बहुत ही सुंदर था। पर इस कार्यक्रम के माध्यम से जो सूचित करने का प्रयत्न किया गया था वह मुझे अच्छा नहीं लगा। मैंने अपने पत्र 'महाराष्ट्र टाइम्स' में वैसा लिखा भी। इस कार्यक्रम के द्वारा यही सूचित किया जा रहा था कि आधुनिक भारत में केवल तीन नेता हुए हैं। वे हैं, गांधी नेहरू और फिर गांधी। सबसे पहले महात्मा गांधी, फिर पं. जवाहरलाल नेहरू और फिर श्रीमती इंदिरा गांधी। स्वातंत्र्यवीर सावरकर का उल्लेख तो इस कार्यक्रम में था ही नहीं, सरदार भगत सिंह और नेताजी सुभाषचंद्र बोस का भी उल्लेख चलते चलते कर दिया गया था।

कार्यक्रम को देखकर यह लग ही नहीं सकता था कि आधुनिक भारत का इतिहास बनाने में मौलाना अबुल कलाम आजाद, डॉ. राजेन्द्र प्रसाद तथा आधुनिक मनु के रूप में जिनका उल्लेख किया जाता है, उन डॉ. भीमराव आम्बेडकर का भी कोई हाथ था। इसके अतिरिक्त मुझे एक बात बहुत ही चुभी। कार्यक्रम में दिखाया गया था कि बैंकों के राष्ट्रीयकरण तथा भूतपूर्व राजाओं के वेतन बंद कर दिये जाने के कारण आम जनता को इतनी खुशी हुई थी कि वह बहुत ही मस्त होकर नाच रही थी। पर इस नाट्य संगीत के कार्यक्रम में उस घटना का उल्लेख तक नहीं था जिसमें सरदार वल्लभभाई पटेल ने चतुराई के साथ तीन सौ से अधिक रियासतों का विलीनीकरण कर सारे भारत को एक सूत्र में जोड़ने की मजबूत नींव डाली थी। इसका एक ही कारण हो सकता है। उस घटना का सम्पूर्ण श्रेय सरदार पटेल का था। इस कार्यक्रम में यह दिखाना ही नहीं था कि देश में गांधी, नेहरू और गांधी के अतिरिक्त और भी कोई बड़ा नेता हुआ था। पर मेरी समझ में उस समय भी यह नहीं आया था कि रियासतों का विलीनीकरण दिखाये बगैर भूतपूर्व राजाओं के वेतन बंद होने पर आम जनता को खुशी होने का दृश्य दिखाने का क्या औचित्य था?

इसी के बाद १९७२ के विधानसभा के चुनाव निकट आ गये। पिछले चुनाव १९६७ में हुए थे। उस समय के चुनाव में कांग्रेस को काफी बड़ा धक्का लगा था। उसके बाद कांग्रेस विभाजित हुई थी। पर प्रगतिशील प्रतीत होने वाली नीतियों के कारण और पाकिस्तान से हुए युद्ध में विजय प्राप्त होने के कारण श्रीमती इंदिरा गांधी की कांग्रेस को देश में बहुत बड़ा स्थान मिल गया था। इसमें किसी को संदेह नहीं था कि उन्हीं की कांग्रेस विधानसभा के चुनावों में अधिकांश राज्यों में विजयी होगी। संगठन कांग्रेस थी, पर किसी भी राज्य में उसकी सरकार नहीं थी। १९७२ की विधानसभा चुनाव के लिए कांग्रेस के उम्मीदवार चुनने का प्रश्न उपस्थित हुआ। श्रीमती गांधी की प्रगतिशील प्रतिभा से

प्रभावित होकर श्री चन्द्रशेखर, श्री मोहन धारिया आदि ने कांग्रेस के पुराने नेताओं के विरूद्ध मोर्चा लगाया था और उन्हें धराशायी करने में सफलता प्राप्त की थी। श्री वराह वेंकटगिरी को राष्ट्रपति पद पर बैठाने में श्री चन्द्रशेखर का काफी बड़ा हाथ था। निश्चित रूप से मैं यह तो नहीं कह सकता कि विधानसभा के चुनावों के पहले ही श्रीमती इंदिरा गांधी की प्रगतिशीलता के बारे में श्री चंद्रशेखर के मन में क्या कोई संदेह पैदा हो गया था। पर उस समय पहली बार यह अवश्य स्पष्ट हो गया कि श्री चंद्रशेखर की प्रगतिशीलता श्रीमती इंदिरा गांधी को नहीं भा रही है।

शिमला में कांग्रेस महासमिति की बैठक थी। इसी बैठक में कांग्रेस संसदीय बोर्ड के सदस्यों के अतिरिक्त केन्द्रीय चुनाव समिति के लिए सदस्यों का चुनाव होने वाला था। उम्मीदवारों की जो अधिकृत सूची बनी, उसमें श्री चंद्रशेखर का नाम नहीं था। श्री चंद्रशेखर ने चुनाव में खड़े होने का निश्चय किया। इस समिति के लिए शिमला में जो चुनाव हुआ यह मुझे अच्छी तरह याद है। श्रीमती इंदिरा गांधी की कृपा के कारण ही श्री उमाशंकर दीक्षित गृहमंत्री बने थे। वे मतदान केंद्र के पास खड़े थे। उनके खड़े रहने का अर्थ यही था कि अधिकृत सूची के उम्मीदवारों को ही मत दिया जाए। प्रधानमंत्री श्रीमती गांधी की यही इच्छा है। पर कांग्रेस महासमिति के सदस्यों को श्रीमती गांधी की इच्छा का पूरी तरह पता न होने के कारण हो अथवा और किसी कारण हो, श्री चंद्रशेखर को पर्याप्त मत प्राप्त हुए और वे चुने गए। इतिहास में यह घटना तरुण तुर्कों की विजय के रूप में अंकित हुई।

मुझे इसी संदर्भ में एक दूसरी घटना भी याद आ रही है। पर वह कांग्रेस का विभाजन होने से पहले की है। महाराष्ट्र के कांग्रेस नेता कहते थे हमारी विचारधारा बांयी ओर झुकी है। इसी संदर्भ में महाराष्ट्र के संसद सदस्य कांग्रेसी संसद सदस्यों का खासा मजाक उड़ाते थे, वे कहते थे कि हम यह मानते हैं कि आप बाएं है, पर यह तो बताइये कि आप किसके बायें बैठते हैं। प्राचीन भारतीय पद्धति के अनुसार पत्नी को बायी ओर बैठाया जाता है। संस्कृत में वामांग का अर्थ भी पत्नी होता है। यह मजाक इसी संदर्भ में होता था। आरोप यह था कि पत्नी के अनुसार किसी के आदेश पर चलना यही आपकी बायी विचारधारा का अर्थ है। अस्तु कांग्रेस कार्यकारिणी के एक तृतीयांश सदस्यों को मतदान के द्वारा चुनने का क्रम प्रारंभ हो गया था। ऐसे ही चुनाव में एक समय श्री चंद्रशेखर से निकटता होने के कारण श्री धारिया ने आग्रह किया कि महाराष्ट्र के मत श्री चंद्रशेखर को दिए जायें। पर उस समय श्री अण्णासाहब शिंदे ने उसका विरोध किया। निश्चय हो चुका था कि महाराष्ट्र के वोट डॉ. रामसुभग सिंह को दिये जायें। उन दिनों डॉ. रामसुभग सिंह की प्रतिमा बांयीं तो थी ही नहीं, कहा जाता था कि वे दांये गुट की ओर ही अधिक झुके हैं। उस समय जो जानकारी मुझे मिली उसके अनुसार कम से कम मुझे अपना मत श्री चंद्रशेखर को देने दीजिए यह अनुरोध श्री धारिया ने किया था। पर इस पर श्री अण्णासाहब शिंदे ने कहा, वैसा नहीं किया जा सकेगा। ऐसी छूट देना शुरू

कर दिया तो दल में अनुशासन ही नहीं रहेगा। मैं यह नहीं बता सकता कि उसके बाद श्री धारिया ने वास्तव में किसे मत दिया।

१९७२ के चुनाव के पूर्व महाराष्ट्र में श्री वसंतराव नाईक और श्री शंकरराव चव्हाण के बीच काफी अनबन हो गई थी। श्री शंकरराव चव्हाण चाहते थे कि महाराष्ट्र का मुख्यमंत्री पद उन्हें मिले। मुझे उनकी इस इच्छा में कोई अनुचित बात नहीं लगती थी। उनकी इस इच्छा को एक सैद्धांतिक रूप भी दिया गया था। कहा जाता था कि संयुक्त महाराष्ट्र होने के बाद प्रथम मुख्यमंत्री श्री यशवंतराव चव्हाण बने। वे पश्चिम महाराष्ट्र के थे। वे रक्षामंत्री के रूप में दिल्ली आये और विदर्भ के श्री मा. स. कन्नमवार मुख्यमंत्री बने। उनकी मृत्यु के बाद विदर्भ के ही श्री वसंतराव नाईक को मुख्यमंत्री बनाया गया और वे वर्षों तक उस पद पर बने रहे। मुख्यमंत्री बनने का अवसर मराठवाड़ा को प्राप्त ही नहीं हुआ। इस संबंध में प्रगट रूप से नहीं, पर निजी चर्चाओं में एक बात और कही जाती थी। महाराष्ट्र में मराठा जाति के लोग अधिक संख्या में हैं। अत: महाराष्ट्र का मुख्यमंत्री मराठा जाति का ही होना चाहिए। श्री वसंतराव नाईक जाति से मराठा नहीं, आदिवासी बंजारा थे।

श्री शंकरराव चव्हाण के साथ भी मेरा अच्छा परिचय था। वे सिंचाई मंत्री के रूप में बार—बार दिल्ली आते थे। मेरे मन के पटल पर उनका चित्र भी अच्छा था। उन दिनों महाराष्ट्र की एक ही शिकायत होती थी। महाराष्ट्र सरकार द्वारा प्रस्तुत सिंचाई के लिए आवश्यक कई बांधों की योजनाएं केन्द्र सरकार की फाइलों में पड़ी हैं। केन्द्र उन्हें जल्दी मंजूरी नहीं देता। अत: महाराष्ट्र में सिंचाई के पानी की आवश्यक व्यवस्था नहीं होती और इसका परिणाम यह होता है कि राज्य का कृषि उत्पादन नहीं बढ़ता। हम केन्द्र सरकार के सिंचाई मंत्रालय में जब पूछताछ करते थे तो हमें बताया जाता था कि इस प्रकार की कोई योजनाएं फाइलों में पड़ी नहीं हैं। हम समझ नहीं पा रहे थे कि यह घोटाला क्या है। एक बार श्री शंकरराव चव्हाण ने जब फिर शिकायत की तो हमने उनसे कहा, राज्य सरकार की जो योजनाएं केन्द्र की फाइलों में पड़ी है उनकी हमें सूची दीजिए। हम लोग अधिक गहराई में जाकर पता करेंगे कि वे क्यों पड़ी हुई हैं। उन्होंने कहा, बम्बई जाते ही मैं उसकी सूची तुरंत भेजता हूं। कुछ महीने गुजर गए, पर सूची नहीं आयी। एक बार हमने महाराष्ट्र सरकार के सिंचाई विभाग के एक वरिष्ठ अधिकारी से पूछा, क्या बात है? स्वयं मंत्री द्वारा आदेश दिये जाने के बाद भी आप सूची क्यों नहीं भेजते। इस पर उस अधिकारी ने अपनी कुछ लाचारी व्यक्त करते हुए कहा, आप मुझ पर नाराज न होईये। मैं तो हुक्म का ताबेदार हूं। मंत्री जी ने ही मुझसे कहा है कि आपको यह सूची देने की आवश्यकता नहीं है। मुझे कभी यह समझ में नहीं आया कि श्री शंकरराव चव्हाण हमारे साथ ऐसा दुहरा व्यवहार क्यों कर रहे थे। क्या उनका यह दावा ही गलत था कि केन्द्र की फाइलों में राज्य की योजनाएं पड़ी हुई है? शायद उनका यह ख्याल हो कि सूची भेजने पर सचाई सामने आ जायेगी और हमने यदि उसे प्रकाशित कर दिया तो वे कठिनाई

में पड़ जायेंगे। मेरे मन में श्री शंकरराव चव्हाण की जो प्रतिमा थी उसे उस समय कुछ धक्का लगा। फिर भी मुझे कभी ऐसा नहीं लगा कि उन्हें मुख्यमंत्री पद नहीं मिलना चाहिए।

दूसरे किसी राज्य की तुलना में महाराष्ट्र में कांग्रेस संगठन अधिक मजबूत था और उस पर अलग–अलग माध्यमों के द्वारा श्री यशवंतराव चव्हाण का खासा अच्छा नियंत्रण था। हर राज्य में कुछ असंतुष्ट तो होते ही हैं। उसी प्रकार महाराष्ट्र में भी थे। १९७२ के चुनाव के लिए महाराष्ट्र कांग्रेस ने जो चुनाव समिति बनायी उसके बारे में शिकायतें शुरू हुई। कहा गया कि उसमें एक गुट का प्रभुत्व है। अत: दूसरे के साथ न्याय नहीं होगा। यह सही है कि उन दिनों महाराष्ट्र कांग्रेस और श्री यशवंतराव चव्हाण को लोग एक ही समझते थे। महाराष्ट्र प्रदेश कांग्रेस के अध्यक्ष थे श्री वसंतदादा पाटिल और कम से कम उन दिनों वे श्री चव्हाण के कट्टर अनुयायी थे। महाराष्ट्र कांग्रेस की चुनाव समिति द्वारा चुने उम्मीदवारों के संबंध में यदि कोई सवाल पैदा होता तो उसे दिल्ली में ही श्री चव्हाण के साथ बात कर हल किया जा सकता था। पर उन दिनों श्रीमती इंदिरा गांधी के एक विश्वासपात्र श्री यशपाल कपूर को महाराष्ट्र भेजा गया और उन्होंने चुनाव समिति पर मराठवाड़ा के श्री बाबासाहब सावनेकर और विदर्भ के श्री बापूराव देशमुख की नियुक्ति की। इसमें आश्चर्य इस बात का था कि उस समय श्रीमती इंदिरा गांधी के कांग्रेस संगठन में भी श्री यशपाल कपूर का कोई स्थान नहीं था फिर भी उस नियुक्ति को महाराष्ट्र कांग्रेस ने स्वीकार कर लिया। शायद उस समय की स्थिति में दूसरा चारा भी नहीं था। महाराष्ट्र की राजनीति में ये दोनों ही श्री यशवंतराव चव्हाण तथा श्री वसंतराव नाईक के विरोधी थे। महाराष्ट्र में श्री यशवंतराव चव्हाण के नेतृत्व को दिया गया यह पहला धक्का था।

इस चुनाव समिति ने जो उम्मीदवार चुने, उसमें श्री शंकरराव चव्हाण का समर्थन करने वाले भी कुछ लोग थे। पर महाराष्ट्र कांग्रेस पर श्री चव्हाण तथा श्री नाईक का जबरदस्त नियंत्रण था। अत: पूरी चुनाव समिति ने मिलकर उम्मीदवारों का जो चुनाव किया था उसमें श्री वसंतराव नाईक का ही प्रभुत्व बना हुआ था। इसका श्री शंकरराव चव्हाण को पता था। उनकी ओर से केंद्र से फिर कुछ कहा सुना गया। केंद्रीय चुनाव समिति में महाराष्ट्र की सूची पर काफी चर्चा हुई पर निर्णय न हो सका। हम पत्रकारों को इतना ही बताया गया कि कल फिर चर्चा होने वाली है। हम लोगों ने जब कुछ पूछताछ की तब पता चला की केंद्रीय चुनाव समिति ने महाराष्ट्र की चुनाव समिति से यह बताने को कहा है कि उनकी सूची में मराठा जाति के कितने उम्मीदवार हैं। मैं निश्चित रूप से यह तो नहीं कह सकता कि इस पूछताछ का उद्देश्य क्या था? श्री शंकरराव चव्हाण के मुख्यमंत्री चुने जाने में सहायता हो सके, इसलिए मराठा उम्मीदवार अधिक चाहिए, यह था अथवा मराठा समाज पर श्री यशवंतराव चव्हाण का काफी प्रभुत्व होने के कारण वह

कम करना था। बाद में श्री वसंतराव नाईक के मंत्रिमण्डल के एक सदस्य ने बताया था कि यह पूछताछ मराठा उम्मीदवारों की संख्या कम करने के लिए थी।

पर यह जानकारी दी जाने के बाद भी केन्द्रीय चुनाव समिति की बैठक में निर्णय नहीं हो सका। श्रीमती इंदिरा गांधी के अत्यंत विश्वस्नीय पं. द्वारकाप्रसाद मिश्र को अधिकार दिया गया कि वे उम्मीदवारों की सूची जांचकर उसे अंतिम रूप देकर प्रकाशित कर दें। पर जो सूची प्रकाशित हुई उससे श्री शंकराराव चव्हाण के गुट को और बड़ी जोर का धक्का लगा। क्योंकि प्रदेश चुनाव समिति द्वारा प्रस्तुत सूची में ऐसे जिन उम्मीदवारों के नाम थे, जिन्हें श्री शंकरराव चव्हाण का समर्थन माना जा सकता था, उन्हीं के नाम काटकर श्री नाईक का समर्थन करने वालों के नाम डाले गए थे। अब श्री शंकरराव चव्हाण कुछ कर भी नहीं सकते थे। पं. द्वारकाप्रसाद मिश्र के विरूद्ध श्रीमती इंदिरा गांधी के पास शिकायत ले जाने का साहस श्री शंकरराव चव्हाण में नहीं था। पर राजधानी में उस समय यह कहा गया कि श्री वसंतराव नाईक ने पं. द्वारकाप्रसाद मिश्र के साथ पुराने मध्यप्रदेश के समय से अपनी जो मित्रता थी, उससे लाभ उठाकर सूची में आवश्यक परिवर्तन करा लिया।

श्री यशवंतराव चव्हाण को यह आभास हो गया होगा कि उनके विरूद्ध नाकाबंदी हो रही है। कांग्रेस संगठन में कोई भी स्थान न होने पर भी श्री यशपाल कपूर ने जो कुछ किया उसके पीछे किसकी प्रेरणा है, यह बात उन्हें अज्ञात नहीं थी। पर कारण जो कुछ भी हो, उस प्रेरणा स्थान के विरूद्ध खड़े होने का सामर्थ्य श्री यशवंतराव चव्हाण में नहीं था। कम से कम वे ऐसा समझते थे। पर वे यह भी नहीं भूल पाते थे कि उनके पैर काटने का प्रयत्न हो रहा है। इसमें श्री यशवंतराव चव्हाण का कोई श्रेय नहीं था कि कांग्रेस उम्मीदवारों की सूची श्री वसंतराव नाईक के कुछ अधिक अनुकूल बनी। उसे तो श्री वसंतराव नाईक ने अपने पुराने संबंधों के बल पर करा लिया था। पर महाराष्ट्र में उनका महत्व कम किया जा रहा है इस धारणा से श्री चव्हाण के मन में क्रोध उमड़ रहा होगा। उन्हें यह भी संदेह हो गया होगा कि श्री शंकरराव चव्हाण श्रीमती गांधी के हाथ में खेलने लग गए हैं। शायद इसीलिए औरंगाबाद की एक चुनाव सभा में उन्होंने घोषित कर दिया कि चुनाव के बाद श्री वसंतराव नाईक ही मुख्यमंत्री बनेंगे। उस समय वैसा कुछ कहने की आवश्यकता नहीं थी और बिना जरूरत कुछ बोल जाना श्री चव्हाण का स्वभाव भी नहीं था। पर ऐसा लगता है कि महाराष्ट्र में उनका स्थान पहले जैसा ही है यह जताने के लिए ही उन्होंने वैसा कहा था। इससे श्री शंकरराव चव्हाण को कुछ गुस्सा न आता तो वह आश्चर्य की बात होती। इस पर समाचारपत्रों में कुछ तूफान भी उठा। कहा गया कि चुनाव पूरे होने के पहले ही कांग्रेस दल का नेता निश्चित करने का श्री यशवंतराव चव्हाण को क्या अधिकार है। पर यह भी सचाई है कि चुनाव के बाद उस समय कांग्रेस विधान सभाई दल का नेतृत्व श्री वसंतराव नाईक को ही मिला।

यह तो तय हो गया कि श्री वसंतराव नाईक ही महाराष्ट्र के मुख्यमंत्री बनेंगे। पर उनके मंत्रिमण्डल की रचना के पूर्व ही उन्हें उनकी जगह दिखा दी गई। यह संदेश भेजा गया कि महाराष्ट्र के पहले के मंत्रिमण्डल में जो लोग थे उनसे श्रीमती इंदिरा गांधी भेंट करेंगी और वे ही यह निश्चित करेंगी कि उनमें से किसे नये मंत्रिमण्डल में लिया जायेगा और किसे नहीं। मुख्यमंत्री को यह अधिकार नहीं रह गया कि वह अपने सहयोगियों को स्वयं चुने। १९६७ के चुनाव के बाद श्री यशवंतराव चव्हाण की सलाह से श्री वसंतराव नाईक ने मंत्रिमण्डल बनाया था। पर इस मंत्रिमण्डल की रचना में श्री यशवंतराव चव्हाण को लगभग नहीं के बराबर स्थान था। नौकरी मांगने के लिए जाने वाले उम्मीदवारों की तरह महाराष्ट्र का पूरा मंत्रिमण्डल एक दिन सुबह दिल्ली पहुंच गया। केवल पुराने मंत्रिमण्डल के श्री मधुकरराव चौधरी उसमें नहीं आये थे। मंत्रिमण्डल के लगभग सभी के आने की सूचना प्रधानमंत्री कार्यालय को दे दी गई और सभी मंत्री कपड़े आदि पहन पूरी तरह तैयार होकर प्रतीक्षा करने लगे कि प्रधानमंत्री के यहां से कब बुलावा आता है। शाम तक बुलावा नहीं आया और इसका भी कोई अंदाजा नहीं लग रहा था कि वह कब आयेगा। महाराष्ट्र सदन के बाहर कोई जा भी नहीं सकता था। क्योंकि हरेक के मन में डर था कि हम बाहर जायं और उसी समय शायद बुलावा आ जाय। अपने भाग्य में क्या लिखा है इस विचार से सभी मंत्री बेचैन थे।

हम कुछ मराठी पत्रकार वहीं थे। वक्त नहीं कट रहा था इसलिए हो या मन की बेचैनी के कारण हो, उस समय के राज्यमंत्री श्री शिवाजीराव पाटिल ने (सिने अभिनेत्री स्मिता पाटिल के पिता) बम्बई के अपने घर टेलीफोन किया। महाराष्ट्र सदन के स्वागत कक्ष से ही उन्होंने टेलीफोन लगाया था। अतः वे जो कुछ कह रहे थे, हमें सुनाई दे रहा था। बम्बई में उनकी पत्नी ने ही वह उठाया। पत्नी ने शायद पूछा होगा कि आप क्या कर रहे हैं। श्री पाटिल ने कहा, बाई का (इंदिरा गांधी) बुलावा आने का इंतजार कर रहे है। इस पर उधर से पत्नी ने कहा, आप लोगों को क्या लाज शरम कुछ नहीं है? मंत्री के पत्नी को अनुभव हो रहा था कि इस प्रकार प्रतीक्षा में बैठे रहना उनका अपमान है। पर कुर्सी के मोह में उलझे मंत्री और उनके साथियों की समझ में उतनी भी बात नहीं आ रही थी। रात में लगभग सात—आठ के बीच बुलावा आया और महाराष्ट्र सदन से मंत्रियों से भरी मोटरों का काफिला प्रधानमंत्री के बंगले की ओर गया। प्रधानमंत्री के साथ किसी का भी साक्षात्कार मिनट दो मिनट से अधिक नहीं हुआ। उन्होंने किसी से कुछ विशेष पूछताछ भी नहीं की। साक्षात्कार के बाद नए उम्मीदवार बाहर आने पर जिस प्रकार आपस में पूछते हैं कि किससे क्या पूछा, उसी प्रकार मंत्रिगण भी आपस में पूछताछ कर रहे थे। अंत में जो मंत्रिमण्डल तैयार हुआ उसमें श्री शेषराव वानखेड़े अपने पुराने वित्तमंत्री पद पर नहीं थे। कहा यही गया कि श्री नाईक के साथ उनकी अधिक निकटता का ही यह परिणाम था। श्री शिवाजी राव पाटिल की भी छुट्टी कर दी गई थी। श्री वसंतदादा पाटिल का मंत्रिमण्डल में नया समावेश हुआ था। श्री वानखेड़े को आगे चलकर विधानसभा का

अध्यक्ष बनाया गया। कुछ लागों की यह धारणा बनी थी की श्री वसंतदादा पाटिल का मंत्रिमण्डल में समावेश श्री यशवंतराव चव्हाण को संतोष देने की दृष्टि से था।

इसके बाद श्री वसंतराव नाईक और श्री शंकरराव चव्हाण के बीच अनबन काफी बढ़ गई। दोनों की आपस में बातचीत तक बंद हो गई। विधानसभा के अधिकांश सदस्यों का झुकाव श्री वसंतराव नाईक की ओर था। अत: उनके नेतृत्व को दल में ही चुनौती देने की शक्ति श्री शंकरराव चव्हाण के पास नहीं थी। वे केन्द्रीय नेतृत्व के पास शिकायतें लेकर जाने लगे। एक बार दोनों को ही बुलाया गया। दोनों महाराष्ट्र सदन में ही ठहरे। केंद्रीय सचिवालय के साऊथ ब्लॉक में श्रीमती इंदिरा गांधी के साथ दोनों की साथ—साथ भेंट होनेवाली थी। गृहमंत्री श्री उमाशंकर दीक्षित उस समय उपस्थित रहने वाले थे। दोनों अलग—अलग गाड़ियों से साऊथ ब्लॉक गए। वहां अलग—अलग कमरों में श्रीमती गांधी के आने की प्रतीक्षा करने लगे। एक ही राज्य के दो वरिष्ठ मंत्रियों द्वारा एक दूसरे से बातचीत भी न करना मुझे बहुत ही अजीब लगा। इस प्रकार बातचीत बंद करना श्री शंकरराव चव्हाण के लिए तो उचित नहीं ही था, कम से कम मुख्यमंत्री के रूप में श्री वसंतराव नाईक को पहल कर बातचीत शुरू करनी चाहिए थी। उससे वे छोटे नहीं हो जाते। इस घटना पर मैंने अपने विचार 'महाराष्ट्र टाइम्स' में लिखे। मुझे यह कल्पना ही बड़ी घृणित लगी कि एक ही मंत्रिमण्डल के दो मंत्री आपस में दुश्मन जैसा व्यवहार करें। मैं यह तो नहीं बता सकता कि 'महाराष्ट्र टाइम्स' के अपने लेख में मैंने जो भावना व्यक्त की थी वह मुख्यमंत्री श्री वसंतराव नाईक अथवा श्री शंकरराव चव्हाण को कितनी अच्छी लगी। पर महाराष्ट्र की आम जनता के विचारों के साथ मेरे विचारों की पटरी बैठ रही थी। इसका सबूत भी मुझे मिल गया। श्री वसंतराव नाईक के साथ उनका जो अंगरक्षक हमेशा दिल्ली आता था, उसने इस विषय पर मेरे विचार पढ़े थे। उसने एक दिन मुझसे कहा, "साब! आपने बिलकुल ठीक लिखा। आपने दूध और पानी को अलग कर दिखा दिया।" मेरे लिए मेरे लेख के संबंध में आम जनता के एक प्रतिनिधि की राय निश्चय ही बहुत अधिक मूल्य की थी।

महाराष्ट्र के मुख्यमंत्री पद पर जब श्री वसंतराव नाईक थे, उनके संबंध में बहुत कुछ कहा—सुना जाता था। वे दायीं विचारधारा के हैं। वे "कुलक" कहे जाने वाले धनी और बड़े किसानों के हितों की रक्षा करते है। उन्होंने अपने कार्यकाल में बम्बई के पूंजीपतियों के कुछ गलत काम कर काफी पैसा कमाया। उनके साथ मेरा अधिक संबंध दिल्ली में ही आता था। अत: मैं यह नहीं बता सकता कि उन पर होने वाले आरोपों में कितनी सचाई थी। पर मैंने दिल्ली में उनका जो बरताव देखा था और उनसे मेरी जो बातें होती थीं, उसका मुझ पर अच्छा असर था। श्री वसंतराव नाईक को मुख्यमंत्री पद पर श्री यशवंतराव चव्हाण ने बैठाया था और जीवन के अन्तिम दिनों का कुछ समय छोड़ दिया जाय तो उनका राजनीतिक जीवन श्री चव्हाण के साथ सहयोग का ही था। फिर भी उन्होंने उनके साथ कुछ दूरी बनाये रखी थी। श्री यशवंतराव चव्हाण के बाद श्री मा.स.

कन्नमवार महाराष्ट्र के मुख्यमंत्री बने। वे जब तक जीवित थे, दिल्ली आने पर श्री चव्हाण के बंगले पर ही ठहरते थे। पर मुख्यमंत्री होते ही नाईक ने यह पद्धति बदल दी। वे अपने बहनोई कमाण्डर, घाटे के बंगले पर ठहरने लगे। उन दिनों भी यह चर्चा होती थी कि श्री घाटे मफतलाल कम्पनी के दिल्ली प्रतिनिधि होने के कारण उद्योगपति के प्रतिनिधी के घर मुख्यमंत्री का ठहरना कहां तक उचित है। वह उद्योगपति मुख्यमंत्री से कुछ अनुचित लाभ उठायेगा ही। पर श्री नाईक ने इस चर्चा की कभी परवाह नहीं की। सरकारी महाराष्ट्र सदर तैयार होने तक वे श्री घाटे के घर ही ठहरते थे। पर उसके बाद महाराष्ट्र सदन में ठहरने लगे। वहां मुख्यमंत्री के लिए अलग निवास की व्यवस्था की गई थी।

उन्हें इस बात का पता रहता था कि किस बात को लेकर उनकी आलोचना हो रही है। और यदि उतना समय हो, वे उस संबंध में हमसे खुलकर बात भी करते थे। वह जमाना था जब कृषि योग्य जमीन के स्वामित्व की सीमा बांधने की बात करना प्रगतिशीलता का चिन्ह माना जाता था। कृषि जमीन के बहुत छोटे—छोटे टुकड़े न किए जायं, इससे उत्पादन घटेगा, यह विचार प्रतिक्रियावादी समझा जाता था। योजना आयोग की वार्षिक बैठक थी। उसमें भाग लेने के लिए श्री नाईक दिल्ली आये थे। बैठक के बाद उन्होंने किसानों के प्रश्न पर जो विचार प्रस्तुत किए, वे हमें बताये। उन्होंने कहा था, इस संबंध में मेरा कुछ कहना नहीं है कि कृषि भूमि के स्वामित्व की अधिकतम सीमा क्या हो? वह आप तय कर लीजिए। पर पहले आप यह निश्चित कीजिए कि किसान के जीवन का स्तर क्या हो? सरकारी कर्मचारियों के जीवन के कई स्तर हैं। चपरासी, क्लर्क, सेक्शन अफसर, सेक्रेटरी, आदि। आप यह बताइये की इनमें से किसके स्तर पर किसान को रहना चाहिए। उस स्तर पर वह रह सके, इतनी व्यवस्था कर दीजिए। इस प्रश्न का उत्तर देना आसान नहीं था और नाईक ने यह बताया भी नहीं कि बैठक में वह किसी ने दिया था। पर उनके प्रश्नों का रुख केवल यही स्पष्ट करता था कि किसानों की स्थिति में सुधार हो।

जवाहरलाल नेहरू के कार्यकाल में भी यह सवाल उठता था और कृषि भूमि की अधिकतम सीमा निर्धारित करने का विरोध करने वाले कहते थे कि जब आप दूसरों की आय पर बंधन नहीं डालते तब किसानों की आय पर वह क्यों डालते हैं। इस पर पं. नेहरू कहा करते थे कि आय की सीमा निर्धारित करने का यह सवाल नहीं है। केवल कृषि भूमि कम होने के कारण उसका समान वितरण करने का यह प्रयत्न है। खेती के सिवा किसानों की आय बढ़ाने का प्रयत्न असफल हो जाने के बाद इस विचारधारा पर बल दिया जाना भी आगे कम हो गया।

कृषि भूमि की अधिकतम सीमा निर्धारित करने का सिद्धांत कहां तक ठीक है और ठीक है तो उसका रूप क्या हो, इस संबंध में किसी प्रकार के सैद्धांतिक विचार प्रस्तुत करने का मेरा इरादा नहीं है। पर श्री नाईक के उक्त विचार सुनने के बाद वास्तव में

धनी या बड़ा किसान किसे कहा जाय, इस संदेह ने मुझे बहुत सताया। खेती से जिनका प्रत्यक्ष संबंध था ऐसे कई लोगों से मैंने बातचीत की। मुझे बताया गया कि खेती से अधिक से अधिक दस लाख रुपए तक सालाना आय हो सकती है। पर साल में दस लाख पैदा करने वाले व्यापारी तो बहुत हैं। कई सरकारी अधिकारियों का वेतन, भत्ता तथा दूसरी सुविधाएं मिलकर रकम दस लाख से कहीं अधिक पहुंच जाती है। पर उसके संबंध में कोई कुछ नहीं कहता। पर खेती के द्वारा थोड़ी अधिक आय होते ही यह शोरगुल? मुझे लगता है कि इसका कारण राजनीतिक है। मजदूर को कितना ही वेतन क्यों न मिलता हो उससे अधिक वेतन प्राप्त करने के लिए नेताओं की बातों में मजदूर आ सकता है। जो मशीनरी उसकी आजीविका का साधन होती है, उसे उध्वस्त करने में भी उसे कुछ बुरा नहीं लगता। पर किसान आमतौर पर परम्परावादी होता है। वह नेताओं के भड़कीले भाषणों में नहीं आता। इससे लगता है कि इस विषय की सारी चर्चा का मूल राजनीतिक था।

उन दिनों सभी उद्योगों का राष्ट्रीयकरण करने की बात कहना प्रगतिशीलता का लक्षण समझा जाता था। दोनों कम्युनिस्ट, समाजवादी और कांग्रेस के तरुण तुर्क कहलाने वाले श्री चंद्रशेखर, श्री मोहन धारिया, श्री कृष्णकांत आदि लोग राष्ट्रीयकरण पर बहुत अधिक बल देते थे। इस संबंध में श्री वसंतराव नाईक की दृष्टि कुछ अलग थी। उनका कहना था कि किसी भी उद्योग को सफलता के साथ चलाने के लिए जिस कुशल प्रशासन की आवश्यकता होती है उसकी पूर्ति सरकार हर क्षेत्र में कर ही सकेगी, ऐसा नहीं कहा जा सकता। उद्योग सफलता के साथ चलने पर ही वह किसके हाथ में है इस बात का महत्व हो सकता है। उन्होंने श्री मोहन धारिया को एक चुनौती भी दी थी। **उन्होंने कहा था,** मैं अपने खर्चे से आपको आटे की एक चक्की ले देता हूं। उसे आप सफलता के साथ चलाकर दिखाइये। फिर मैं राष्ट्रीयकरण के संबंध में आपकी बात मान लूंगा। पर श्री धारिया ने उनकी यह चुनौती कभी भी स्वीकार नहीं की।

श्री नाईक के कथन में काफी सचाई थी। यह एक दूसरे संदर्भ में प्रमाणित हो गया। श्री चंद्रशेखर उन दिनों "यंग इंडियन" नामक एक अंग्रेजी साप्ताहिक चलाते थे। वैसे साप्ताहिक अच्छा था। तरुण तुर्कों का वह अधिकृत विचारपत्र होने के कारण उसके कुछ संपादकीय समाचार संस्थाएं प्रसारित भी करती थीं। पर यह साप्ताहिक व्यावसायिक दृष्टि से सफल नहीं हो रहा था। एक दिन श्री चंद्रशेखर सेंट्रल हाल में बातचीत के बीच मुझसे सहज में ही कह गए, "जिन्हें मैंने साप्ताहिक का काम करने के लिए नियुक्त किया है, उन्हें अपनी क्षमता के अनुसार मैं अच्छा वेतन देता हूं। पर वे काम ही नहीं करते। इस साप्ताहिक के कारण श्री चंद्रशेखर आर्थिक संकट में आ गए थे। उन दिनों उनकी महाराष्ट्र के संसद सदस्य श्री ए. जी. कुलकर्णी से काफी घनिष्ठता थी। श्री चंद्रशेखर ने "यंग इंडियन" का एक विशेष अंक निकाला और उसमें श्री कुलकर्णी की सहायता से महाराष्ट्र की सहकारी चीनी मिलें और सहकारी धागा मिलों से काफी विज्ञापन प्राप्त हुए

और उनका वह संकट दूर हआ। पर फिर भी तब तक ये लोग श्री नाईक के इस कथन की सच्चाई नहीं पहचान पाये थे कि कहने और करने में काफी अंतर होता है। श्री मोहन धारिया ने मुख्यमंत्री श्री नाईक पर प्रतिक्रियावादीपन का ठप्पा लगाकर उनके खिलाफ मोर्चा ही लगाया था। आगे चलकर उनकी और श्रीमती गांधी की जब बिगड़ी, श्री धारिया ने ही मुझे बताया था कि प्रधानमंत्री के इशारे पर ही हमने श्री नाईक के विरूद्ध मोर्चा लगाया था।

१९७२ के चुनाव के बाद श्री वसंतराव नाईक दो वर्ष तक मुख्यमंत्री पद पर बने रहे। जिन हालात में उन्हें मुख्यमंत्री पद छोड़ना पड़ा, निश्चय ही वह अपमानजनक था। मुख्यमंत्री पद पर जब वे थे, उन्हीं दिनों उन्होंने मुझे एक बार बताया था कि मैंने एक बार श्रीमती गांधी को स्पष्ट बताया है कि दस वर्ष तक मुख्यमंत्री पद पर रहने की मेरी इच्छा थी। वह अब लगभग पूरी हो गई है। पर इसका अर्थ यह नहीं है कि मैं मुख्यमंत्री पद से उकता गया हूं। वह आपकी इच्छा पर है। आपकी जब तक इच्छा हो तब तक मैं मुख्यमंत्री पद पर बना रहूंगा। जब आपको यह लगे कि अब वह मुझे छोड़ना चाहिए, आप मुझे केवल सूचित भर कर दीजिए। बिना किसी शिकायत के मैं त्यागपत्र दे दूंगा। इतना ही नहीं, आप जिसको मुख्यमंत्री बनाना चाहती हों, उसे महाराष्ट्र विधान सभाई दल के नेता पद पर चुनवाने की जिम्मेदारी भी मेरी होगी मुझे ऐसा लगा कि उनकी इस बात में निजी आकांक्षा, लोकतंत्र और अपने नेता के प्रति आदर आदि का अच्छा सामंजस्य था।

बम्बई के पास बोरडी में महाराष्ट्र कांग्रेस का एक शिविर हुआ। मुझे ऐसा लगा कि उसमें श्री वसंतराव नाईक का भाषण कुछ अधिक तीखा हो गया। दिल्ली में जो नेतृत्व था, उसे स्पष्ट विचार नहीं सुहाते थे। दिल्ली की हालात की जानकारी होने के कारण उनका भाषण पढ़ते ही मैंने लिखा कि यह भाषण श्री नाईक को बहुत महंगा पड़ेगा जिस दिन यह समाचार प्रकाशित हुआ उसी दिन यह भी समाचार प्रकाशित हुआ था कि श्री शंकरराव चव्हाण को दिल्ली बुलाया गया है। बिजली की तरह यह समाचार फैल गया कि वे अब मुख्यमंत्री बनेंगे। संयोग से उस दिन मैं बम्बई में ही था। वहां मुझे ज्ञात हुआ कि सचिवालय में नाईक से मिलने के लिए विधानसभा और विधान परिषद के सदस्यों का तांता लगा हुआ है और श्री शंकरराव चव्हाण से मिलने के लिए बम्बई के उद्योगपति और मारवाड़ियों ने भीड़ लगा रखी है।

श्री शंकरराव चव्हाण दिल्ली आये और श्री वसंतराव नाईक, उन्हें बुलाया नहीं गया था, तो भी आये। श्री वसंतराव नाइक से जब पत्रकार मिलते थे तब वे काफी कठिनाई में पड़ जाते थे। पत्रकारों के प्रश्न इनेगिने होते थे। “क्या आप त्यागपत्र दे रहे हैं?” क्या अब श्री शंकरराव चव्हाण मुख्यमंत्री बनेंगे? श्री नाईक का उत्तर भी एक ही होता था। मुझे नहीं मालूम। कम से कम मुझे अब तक वैसा बताया नहीं गया है। इस प्रश्न का उत्तर नहीं मिलता था कि प्रधानमंत्री का संदेश मिलते ही मैं त्यागपत्र दे दूंगा। ऐसा

जब श्री नाईक कह चुके थे, उन पर विश्वास क्यों नहीं किया गया। श्री शंकरराव चव्हाण को दिल्ली बुलाने के पहले ही उनकी बात पर विश्वास कर त्यागपत्र देने के लिए क्यों नहीं कहा गया। मुझे तो इसका एक ही कारण दिखाई देता है। श्री यशवंतराव चव्हाण के कहने पर उन्होंने १९६९ के राष्ट्रपति के चुनाव में महाराष्ट्र विधानसभा तथा विधान परिषद के कांग्रेसी सदस्यों के सौ प्रतिशत वोट श्री संजीव रेड्डी को दिलवाये थे। यह इस बात का एक और उदाहरण था कि श्रीमती गांधी उसे कभी भी नहीं माफ करती जो एक बार भी उनके विरोध में खड़ा हुआ हो। उस समय हम पत्रकारों को एक बात और अजीब लगी। श्री वसंतराव नाईक के साथ अपमानजनक व्यवहार किया जा रहा था। पर श्री यशवंतराव चव्हाण ने उस पर अपनी अप्रसन्नता प्रगट करनेवाला एक शब्द भी नहीं कहा था।

ये तथाकथित प्रगतिशील वास्तव में किस प्रकार के होते थे इसका एक उदाहरण श्री शंकरराव चव्हाण के मुख्यमंत्री बनने पर मुझे मिला। मुख्यमंत्री बनने के बाद मंत्रिमण्डल के निर्माण में हाईकमान से सलाह करने वे दिल्ली जाये थे। उन दिनों श्री देवकांत बरूआ कांग्रेस के अध्यक्ष थे। श्री चव्हाण हवाई जहाज द्वारा बम्बई से आये और हवाई अड्डे से सीधे कांग्रेस अध्यक्ष श्री देवकांत बरूआ के घर गए। उनके साथ बम्बई कांग्रेस के अध्यक्ष श्री रजनी पटेल भी थे। हम पत्रकारों ने भी हवाई अड्डे से उतरते ही उनका पीछा किया। वे श्री देवकांत बरूआ के घर पहुंचते ही एक कमरे में चले गए और उसका दरवाजा बंद कर लिया। श्री बरूआ पहले से वहां थे। हमें यह उचित ही लगा कि मंत्रिमण्डल के निर्माण की बात पत्रकारों के सामने तो नहीं की जा सकती थी। हम बाहर के कमरे में उनका निर्णय होने की प्रतिक्षा करने लगे। इतने में यह कहते हुए वहां हलचल मच गई कि बिड़ला जी आ गए, बिड़ला जी आ गए। मैंने देखा कि ३५—४० वर्ष की उम्र का एक व्यक्ति मोटर से उतरा और जहां मंत्रिमण्डल की चर्चा चल रही थी उस कमरे में बिना किसी रोक—टोक घुस गया। हमें यह समझ में नहीं आ रहा था कि मंत्रिमण्डल निर्माण की चर्चा में श्री बिड़ला को, वे चाहे कितने ही धनी क्यों न हों, प्रवेश कैसे? बाद में श्री प्रसादी नामक बिड़ला गुट के ही दो व्यक्तियों ने मुझे उन बिड़ला का नाम बताया और यह भी बताया कि उनकी नियुक्ति श्री देवकांत बरूआ की आवश्यकताओं को ही पूर्ति करने के लिए की गई है। श्री प्रसादी बंधु वैसे कलकत्ते में कागज का व्यापार करते थे और उनकी नियुक्ति श्री यशवंतराव चव्हाण के घर उनकी सुविधाओं का ध्यान रखने के लिए की गई थी।

श्री वसंतराव नाईक जब मुख्यमंत्री थे, उन्हीं दिनों की एक घटना है। वह बम्बई में घटी थी। पर वह दिल्ली के महाराष्ट्र के पत्रों से संबंधित पत्रकारों के ध्यान में सदा के लिए रह गई। परिवहन के नियमों को ताक पर रखकर दो जीपें बम्बई की सड़कों पर दौड़ रही थी। पुलिस ने उन्हें रूकने का आदेश दिया। फिर भी वे नहीं रूकीं। इसके विपरीत जीपों को रोकने का प्रयत्न करने वाले पुलिस अधिकारी को धक्का मारकर वे आगे बढ़

गई। पत्रों में यह समाचार छपा कि पुलिस द्वारा पीछा किए जाने पर वे जीपें उस गली में घुस गई, जहां तिलक भवन नाम से महाराष्ट्र प्रदेश कांग्रेस का कार्यालय है। आगे चलकर विधानसभा में जब पूछा गया कि ये जीपें किसकी थीं तो बताया गया कि उनका रजिस्ट्रेशन रत्नागिरी और कुलाबा के दो संसद सदस्य श्री शामराव पेजे और श्री शंकरराव सावंत के नाम पर था। यह कहना कठिन है कि इसमें चतुराई किसकी थी। पर विधानसभा में इस विषय पर अधिक चर्चा नहीं हुई हम दिल्ली के मराठी पत्रकारों ने समाचार पढ़ने पर श्री शामराव पेजे और श्री शंकरराव सावंत, दोनों से पूछा। दोनों ने कहा, इस घटना के साथ हमारा कोई प्रत्यक्ष संबंध नहीं है। जीपों को भी हमने नहीं खरीदा था। सैनिक दृष्टिकोण से बेकार हुई जीपों को चुनाव के समय संसद और विधानसभा के उम्मीदवारों को कम कीमत पर बेचने की पद्धति बहुत दिनों से चली आ रही है। महाराष्ट्र प्रदेश कांग्रेस ने जीप की मांग के लिए आवेदन पत्रों पर हमसे हस्ताक्षर अवश्य लिए थे। ये जीपें शायद वे ही हों। हमने महाराष्ट्र कांग्रेस को पैसा भी नहीं दिया है। दोनों को इस बात पर खेद था कि इस संबंध में अकारण ही उनका नाम बदनाम हुआ है। आगे चलकर दोनों ने पत्रों में अपनी स्थिति स्पष्ट करने वाले वक्तव्य भी दिये।

आगे चलकर इस घटना के संबंध में मैंने और पूछताछ की। उन दिनों महाराष्ट्र प्रदेश कांग्रेस के मंत्री थे श्री विठ्ठलराव गाडगिल। यह घटना तब की थी जब श्री वसंतदादा पाटिल प्रदेश कांग्रेस के अध्यक्ष थे। श्री गाडगिल ने मुझे बताया कि श्री वसंतदादा पाटिल का कारोबार ऐसा ही है। उन्होंने महाराष्ट्र प्रदेश कांग्रेस के कार्यालय में पन्द्रह रुपए रोज पर कुछ गुंडों को पाल रखा है। गुंडों को शराब से तो कोई परहेज होता ही नहीं। शराब के नशे में जीपें चलायी गई और पुलिस को धक्का मारने आदि की घटनाएं हुई।

राजनीति और पैसा

मैं इस बात का उल्लेख पहले कर चुका हूं कि १९७० से प्रारंभ में बम्बई में कांग्रेस का जो अधिवेशन हुआ उसमें कांग्रेस की संस्कृति पूरी तरह बदल चुकी थी और राजनीति में पैसे का बहुत बड़े पैमाने पर उपयोग होने लगा था। जब उपयोग होता है तो तब वह कहीं से आना भी तो चाहिए। इसके पहले भी पं. जवाहरलाल नेहरू के कार्यकाल में कांग्रेस के लिए पैसा इकट्ठा होता था और उसके लिए अपनाये जाने वाले तरीकों को लेकर कांग्रेस की आलोचना भी होती थी। मेरी जानकारी में कांग्रेस के पैसा इकट्ठा करने वालों में तीन नेता प्रमुख थे। बंगाल के श्री अतुल्य घोष, बम्बई के श्री एस. के. पाटिल और उत्तर प्रदेश के श्री चंद्रभानु गुप्त। इनमें से अतुल्य घोष के संबंध में मुझे कोई निजी जानकारी नहीं है। कांग्रेस के नाम पर वे जो धन इकट्ठा करते थे उसमें से क्या कुछ उनके निजी उपयोग में भी आता था? मैं कुछ भी कहने की स्थिति में नहीं हूं। इसी प्रकार श्री पाटिल की बात है। उनका भी रहन—सहन काफी ऊंचा था। उसके लिए पैसा कहां से आता था इस संबंध में कुछ निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता।

पर उनके मानवतापूर्ण व्यवहार का एक उदाहरण मुझे याद है। वे पं. जवाहरलाल नेहरू के ही कार्यकाल में मंत्री बने थे। उस समय उनके निजी सचिव पद पर श्री रामस्वामी नामक एक तमिलभाषी सज्जन थे। श्री पाटिल के साथ श्री रामस्वामी को ऐसा लगाव हो गया कि जब कामराज योजना में वे मंत्रीपद से हटाए गए तब श्री रामस्वामी ने भी सरकारी नौकरी से कुछ महीनों की छुट्टी लेकर श्री पाटिल के निजी सचिव का काम करते रहने का निश्चय किया। इन्हीं दिनों श्री रामस्वामी एक संकट से गुजर रहे थे। उनकी पुत्री का विवाह तय हो चुका था और उसके लिए आवश्यक धन वे नहीं जुटा पा रहे थे। उनका चेहरा कुछ उदास था। पर उन्होंने श्री पाटिल से कुछ कहा नहीं था। श्री पाटिल के यहां जाने आने वालों में से किसी की नजर में वह आया और उसके द्वारा बहुत पूछने पर उन्होंने कारण बता दिया। उसने जाकर श्री पाटिल से कह दिया। श्री पाटिल ने श्री रामस्वामी को बुलाकर कहा, पाटिल मंत्री न रहने के कारण कितना ही कमजोर क्यों न हो गया हो, पर अभी ऐसी स्थिति नहीं आयी है कि वह अपनी बेटी के विवाह की व्यवस्था भी न करा सके। श्री पाटिल ने आवश्यक व्यवस्था करा दी।

श्री चन्द्रभानु गुप्त कांग्रेस के लिए जो कोष इकट्ठा करते थे, उसके कारण उत्तर प्रदेश के समाजवादी उन्हें चोरबाजार गुप्त कहा करते है। लोकसभा में आगरा के रहने वाले, पर किसी दूसरे क्षेत्र से निर्वाचित सदस्य थे श्री ब्रजराज सिंह। वे समाजवादी थे और श्री गुप्त के कटु आलोचक भी। वे श्री चंद्रभानु गुप्त को चोरबाजार गुप्त ही कहा करते थे। मैंने एक बार उनसे पूछा, श्री चन्द्रभानु गुप्त कांग्रेस के लिए जो पैसा इकट्ठा करते है, उसमें से क्या कुछ अपने ऊपर भी खर्च करते हैं। श्री ब्रजराज सिंह ने कहा, "नहीं"। उसमें से एक पैसा भी वे नहीं छुते। उनका रहन—सहन भी सादा है। वे अविवाहित

भी हैं। उनके चरित्र के संबंध में भी कोई शिकायत नहीं। उनका हमारा केवल राजनीतिक झगड़ा है। यह सुनकर मुझे बड़ी खुशी हुई, क्योंकि विभिन्न अवसरों पर मैंने उनका यही रूप देखा था।

पर श्रीमती इंदिरा गांधी के प्रधानमंत्री बनने के बाद, विशेषत: कांग्रेस विभाजन के बाद, हालात बिलकुल बदल गए। १९७० के कांग्रेस अधिवेशन के बाद और १९७१ के चुनाव के पहले की बात है। वित्तमंत्री के पद पर श्री यशवंतराव चव्हाण आ चुके थे। उस समय रुपए पैसे से संबंधित एक बड़ी घटना हुई। वह नगरवाला काण्ड के नाम से जानी गई। स्टेट बैंक की नयी दिल्ली की प्रमुख शाखा के खजांची श्री मलहोत्रा ने एक दिन टेलीफोन पर श्रीमती इंदिरा गांधी की आवाज सुनी। उस पर विश्वास कर निश्चित संकेत के अनुसार उन्होंने साठ लाख रुपए की रकम श्री नगरवाला को सौंप दी। बाद में उन्हें कुछ संदेह हुआ। उन्होंने पूछताछ की तो उन्हें पता चला कि वह रकम श्रीमती गांधी को नहीं मिली। यह ज्ञात होते ही दौड़धूप शुरू हुई। नगरवाला पकड़ा गया और रकम भी मिल गई। यह प्रकाशित इतिहास है। बंगला देश का आंदोलन शुरू हो चुका था और यह भी स्पष्ट हो चुका था कि भारत की सहानुभुति उस आंदोलन के साथ है। बाद में यह स्पष्टीकरण भी आया कि बंगला देश के नाम पर देशप्रेम की भावना से प्रेरित होकर श्री मल्होत्रा ने वह रकम दी। पर इस मामले का जितना स्पष्टीकरण हुआ, उसका रहस्य और उलझता गया। गृहमंत्री के नाते कठिन से कठिन प्रश्नों का आसानी से उत्तर देते हए मैंने श्री यशवंतराव चव्हाण को देखा है। पर इस मामले में वित्तमंत्री के रूप में उन्होंने जो उत्तर दिये उससे मुझे संतोष नहीं हुआ। श्री नगरवाला ने श्रीमती इंदिरा गांधी की आवाज की नकल कर श्री मलहोत्रा को फसाया था। अत: इस विषय की चर्चा में उनके नाम का उल्लेख होना स्वाभाविक था। पर लोकसभा में जब इस विषय पर चर्चा हुई, मैंने श्री चव्हाण को बार—बार यह कहते हुए सुना कि इस घटना के साथ श्रीमती गांधी का संबंध न जोड़ा जाए। मेरी समझ में यह नहीं आया कि इस मामले में श्रीमती गांधी का उल्लेख होने में उन्हें बुरा लगने की क्या बात थी।

मैं यह जानता हूं कि हर सरकार के कुछ खर्च ऐसे होते हैं जिनका आमतौर पर हिसाब नहीं दिया जाता। पर ऐसी घटना को असाधारण ही कहना पड़ेगा जिसमें किसी सरकारी खर्च के लिए मंत्री द्वारा टेलीफोन पर दिये आदेश के अनुसार एक बड़ी रकम बैंक का अधिकारी स्वयं जाकर किसी तीसरे व्यक्ति को सौंप दे। मंत्री किसी खर्च के लिए मंजूरी दे सकता है। पर प्रत्यक्ष बैंक के साथ उसका सरकारी व्यवहार कभी नहीं होता। वह दूसरे वरिष्ठ सरकारी अधिकारियों को करना पड़ता है। दूसरी बात यह कि बैंक पर स्वामित्व चाहे सरकार का हो, पर रुपए पैसे के व्यवहार के लिए सरकार के भी उसमें विभिन्न खाते होते हैं। उन्हीं में से सरकारी खर्च के लिए आवश्यक रकम निकलती है। अधिकृत रूप से कभी भी यह नहीं बताया गया कि यह रकम स्टेट बैंक के किस खाते से निकली थी। यदि यह कहा मान भी लिया जाए कि प्रधानमंत्री की आवाज जैसी

आवाज सुनकर श्री मलहोत्रा धोखा खा गए तो प्रश्न यह पैदा होता है कि क्या टेलीफोन पर आदेश देकर बैंक से बड़ी रकमें निकालने की प्रणाली शुरू हो गई थी? इस घटना के संबंध में मैंने रिजर्व बैंक के कुछ वरिष्ठ अधिकारियों से भी बात की थी। वे इस घटना का किसी प्रकार समर्थन नहीं कर सकते थे। उनका कहना था कि जिम्मेदार अधिकारियों द्वारा ऐसा व्यवहार हो ही नहीं सकता। श्री यशवंतराव चव्हाण ने वित्तमंत्री के रूप में संसद में स्वीकार किया कि श्री मलहोत्रा का यह बहुत ही गैर–जिम्मेदाराना कार्य था। आगे चलकर उन्हें स्टेट बैंक की नौकरी से हटा भी दिया गया। पर रुपए पैसे के मामले में बहुत गैर–जिम्मेदाराना बरताव करने वाले को बाद में कहीं भी जिम्मेदारी का पद नहीं दिया जाता। श्री मलहोत्रा को संजय गांधी की मारुति कम्पनी में खजांची का काम दिया गया और मारुति कम्पनी का राष्ट्रीयकरण होने के बाद सरकारी स्तर पर भी उन्हें अधिक जिम्मेदारी दी गई। यह कैसे हो सका? दुर्भाग्य से हृदय की गति रूक जाने से जेल में ही श्री नगरवाला की मृत्यु हो गई और यह मामला जिस श्री कश्यप नामक पुलिस अधिकारी के हाथ में था उसकी भी एक दूसरी दुर्घटना में मृत्यु हो गई। उन दिनों यह चर्चा काफी चल पड़ी थी कि क्या ये दोनों मृत्यु, जैसा बताया जाता है वैसी ही हुई है या उनके पीछे कुछ और राज है। जो कुछ भी हो, नगरवाला मामले के संबंध में इतिहास में यही लिखा जायेगा कि वह एक न सुलझी हुई गुत्थी ही रह गई।

नगरवाला घटना के बाद राजधानी में यह चर्चा काफी होने लगी थी कि अपने लाभ के लिए बड़े पैमाने पर पैसे का प्रयोग हो रहा है। ये बातें राजनीतिक और आर्थिक दोनों होती थीं। सेंट्रल हॉल में हमें कई बार यह सुनाई पड़ता था कि विधानसभा अथवा संसद सदस्यों को अपनी ओर खींचने के लिए इतने हजार रुपए दिये गए या इतने लाख रुपए में सौदा पटा। मैंने स्वयं पैसा देते या लेते समय किसी को नहीं देखा। पर पहले इस प्रकार की चर्चा नहीं सुनाई पड़ती थी। अब वह पड़ती है। इसका अर्थ कोई भी यही लगा सकता था कि दाल में कुछ काला अवश्य हैं। उन दिनों श्री ललित नारायण मिश्र रेलवे मंत्री थे। उसके पहले वे जब व्यापार मंत्री थे, उनके मामले को लेकर संसद में काफी शोरगुल हुआ और फिर उन्हें रेलमंत्री बनाया गया था। उन दिनों धारणा यह थी कि श्रीमती गांधी को रुपए पैसे का व्यवहार अधिकतर उन्हीं के द्वारा होता है। वे जब व्यापार मंत्री थे तब के दो मामले, रग (चिथडे) और पांडिचेरी लाइसेंस घोटाला, काफी समय बाद तक गूंजते रहे। अधिकांश राज्यों में जो सरकारें थी वे इंदिरा गांधी की कांग्रेस की ही कही जाती थीं। पर उनमें लगातार परिवर्तन होता रहता था। बिहार में मुख्यमंत्री का चुनाव होना था। कांग्रेस विधानसभाई दल में श्री अब्दुल गफ्फूर का कोई विशेष स्थान नहीं था। पर जब वे विधानसभाई दल के नेता चुने गए, मेरे एक गुजराती पत्रकार मित्र श्री चंद्रकांत शाह मुझे लोकसभा की प्रेस गैलरी के बाहर मिले और उन्होंने काफी उत्तेजित स्वर में कहा, “जीत गया भाई जीत गया, बोतलवाला जीत गया”। उनका संकेत था कि नवनिर्वाचित मुख्यमंत्री बहुत पीने के आदी हैं। मैं स्वयं नहीं जानता कि श्री गफूर को शराब पीने की आदत थी या नहीं पर कांग्रेसियों पर पहले यह बंधन था कि उन्हें किसी

भी नशीले पदार्थ का सेवन नहीं करना चाहिए। कांग्रेस के संविधान के अनुसार अभी भी वह बना हुआ है। पर उस समय भी मैं व्यक्तिगत रूप से जानता था कि बहुत से कांग्रेसी सदस्य नियमित रूप से शराब पीते हैं। इससे श्री चंद्रकांत शाह की बात पर मेरा विश्वास हो गया। पर मुझे इस बात पर आश्चर्य नहीं हुआ कि वे शराब पीते थे, फिर भी कैसे चुने गए। आश्चर्य इस बात पर हुआ कि दल में विशेष स्थान न होने पर भी उनका चुनाव कैसे हुआ?

पर इस संबंध में उन्हीं दिनों सेंट्रल हॉल में एक खबर थी। मुख्यमंत्री पद का सवाल पैदा होते ही बिहार के विधानसभाई कांग्रेसी सदस्य दिल्ली आकर जम जाते थे। श्री ललित नारायण मिश्र का बिहार के ही होने के कारण उन सदस्यों का उनके घर जाना–आना स्वाभाविक था। वे वहां जाने पर बंद लिफाफों में उन्हें रुपए दिये जाते थे। यह तो मुझे किसी ने नहीं बताया कि लिफाफे में रकम कितनी होती थी। पर लिफाफा देने की अनोखी पद्धति के संबंध में काफी चर्चा रहती थी। ऐसा लगता है कि दूसरों को प्रभावित करने की सदस्य की क्षमता के अनुसार रकम कम ज्यादा दी जाती थी। कहा यह जाता था कि विधानसभा का कांग्रेसी सदस्य श्री ललित नारायण मिश्र को मिलने के लिए पहुंचने पर वे अपने निजी सचिव से कहा करते थे, इन्हें प्रधानमंत्री का संदेश नं. १ दीजिए। इन्हें दो नम्बर दीजिए, इन्हें तीसरा नम्बर दीजिए। सचिव बंद लिफाफा लाकर सदस्य को दिया करता था। मैंने उन दिनों 'महाराष्ट्र टाइम्स' में लिखा भी था कि इस प्रकार प्रधानमंत्री के संदेशों का वितरण होता है।

हमें साफ–साफ दिखाई दे रहा था कि श्रीमती गांधी की कांग्रेस को बहुत बड़े पैमाने पर पैसा मिल रहा है। पर हम इस बात पर उंगली नहीं रख सकते थे कि उसका मूल स्त्रोत क्या है और उन्हें क्यों दिया जा रहा है। १९६७ के आमचुनाव में स्वतंत्र पार्टी तथा भारतीय जनसंघ के भी कुछ लोग विधानसभा तथा लोकसभा में चुने जाने के कारण कम्युनिस्टों ने और समाजवादियों ने प्रथम यह मांग की थी कि, निजी क्षेत्र की कम्पनियों पर प्रतिबंध लगाकर उन्हें राजनीतिक दलों को चंदा देने से रोका जाए। बाद में इस मांग को प्रगतिशील कहलाने वाले कांग्रेस के तरुण तुर्कों ने भी उठाया। १९७१ के चुनाव के पहले इस संबंध में कानून भी बना। जब विधेयक पर चर्चा हो रही थी श्री स.का. पाटिल ने यह कानून न बनाने पर बल देते हुए चेतावनी दी थी कि इससे देश में काला धन बढ़ेगा। उनकी विचारधारा थी कि जब तक चुनाव में पैसा लगता है तब तक राजनीतिक दल अपनी क्षमता के अनुसार उसे लाने का प्रयत्न करेंगे ही, और पैसा जहां है वहीं से वह आयेगा। कानूनी रोक लगाने पर भी यह प्रवाह बंद नहीं हो सकेगा। वह प्रवाह गैरकानूनी रूप से चलता रहेगा। इससे कई गलत बातें होने लगेंगी। श्री पाटिल ने उस समय जो विचार प्रस्तुत किया वह आगे चलकर भविष्यवाणी के रूप में साबित हो गया। १९७१ के चुनाव के बाद कलकत्ते के विधान नगर में हुए कांग्रेस के अधिवेशन में साल भर के खर्च का जो तलपट रखा गया उसमें चुनाव पर हुआ खर्च इतना कम दिखाया

गया था कि उस पर किसी का भी विश्वास नहीं हो सकता था। चुनाव के लिए कांग्रेस ने ही नहीं, दूसरे दलों ने भी पैसा इकट्ठा किया, वह कहीं भी हिसाब में न आने के कारण सब का सब काला धन बना। लगभग सभी वित्त विशेषज्ञों की यही राय थी।

आगे मैं जिस घटना की चर्चा कर रहा हूं उन दिनों मुझे भी ऐसी कल्पना तक नहीं थी कि ऐसा भी कुछ हो सकता है। अधिकांश बड़े उद्योगपतियों के दिल्ली में प्रतिनिधि रहते हैं। उन प्रतिनिधियों में से कईयों ने मुझे बताया था कि आज प्रधानमंत्री के निवास पर उन्हें बुलाया गया और उनसे इतनी रकम मांगी गई। पर ऐसा कहने वाले अधिक नहीं थे जिन्होंने यह कहा हो कि श्रीमती गांधी ने वह रकम स्वयं मांगी। पर एक घटना की चर्चा अवश्य सुनी। बाद में ऐसी कई घटनाएं हुई जिससे मुझे लगा कि सुनी हुई घटना सच थी। सुनी घटना इस प्रकार थी: "मफतलाल कम्पनी के श्री अरविंद मफतलाल किसी काम से श्रीमती गांधी से मिलने गए। उस समय श्रीमती गांधी ने उनसे कहा, अरविंद भाई, पच्चीस लाख रुपए की आवश्यकता है। श्री अरविंद मफतलाल ने कहा, ठीक है, दे दूंगा, किसी को भेज दीजिए। कुछ दिनों के बाद जब वे फिर उनसे मिले, श्रीमती गांधी ने पैसे का साफ उल्लेख न करते हए कहा, अरविंद भाई, आपने अपना वादा पूरा नहीं कया। इस पर श्री अरविंद मफतलाल ने तपाक से जवाब दिया, अरविंद अपने वादे से कभी नहीं मुकरता। जिसको आपने भेजा था उसी से पूछिये।"

उन्हीं दिनों राजधानी में अचानक एक खबर फैल गई। श्री के. के. शाह को मंत्रिमण्डल से हटाया जा रहा है। श्री के. के. शाह चिंतित भी दिखाई देने लगे। बाद में उनकी नियुक्ति तमिलनाडु के राज्यपाल के पद पर हुई। इस संबंध में उन दिनों यह कहा गया कि श्री अरविंद मफतलाल के यहां से पैसा लाने के लिए श्री के. के. शाह को भेजा गया था। उन्हें पच्चीस लाख रुपए मिले भी। पर यह सब "तेरी भी चुप, मेरी भी चुप" जैसा होने के कारण उन्होंने उसमें से आधी रकम अपने पास रख ली और शेष आधी ही पहुंचायी और कहा, इतनी ही मिली थी। यदि फिर से पूछताछ न होती तो ये पैसे पचा भी जाते। अधिक सच–झूठ मुझे नहीं मालूम। पर तमिलनाडु के राज्यपाल होने के बाद मैंने श्री शाह के मुख से यह शिकायत सुनी कि राज्यपाल बनने के कारण उन्हें बहुत बड़ी आर्थिक हानि उठानी पड़ रही है। एक केंद्रीय मंत्री के निजी सचिव के साथ भी मेरी एक बार इस विषय पर बातचीत हुई। उसने कहा, शाह के संबंध में समाचार सही प्रतीत होता है। उस काल में वे हमारे मंत्री जी से मिलने आये थे। उनके हाथ में एक बड़ी ब्रीफकेस थी। उसे वे अपने हाथ से जरा भी अलग नहीं होने देते थे। मुझे याद है कि बाथरूम में जाते समय भी वे उसे अपने साथ ही ले गए थे।

दो और घटनाएं हैं जिनसे उक्त घटना की बहुत कुछ पुष्टि हो जाती है। महाराष्ट्र के मुख्यमंत्री श्री वसंतराव नाईक मफतलाल कम्पनी के दिल्ली प्रतिनिधि श्री घाटे के घर ठहरते थे। मैं वहां जाता–आता था। इससे उनके साथ भी मेरी अच्छी जान–पहचान थी। आपातकाल जारी हो चुका था और देश का वातावरण काफी बेचैनी से भरा था। मुझे

श्री घाटे का एक टेलीफोन आया। उन्होंने कहा, हमारे एक डायरेक्टर आपसे कुछ बातचीत करना चाहते हैं। आप आइये, मैं गाड़ी भेजता हूं। मैंने कहा, मैं आ रहा हूं। पर गाड़ी भेजने की जरूरत नहीं है, मेरे पास मेरी गाड़ी है। मैंने उस समय उस डायरेक्टर का नाम पूछा नहीं, और बाद में भी वह पूछने की मुझे याद नहीं रही। मेरी उनकी भेंट मफतलाल कम्पनी के दिल्ली के गेस्ट हाऊस में हुई। डायरेक्टर बहुत ही चिंतित दिखाई दिये। उन्होंने मुझे पूछा, अजी! यह क्या चल रहा है? इसके क्या परिणाम होंगे? पूंजीपति श्रीमती गांधी को बड़ी मात्रा में पैसा देते हैं, इस धारणा से मेरे मन में सभी पूंजीपतियों के प्रति रोष था। मैंने तुरंत कहा, आज की स्थिति के लिए आप लोग ही तो जिम्मेदार हैं।

डायरेक्टर ने पूछा, यह कैसे? मैंने कहा, आप लोगों ने श्रीमती गांधी को पैसा न दिया होता तो उनकी आज जो ताकत है वह कभी नहीं होती। डायरेक्टर ने कहा, यह सच है कि हम श्रीमती गांधी को पैसा देते हैं। पर वह दूसरा रास्ता न होने के कारण। यदि हमने पैसे नहीं दिये तो हमारी मिलें बंद करा दी जायेंगी। हमारे सारे सूत्र सरकार के हाथ में होते हैं। मिल बंद होने पर पांच—दस हजार मजदूरों के जीवन का प्रश्न खड़ा होता है। मैंने इस पर कहा कि आप इसलिए पैसा नहीं देते कि मजदूरों के जीवन का प्रश्न खड़ा होता है, आप इस उद्देश्य से पैसा देते हैं कि पांच करोड़ रुपए के पन्द्रह करोड़ कैसे बने। डाइरेक्टर महोदय को ऐसे उत्तर पाने की शायद आशा नहीं थी। शायद आपका ही कहना ठीक हो, यह कहकर उन्होंने चर्चा समाप्त कर दी।

मेरी एक धारणा यह भी थी कि श्रीमती गांधी को रूस से काफी पैसा मिलता है। १९७७ में जनता सरकार आने के बाद श्री यशवंतराव चव्हाण श्रीमती इंदिरा गांधी से अलग हो गए थे। एक बार मैंने उनसे कहा, आपने श्रीमती गांधी को बहुत ही निकट से देखा है। आपको यह ज्ञात ही होगा कि उन्हें पैसा कहां से मिलता है। हमारी धारणा यह है कि उन्हें रूस से काफी पैसा मिलता है। कम से कम अब तो आपको सच हालात दुनिया के सामने रखने चाहिए। इस पर श्री यशवंतराव चव्हाण ने बहुत ही गंभीरता के साथ कहा, जब देश के पूंजीपति ही अपनी थैलियों के मुंह खोले उनके सामने लाइन लगाए हुए हैं तो उन्हें रूस से पैसा लेने की आवश्यकता ही क्या है।

यह बात अलग है कि श्री ललित नाारायण मिश्र के पास इतना पैसा कहां से आता था। पर उनका हाथ बहुत ही उदार था। जिस प्रकार दूसरे व्यवसायों के अलग अलग अंगों के विशेष ज्ञान प्राप्त करने वालों को उसका विशेषज्ञ कहा जाता है उसी प्रकार पत्रकारिता के भी कई विभाग हो गए है। जो सरकार के वित्त संबंधी विभागों से समाचार प्राप्त करने का काम करते हैं, उन्हें दिल्ली में आर्थिक संवाददाता कहा जाता है। ये संवाददाता अपने आपको आर्थिक विषयों के विशेषज्ञ भी समझने लगते हैं। जब श्री ललित नारायण मिश्र विदेशी व्यापार विभाग संभालते थे, उनके यहां आर्थिक संवाददाता कहलाने वाले पत्रकार काफी जाते थे। एक बार इन संवाददाताओं को श्री ललित नारायण मिश्र ने गरम सूट का कपड़ा भेंट दिया। कपड़ा भारी था और उसकी कीमत पांच—छह

सौ रुपयों से कम नहीं होगी। कपड़ा मिलने के बाद एक पत्रकार ने मंत्री महोदय से यह भी पूछा, आपका दर्जी कौन है? प्रश्न का उद्देश्य श्री ललित नारायण मिश्र के ध्यान में आ गया। जो सूट के लिए कीमती कपड़ा देता है वह सिलाई का खर्च देने से इनकार कैसे करेगा। उन्होंने अपने दर्जी का नाम भी पत्रकार को बता दिया और आगे की व्यवस्था भी कर दी। यह तो मैं नहीं कह सकता कि जिन पत्रकारों को कपड़ा मिला था उनमें से कितनों ने उसी दर्जी से सिलाई भी करायी। पर आगे चलकर ये पत्रकार वित्त विभाग के एक अधिकारी से कुछ पूछताछ करने के लिए मिलने गए थे। उस समय उन पत्रकारों को देखकर उस अधिकारी ने कहा, क्या आप पत्रकारों ने अपनी कोई वर्दी बना ली है। उन सभी पत्रकारों के सूट का कपड़ा एक ही रंग का था और सिलाई भी लगभग एक जैसी ही थी। पत्रकार प्रश्न का उत्तर क्या देते?

पैसों के लेन–देन की एक दूसरी घटना उस समय संसदीय कांग्रेस दल के उपनेता श्री विडेश कुलकर्णी थे। उन्होंने ही यह घटना मुझे बतायी थी। १९७१ के चुनाव में भारी विजय मिलने के कारण कांग्रेस संसदीय दल की सदस्य संख्या तो काफी बढ़ी थी, पर समय पर अपना चंदा देने की प्रवृत्ति सदस्यों में न होने के कारण दल की आर्थिक स्थिति काफी कमजोर हो चुकी थी। संसदीय कांग्रेस दल के कार्यालय में जो कार्यकर्ता काम करते थे, उनका वेतन नहीं दिया जा सका था। श्री विडेश कुलकर्णी के सामने सवाल था कि वह चुकाने की क्या व्यवस्था की जाए। वे एक बार हमेशा की तरह दल की नेता और प्रधानमंत्री श्रीमती गांधी से मिलने गए और दूसरी बातों के साथ–साथ उन्होंने श्रीमती गांधी को दल की आर्थिक स्थिति से परिचित कराया और यह भी बताया कि कर्मचारियों का वेतन नहीं चुकाया जा सका है। श्रीमती गांधी उस समय तो कुछ नहीं बोली। पर उसी रात श्री कुलकर्णी को एक टेलीफोन आया। उन्हें बताया गया कि बहुजी ने उन्हें बुलाया है। उन दिनों गृहमंत्री श्री उमाशंकर दीक्षित की पुत्रवधू बहूजी के नाम से पहचानी जाती थीं। इन बहूजी के साथ श्री कुलकर्णी जी की जान–पहचान भी नहीं थी। स्वभावत: उनके मन में आया कि उन्हें क्यों बुलाया गया है। उन दिनों दिल्ली में बहुजी, यह एक बहुत बड़ा व्यक्तित्व था। बुलावा आने के बाद न जाकर भी नहीं चल सकता था। वे गए थोड़ी सी प्रारंभिक चर्चा के बाद बहूजी ने कहा, मैंने सुना है कि आपको पैसे की कुछ कठिनाई है। यह लीजिए और अपना काम चलाइये। यह कहकर उन्होंने श्री कुलकर्णी के हाथ नोटों की एक मोटी गड्डी रख दी। वह रकम कितनी थी, यह न मैंने पूछा और न उन्होंने बताया। श्री विडेश कुलकर्णी को संसदीय कांग्रेस दल के काम के लिए पैसे की कठिनाई है यह बहूजी को किसने बताया और बहूजी के पास उतना रुपया कहां से आया? इस प्रश्न का उत्तर मुझे कभी भी नहीं मिल सका।

श्री उमाशंकर दीक्षित की सार्वजनिक पैसे के संबंध में क्या दृष्टि थी, इस संबंध में मेरा अपना एक निजी अनुभव है। महाराष्ट्र प्रदेश कांग्रेस के अध्यक्ष पद पर श्री वसंतदादा पाटिल के स्थान पर श्री बालासाहब उर्फ पी. के. सावंत की नियुक्ति हुई थी।

महाराष्ट्र की राजनीति में श्री सावंत तथा श्री वसंत दादा एक–दूसरे के विरोधी गुटों में थे। किसी समय पत्रकारों ने श्री सावंत से पूछा, महाराष्ट्र प्रदेश कांग्रेस का हिसाब–किताब क्या ठीक है? इस पर श्री सावंत ने उत्तर दिया, मेरे कार्यकाल का ठीक है। पर इसका स्वभावत: एक अर्थ निकाला गया। श्री वसंतदादा पाटिल के कार्यकाल का हिसाब–किताब ठीक नहीं है। उसमें कुछ गड़बड़ी हो सकती है। इस पर श्री वसंतदादा पाटिल को गुस्सा न आता तो उसमें आश्चर्य होता। वह झगड़ा केंद्र तक आया और उसे सुलझाने की जिम्मेदारी श्री उमाशंकर दीक्षित पर डाली गयी। मराठी पत्रकार के नाते यह देखते रहना मेरी जिम्मेदारी ही थी कि इस मामले में क्या हो रहा है? एक दिन श्री उमाशंकर दीक्षित सेंट्रल हाल के रास्ते राज्यसभा की ओर जा रहे थे। मैं उनसे रास्ते में ही मिला और मैंने उन्हें पूछा, क्या महाराष्ट्र का झगड़ा सुलझ गया? उन्होंने कहा, “हां, भाई”! सुलझ गया। उन्हें (श्री सावंत को) भी पिछले हिसाब के संबंध में ऐसा नहीं कहना चाहिए था। अरे, चुनाव के पैसे का हिसाब कौन देता है और कौन लेता है?

श्री ललित नारायण मिश्र एक विदेश व्यापार मंत्री थे, उन दिनों के दो मामले बहुत दिन तक गूंजते रहे। एक को “रग स्कैण्डल” (चिथडों का घोटाला) कहा गया और दूसरे को ‘पांडिचेरी लाइसेंस स्कैंडल’। पहले मामले में गर्म कपड़े के चीथड़ों के रूप में कुछ विदेशी कपड़े का आयात करने की अनुमति दी गई थी। पर प्रत्यक्ष में वे चीथड़े नहीं थे, सिले और बुने हुए बहुत ही अच्छे ऊनी कपड़े थे। चीथड़ों के रूप में यह माल आया था अत: उस पर आयात कर बहुत ही कम लगा। आरोप यह था कि बहुत बड़े पैमाने पर यह माल आने के कारण उसकी अनुमति देने के लिए करोड़ों रुपयों का लेनदेन हुआ था। संसद में इस विषय पर जो चर्चा हुई उसमें इस संदर्भ में कई कम्पनियों के नाम लिए गए। जिस ढंग से संसद में उत्तर दिये जाते थे उससे ऐसा लगता था कि दाल में अवश्य कुछ काला है।

न्यायालय में भी में यह सिद्ध हो गया था कि ‘पांडिचेरी लाइसेंस’ के मामले में काफी गड़बड़ी हुई थी। यह मामला संक्षेप में इस प्रकार था कि बिहार से लोकसभा के दो कांग्रेसी सदस्य श्री तुलमोहन राम और श्री योगेन्द्र झा ने कुछ दूसरे संसद सदस्यों के जाली हस्ताक्षर कराकर उस कम्पनी को लाइसेंस देने के लिए मंत्री पर दबाव डाला था। इस कम्पनी को विभाग ने पहले लाइसेंस देने से इनकार कर दिया था। इस मामले में जिन दो को अपराधी समझा गया वे बिहार के ही होने के कारण उस समय यह संदेह हुआ कि वह काम उन्होंने मंत्री श्री ललित नारायण मिश्र द्वारा सुझाये जाने पर ही किया होगा। इस मामले की न्यायालय में चर्चा होने के पूर्व ही श्री ललित नारायण मिश्र की एक दुर्घटना में मृत्यु हो गई, जिससे उनसे पूछताछ करने की भी स्थिति नहीं रह गई। जब–जब इस मामले की चर्चा लोकसभा या राज्यसभा में होती थी, मैं अधिकतर उपस्थित रहता ही था। चर्चा सुनकर मुझ पर यही असर पड़ा था कि कुछ छिपाने की कोशिश हो रही है।

वैसे देखा जाय तो सरकारी कारोबार में कमियां ढूंढना विपक्षी दलों का काम ही होता है। पर पांडिचेरी लाइसेंस के नाम से जो घोटाला संसद में गूंजा उसे ढूंढ निकालने का श्रेय विपक्षी दलों को नहीं दिया जा सकता। बम्बई के "ब्लिट्ज" नामक साप्ताहिक ने सबसे पहले यह खबर छापी कि जिस व्यापारी को लाइसेंस देने से इनकार कर दिया गया उसे ही कुछ संसद सदस्यों द्वारा सिफारिश करने पर फिर लाइसेंस दे दिया गया। ब्लिट्ज उन दिनों सरकार का समर्थन करने वाला ही पत्र था। उस पर राज्यसभा में जो पहला प्रश्न पूछा गया वह श्री ए. जी. कुलकर्णी, श्री कृष्णकांत और श्री जयंतराव तिलक के नाम पर था। इनमें से श्री कुलकर्णी और श्री कृष्णकांत कांग्रेस के ही थे और श्री जयंतराव तिलक निर्दलीय होने पर भी उनकी सहानुभूति विपक्ष की तुलना में कांग्रेस की ओर अधिक थी। संसद के मंच पर सरकारी कारोबार की खामी दिखाने वाला प्रश्न उपस्थित हो और फिर भी विपक्षी सदस्य उसे न उठायें तो कहा यही जाता कि विपक्ष अपने कर्तव्य से चूक गया। विपक्ष ने यह मांग की कि इस मामले की सी.बी.आई. द्वारा जांच करायी जाय। पहले तो सरकार ने जांच कराने से इनकार किया, पर फिर अधिक दबाव आने पर उसके लिए तैयार हो गई। स्वभावत: इसके बाद यह मांग तो होने वाली ही थी कि सी.बी.आई. की रिपोर्ट संसद के पटल पर रखी जाय और उस पर चर्चा करने का अवसर सदस्यों को दिया जाय। इसका भी सरकार की ओर से पहले विरोध हुआ। फिर रिपोर्ट संसद के पटल पर रखी गई। पर चर्चा के पहले ही इस मामले में एक मुकदमा दायर कर सरकार की ओर से यह भूमिका अपनायी गई कि अब मामला न्यायालय में प्रविष्ट होने के कारण संसद में उस पर चर्चा नहीं हो सकती। यह स्पष्ट हो गया था कि सरकार के ये सारे प्रयत्न इस विषय पर संसद में चर्चा टालने के लिए थे। इससे विरोधी दलों में भी जोश आया और उन्होंने कसम सी खाई कि इस विषय पर चर्चा करा के ही रहेंगे।

इस मामले में मुझे आज भी एक बात समझ में नहीं आती। सरकार यह मानती थी कि अपराध हुआ है। फिर चर्चा टालकर वह अपराधी को बचाना क्यों चाहती थी। सी.बी.आई. की रिपोर्ट के अनुसार अपराध की घटना में कोई संदेह नहीं था। उसमें कांग्रेसी संसद सदस्य श्री तुलमोहन राम का उल्लेख था। उस समय मंत्री श्री ललित नारायण मिश्र का अपराध से प्रत्यक्ष कितना संबंध था यह निश्चित रूप से नहीं बताया जा सकता था। पर जिस कांग्रेसी संसद सदस्य का संबंध सी. बी. आई. की रिपोर्ट में स्पष्ट हो चुका था, उसे कांग्रेस दल से निकालने, कम से कम उसकी सदस्यता स्थगित करने का निर्णय तो तुरंत लिया ही जा सकता था। पं. नेहरू के कार्यकाल में कांग्रेस की यही परम्परा थी। श्री मुद्गल नामक एक लोकसभा के कांग्रेसी सदस्य थे। उनके संबंध में कुछ संदेह हुआ। संदेह यह था कि उन्होंने संसद सदस्यता के कारण प्राप्त सुविधाओं का उपयोग अपने निजी उद्योगों को बढ़ाने के लिए किया था। समिति नियुक्त हुई। उसकी रिपोर्ट आयी। उसमें कुछ आक्षेप थे, पर उन पर कोई आरोप सिद्ध नहीं हुआ था। किसी न्यायालय में उनके विरूद्ध कोई मुकदमा भी दर्ज हुआ था।

पर पं. नेहरू ने रिपोर्ट के आधार पर स्वयं यह प्रस्ताव रखा कि श्री मुद्गल की सदस्यता रद्द कर दी जाए। चर्चा हुई और मुद्गल को अवसर मिला कि वे उन पर लगाए हुए आरोपों का उत्तर दे सकें। कम से कम उस समय मुझ पर ऐसा असर पड़ा था कि उनका उत्तर काफी असरदार था। पर प्रस्ताव पं. नेहरू का था। यह तय ही था कि वह मंजूर हो ही जायेगा। अत: श्री मुद्गल ने अपने भाषण के अंत में अपनी सदस्यता से त्यागपत्र दे दिया। पं. नेहरू चिढ़ उठे। वे चाहते थे कि त्यागपत्र मंजूर न किया जाय, अपितु श्री मुद्गल को उनकी सदस्यता से वंचित करने का उनका प्रस्ताव पास किया जाय। श्री दादासाहब मांवलंकर लोकसभा के अध्यक्ष थे। उन्होंने कहा, सदस्य जिस क्षण त्यागपत्र देता है उसी क्षण से वह लागू हो जाता है। अत: श्री मुद्गल सदस्य ही न होने के कारण उन्हें अब निकालने का प्रश्न ही नहीं उठता। पं. नेहरू को चुप बैठना पड़ा। पर इतिहास में लिखा गया कि नेहरू के विचार में जिस व्यक्ति के बारे में संदेह भी है, वह संसद का सदस्य नहीं रह सकता। पर पं. नेहरू की पुत्री श्रीमती इंदिरा गांधी को उस व्यक्ति का केवल लोकसभा का ही नहीं, संसदीय कांग्रेस दल का सदस्यत्व चल सकता था जिस पर स्वयं सरकार ने मुकदमा चलाया हो। इस संबंध में समाचारपत्रों द्वारा काफी कुछ लिखे जाने के बाद श्री तुलमोहन राम का संसदीय कांग्रेस दल का सदस्यत्व स्थगित किया गया।

श्रीमती इंदिरा गांधी की कार्यपद्धति

१९६६ से लेकर १९७७ में जनता सरकार बनने तक ग्यारह वर्ष से कुछ अधिक समय श्रीमती गांधी प्रधानमंत्री पद पर थीं। यह कहना कठिन है कि उनकी वह नीति थी या संयोग से वैसा हो जाता था। पर उनके हाथ शासन आने के बाद कांग्रेस शासन के किसी भी राज्य का मुख्यमंत्री अपने पद पर लगातार पांच वर्ष कायम नहीं रह सका। इसमें अपवाद थे महाराष्ट्र के मुख्यमंत्री नाईक, राजस्थान के श्री मोहनलाल सुखाड़िया और कर्नाटक के श्री देवराज अर्स। पर इनमें से केवल श्री देवराज अर्स ही श्रीमती गांधी के बल पर मुख्यमंत्री बने थे। १९७२ के चुनाव में उत्तर प्रदेश विधानसभा में श्रीमती गांधी की कांग्रेस को बहुमत मिला। श्री कमलापति त्रिपाठी को मुख्यमंत्री बनाया गया। उत्तर प्रदेश का मुख्यमंत्री बनने की इच्छा श्री कमलापति त्रिपाठी के मन में बहुत दिनों से थी। श्री त्रिपाठी श्रीमती गांधी के सदा ही वफादार अनुयायी रहे हैं। पर उन्हें भी श्रीमती गांधी का लगातार समर्थन नहीं मिला। उत्तर प्रदेश की सशस्त्र पुलिस में (Provincial Armed constabulary) विद्रोह होने का कारण बना और श्री त्रिपाठी को मुख्यमंत्री पद से त्यागपत्र देना पड़ा। उस समय उत्तर प्रदेश विधानसभा में तीन सौ से कुछ अधिक कांग्रेसी सदस्य थे। पर उनमें से कोई मुख्यमंत्री पद के लिए उपयुक्त प्रतीत नहीं हुआ। विधानसभा स्थगित कर राष्ट्रपति का शासन जारी किया गया। एक नयी परम्परा डाली गई। विधानसभा का अस्तित्व बना हो उसमें किसी दल का स्पष्ट बहुमत भी हो फिर भी राष्ट्रपति का शासन जारी किया जाएं।

श्री कमलापति त्रिपाठी प्रशासन कुशलता के लिए कभी भी प्रसिद्ध नहीं थे। सभी जानते थे कि उनका कारोबार बहुत ही ढीलाढाला था। फिर इसमें कौनसा तुक था कि सशस्त्र पुलिस का विद्रोह संभालने में वे असफल होने के कारण उनसे त्यागपत्र लिया जाय। प्रशासन कुशलता के गुण के कारण उन्हें मुख्यमंत्री नहीं बनाया गया था। इस संदर्भ में उन दिनों कहा गया था कि गृहमंत्री उमाशंकर दीक्षित उन पर नाराज होने के कारण उनसे त्यागपत्र लिया गया। उन पर आरोप यह था कि मुख्यमंत्री होते हुए उन्हें पुलिस विद्रोह की हवा भी नहीं लगी। पर उस काल में मेरे जैसे पत्रकार को एक बात समझ में नहीं आई। जिस प्रकार श्री कमलापति त्रिपाठी उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री थे, उसी प्रकार उस समय देश के गृहमंत्री श्री उमाशंकर दीक्षित भी थे। प्रदेश के गुप्तचर विभाग की असफलता के कारण यदि श्री कमलापति त्रिपाठी की बलि चढ़ गई तो उत्तर प्रदेश में जो केंद्रीय गुप्तचर विभाग था उसे भी इस विद्रोह की हवा नहीं लगी थी। वह भी तो असफल हुआ था। इस नाते गृहमंत्री श्री उमाशंकर दीक्षित को सजा क्यों नहीं दी गई। लगता यही है कि श्री कमलापति त्रिपाठी को निकालने का कारण उनमें प्रशासन कुशलता का अभाव नहीं था। अपितु वह था श्री उमाशंकर दीक्षित का उन पर निजी रूप से नाराज होना।

उन दिनों राजधानी में एक चर्चा और थी। श्री कमलापति त्रिपाठी और श्री उमाशंकर दीक्षित दोनों की पुत्रवधुएं "बहूजी" के नाम से पहचानी जाती थीं। यह भी कहा जाता था कि दोनों राजनीति में काफी हस्तक्षेप करती हैं। एक दिन श्री दीक्षित ने श्री कमलापति त्रिपाठी को सुनाया कि वे अपने बहूजी को काबू में रखें। इस पर श्री त्रिपाठी ने तुरंत कहा, मेरी बहूजी के बारे में विचार करने की आपको कोई आवश्यकता नहीं है। अच्छा हो कि आप ही अपनी बहूजी को नियंत्रण में रखें। ऐसा लगता है कि इस मामले को लेकर श्री दीक्षित जी ने कुछ बातें श्रीमती गांधी से कही होंगी, क्योंकि आगे की घटना श्री त्रिपाठी ने मेरे सामने ही श्री यशवंतराव चव्हाण को बतायी थी। काशी नागरी प्रचारिणी सभा के किसी समारोह के लिए श्री यशवंतराव चव्हाण को श्री त्रिपाठी वाराणसी ले गए थे। मैं भी साथ में ही था। मुझे स्मरण है कि मोटर से जाते समय श्री त्रिपाठी ने श्री चव्हाण से कहा था, मुझे एक बार इंदिरा जी ने कहा, आप बीच—बीच में दीक्षित जी से क्यों नहीं मिलते। बीच—बीच में मिलते रहना अच्छा होता है। पर मैंने उनसे साफ कह दिया, देखिये, मैंने आपको अपना नेता माना है। आपने दुत्कारा तो भी मैं आपके दरवाजे पर पड़ा रहूंगा। पर मुझसे यह नहीं बनेगा कि मैं और किसी के पास जाऊं।

श्री कमलापति त्रिपाठी के त्यागपत्र के बाद उत्तर प्रदेश विधानसभा कुछ समय स्थगित रखी गई और राष्ट्रपति का शासन कायम किया गया। दल का बहुमत होने पर भी राज्यों में राष्ट्रपति का शासन लागू करने की घटनाएं बार—बार होने लगीं। उन दिनों श्री हेमवतीनंदन बहुगुणा केंद्र में किसी छोटे से विभाग में राज्यमंत्री थे। उन्हें उत्तर प्रदेश का मुख्यमंत्री बनाकर भेजा गया। उनका व्यक्तित्व प्रगतिशीलता का था। वे कमलापति त्रिपाठी की तरह घंटों पूजापाठ नहीं करते थे। यह भी धारणा थी कि वे प्रशासन कुशल हैं। पर वे भी अधिक दिन तक मुख्यमंत्री पद पर नहीं रह सके। शीघ्र ही श्रीमती गांधी उन पर भी नाराज हो गई और उन्हें भी त्यागपत्र देना पड़ा। ऐसे भी समाचार फैलने लगे कि प्रधानमंत्री से मिलने के लिए दिल्ली आने पर श्री बहुगुणा की आठ—आठ दिन तक उनसे भेंट तक नहीं होती थी। फिर एक दिन यह भी खबर फैली कि एक बार भेंट होने पर श्री बहुगुणा ने श्रीमती गांधी से साफ—साफ कहा, आपका मुझ पर विश्वास न हो तो मैं त्यागपत्र देने को तैयार हूं। इस पर श्रीमती गांधी ने कहा, फिर आपको रोका किसने है। इसके बाद श्री बहुगुणा को त्यागपत्र देने के सिवा कोई चारा ही नहीं था।

श्री बहुगुणा पर श्रीमती गांधी की नाराजगी का वास्तविक कारण क्या था। १९७१ के चुनाव में श्री बहुगुणा लोकसभा में इलाहाबाद से चुनकर आये थे। उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री बनने पर वे विधानसभा के सदस्य बने और उनका इलाहाबाद का लोकसभा का स्थान खाली हुआ। उस समय की खबरों के अनुसार श्री बहुगुणा चाहते थे कि उनकी जगह पर उनकी पत्नी श्रीमती कमला बहुगुणा को कांग्रेस का टिकट मिले। वैसी परंपरा भी शुरू हो गई थी। पश्चिम बंगाल में चुनाव के बाद श्री सिद्धार्थ शंकर रे की पत्नी श्रीमती माया रे को लोकसभा का टिकट दिया गया था। श्री रे पश्चिम बंगाल के मुख्यमंत्री

होने के कारण उनका भी लोकसभा का स्थान खाली हुआ था। पर कहा जाता था कि उस स्थान का टिकट चुनाव याचिका में उनके वकील श्री नर्मदा प्रसाद खेर को श्रीमती गांधी देना चाहती थीं। अंत में टिकट उन्हीं को दिया गया। पर वे चुनाव में हार गए। समाजवादी दल के श्री जनेश्वर मिश्र चुने गए। स्वभावत: श्रीमती गांधी की यह धारणा बनी कि श्री बहुगुणा ने श्री खेर को चुनवाने के लिए मन लगाकर काम ही नहीं किया। बल्कि उन्होंने यही देखा कि वे कैसे हारें। जिस व्यक्ति के संबंध में श्रीमती गांधी की ऐसी धारणा बनी हों, उसकी प्रतिमा कितनी ही प्रगतिशीलता की क्यों न हो, वह मुख्यमंत्री पद पर कैसे बना रह सकता है।

१९६९ के बैंकों का राष्ट्रीयकरण होने के बाद कांग्रेस के नेताओं में अपनी प्रगतिशीलता प्रदर्शित करने की प्रतियोगिता ही चल रही थी। १९७१ के चुनाव के बाद जिनकी प्रगतिशीलता की प्रतिमा बहुत ही चमकदार थी ऐसे श्री मोहन कुमारमंगलम् और श्री सिद्धार्थ शंकर रे का मंत्रिमण्डल में समावेश हो चुका था। श्री मोहन कुमारमंगलम् खान मंत्री थे, तो श्री सिद्धार्थ शंकर रे शिक्षामंत्री। श्री एच. आर. गोखले कानून मंत्री बने थे। श्री गोखले देश के माने हए कानून विशेषज्ञ तो थे ही, पहले के वे समाजवादी भी थे। पर मुझे ऐसी कई घटनाएं याद हैं जब कानूनी विषय पर श्री कुमारमंगलम् और श्री सिद्धार्थ शंकर रे, ये दोनों दूसरे विभाग के मंत्री होने पर भी सरकारी प्रवक्ता के रूप में बोला करते थे। अत: कानून मंत्री के लिए चर्चा का उत्तर देने को कुछ बचता ही न था। मुझे तो इसका एक ही कारण दिखाई देता है। संभवत: श्री गोखले की तुलना में श्रीमती गांधी का श्री सिद्धार्थ शंकर रे और श्री मोहन कुमारमंगलम् के कानूनी ज्ञान और प्रगतिशीलता पर अधिक विश्वास रहा हो। इनमें से श्री कुमारमंगलम् तो पुराने कम्युनिस्ट भी थे।

उन दिनों स्पष्ट रूप से प्रगतिशील कहलाने वाले नेताओं को भी यह भय लगा रहता था कि कही उन्हें प्रतिक्रियावादी तो नहीं समझा जायेगा। डूबते हुए सूरज को साक्षी रखकर समाजवाद की दिशा में ही चलने की प्रतिज्ञा करने वाले श्री यशवंतराव चव्हाण के भी मन में वह भय था। इस संदर्भ में मुझे एक घटना याद आ रही है। श्री चव्हाण नागिन नामक एक रोग से पीड़ित थे। इसमें सामान्यत: कमर से कंधे तक जनेऊ जैसा सांप के आकार का लाल रंग का चक्कर पड़ जाता है और उसमें बहुत तेज जलन होती है। कभी–कभी बुखार भी होता है। श्री चव्हाण को नागिन का रोग हो गया है, यह सुनकर श्री हजरनवीस उनकी पूछताछ करने के लिए जाने वाले थे। मैं भी उनके साथ गया। श्री चव्हाण लेटे हुए थे। वे काफी परेशान थे। पर बातचीत के बीच उनकी परेशानी का मुझे जो कारण ज्ञात हुआ उस पर मुझे बहुत आश्चर्य लगा। उन्होंने कहा, कल लोकसभा में एक विधेयक प्रस्तुत किया जाने वाला है। वह समाजवाद की दिशा में एक कदम है। वह प्रस्तुत किये जाते समय यदि मैं वहां उपस्थित नहीं रहूंगा तो लोग क्या कहेंगे। और मैं तो ऐसा बिस्तर पर पड़ा हूं। मुझसे नहीं रहा गया। मैंने कहा, चव्हाण साहब! आप

क्यों चिंता कर रहे हैं। क्या आपका समाजवादी व्यक्तित्व इतना कमजोर है कि एक विधेयक प्रस्तुत करते समय आपके सदन में उपस्थित न होने के कारण वह टूट जाए? इस पर श्री चव्हाण ने कुछ कहा तो नहीं, पर दूसरे दिन विधेयक प्रस्तुत होते समय वे बीमारी की हालत में भी सदन में उपस्थित अवश्य थे।

१९७१ के चुनाव के बाद समाजवाद की दिशा में जो जोरदार कदम उठाए गए उनमें कोयला खानों का राष्ट्रीयकरण और गेहूं के व्यापार पर पूर्णत: सरकारी नियंत्रण इन दो बातों का समावेश था। इन दोनों कदमों के जो परिणाम देश की अर्थव्यवस्था की दृष्टि से हुए, उस पर संपूर्ण विचार एक अलग पुस्तक में ही किया जा सकता है। कोयले के संबंध में जनसाधारण की दृष्टि में दो बातें आती हैं। कोयले की कीमतें बहुत अधिक चढ़ गई। पर जिस कोयला उद्योग का राष्ट्रीयकरण हुआ वह घाटे में ही रहा, क्योंकि जितना होना चाहिए था, कोयले का उत्पादन नहीं बढ़ा। कोयले की कमी के कारण देश के कई उद्योगों पर संकट छा गया। आज कोयला उद्योग पर भी सरकारी नियंत्रण है और रेल उद्योग भी सरकार के ही हाथ में है। पर इस कमी की जिम्मेदारी रेलवे विभाग कोयला उद्योग पर डालता है और कोयला उद्योग रेल विभाग पर। आम आदमी इसका क्या अर्थ लगाए। इस संदर्भ में प्रसिद्ध अर्थ विशेषज्ञ स्वर्गीय श्री गोवर्धन पारीख से मेरी एक बार बात हुई थी। उनकी प्रवृत्ति समाजवादी थी और वे उद्योगों का राष्ट्रीयकरण करने का विरोध भी नहीं करते थे। पर वे कहते थे कि किसी भी उद्योग का राष्ट्रीयकरण करने के पहले यह देखना आवश्यक होता है कि उसमें देना पावना की निश्चित जिम्मेदारी क्या है। कोयला उद्योगों का राष्ट्रीयकरण करते समय यह ठीक नहीं देखा गया। सरकार को यह भी जानकारी नहीं थी कि वह कितनी खानों का राष्ट्रीयकरण कर रही है। राष्ट्रीयकरण करने के कारण कितने मजदूरों को (काम करने वाले और न करने वाले) वेतन देने की जिम्मेदारी सरकार ले रही है।

लगभग यही बात गेहूं का व्यापार सरकारी नियंत्रण में लेने के बारे में हुई। यह कदम गलत था इस बारे में थोड़ा सा अनुभव मिलते ही सरकार ने उसे स्वीकार किया और वह कदम कुछ पीछे भी हटाया। पर अर्थव्यवस्था पर इसके जो बुरे परिणाम हो चुके थे, वे बने रहे। गेहूं के व्यापार पर सरकारी नियंत्रण करने के पीछे एक विचारधारा थी। निजी हाथों में यह व्यापार होने के कारण व्यापारी गेहूं की झूठी कमी पैदा करते हैं और कीमतें बढ़ाते हैं। इससे समाज के दुर्बल वर्ग को अधिक कष्ट पहुंचता है। इसके अलावा एक बात और भी होती है। आर्थिक शक्ति केंद्रित हो जाती है। साथ ही अनाज पैदा करने वाले किसान को उचित दाम नहीं मिलता। इन सभी बातों में सचाई थी। और इन बुराइयों को कम करने का उद्देश्य प्रशंसनीय था। पर गेहूं के व्यापार पर सरकारी नियंत्रण का परिणाम कुछ और ही हो गया। अधिक कमी हो गई, कालाबाजार बढ़ा। परिणामस्वरूप कीमतें बढ़ने वाली ही थीं। आर्थिक शक्ति का केंद्रीकरण रोकने के लिए जो कदम उठाया गया उसका परिणाम ठीक उलटा हुआ।

इस संबंध में दिल्ली के ही एक व्यापारी का उदाहरण है। गेहूं का व्यापार सरकारी नियंत्रण में जाने के कारण इस व्यापारी ने अपने गोदाम में पड़ा सब गेहूं सरकार को खुलेआम दे दिया। उस समय की कीमत के अनुसार उसे एक लाख रुपया मिला। कुछ समय उसकी समझ में नहीं आ रहा था कि इन एक लाख रुपयों का क्या किया जाए। पर उसके खून में व्यापार था। अत: वह पैसा बैंक में रखना अथवा घर की संदूक में बंद कर रखना उसे नहीं भा रहा था। वह राजस्थान गया। उसने वहां की मंडियों का अध्ययन किया। उन दिनों जीरे पर किसी प्रकार का नियंत्रण नहीं था। दाम था चार रुपए प्रति किलो। उसने राजस्थान के बाजार का सब जीरा चार रुपए प्रति किलो की दर से खरीद लिया और बिक्री रोक दी। बाजार में कमी होते ही उसकी कीमत बढ़ गई और उसने वह सारा जीरा ९ रुपए प्रति किलो की दर से बेच दिया। गेहूं के व्यापार में जिसकी आर्थिक क्षमता केवल एक लाख रुपए की थी वह केवल पन्द्रह बीस दिन में दुगुने से अधिक हो गई। वह फिर कम नहीं हो सकती थी। दिल्ली के एक—दूसरे चावल के व्यापारी ने मुझे बताया था कि सरकार जितना नियंत्रण करती है, कमी उतनी ही बढ़ती है और हमारा उससे उतना ही आर्थिक लाभ होता है।

१९७२ के चुनाव के बाद पश्चिम बंगाल में भी कांग्रेस की सरकार स्थापित हुई। उसके बाद वहां कांग्रेस का अधिवेशन हुआ था। पश्चिम बंगाल के प्रथम कांग्रेसी मुख्यमंत्री श्री विधानचंद्र राय के नाम पर अधिवेशन के लिए वहां विधान नगर बसाया गया था। मैं इस अधिवेशन के लिए गया था। मैं यह जानना चाहता था कि पहले का मार्क्सवादी सरकार और वर्तमान कांग्रेस सरकार के प्रशासन में क्या अंतर है। मुझे प्राप्त जानकारी संक्षेप में इस प्रकार थी। गुंडागर्दी में दोनों प्रशासन समान थे। श्री प्रियरंजन दास आदि कांग्रेसी नेताओं में ईंट का जवाब पत्थर से देने की नीति अपनाने के कारण मार्क्सवादी शासन से त्रस्त जनता कांग्रेस की ओर फिर झुक गई। एक ने और एक बात बतायी। उसने कहा, पहले आपके घर में यदि दो गाड़ियां हो तो मार्क्सवादी कार्यकर्ता आते थे और जबरन गाड़ियां ले जाते थे और उसके लिए जो खर्च लगता था, वह भी वसूल करते थे। अब दो में से एक गाड़ी कांग्रेस कार्यकर्ता भी जबरन ले जाते हैं। पर अब पहले की तरह खर्च नहीं मांगा जाता। मार्क्सवादी शासन की तुलना में जीवन भी कुछ अधिक आसान हो गया है।

जो अपने आपको स्पष्ट रूप से समाजवादी कहते थे, उन कम्युनिस्टों के दो—तीन टुकड़े हो ही चुके थे। कम्युनिस्ट न कहलाने वाले समाजवादी दल में भी कई गुट हो गए थे। उनका कभी अलग राजनीतिक दल हो जाता था तो कभी वे फिर इकट्ठा हो जाते थे। यह सब देखकर ऐसा लगता है कि क्या समाजवाद शब्द के साथ अलगाव की भावना भी जुड़ी है? जिन तरुण तुर्कों के बल पर कांग्रेस का विभाजन हुआ वे भी अपने को समाजवादी कहलाते थे। उन्होंने सरकारी कार्यक्रमों पर समाजवाद की दृष्टि से दबाव डालने के लिए सोशलिस्ट फोरम फॉर ॲ५क्शन नामक एक संगठन स्थापित किया। यह संगठन

श्रीमती इंदिरा गांधी का नेतृत्व स्वीकार करने वाली कांग्रेस के अंतर्गत ही था। इस फोरम के अध्यक्ष थे श्री अर्जुन अरोड़ा। ये कानपुर के मजदूर कार्यकर्ता थे और कम्युनिस्ट विचारधारा से उनकी काफी निकटता थी।

इस फोरम के दूसरे कार्यकर्ता थे श्री हर्षदेव मालवीय। उन्हें मैं इलाहाबाद से जानता था। वे बहुत ही अध्ययनशील और परिश्रमी थे। उस काल में आमतौर पर जैसा होता था, उनका भी बांयी विचारधारा की ओर अधिक झुकाव था। श्री पुरुषोत्तमदास टंडन जी के ही कार्यकाल में कांग्रेस महासमिति का कार्यालय इलाहाबाद से दिल्ली आया। श्री हर्षदेव मालवीय को वहां नौकरी मिली। वे वहां अंग्रेजी इकनॉमिक रिव्यु और आर्थिक समिक्षा, इन पत्रों का काम देखते थे। कांग्रेस के महामंत्री के रूप में श्री जमनालाल बजाज के दामाद श्री श्रीमन्नारायण जी का नाम उस पर संपादक के रूप में छपता था। श्री श्रीमन्नारायण जब कांग्रेस के महामंत्री थे, उन्हीं दिनों की बात है। यह संदेह हुआ कि श्री मालवीय का कुछ आंतर्राष्ट्रीय कम्युनिस्ट संस्थाओं से संबंध है। उन्हें अचानक नौकरी पर से निकाल दिया गया। आगे चलकर वे रूसी सहायता से चलने वाली संस्थाओं में काम करने लगे। श्री नासर के कार्यकाल में वे कई वर्ष तक मिस्र की राजधानी काहिरा में थे। उनके बच्चों की शिक्षा–दीक्षा मास्को में हुई। श्रीमती गांधी के हाथ शासन की बागडोर आने के बाद वे वापस आये और उन्हें राज्यसभा की सदस्यता दी गई। उनके संबंध में एक आक्षेप होता था कि उन्होंने विदेशो में कम्युनिस्ट संस्थाओं में काम किया है। उन्हें कांग्रेस के टिकट पर राज्यसभा की सदस्यता कैसे? इस पर श्रीमती गांधी कहा करती थीं कि किसी को यदि बिलकुल ही अलग फेंक दिया जाय तो वह क्या करे। श्री अर्जुन अरोड़ा को भी राज्यसभा की सदस्यता दो बार मिली।

श्री अरोड़ा हो या श्री मालवीय, कांग्रेस का टिकट प्राप्त होने पर भी उनका लोकसभा में चुनकर आना संभव नहीं था श्रीमती इंदिरा गांधी के कारण ही दोनों राज्यसभा में आ सके। दोनों को लगता था कि समाजवादी होने के नाते वे देश के लिए कुछ ठोस काम कर रहे हैं। १९७१ के चुनाव के बाद उनकी उपयोगिता समाप्त हो गई थी। श्रीमती गांधी को जब लगा कि सोशलिस्ट फोरम फॉर ॲक्शन संस्था की ओर से उन पर अधिक दबाव डाला जा रहा है, वह संस्था उन्हें अप्रिय हो गई। उसके बाद कांग्रेस में ही एक दूसरी प्रतियोगी संस्था स्थापित हुई, जिसका नाम था 'नेहरू फोरम'। इस फोरम के अखिल भारती अध्यक्ष थे श्री अनंत प्रसाद शर्मा। किसी भी कसौटी पर श्री अनंत प्रसाद शर्मा की प्रतिमा समाजवादी नहीं बनती थी। दोनों फोरम के बीच विवाद होने लगे और वे समाचारपत्रों में प्रगट होने लगे। दोनों का ही दावा था कि वे ही सच्चे समाजवादी हैं। दोनों यह भी दिखाते थे कि श्रीमती गांधी का समर्थन उन्हीं को प्राप्त है। पर श्रीमती गांधी ने किसी भी फोरम के साथ अपनी निकटता प्रगट नहीं की थी। आगे चलकर दोनों फोरम का आपसी झगड़ा इस हद तक पहुंचा कि श्रीमती गांधी को स्पष्ट कहना पड़ा कि कांग्रेस संगठन में इस प्रकार के किसी अलग फोरम की आवश्यकता नहीं है। १९८० के चुनाव

में श्रीमती गांधी की कांग्रेस को भारी मात्रा में सफलता मिली। पर फिर दल में समाजवाद का दावा करने वाला कोई नया फोरम स्थापित नहीं हुआ।

श्री अर्जुन अरोड़ा और श्री हर्षदेव मालवीय दोनों आपातकाल तक श्रीमती गांधी के साथ ही थे। पर श्री संजय गांधी का उदय हुआ और कुछ मात्रा में दायें कम्युनिस्टों के विरूद्ध भी कार्रवाई होने लगी। श्री अर्जुन अरोड़ा और श्री हर्षदेव मालवीय, इन दोनों की आंखें खुल गई। १९७८ में कांग्रेस का पुन: विभाजन होकर श्रीमती इंदिरा गांधी की जो नयी कांग्रेस बनी, उसमें श्री हर्षदेव मालवीय शामिल नहीं हुए। वे पहले के ही कांग्रेस में बने रहे। श्री अर्जुन अरोड़ा को भी बाद में राज्यसभा की सदस्यता नहीं मिली। उन्होंने ही मुझे एक घटना बतायी जो उनके अनुसार अपने सहयोगियों के प्रति श्रीमती इंदिरा गांधी की दृष्टि व्यक्त करने वाली थी। उन्होंने कहा, मैं एक दिन कानपुर में अपने घर में ही बैठा था कि एक सज्जन मेरे यहां आये। थोड़ी बहुत चर्चा होने के बाद उन्होंने पूछा, आपने श्रीमती इंदिरा गांधी का इतना साथ दिया, फिर भी आपको कोई भी मंत्रीपद आदि क्यों नहीं मिला? श्री अरोडा ने बताया, मैंने उनसे कहा, उस पर हम बाद में चर्चा करेंगे। पहले यह बताइये कि आप किस काम के लिए आये हैं? उन्होंने अपना काम बताया। मैंने उन्हें बता दिया कि मैं उसमें से कितना कर सकता हूं। जाने के पहले उन्होंने मुझसे पहले का ही प्रश्न फिर किया। उसके जवाब में मैंने उनसे पूछा, पशुओं में सबसे बहादुर पशु कौन सा होता है? उनकी समझ में मेरे प्रश्न का रूख नहीं आया। कुछ विचार कर उन्होंने कहा, बाघ या शेर? मैंने फिर पूछा कि आपने कभी आधुनिक धनी युवतियों को अपनी मोटर में बाघ या शेर को ले जाते हुए देखा है? उसने कहा, "नहीं"। उनके साथ मोटर में सुहावना कुत्ता ही होता है। श्री अरोड़ा ने कहा, यही आपके प्रश्न का मेरा उत्तर है। इसमें श्री अरोड़ा ने अपनी तुलना बाघ या शेर के साथ की थी। यह बात अलग है कि वह कितनी उचित थी। पर उस समय श्रीमती गांधी और उनके सहयोगियों के प्रति श्री अर्जुन अरोड़ा के मन में जो विचार घूम रहा था, वह इससे बहुत कुछ सूचित हो जाता है।

गुजरात में संगठन कांग्रेस की सरकार समाप्त हुई और वहां इंदिरा कांग्रेस की श्री घनश्याम ओझा की सरकार आयी। पर वह भी कायम नहीं रह सकी। केंद्र की सहायता से श्री चिमणभाई पटेल गुजरात के मुख्यमंत्री बने। मैं ठीक–ठीक यह नहीं बता सकता कि उनके कार्यकाल में सचमुच ही भ्रष्टाचार बढ़ा या भ्रष्टाचार बढ़ने का प्रचार अधिक हुआ। पर उसके विरोध में गुजरात में नवनिर्माण आंदोलन प्रारंभ हुआ। इस आंदोलन में मुख्य रूप से विद्यार्थी ही शामिल थे। समाचारपत्रों में जो खबरें आ रही थीं, उससे ऐसा लगता था कि विद्यार्थियों के इस आंदोलन को कुछ अलग अच्छा मोड़ मिल रहा है। हो सकता है कि वह सच हो। पर संसद के सेंट्रल हॉल में गुजरात से ही आने वाले लागों के द्वारा जो जानकारी मिलती थी उससे ऐसा भी लगने लगा था कि यह आंदोलन कुछ गलत दिशा में भी जा रहा है। गुजरात से आये नवनिर्माण आंदोलन के एक युवा कार्यकर्ता

ने ही एक घटना बतायी। उसने वह इस प्रकार बतायी कि वह एक साधारण बात प्रतीत हो। विद्यार्थियों ने कांग्रेस के एक कार्यकर्ता को पकड़कर नंगा किया। कुछ देर उसे वैसे ही घुमाया। उसके बाद उसके जननेन्द्रिय पर प्लास्टर किया। प्लास्टर जब सूख गया, उसे छोड़ दिया गया। यह घटना गुजरात के सौराष्ट्र विभाग में हुई थी। यह तो कल्पना ही की जा सकती है कि उस कार्यकर्ता की क्या दुर्दशा हुई होगी। पर यह स्थिति क्यों पैदा हुई। इसीलिए कि गुजरात सरकार के प्रशासन में कोई व्यवस्था ही नहीं रह गई थी। विभिन्न माध्यमों से गुजरात में बहुत बड़े पैमाने पर पैसा इकट्ठा हो रहा था। मुख्यमंत्री श्री चिमणभाई पटेल और उनके सहयोगी जब दिल्ली आते थे, वे कहते थे कि इस संबंध में उनकी भूमिका कुछ अलग है। गुजरात में भ्रष्टाचार के संबंध में जो कहा जा रहा है, उसमें जरूरत से ज्यादा प्रचार है। पहले भी केंद्रीय नेतृत्व की मांग पर राज्यों में मुख्यमंत्री पैसा इकट्ठा करते थे। मांग जितनी बड़ी होती है उतनी ही अधिक मात्रा में वह जमा करना पड़ता है। जमा करते समय वह उतना ही नहीं होता, जितना केंद्र को देना होता है। बीच के माध्यमों का उसमें काफी हिस्सा होता है। सरकारी बैंक के एक अधिकारी ने, जो उन दिनों बिहार में काम कर रहा था, मुझे बताया था कि उसकी जानकारी के अनुसार जब बिहार को छह लाख रुपए का कोटा प्रतिमास देना पड़ता था, तब वहां प्रतिमास साठ लाख रुपया जमा होता था। इसमें कुछ सचाई हो या न हो। गुजरात में भ्रष्टाचार की बात इतनी बढ़ी कि १९७४ में गुजरात विधानसभा भंग कर वहां राष्ट्रपति का शासन लागू कर दिया गया।

समाजवाद के नाम पर सरकार जो कदम उठा रही थी, वे उस समय के कानूनों की चौखट में न बैठ सकने के कारण उनमें से कई न्यायालयीन कसौटी पर टिक नहीं पाये। इससे न्यायालय और सरकार के बीच अनबन शुरू हो गई। पं. जवाहरलाल नेहरू के कार्यकाल में भी सरकार के कई कानून सर्वोच्च न्यायालय के दरवाजे पर आते ही ठुकरा दिये जाते थे। पर उस समय न्यायालयों के निर्णयों के सामने सिर झुकाने की परंपरा थी। यदि सरकार को ऐसा लगा कि सामाजिक न्याय की दृष्टि से न्यायालय का उक्त निर्णय गलत है तो संविधान की व्यवस्था के अन्तर्गत विभिन्न स्तरों पर चर्चा कर उसमें परिवर्तन करने के लिए नया कानून भी बनाया जाता था। पर सरकारी प्रवक्ताओं ने कभी यह नहीं कहा कि न्यायालय का निर्णय गलत है। तब तक कम्युनिस्ट राष्ट्रों में प्रचलित बंधे न्यायालयों की कल्पना ने भारत में जन्म भी नहीं लिया था। गोलकनाथ नाम से प्रसिद्ध एक मुकदमें में सर्वोच्च न्यायालय ने निर्णय सुनाया था कि सम्पत्ति का अधिकार मूलभूत (Fundamental) अधिकार है। यह निर्णय गलत है और उसे बदला ही जाना चाहिए। इस प्रकार का वैचारिक आंदोलन समाजवादी नेता श्री नाथ पै ने संसद और संसद के बाहर बहुत जोरशोर से शुरू किया था। पर उन्होंने कभी यह नहीं कहा कि न्यायालय बंधे होने चाहिए। उनकी भूमिका यह थी कि या तो सरकार संविधान में संशोधन करे या अपने निर्णय पर पुनर्विचार करने के लिए सर्वोच्च न्यायालय से कहें। संविधान के अनुसार सर्वोच्च न्यायालय को उसके किसी निर्णय पर पुनर्विचार करने के लिए सरकार

कह सकती है। आगे चलकर संविधान में सम्पत्ति को मूलभूत अधिकार मानने वाली व्यवस्था को बदलने के लिए संशोधन भी हुआ। उन दिनों कम्युनिस्ट नेता अवश्य कहा करते थे कि न्यायालय मजदूर विरोधी है। वे पूंजीपतियों के हाथ में खिलौने बनकर रह गए हैं। पर केंद्र अथवा राज्य सरकार द्वारा जब कम्युनिस्ट नेताओं के विरूद्ध कार्रवाई होती थी, उन्हें उच्च न्यायालय या सर्वोच्च न्यायालय में ही न्याय मिलता था। सर्वोच्च न्यायालय के दरवाजे पर अपनी शिकायत प्रस्तुत करते ही कई कम्युनिस्ट रिहा हो जाते थे।

यह मैं कह चुका हूं कि १९७१ में हुए चुनाव के बाद जो मंत्रिमण्डल बना, उसमें श्री मोहन कुमारमंगलम् तथा श्री सिद्धार्थ शंकर रे का समावेश हुआ। उसी के बाद बंधे न्यायालयों की कल्पना पैदा हुई। उन दिनों भी यह कहा जाता था कि ये ही दो व्यक्ति उस कल्पना के जन्मदाता हैं। पर जब तक बंधे न्यायालयों का विचार एक कल्पना के ही स्तर पर था, अधिक तूफान नहीं उठा था। पर सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश के पद पर से श्री सिकरी ने अवकाश ग्रहण किया और एक तूफान उठा। कारण यह था कि श्री हेगडे, श्री शेलट और श्री ग्रोवर इन तीन न्यायाधीशों की वरिष्ठता ताक पर रखकर राष्ट्रपति ने श्री ए. के. रे की नियुक्ति मुख्य न्यायाधीश पद पर की। सरकार की सलाह पर ही राष्ट्रपति द्वारा नियुक्ति होती है। देश में बड़ा तूफान उठा। श्री हेगडे, श्री शेलट और श्री ग्रोवर, इन तीनों ने अपने पद से त्यागपत्र दे दिया। उनकी वरिष्ठता को न मानने का कोई तात्कालिक कारण सरकार के पास उस समय नहीं था। जिन न्यायाधीशों की वरिष्ठता को अनदेखा किया गया उन पर किसी प्रकार की अयोग्यता का अथवा पक्षपात का आरोप नहीं था। त्यागपत्र के बाद केवल श्री हेगडे ने ही एक पत्रकार सम्मेलन बुलाकर बताया कि उन पर अन्याय हुआ है। दूसरे दो चुप बैठे रहे। संसद में यह प्रश्न उठा तब कहा गया कि वरिष्ठता न मानकर सरकार ने कोई भी भूल नहीं की है। वरिष्ठता के अनुसार न्यायाधीशों की नियुक्ति से यह बात आमतौर पर ठीक भी हो तो भी, सरकार बंधी नहीं है कि वह हमेशा उसे माने ही। संबंधित व्यक्ति की कार्यकुशलता भी देखनी पड़ती है। पर विधिमंत्री श्री एच. आर. गोखले उस समय यह नहीं बता सके कि ये तीनों जब केवल न्यायाधीश के रूप में र्स्वोच्च न्यायालय में काम कर रहे थे, मुख्य न्यायाधीश ने उनके संबंध में यह लिखा हो कि वे कार्यकुशलता में कुछ कम हैं। श्री गोखले का उस समय का भाषण सुनकर मुझे ऐसा लगा कि वे सरकारी वकील की तरह बोल रहे हैं। जो विचार वे प्रस्तुत कर रहे हैं उस पर उनका भी विश्वास नहीं है। दूसरे न्यायाधीशों की वरिष्ठता ताक पर रखने के कारण मुख्य न्यायाधीश बने श्री ए. के. रे का व्यवहार श्रीमती इंदिरा गांधी के चुनाव संबंधी मुकदमे में कैसा रहा, यह तो बाद का इतिहास है।

वित्तमंत्री के रूप में श्री यशवंतराव चव्हाण ने १९७४ में जो बजट प्रस्तुत किया वह देश की अर्थव्यवस्था को बहुत ही बुरा मोड़ देनेवाला साबित हुआ। श्री चव्हाण को अर्थशास्त्र का कभी भी कोई ज्ञान नहीं था। वित्तमंत्री होने की उनकी इच्छा भी नहीं थी।

उनकी जब नियुक्ति हुई थी उस समय हममें से कई पत्रकारों के सामने यह सवाल था कि उन्हें वित्तमंत्री क्यों बनाया गया, पर फिर भी हमें आशा थी कि वे अपनी बुद्धिमत्ता के बल पर जहां तक संभव है, गलत निर्णय नहीं होने देंगे। (बाद में कुछ दस्तावेज मेरे सामने आये, जिनसे यह लगा कि श्री चव्हाण को गृहमंत्री से वित्तमंत्री और वित्तमंत्री से विदेश मंत्री संजय गांधी के तथाकथित मारुति उद्योग की सुविधा की दृष्टि से ही बनाया गया।) इसके पहले भी यह चर्चा होती रहती थी कि वस्तुओं के दाम बेतहाशा बढ़ने के कारण योजना आयोग के सभी अनुमान गलत सिद्ध हो रहे हैं । बजट में कर लगाने का एक उद्देश्य विकास कार्यक्रमों के लिए साधन जुटाना होता है। पर वह करते समय एक सावधानी बरतने की बहुत आवश्यकता होती है। वह यह कि करों के कारण महंगाई बढ़कर विकास की योजनायें ही कठिनाई में न पड़ जाए। किसी मूलभूत वस्तु की कीमत बढ़ने पर उसका असर सभी वस्तुओं और बातों पर होता है। तेज गति से परिवहन आधुनिक संसार की मूलभूत आवश्यकता है। उसके लिये क्रूड ऑयडल, डिजल, पेट्रोल और उससे बनने वाले पेट्रोलियम पदार्थ, इनका अनेक वस्तुओं के लिए कच्चे माल के रूप में उपयोग होता है। अत: किसी भी आधुनिक देश की अर्थव्यवस्था की वह नींव होती है। यह तो मानी हुई बात थी कि तेल उत्पादक देशों द्वारा क्रूड की कीमत बढ़ाने के कारण इन पदार्थों की कीमत कुछ मात्रा में बढ़ने ही वाली थी। पर श्री चव्हाण ने अपने बजट में दूसरे पेट्रोलियम पदार्थों पर कम अधिक मात्रा में कर बढ़ाए ही, पेट्रोल पर प्रति लीटर लगभग दो रुपए उत्पादन कर लगा दिया। उन दिनों दिल्ली में पेट्रोल की कीमत डेढ़ रुपया प्रति लीटर थी। उस समय भी यह शिकायत होती थी कि इस डेढ़ रुपए में आधा कर होता है। श्री चव्हाण ने बजट के अपने भाषण में यह भी नहीं कहा था कि विकास कार्यक्रम के साधन जुटाने के लिए ये कर लगाए गए हैं। उनकी भूमिका यह थी कि तेल उत्पादक देशों द्वारा कीमतें बढ़ायी जाने के कारण पेट्रोलियम पदार्थों की खपत कम करने के लिए ये कर हैं।

उनकी यह भूमिका मेरी समझ में नहीं आयी। कर लगाने के कारण खपत कम होगी, यह तर्क ही मुझे खोखला लगता था। एक दिन मैंने श्री यशवंतराव चव्हाण से ही कहा, क्या कर लगाने के पहले आपने उससे होने वाले परिणामों पर विचार किया हैं? यदि किया हो तो कम से कम मुझे समझाइये तो। पर श्री चव्हाण इस कर के संबंध में कभी कोई तर्कसंगत भूमिका प्रस्तुत नहीं कर सके। इस वृद्धि के कारण वस्तुओं के दाम तेजी के साथ बढ़ते गए। उन दिनों तेल उत्पादक देशों का नेतृत्व ईरान कर रहा था। श्री रजा पहलवी ईरान के शाह कहलाते थे। उक्त बजट के कुछ ही दिन बाद ईरान के शाह भारत की यात्रा पर आये। दिल्ली के विज्ञान भवन में उनका एक पत्रकार सम्मेलन भी हुआ। तेल उत्पादक देशों द्वारा क्रूड ऑयडल की कीमत बढ़ायी जाने के कारण भारत में महंगाई बढ़ने का चक्र तेजी से घूमने लगा था। यह बात मन में होने के कारण उस संबंध में पत्रकारों द्वारा टेढ़े–तिरछे सवाल पूछा जाना स्वाभाविक ही था। पर ईरान के शाह ने उसका उत्तर बहुत ही शांति के साथ दिया। उन्होंने कहा, ईरान और उसके जैसे तेल उत्पादक

अरब देशों में मुख्य उपज तेल ही है। सभी चीजें और कुछ स्थानों पर हमें पीने का पानी भी बाहर से पैसा देकर लाना पड़ता है। उन सभी चीजों की जब हमें अधिक कीमतें चुकानी पड़ती है तो दूसरे यह उम्मीद क्यों करें कि हमारे देशों का एकमेव उत्पादन तेल हम उन्हें सस्ता दें। खपत की रोकथाम करने के उद्देश्य से भारत में जो भारी कर लगाया गया था उसके संबंध में शाह में अपनी प्रतिक्रिया जिन शब्दों में व्यक्त की थी, वह ध्यान में रखने लायक थी। उन्होंने भारत का नाम तो नहीं लिया। पर कहा, मेरी समझ में एक बात नहीं आती। उत्पादन कर लगा कर पेट्रोल महंगा करने से उसकी खपत कम कैसे होगी? श्री शाह का संक्षेप में कहना यह था कि अपनी अर्थव्यवस्था बनाये रखने के लिए तेल उत्पादक देशों को बाध्य होकर जो कीमतें बढ़ानी पड़ी है, उपभोक्ता देशों द्वारा उसी मात्रा में भाव वृद्धि यदि सीमित रखी जाए तो अधिक समस्याएं पैदा नहीं होगी। पर इस वृद्धि के कारण जो अवसर मिला, उसका उपयोग सरकार ने अपना बढ़ता हुआ खर्च जुटाने के लिए किया और अर्थव्यवस्था की दिशा ही बदल दी।

श्री चव्हाण ने बजट में जो वृद्धि की थी उस पर उस समय मैं जितना विचार कर सका था, उसके आधार पर 'महाराष्ट्र टाइम्स' में मैंने अपने विचार प्रस्तुत किए थे। मैंने लिखा था कि करों की इस वृद्धि से पेट्रोल की खपत में कोई रोकथाम नहीं हो सकेगी। मेरी विचारधारा इस प्रकार थी। पेट्रोल का सबसे अधिक उपयोग सेना को करना पड़ता है। उसमें कटौती करना संभव नहीं था और वह उचित भी नहीं समझा जाता। इसके बाद केंद्र और राज्य सरकार के विभिन्न विभागों का खर्च अपनी जेब से पैसा न जाता हो तो उदारता के साथ खर्च करने की प्रवृत्ति लगभग सभी की होती है। उन दिनों भी शिकायतें थीं कि सरकारी गाड़ियों का उपयोग निजी कामों के लिए होता है। इसकी रोकथाम करने की बात कई बार कही गई। पर वह कार्यान्वित कभी नहीं हो सकी। पेट्रोल की खुले हाथ खपत करने वाली एक और श्रेणी सरकारी कम्पनियों की होती है। उनकी हालत भी सरकारी विभागों जैसी ही होती है। कीमत कुछ भी हो, उन्हें उसकी परवाह नहीं होती। निजी कम्पनियां और उद्योगपतियों की हालत इससे कुछ विशेष दूसरी नहीं होती। उनका परिवहन खर्च कम्पनी के खाते में जाने के कारण उन्हें व्यक्ति के रूप में कोई आंच नहीं लगती। वे कहते थे कि खर्च बढ़ने पर हमारे कारखानों में तैयार होनेवाली चीजों की कीमतें हम बढ़ा लेते हैं। कम्पनी अथवा कारखाने के खर्च में वृद्धि होने से हमें आयकर उतना ही कम देना पड़ता है। जितना खर्च बढ़ता है उसके अनुपात में हम कीमतें अधिक ही बढ़ाते हैं। इससे हमारा लाभ और अधिक बढ़ जाता है। पेट्रोल की तुलना में डीजल की कीमत नहीं बढ़ी थी। पर फिर भी वह बढ़ी ही थी। इसके कारण ट्रक, टैम्पो आदि ने जिनका परिवहन होता था, उन सभी की कीमतें बढ़ी। इसके बाद सभी वस्तुओं की कीमतें बढ़ने का युग ही प्रारंभ हो गया। भारी मात्रा में महंगाई की शुरुआत, शायद यही थी, श्री यशवंतराव चव्हाण के वित्तमंत्री पद की देश को देन।

पर इस वृद्धि की सबसे अधिक आंच उन लोगों को लगी जिनके पास निजी गाड़ियां थीं। मेरे पास भी गाड़ी थी। पत्रकार के नाते मुझे काफी घूमना पड़ता था। मेरा महीने का पेट्रोल का खर्च १२० लीटर था। दाम बढ़ने के कारण मैंने वह कम कर ९० लीटर तक लाया। शायद मेरी तरह ही औरों ने भी कुछ कम किया होगा। पर कुल मिलाकर देश में जो खर्च होता था उसमें निजी गाड़ियों पर होने वाले खर्च का अंश बहुत ही थोड़ा होने के कारण खपत की रोकथाम करने का घोषित उद्देश्य पूरा होना संभव ही नहीं था। कुछ ही दिनों बाद सरकारी कदम के कारण पेट्रोल की खपत कम होने के सबंध में कुछ आंकड़े दिये गए। पर वे किसी को सच नहीं लगते थे। अतः बाद में उनका दिया जाना भी बंद हो गया। मंत्रियों का भी खर्च कम किया जा रहा है, यह दिखाने के लिए एक तरीका अपनाया गया। यह तय किया गया कि मंत्री के नाते जिनके पास सरकारी गाड़ियां हैं, उनका खर्च महीने में ३०० लीटर से अधिक नहीं होना चाहिए। मेरे जैसे पत्रकारों के मन में एक सवाल पैदा हुआ। जिन पत्रकारों को लगातार घुमना पड़ता है उनका काम यदि सौ–डेढ़ सौ लीटर में पूरा हो जाता है तो मंत्रियों को तीन सौ लिटर की क्या आवश्यकता है? क्योंकि उन्हें अधिक घूमना नहीं पड़ता। लोग उनसे मिलने आते हैं। अधिकांश मंत्रियों के पास निजी गाड़ियां थीं। जो सरकारी वेतन था उसमें से वे गाड़ियां कैसे खरीद लेते थे, इस सवाल का हल मुझे कभी नहीं मिला। पर वह अलग बात है। उन दिनों यह कहा जाता था कि उस तीन सौ लीटर की सीमा में मंत्रियों की निजी गाड़ियां भी चलती थीं।

पेट्रोल अथवा पेट्रोलियम पदार्थों की खपत कम करने का केवल नाम भर था। वास्तव में कोई भी यह नहीं चाहता था। इस संबंध में श्री काकासाहब गाडगिल के पुत्र श्री विट्ठल गाडगिल से मेरी एक बार जो बात हुई वह संस्मरणीय है। मैंने बातचीत के बीच उनसे यह कहा, पेट्रोल महंगा होने के कारण हम जैसे लोगों की कठिनाई बहुत बढ़ गई है, जिन्हें वाहन खर्च के नाम पर एक निश्चित रकम मिलती है। उन्होंने कहा, आप भी अपनी गाड़ी कम्पनी के खर्च क्यों नहीं करा लेते? आपको भी कोई अड़चन नहीं रहेगी। उनकी बात का अर्थ साफ था। उस नये कदम से पेट्रोल का खर्च कम होने की उम्मीद उन्हें भी नहीं थी।

स्वाधीनता के बाद भारत में तेल की खोज के काफी प्रयत्न हुए। कुछ स्थानों पर वह मिला भी। धारणा यह है कि और स्थानों पर भी वह मिलेगा। पर आशा के अनुरूप वह अभी मिल नहीं सका है। कम से कम आज खनिज तेल भारत की नाजुक समस्या है। इसी कारण भारत की किसी भी विचारधारा की सरकार को अरब देशों के साथ मित्रता के ही संबंध रखने पड़े। पर हमारे नेताओं की समझ में एक बात कभी भी नहीं आयी। यदि देश में किसी वस्तु की कमी हो तो उसके उपभोग की राष्ट्रीय नीति निश्चित की जाए और उसका कड़ाई के साथ पालन हो। भारत में इस बात पर बराबर बल दिया जाता रहा है कि निजी परिवहन की अपेक्षा सार्वजनिक परिवहन पर अधिक अवलम्बित होना चाहिए।

पर उस पर कार्यान्वयन लगभग नहीं के बराबर हुआ। १९७४ में पेट्रोल की खपत कम करने का जब विचार प्रस्तुत किया गया उस समय एक अच्छा अवसर था सार्वजनिक परिवहन पर अधिक बल देने की नीति निर्धारित करने का। मंत्रियों को दी जाने वाली विशेष गाड़ियां कम कर उन्होंने बसों में आना जाना प्रारंभ किया होता तो उसका असर स्टाफ कार का उपयोग करने वाले अधिकारियों पर भी पड़ता। मंत्रियों के बंगले और उनके कार्यालय आदि का सारा क्षेत्र पांच—सात किलोमीटर के भीतर है। दो—तीन बसों की व्यवस्था कर यह इंतजाम आसानी से किया जा सकता था। इससे एक लाभ और होता। कार्यालय में जाने—आने का मंत्रियों का समय निश्चित हो जाता। इसके परिणामस्वरूप सरकारी कार्यालयों में अधिकारियों और दूसरे कर्मचारियों की उपस्थिति अधिक नियमित हो जाती।

इस संदर्भ में उन दिनों एक प्रश्न और पैदा हुआ था। सार्वजनिक परिवहन व्यवस्था को सुदृढ़ बनाना यदि यह उद्दिष्ट निश्चित था तो सार्वजनिक क्षेत्र में ट्रकों और बसों का निर्माण करने वाले कारखाने बनाये जाने चाहिए थे। पर निजी क्षेत्र के पहले के कारखाने छोड़कर ट्रकों के नये कारखाने लगभग बने ही नहीं। बसों का निर्माण भी निजी क्षेत्र में ही होता रहा। पर बाद के काल में पेट्रोल पर चलने वाले वाहनों के अनेक कारखाने निजी क्षेत्र में खोलने की अनुमति दी गई। उनकी खपत बढ़ती जा रही है। पर देश की खनिज तेल की स्थिति अर्थव्यवस्था को दृढ़ बनाने वाली नहीं है। देश में बाद में काफी मात्रा में तेल मिला है। पर उसका तेल की कीमतें कम होने में कोई असर नहीं पड़ा। दूसरे देशों में तेल की कीमतें कम भी की जाती हैं। पर भारत में वे बराबर बढ़ती ही जा रही हैं। वैसे देखा जाए तो देश में पहले से ही मोटरगाड़ियां बनाने के तीन कारखाने थे। पर मजदूरों की हड़तालें आदि के कारण उनमें से एक भी ठीक से नहीं चलता था। अत: उनका स्तर भी गिरने लगा था। उनको मिलाकर उनमें तैयार होने वाली मोटरों का स्तर सुधारने का प्रयत्न करना चाहिए था। पर वह नहीं हुआ। प्रधानमंत्री के पुत्र संजय गांधी को नयी मोटर बनाने का लइसेंस दिया गया। इसका शोरगुल काफी हुआ। इस कारखाने में बनने वाली मोटर 'मारुति' कहलाने वाली थी। वह मोटर 'जनता मोटर' कहलायी जाने वाली थी और पांच से लेकर सात हजार रुपए के अंदर उपभोक्ता को मिलने वाली थी। इस कम्पनी में सरकारी और गैर—सरकारी करोड़ों रुपए लगे। पर मोटरें नहीं बन सकीं। अंत में उसका दिवाला निकल गया। प्रधानमंत्री के पुत्र की कम्पनी का राष्ट्रीयकरण किया गया। इस कम्पनी की गाड़ी भी बाजार में आयी। पर वह जनता गाड़ी नहीं कहला सकती। मारुति गाड़ी के भविष्य के संबंध में मैं अभी कुछ कहना नहीं चाहता। इस संबंध में जो बात सबसे अधिक अखरती है वह यह कि खनिज तेल भारत की एक नाजुक समस्या होने पर भी उसके संबंध में या उस पर आधारित उद्योगों के संबंध में किसी राष्ट्रीय नीति का निर्धारण नहीं हुआ। १९६९ में फिएट कम्पनी की जो गाड़ी १८,००० रुपए में मिलती थी, उसकी कीमत ग्यारह वर्ष में तिगुनी से भी अधिक बढ़ गई थी और उसकी कीमत साठ हजार से भी अधिक हो गई। इस महंगाई के कारण सरकारी स्तर पर गाड़ियों का

उपयोग कम किया गया होता तो भी उसका स्वागत किया जा सकता था। पर वैसा भी नहीं हुआ।

खनिज तेल के उपयोग की बात नहीं है। पर मोटर गाड़ियों का उपयोग करने के बारे में एक बात याद आ रही है। पहले सभी मंत्री बड़ी विदेशी गाड़ियों का उपयोग करते थे। इन गाड़ियों में पेट्रोल अधिक खर्च होता था। इस कारण हो अथवा स्वदेशी वस्तुओं का उपयोग करने की भावना बढ़ी हो, पं. जवाहरलाल नेहरू एम्बेसडर गाड़ी में जाने–आने लगे। उस समय इसकी चर्चा भी काफी हुई। इस बात का विज्ञापन भी काफी हुआ कि पं. नेहरू देशी गाड़ी का इस्तेमाल कर रहे हैं। आज नाम तो याद नहीं है पर इस संदर्भ में एक मंत्री ने कहा, इसमें क्या हुआ? बिड़ला कम्पनी यदि हमारी गाड़ियों की देखभाल करने की जिम्मेदारी ले ले तो हम भी उसी गाड़ी का प्रयोग करेंगे। गाड़ी में थोड़ी बहुत शिकायत होते ही पं. नेहरू की गाड़ी ही बदल दी जाती है। पं. नेहरू को उसका पता भी नहीं होता। बाद में अधिकांश मंत्रियों ने भी एम्बेसडर गाड़ी का उपयोग करना प्रारंभ किया। श्रीमती इंदिरा गांधी भी उसी गाड़ी का प्रयोग करती रहीं। एम्बेसडर गाड़ी का उपयोग करने वाले अन्य लोगों के संबंध में बीच–बीच में यह शिकायत होती रही कि उनकी नयी गाड़ी भी खराब हो गई। पर उन दिनों समाचारपत्रों में प्रकाशित इस प्रकार का कोई समाचार याद नहीं है कि किसी महत्वपूर्ण मंत्री की गाड़ी रास्ते में खराब हुई हो। इस संदर्भ में उन दिनों मुझे यह बताया गया था कि महत्वपूर्ण विभागों के मंत्री की गाड़ी जरा भी खराब हो गई तो कम्पनी उसे तुरंत बदल देती थी। मंत्री को उसका पता भी नहीं होता था। पर वह पुरानी गाड़ी नयी बनाकर बाजार में बेच दी जाती थी। यह बात केवल बिड़ला कम्पनी की ही नहीं थी। प्रीमीयर गाड़ी बनानेवाली वालचंद कम्पनी के संबंध में तो मैंने यह प्रत्यक्ष देखा था। विभाजन के बाद १९७० में इंदिरा गांधी की कांग्रेस का जो अधिवेशन बम्बई में हुआ था, उसमें मैंने ऐसी कई गाड़ियों को चलते हुए देखा, जिसमें कारखाने की ही नम्बर प्लेट लगी हई थी, अर्थात वे गाड़ियां किसी के नाम बिकी नहीं थी। कांग्रेस अधिवेशन के बाद वे बिकने वाली थीं।

इस संबंध में दो राय नहीं हो सकती कि भारत की कुल अर्थव्यवस्था की दृष्टि से खनिज तेल की जितनी खपत आवश्यक है, उतनी करनी ही होगी। हवाई जहाज के ईंधन के रूप में जिस तेल का प्रयोग होता है, वह अधिक महंगा तो होता ही है, वह लगता भी अधिक है। मैं यह मानता हूं कि जहां बिलकुल आवश्यक हो और विदेशी यात्रियों से विदेशी मुद्रा कमाने के लिए हवाई जहाजों का उपयोग करना चाहिए। पर अब केंद्र और राज्य सरकारों के मंत्री और मुख्य अधिकारी हवाई जहाज को छोड़ यात्रा ही नहीं करते। निजी उद्योगों के अधिकारी भी, जब उनका खर्च कंपनी के खाते में पड़ता है, हवाई जहाज से ही यात्रा करते हैं। यह एक खोज का ही विषय होगा कि भारत में अपनी जेब से खर्च कर हवाई जहाज से यात्रा करने वालों का क्या फीसदी होगा? मैं जब 'टाइम्स ऑफ इंण्डिया' कम्पनी में नौकरी कर रहा था, अपने निजी काम से एक बार बम्बई गया।

उस समय कम्पनी के जनरल मैनेजर श्री प्रताप कुमार राय थे। उनसे मेरे अच्छे संबंध थे। इसलिए उनसे मिलने गया। बात में बात निकली और उन्होंने पूछा, आप किस गाड़ी से आये? मैंने गाड़ी का नाम बताया और यह भी बताया कि मैं तीसरी श्रेणी में स्लीपर का रिजर्वेशन कर आया हूं। उन्होंने कहा, बिलकुल ठीक है। मैं भी जब खर्च कम्पनी का होता है, तभी हवाई जहाज से यात्रा करता हूं अन्यथा रेल से। निजी रूप में हवाई जहाज की यात्रा इनेगिने लोग ही कर सकते हैं।

मंत्रियों और अधिकारियों की हवाई जहाज की यात्रा के पक्ष में एक तर्क और दिया जाता है। हवाई जहाज से यात्रा करने में समय बचता है। इससे मंत्री और अधिकारियों की कार्यक्षमता और बढ़ जाती है। किसी विशेष अवसर पर यह आवश्यक होगा भी। पर क्या हमेशा उसकी आवश्यकता होती है? अब हवाई जहाज से यात्रा उसकी कार्यक्षमता का सूचक नहीं है। वह उस व्यक्ति के सामाजिक स्तर और बड़प्पन का प्रतीक बन गया है। महात्मा गांधी ने तीसरे दर्जे में यात्रा प्रारंभ कर आम आदमी और नेता के बीच की दूरी कम करने के लिए जो प्रयोग शुरू किया था, वह उनकी मृत्यु के साथ ही समाप्त हो गया। वह दूरी और भी अधिक बढ़ गई। यदि सचमुच कार्यक्षमता बढ़ाने के लिए हवाई जहाज का उपयोग होता हो तो उसके लिए एक दूसरा भी रास्ता है। मंत्रियों और अधिकारियों के साथ जिनका अधिक संबंध होता है उन्हें इसका काफी अनुभव होता है। जब कभी भी मंत्री या अधिकारी से बात करने के लिए टेलीफोन किया जाए, उत्तर यही मिलता है कि वे बाथरूम में हैं। इस बात का काफी मजाक भी किया जाता है। आम धारणा यही है कि लोगों को टालने का यह एक प्रयत्न होता है। पर मेरे एक मित्र श्री चंदूलाल चंद्राकार ने, जो १९८० के चुनाव के बाद मंत्री भी बने थे, मुझे बताया था कि कुछ मंत्रियों के संबंध में वह बहाना न होकर काम की आवश्यकता होती है। मंत्रियों के घर आने–जाने वालों की इतनी भीड़ होती है कि उन्हें आवश्यक सरकारी फाइलें देखनें के लिए भी समय नहीं मिलता। अत: में बाथरूम में वे फाइलें देखते हैं। यदि यह सचाई हो तो कार्यक्षमता की दृष्टि से भी उन्हें रेल द्वारा यात्रा करनी चाहिए। मंत्री होने के कारण उन्हें प्रथम श्रेणी का कुपे आसानी से मिल सकता है। उनके साथ उनका निजी सचिव यात्रा करता ही है। रेल द्वारा यात्रा करने पर एक ही यात्रा में बहुत सारी फाइलों पर निर्णय लिए जा सकते हैं। पर चालीस वर्ष के मेरे पत्रकार जीवन में मुझ पर मंत्री और राजनीतिक नेताओं के संबंध में असर यह पड़ा है कि वे घोषणाएं तो समाज के गरीब और पिछड़े वर्ग का भला करने की करते हैं, पर उनमें से अधिकांश का मुख्य कार्यक्रम होता है, सरकारी और समाज के खर्च पर आरामतलबी के साथ अपना जीवन व्यतीत करना।

इसी के संबंध में एक–दूसरे प्रकार का उदाहरण। १९७४ में महाराष्ट्र, गुजरात और राजस्थान में काफी बड़ा अकाल पड़ा। राजधानी के मराठी भाषी समाज के सार्वजनिक जीवन में मैं थोड़ा बहुत काम कर रहा था। जब महाराष्ट्र के कोयना नगर में भूचाल आया

था, श्री यशवंतराव चव्हाण की प्रेरणा से तथा उस समय के कृषि राज्यमंत्री श्री अण्णासाहब शिंदे के नेतृत्व में दिल्ली के मराठी समाज ने एक लाख छब्बीस हजार रुपया इकट्ठा कर उस समय के महाराष्ट्र के मुख्यमंत्री श्री वसंतराव नाईक के पास भेजा था। इस बार भी मेरे मन में आया कि महाराष्ट्र के अकाल पीड़ितों के लिए कुछ किया जाए। कोयना नगर के भूचाल के समय श्री अण्णासाहब शिंदे के कारण ही कुछ काम हो सका था। अत: पहले उनसे बात की। उन्होंने कहा, इस बार केवल महाराष्ट्र के लिए काम करना उचित नहीं होगा। महाराष्ट्र, गुजरात और राजस्थान, इन तीनों राज्यों के निमित्त हम लोग दिल्ली में संयुक्त सहायता समिति स्थापित कर काम करें। पर श्री यशवंतराव चव्हाण ने इस प्रकार का काम करने के संबंध में कोई उत्साह नहीं दिखाया। श्री शिंदे के बंगले पर एक बैठक बुलायी गई। काफी लोग आये और एक समिति स्थापित की गई। उस समय दिल्ली महानगर परिषद के मुख्य कार्यकारी पार्षद कांग्रेस के पुराने नेता श्री राधारमण थे। स्वभावत: उन्हें ही समिति का अध्यक्ष बनाया गया। भूतपूर्व केंद्रीय मंत्री श्री मनुभाई शाह की पत्नी श्रीमती विद्याबेन शाह, बिड़ला उद्योग के प्रतिनिधि माने जाने वाले संसद सदस्य श्री सुरेश देसाई और मैं, इस प्रकार तीन मंत्री नियुक्त किए गए। यह भी तय हुआ कि गुजरात सूचना केन्द्र के मुख्य अधिकारी श्री जानी हमें सहायता करें।

बैठक में श्री राधारमण जी बहुत ही अधिक जोश में थे। उन्होंने कहा, सारी दिल्ली में फेरियां लगाकर चंदा इकट्ठा करेंगे और इतना ही नहीं, अकाल पीड़ितों के लिए अनाज का भी संग्रह कर उसे भेजा जायेगा। मुझे ऐसा लगा कि फेरियां लगाना, अनाज आदि जमा करना व्यवहारिक नहीं होगा। मैंने कहा कि उसे जमा करने की जगह, उसकी हिफाजत आदि को प्रश्न पैदा होंगे। पर मेरी आशंकाओं से उनका उत्साह कम नहीं हुआ। उन्होंने कहा, यह सब हमलोग बाद में तय करेंगे। आप मेरे पास सहायता के लिए अपील, रसीद बही आदि का मसविदा बनाकर ले आइये। इस प्रकार की एक समिति स्थापित होने का समाचार भी पत्रों में प्रकाशित हुआ। पहली बैठक के लिए जो खर्च लगा वह मैं जिस मराठी भाषी शिक्षा संस्था का मंत्री था, उसने किया था। दूसरे या तीसरे दिन मैं और गुजरात सूचना केंद्र के श्री जानी श्री राधारमण के बंगले पर गए। वहां उन्होंने फिर फेरियां लगाना, अनाज जमा करना आदि योजनाओं पर बल देना प्रारंभ किया। मैंने और श्री जानी दोनों ने ही इसमें हो सकने वाली कठिनाईयों को बताया। मैंने यह भी कहा कि जमा किया हुआ अनाज हिफाजत से न रखा गया और उसमें से कुछ गायब हो गया तो व्यर्थ में बदनामी होगी।

इसके बाद उन्होंने मुझे बहुत समझाने के स्वर में कहा, यह मानकर ही चलना होता है कि सामाजिक कार्यों में ऐसा कुछ होता ही रहता है। और देखो, चंदा जमा करने के लिए हम कुछ लोगों को रसीद बुक देंगे। क्या तुम समझते हो कि वे सबकी सब वापस आयेंगे। अरे, कोई भी व्यापारी यह मानकर ही चलता है कि चंदे में फीसदी दस–बीस टका इधर–उधर होगा ही। अत: यह चिंता छोड़ों कि ऐसा कुछ होगा। यह

सुनते ही मेरा दिल घबरा उठा। मन में विचार आया, राधारमण अध्यक्ष हैं, वे जिसे कहेंगे रसीद बुक देनी ही पड़ेगी। यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि उनका पूरा हिसाब भी मेरे पास रहेगा। आगे यदि कुछ घोटाला हुआ तो श्री सुरेश देसाई और श्रीमता विद्या बेन मंत्री हो तो भी, सूत्रधार के रूप में काम करने की जिम्मेदारी मेरे ऊपर ही होने के कारण बदनामी का टीका मेरे ही माथे पर लगेगा। किसी प्रकार बातचीत समाप्त कर हम दोनों बाहर आये। मैंने अपनी आशंकाए श्री जानी को बताई। उन्हें भी वे उचित लगीं। पर वे यह नहीं बता सकते थे कि आगे क्या किया जाए। मैं तुरंत श्री यशवंतराव चव्हाण के घर गया। उन्हें बताया कि श्री राधारमण के साथ क्या बातें हुई हैं और उसके कारण मेरे मन में क्या आशंकाएं उठी हैं। श्री यशवंतराव चव्हाण ने तुरंत कहा, अब तक जितनी मूर्खता की वह पर्याप्त है। अब आगे कुछ मत कीजिए। मैंने कहा, हम काफी कदम उठा चुके हैं। इस प्रकार की समिति स्थापित होने का समाचार पत्रों में प्रकाशित भी हो चुका है। अब कदम पीछे कैसे लें। श्री यशवंतराव चव्हाण ने कहा, आपसे कोई यह पूछेगा तक नहीं कि उस समिति का आगे क्या बना। श्री चव्हाण का उक्त कथन पूरी तरह सच निकला। बाद में श्री राधारमण से मेरी कई बार भेंट हुई। अलग—अलग विषयों पर बातें भी हुई। पर उन्होंने कभी यह नहीं पूछा कि जिस समिति के वे अध्यक्ष बने थे, उस समिति का आगे क्या बना।

महाराष्ट्र के अकाल पीड़ितों के लिए राजधानी में प्रतीक रूप कुछ काम करने के हमारे प्रयत्न की इस प्रकार अकाल मृत्यु हो गई। पर उससे उस प्रदेश के अकाल पीड़ितों के कष्ट कम नहीं होने वाले थे। गुजरात और राजस्थान की तरह महाराष्ट्र में भी अकाल पीड़ितों की सहायता के लिए कुछ सरकारी काम शुरू हुए। अकाल पीड़ित किसी अन्य राज्य के मुख्यमंत्री की तरह महाराष्ट्र के मुख्यमंत्री श्री वसंतराव नाईक को लगता था कि यदि केंद्र सरकार द्वारा कुछ कार्य उठाया गया तो लोगों को अधिक रोजगार मिलेगा। दूसरे राज्यों की तरह प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी का महाराष्ट्र के अकाल पीड़ित क्षेत्र का दौरा हुआ। औरंगाबाद हवाई अड्डे पर श्रीमती इंदिरा गांधी ने महाराष्ट्र के लिए जो चार योजनाएं घोषित की उनमें कोंकण रेलवे, मनमाड—मुदखेड़ रेलवे लाइन को ब्राडगेज करना, इन दो योजनाओं का भी समावेश था। कहा यह जाता था कि यदि वह योजना कार्यान्वित हो गई तो कोंकण की तस्वीर ही बदल जायेगी। पर वह योजना बहुत अधिक खर्च की थी। अत: उसकी घोषणा होने के बाद उसके संबंध में काफी चर्चा हुई। उस समय के रेलमंत्री श्री टी. ए. पै मंगलोर के थे और यह रेल वहां तक जाने वाली होने के कारण स्वाभाविक रूप से वे भी चाहते थे कि कोंकण रेलवे का काम शुरू हो।

पर आगे चलकर समाचारपत्रों में यह चर्चा शुरू हुई कि यह घोषणा हुई ही कैसे? क्योंकि अब तक इस योजना पर योजना आयोग ने विचार भी नहीं किया है। प्रधानमंत्री द्वारा यह योजना घोषित होते ही मुख्यमंत्री श्री वसंतराव नाईक ने कुछ कदम बड़ी तेजी के साथ उठाये। उन्होंने रत्नागिरी में रेलवे स्टेशन की जगह निश्चित कर ली

और वहां रत्नागिरी स्टेशन के नाम से एक छोटा–सा बोर्ड भी लगा दिया । मैं निश्चित कारण नहीं बता सकता। पर 'महाराष्ट्र टाइम्स' के संपादक श्री गोविंदराव तलवलकर और मुख्यमंत्री श्री नाईक के संबंधों में कुछ बिगाड़ हो गया था। उन दिनों श्री तलवलकर श्री चव्हाण की ऐसी बातों का भी समर्थन करते थे जो आमतौर पर ठीक नहीं प्रतीत होती थी। पर श्री नाईक पर वे बराबर टूट पड़ते थे। एक–दो बार श्री नाईक के साथ मेरी इस विषय पर चर्चा भी हुई। उन्होंने कहा, निश्चित रूप से मैं भी नहीं कह सकता कि ऐसा क्यों हो रहा है। इस विषय पर मैंने श्री यशवंतराव चव्हाण से कभी भी बात की नहीं, और करूंगा भी नहीं। पर मेरी इस आशंका से वे सहमत थे कि श्री चव्हाण ही इसके पीछे हैं, इस प्रकार की गलतफहमी फैल रही है।

कोंकण रेलवे के संबंध में श्री तलवलकर ने अपने एक संपादकीय में लिखा था कि मुख्यमंत्री नाईक द्वारा श्रीमती गांधी को गलत बातें बताई जाने के कारण यह घोटाला हआ है। यही कारण है कि योजना आयोग द्वारा विचार किए जाने के पूर्व ही श्रीमती इंदिरा गांधी ने कोकण रेलवे की घोषणा कर दी। पर मुझे यह बात ठीक नहीं लगी। श्री तलवलकर पत्र के संपादक थे। अत: उनकी किसी राय को गलत बताना उचित नहीं होता। हां, इस विषय पर कुछ लिखना मुझे बहुत आवश्यक प्रतीत हुआ। मैंने सामान्य रूप से एक भूमिका प्रस्तुत की। उसमें मैंने कहा, योजना आयोग के अध्यक्ष प्रधानमंत्री ही होते हैं। किसी योजना के संबंध में आवश्यक स्तर पर चर्चा हुई या नहीं, यह देखने की जिम्मेदारी उनकी ही है। प्रधानमंत्री द्वारा कोई निर्णय घोषित होने पर वह सरकारी निर्णय समझा जाता है। यह बात दुय्यम है कि उस निर्णय पर योजना आयोग ने विचार किया या नहीं? नेहरू के कार्यकाल में भी योजना आयोग द्वारा विचार करने से पूर्व प्रधानमंत्री द्वारा कुछ निर्णय घोषित हुए थे। वे कार्यान्वित भी हुए। कुछ लोगों की धारणा है कि महाराष्ट्र के मुख्यमंत्री श्री नाईक द्वारा गलत जानकारी देने के कारण यह घोटाला हुआ है। यदि ऐसा हो तो वे एक मिनट भी मुख्यमंत्री पद पर बने रहने के काबिल नहीं है। पर इस मामले में वैसा कुछ दिखाई नहीं देता। प्रधानमंत्री द्वारा किसी निर्णय की घोषणा होने के बाद उसे कार्यान्वित करने की जिम्मेदारी केंद्र सरकार की ही होती है।

प्रधानमंत्री की उक्त घोषणा पर काफी तूफान उठा और एक दिन पत्रों में छपा कि उस पर विचार करने के लिए मंत्रिमण्डल की बैठक होने वाली हैं। जिस दिन यह बैठक हुई, उसी दिन हो अथवा उसके एक–दो दिन पहले हो, 'महाराष्ट्र टाइम्स' में मेरा लेख प्रकाशित हुआ था। जिस दिन बैठक हुई, संभवत: उसी दिन श्री टी. ए. पै का रेल विभाग बदल दिया गया था और वे उस दिन दिल्ली से कहीं बाहर भी गए थे। पत्रकार के नाते मैं यह जानने को उत्सुक था कि बैठक में क्या निर्णय हुआ। मैं श्री चव्हाण के बंगले पर गया। वहां पहले उनके निजी सचिव श्री डोंगरे मिले। मैंने उन्हें पूछा, क्या कोंकण रेलवे को हरी झंडी मिल गई? उन्होंने कहा, संभवत: मिल गई। पर आप साहब से मिल लीजिए। मैं अंदर गया। वहां श्री अण्णासाहब शिंदे भी बैठे हुए थे। श्री यशवंतराव चव्हाण कुछ

नाराज दिखाई पड़े। मैंने पूछा, कोंकण रेलवे का क्या बना। उन्होंने कहा—हां, कोंकण रेलवे को ब्राडगेज करने का निश्चय हो गया है और उसी के साथ दिल्ली अहमदाबाद मीटरगेज लाइन को भी ब्राडगेज करने का निश्चय हुआ है। एक दो निर्णय उन्होंने और बताये।

उसके बाद उन्होंने कहा, इंदूरकर जी! आपने बहुत बुरा लिखा है। प्रधानमंत्री बहुत नाराज हुई हैं। मेरे मन में प्रश्न उठा कि क्या मेरे मराठी लेख का इतनी जल्द हिंदी अथवा अंग्रेजी अनुवाद हो गया और प्रधानमंत्री ने उसे पढ़ भी लिया? पर मैंने वैसा कोई संदेह व्यक्त नहीं किया। बड़ी नम्रता के साथ कहा, मैंने ऐसा क्या बुरा लिखा? उन्होंने गुस्से में ही कहा, आपने लिखा है कि मुख्यमंत्री अपने पद पर एक मिनट भी रहने के काबिल नहीं है। मैंने कहा, साहब! अपना लिखा हुआ प्रकाशित होने के बाद फिर से पढ़ने की मेरी आदत नहीं है। पर मुझे स्मरण आता है कि आपने जो वाक्य कहा है, उस वाक्य के बाद मैंने यह भी लिखा था कि इस मामले में वैसा कुछ दिखाई नहीं देता। क्या वह वाक्य छूट गया? श्री चव्हाण ने कहा, नहीं। वह वह वाक्य तो है। आगे उन्होंने कहा, प्रधानमंत्री कहती हैं कि महाराष्ट्र के लिए बहुत कुछ करने की मेरी इच्छा है। पर दबाव के कारण मैं कुछ नहीं करूंगी। मेरी समझ में यह नहीं आ रहा था कि इसमें किसी के द्वारा किसी प्रकार के दबाव का प्रश्न कहां उठता है। पर पत्रकार को अधिक विवाद में न पड़ने का परहेज बरतना पड़ता है। अत: मैंने वह विषय वहीं छोड़ा और श्री यशवंतराव चव्हाण ने जैसा कहा था, कोंकण रेलवे को हरी झंडी मिलने तथा दिल्ली अहमदाबाद लाइन ब्रॉडगेज करने का समाचार दिया। ये सारी बातें श्री अण्णासाहब शिंदे के सामने ही हुई थीं। कुछ दिनों के बाद यह साफ दिखाई देने लगा कि न कोंकण रेलवे ने संबंध में कुछ हो रहा है और न दिल्ली अहमदाबाद लाइन को ब्रॉडगेज करने के संबंध में। एक दिन महाराष्ट्र के दो—चार संसद सदस्यों के सामने ही श्री अण्णासाहब शिंदे के मुख से एक वाक्य निकला, "कुछ दिन पहले हम इंदूरकर जी पर बेकार नाराज हुए थे। अब तो ऐसा दिखाई देता है कि श्री इंदूरकरजी जो कह रहे थे वहीं ठीक था।"

सन उन्नीस सौ पचहत्तर

१९६९ में प्रगतिशीलता के नाम पर कांग्रेस का विभाजन करने के लिए श्रीमती इंदिरा गांधी के बहुत बड़े सहायक बने थे श्री चंद्रशेखर। वे श्रीमती गांधी के व्यवहार से अब तक काफी निराश हो चुके थे। निजी चर्चा में मैंने उन्हें कई बार यह कहते हुए सुना था कि जिन सिंडीकेट वालों के विरूद्ध हम बहुत जोरों से शोर मचा रहे थे, उनके व्यवहार के संबंध में हमारे मन में कुछ आशंकाएं थीं। पर यह तो हम अपनी आंखों से देखते है कि अपने आपको कट्टर प्रगतिशील कहलाने वाले लोगों के गलत व्यवहार किस स्तर तक जाते हैं। श्री देवकांत बरूआ, श्री सिद्धार्थ शंकर रे, श्री रजनी पटेल आदि की ओर उनका संकेत होता था। मुझे इस बात का तो स्मरण नहीं है कि जनता पार्टी में आने तक उन्होंने श्रीमती इंदिरा गांधी के विरूद्ध खुलेआम कुछ कहा हो। पर कांग्रेस के अध्यक्ष श्री देवकांत बरुआ आदि मंडली को लक्ष्य कर के वे काफी मजाक करते थे। उनका यह कहना था कि समय आने पर ये लोग इंदिरा गांधी की रक्षा नहीं कर सकेंगे। क्योंकि वे स्वयं ही बहुत ही कमजोर हैं। अपनी बात समझाने के लिए वे लखनऊ के आखिरी नवाब श्री वाजिद अली शाह की एक मजेदार कहानी बताते थे।

वे कहते थे, लखनऊ की ओर अंग्रेजी फौजें चढ़ती चली आ रही थीं। पर श्री वाजिद अली शाह शराब के दौर में और गाना—बजाना सुनने में मस्ते थे। गाना बजाना करने वालों में काफी हिजड़े भी होते थे। जासूसों ने खबर दी कि अंग्रेजी फौजें कानपुर से रवाना होकर लखनऊ की ओर बढ़ रही हैं। श्री वाजिद अली शाह ने गाना—बजाना करने वाले हिजड़ों से पूछा, अब क्या किया जाए। उन्होंने कहा, सरकार चिंता न कीजिए। हम उन्हें इधर आने ही नहीं देगें। अंग्रेजी फौज आगे बढ़ती रही और हिजड़ों का उत्तर भी वही बना रहा। अंत में अंग्रेजी फौज के जवान लखनऊ में गोमती नदी पार कर नवाब के महल में घुसे। यह ज्ञात होते ही हिजड़ों ने चारों ओर लगे चिक के परदे गिरा दिये और ढोलक बजाकर उन्होंने गाना शुरू किया। “इधर न आना इधर जनाना” “इधर न आना इधर जनाना”। अंग्रेज टामियों की समझ में यह भाषा आने वाली नहीं थी। और आती भी तो वे रूकने वाले थोड़े ही थे। उन्होंने श्री वाजिद अली शाह को पकड़ा। अपनी लखनबी जूतियां वहीं छोड़कर हिजड़े नंगे पांव भाग निकले। श्री वाजिद अली शाह ने कहा, अरे आप भाग क्यों रहे हैं? आपने तो मुझसे कहा था कि आप अंग्रेजी फौज को इधर आने नहीं देंगे। इस पर हिजड़े ने हाथ मटकाकर कहा, हां सरकार। पर तब हमें यह कहा मालूम था कि ये मुए जनाने में भी घुस आयेंगे। श्री चंद्रशेखर यह सुझाना चाहते थे कि श्रीमती गांधी को आज जिन लोगों ने घेर रखा है उनकी हालत इस कहानी के हिजड़ों जैसी है। उनकी यह भविष्यवाणी बहुत कुछ सच भी साबित हुई। श्रीमती गांधी के सत्ता से दूर हटते ही कई नेता उन्हें छोड़कर चले गए।

श्री चंद्रशेखर श्रीमती गांधी के संबंध में प्रगट रूप से कुछ नहीं बोलते थे। पर उन्होनें एक बार ऐसी कहानी बतायी, जिससे सूचित होता था कि वे कुर्सी के मोह में फंस गई हैं। उन्हें सही रास्ता नहीं सूझता। यह विचारधारा उन पर हावी हो चुकी है कि उनके हाथ सत्ता हमेशा बनी रहेगी। उनकी कहानी इस प्रकार थी। एक राजा था। पुरानी कहानियों में जैसा आमतौर पर बताया जाता है, वह राजा शिकार करने के लिए जंगल में गया। जंगल में रास्ते से वह भटक गया और इधर—उधर घूमने लगा। उसे प्यास लगी। पानी की तलाश में वह घूम रहा था कि उसे एक साधु दिखाई पड़ा। उसी के पास पानी का एक कुंड था और वह साधु एक छोटी—सी चट्टान पर कुछ पत्ते पीस रहा था। राजा ने साधु से पानी मांगा। साधु ने कुछ कहा नहीं। पर पीसे पत्तों की एक गोली बनाकर राजा को दी और एक लोटा पानी भी दिया। साधु ने हाथ के इशारे से बताया कि गोली खाकर पानी पी लो। राजा के मन में संदेह पैदा हुआ। यह गोली काहे की है। जहर आदि की तो नहीं है। राजा के मन की आशंका साधु के ध्यान में आ गई और उसने उन्हीं पत्तों की चार गोलियां खुद खाकर पानी पिया और राजा को वैसा ही करने का सुझाया। राजा में कुछ धीरज बंधा। उसने गोली खायी और पानी पीकर अपने नगर लौट गया। गोली का जैसे—जैसे असर होने लगा, राजा की कामवासना बढ़ी। राजा इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि वे पत्तियां कामवासना बढ़ाने वाली वनस्पति की थी। उसने सोचा, यह साधु तो बड़ा बदमाश दिखाई देता है। जंगल में बैठकर इस प्रकार के धंधे करता हैं। कल जाकर उसे आड़े हाथ लूंगा। दूसरे दिन राजा फिर साधु के पास गया। राजा को देखते ही साधु ने इस बार उसके हाथ चार गोलियां दीं और कहा ये गोलियां खाकर कल के दिन जितना जी चाहे उतना मजा लूट ले। परसों सुबह छह बजे तेरी मृत्यु होने वाली है।

पहले तो राजा के मन में यह भावना आयी कि यदि अब मरना ही है तो तब तक जीवन का मजा क्यों न लूट लिया जाए। उसने चारों गोलियां खाली। साधु ने भी राजा के सामने ही आठ गोलियां खाई। वहां से लौटते हुए राजा के मन में दूसरे विचार आने लगे। जीवन में मैंने खाना पीना, मजा लूटना, इसके अतिरिक्त कुछ किया ही नहीं। मरने के बाद परलोक में मेरा क्या बनेगा। कम से कम अब जो थोड़ा सा समय बचा है, वह दानधर्म करने और पुण्य कार्य में बिताया जाए। यह विचार उसके मन पर छा गया और राजधानी में जाने के बाद उसने दिल खोलकर दानधर्म करने आदि में समय बिताया। चार गोलियां खाकर भी उसके मन में कामवासना नहीं जगी। साधु ने मृत्यु की जो वेला बतायी थी, वह टल गई। फिर राजा के मन में आया, साधु झूठा दिखाई देता है। उसे फटकारने के उद्देश्य से राजा फिर साधु के पास गया। राजा को देखते ही साधु ने कहा, मुझे मालूम है कि तुम क्यों आये हो? एक गोली खाकर ही तुम बहक गए थे। तेरा मन तेरे काबू में नहीं रहा। पर दूसरे दिन मृत्यु होनेवाली है यह ज्ञात होते ही चार गोलियों का भी तुझ पर कोई असर नहीं हुआ। मैंने तुम्हारे सामने चार गोलियां भी खायी और आठ गोलियां भी खाई। पर मृत्यु का ज्ञान हमारी आंखों के सामने हमेशा होता है। अत: ऐसी गोलियों का हम पर कोई असर नहीं होता। आप जैसे राजाओं की धारणा यह होती है

कि वे दुनिया में अमर होकर आये हैं। अत: उनके व्यवहार में कोई अटकाव नहीं होता। वे जीवन में चाहे जैसा व्यवहार करते हैं। इस रूपक कथा से श्री चंद्रशेखर ने हम पत्रकारों को यह जता दिया था कि श्रीमती इंदिरा गांधी इस समय किस प्रकार की मन:स्थिति में है।

१९६९ में राष्ट्रपति पद पर चुने गए श्री वराह वेंकटगिरी की अवधि १९७४ में समाप्त हो गई। वे प्रगतिशील समझे गए थे और श्री संजीव रेड्डी को हराकर राष्ट्रपति बने थे। उसके बाद ही देश की राजनीति में महाभारत हुआ था। चुनाव के नतीजे ने भी यह प्रमाणित कर दिया था कि गिरि प्रगतिशील है। दूसरी बार राष्ट्रपति बनने की उनकी इच्छा भी थी। उन्होंने अपनी यह इच्छा उनसे मिलने आने वाले लोगों के सामने प्रगट भी की थी। फिर से निर्दलीय उम्मीदवार के रूप में खड़े होने की भी उन्होंने कुछ तैयारी की। ऐसी स्थिति में यदि उन्हें फिर से राष्ट्रपति बनने का अवसर दिया जाता तो किसी को आश्चर्य न होता। पर उन्हें फिर से राष्ट्रपति बनाने की श्रीमती गांधी की इच्छा नहीं थी। समाचारपत्रों में नाम नहीं आये। पर राष्ट्रपति श्री गिरि की पत्नी श्रीमती सरस्वती गिरि के व्यवहार के कारण श्री वेंकट वराहगिरि प्रधानमंत्री को नजरों से उतर गए थे। अत: यह स्पष्ट दिखाई दे रहा था कि वे अब राष्ट्रपति नहीं बन सकते। समाचारपत्रों ने यह भविष्यवाणी भी कि १९६९ में सिंडीकेट का प्रभाव होने के कारण देश के एक हरिजन नेता पर जो अन्याय हुआ था, वह दूर करने के लिए अब श्री जगजीवन राम को राष्ट्रपति बनाया जायेगा। इस संदर्भ में कुछ और नाम भी आने लगे। उनमें से एक नाम श्री फखरूद्‌दीन अली अहमद का था।

मैंने भी इस संदर्भ में उम्मीदवार निश्चित होने के पहले ही लिखा और वह 'महाराष्ट्र टाइम्स' में प्रकाशित भी हुआ। मैंने जो विचारधारा प्रस्तुत की वह इस प्रकार थी। वर्तमान स्थिति की यह सचाई है कि श्रीमती गांधी जिसे चाहेंगी वही कांग्रेस का राष्ट्रपति पद का उम्मीदवार बनेगा। वह अवसर अब श्री जगजीवन राम को मिलने की संभावना नहीं है। श्रीमती गांधी को राष्ट्रपति पद पर ऐसा ही व्यक्ति चाहिए जिसको वे अपने रबर की मुहर की तरह उपयोग कर सकें। इसलिए श्री फखरूद्दीन अली अहमद ही अब राष्ट्रपति बनेंगे। अंत में वही हुआ। हरिजन नेता को अवसर नहीं दिया जा रहा है, यह बहाना आगे कर अपने ही दल के उम्मीदवार को पराजित करने का इतिहास श्रीमती इंदिरा गांधी के नाम लिखा गया। पर उन्होंने स्वयं वैसा बिना किसी कठिनाई के करने का अवसर मिलने पर वह विचार मन में भी नहीं आने दिया। इसका कम से कम मुझे एक ही कारण दिखाई देता है। श्रीमती गांधी का स्वभाव उनके विरूद्ध हुई कोई भी बात न भूलने का है। कांग्रेस में नेतृत्व का जो संघर्ष हुआ उसमें फखरूद्दीन अली अहमद की तरह ही श्री जगजीवन राम भी शुरू से श्रीमती गांधी के साथ थे। पर कांग्रेस के विभाजन के बाद वे जब कांग्रेस के अध्यक्ष थे, उन्होंने कहा था, मैं नामधारी अध्यक्ष (Sleeping President) नहीं हूं। उनकी यह बात श्रीमती गांधी कैसे भूल सकती थीं। राष्ट्रपति पद

उस व्यक्ति को कैसे दिया जा सकता है जो थोड़ा बहुत भी स्वतंत्र विचार कर सकता हो। राष्ट्रपति पद के उम्मीदवार के संबंध में बिलकुल सही भविष्यवाणी करने के लिए बाद में श्री अण्णासाहब शिंदे ने मुझे बधाई भी दी थी। सन १९७५ इतिहास की अनके घटनाओं से भरा था। वर्ष के बिलकुल प्रारंभ में २ जनवरी को बिहार के समस्तीपुर जिले में रेलवे के एक समारोह का उद्घाटन करने के लिए रेलवे मंत्री श्री ललित नारायण मिश्र गए थे। वे मंच पर ही थे कि एक बम फटा और उसमें वे घायल हो गए। चिकित्सा के लिए उन्हें पटना के पास दानापुर रेलवे अस्पताल में लाया गया। तीन तारीख की प्रात: उनकी वहां मृत्यु हो गई। विदेश व्यापार मंत्री के नाते उनके द्वारा किए गए कुछ कार्यकलापों के संबंध में उन दिनों इतना तूफान उठा था कि उनका पूरी तरह समर्थन करने वाली श्रीमती इंदिरा गांधी को भी कुछ समय पहले ही उनका विभाग बदलकर उन्हें रेलवे विभाग देना पड़ा था। उन दिनों यही धारणा थी कि श्रीमती इंदिरा गांधी को राजनीतिक कार्यों के लिए जो धन लगता है उसकी पूर्ति, चाहे जो मार्ग अपनाकर करनी पड़े, श्री ललित नारायण मिश्र ही करते हैं। पर संसद के बिहारी क्षेत्र में दूसरी भी एक अफवाह थी। श्री मिश्र के व्यक्तित्व के इर्दगिर्द जिस प्रकार काले बादल जमा हुए थे, उसके कारण यह भी कहा जा रहा था कि श्रीमती गांधी अब उन्हें मंत्रिमण्डल से हटा देने वाली है। इसी संदर्भ में एक दूसरी अफवाह भी फैली। श्री मिश्र अपने निजी मित्रों के बीच कहते थे कि श्रीमती गांधी मुझे मंत्रिमण्डल से निकाल कर तो देखें। मेरे पास भी काफी बातें हैं। यह भूला नहीं जा सकता कि मैं जो कुछ करता हूं, उन्हीं के लिए होता है।

मुझे इस बात की जांच करने का कभी अवसर नहीं मिला कि ये केवल अफवाहें ही थी या उनका आधार भी था। पर उनकी चर्चा का एक विशेष कारण है। श्री ललित नारायण मिश्र की मृत्यु का समाचार ३ जनवरी की प्रात: जब रेडियो ने दिया, लोग स्थान–स्थान पर बसों में और रास्तों में कहने लगे कि यह केवल दुर्घटना नहीं थी। चुभने वाला कांटा निकालने के लिए यह मृत्यु आयोजित की गई। उन दिनों मेरे पास मोटरगाड़ी थी। अत: मुझे सड़को पर तथा बसों में होने वाली चर्चा का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं हुआ। पर बस से ही यात्रा करने वाले मेरे एक दक्षिण भारतीय पत्रकार मित्र ने मुझे वह चर्चा सुनाई जो उसने उसी दिन बस में सुनी थी। उसने कहा लोग कहते हैं कि भारी पड़ रहा था इसलिए मरवा दिया। यह अफवाह शायद गांधी के कानों तक भी पहुंची होगी। क्योंकि श्री ललित नारायण मिश्र की मृत्यु पर शोक प्रगट करने के लिए जो सभा आयोजित हुई थी उसमें श्रीमती गांधी ने बहुत क्रोध में कहा था कि विपक्ष के लोग चाहे जो बोलने लगे हैं। कल यदि मेरा भी खून हो गया तो ये लोग यही कहेंगे कि वह मैंने ही करवाया है।

श्रीमती गांधी का यह क्रोध अत्यंत स्वाभाविक भी हो सकता है। पर भारत के राजनीतिक इतिहास का एक महान दुर्भाग्य है। विभिन्न घटनाओं में राजनीति से संबंधित जिन व्यक्तियों की जानें गईं उनके बारे में हुए अपराध का स्वरूप संभवत: किसी सामान्य अपराध की तरह ही होगा। पर उनकी मृत्यु की घटना पर वह रहस्यपूर्ण होने का जो

आवरण चढ़ा वह कभी दूर नहीं हुआ। न्यायालयों ने नि:संदिग्ध प्रमाणों के आधार पर यह कभी फैसला नहीं दिया कि वास्तविक हालात क्या थे और सच्चा अपराधी कौन था। और यह एक बार नहीं, कई बार हुआ। शेख अब्दुल्ला के कार्यकाल में कश्मीर में डॉ. श्यामाप्रसाद मुखर्जी की मृत्यु हुई। उसके बारे में यह संदेह अब तक बना हुआ है कि क्या वह मृत्यु स्वाभाविक थी? भारतीय जनसंघ के श्री दीनदयाल उपाध्याय के खूनी का भी पता नहीं लगा। वे जिस हालत में मरे हुए मिले, उससे यह संदेह नहीं मिट सका कि उनकी हत्या पैसे के लिए हुई अथवा वह एक राजनीतिक हत्या थी। १९५० और १९७० के बीच ये दो ही महत्वपूर्ण घटनाएं हुईं। पर उसके बाद अनेक घटनाएं होती गईं और वे रहस्यपूर्ण बनी रहीं।

आज तक यह रहस्य बना हुआ है कि स्टेट बैंक एक बड़े अधिकारी ने केवल टेलीफोन पर किसी की आवाज सुनकर साठ लाख रुपए की रकम निकालकर एक अनजाने व्यक्ति को कैसे दी ? बाद में जो तथाकथित अपराधी था उसकी तो जेल में मृत्यु हो गई, उस अपराध की खोजबीन करने वाला पुलिस अधिकारी भी एक दुर्घटना में मारा गया। यह संदेह होना स्वाभाविक है कि यह संयोग था अथवा कुछ और? इसी श्रेणी में श्री ललित नारायण मिश्र की मृत्यु भी आती है। यह दुर्घटना किसने करायी? उसके पीछे उसका क्या उद्‌देश्य था? इनमें से किसी बात का अब तक ऐसा कोई न्यायालयीन निर्णय नहीं हो सका, जिस पर आम लोगों का भी विश्वास जमें। बीच के कुछ काल में आनंदमार्गी लोगों का नाम इस हत्या के साथ जोड़ा गया था। पर न्यायालय में कोई बात निश्चयात्मक रूप से साबित नहीं हो सकी।

उन्हीं दिनों कुछ समय तक यह अफवाह भी फैली थी कि श्री ललित नारायण मिश्र की पत्नी श्रीमती कामेश्वरी देवी को भी यह संदेह है कि उनके पति कांटा प्रतीत होने लेगे थे, इसलिए यह दुर्घटना करायी गई। उन दिनों सेंट्रल हॉल में सुनी जाने वाली बातों में यह कहा गया था कि श्रीमती गांधी जब मातमपुर्सी के लिए गई थीं, उनकी पत्नी ने उनसे कहा था कि यदि वे आपको नहीं चाहिए थे तो आप उन्हें मंत्रिमण्डल से हटा देतीं, उन्हें मरवा क्यों दिया? जनता सरकार के कार्यकाल में गृहमंत्री के रूप में श्री चरणसिंह ने उनसे कुछ पूछताछ भी की थी। बाद में लोकसभा में जब यह प्रश्न उठा श्री चरण सिंह ने बताया कि वे ऐसी कोई बात नहीं बता सकी जिस पर निश्चित रूप से कोई उंगली रखी जा सके।

पर दुर्घटना होने के बाद भी उनकी जान बचाना संभव था। समाचारों की शुरुआत तो यहां से हुई कि उन्हें समय पर डाक्टरी सहायता नहीं मिली और आगे चलकर वे समाचार यहां तक पहुंचे कि वह उन्हें जानबूझकर नहीं दी गईं। समस्तीपुर में ही श्री मिश्र की आवश्यक चिकित्सा न होने का कारण यह बताया गया कि यह उन्हीं की इच्छा थी कि दानापुर के रेलवे अस्पताल में उनकी आगे की चिकित्सा हो। समाचारपत्रों में विस्तार के साथ इस प्रकार के रसभीने समाचार प्रकाशित हो रहे थे कि रेलवे मंत्री के दुर्घटनाग्रस्त

होने के बाद भी उन्हें दानापुर ले आने वाली गाड़ी कितनी देर से चली। रास्ते में वह कितनी जगह रूकी और दानापुर स्टेशन पर निश्चित समय से कितनी देर में पहुंची। रास्ते में विधानसभा के एक बिहारी सदस्य ने, जो उनके साथ ही थे, उन्होंने किसी को उनके पास फटकने तक नहीं दिया। समस्तीपुर के डॉक्टर ने वैसे बताया कि उनकी जान को कोई खतरा नहीं है। उन्होंने समस्तीपुर के सभी कार्यक्रम रद्द करने का एक बार निश्चय किया था। वह निश्चय बदलने के लिए उन्हें किसने बाध्य किया आदि बातों के संबंध में कई खबरें फैल रही थीं। दिल्ली में बैठकर यह परखा तो नहीं जा सकता था कि इन खबरों में कौनसी सच है और कौनसी झूठ थी। पर उन्हें पढ़कर ऐसा अवश्य लगता था कि कहीं कुछ घोटाला अवश्य है। जो दूरी आमतौर पर रेल द्वारा तीन घंटे में तय होती है उतनी दूरी तक पहुंचने के लिए उस गाड़ी को, जिसमें दुर्घनाग्रस्त रेलवे मंत्री पड़ा हुआ है बहुत अधिक समय क्यों लगा?

एक दिन कलकत्ते के हिंदुस्तान स्टैंडर्ड में एक सूचक समाचार प्रकाशित हुआ। उसमें श्री मिश्र की दुर्घटना के संबंध में प्रत्यक्ष कुछ कहा नहीं गया था। पर कहा यह गया था कि १ जनवरी को उस समय श्रीमती इंदिरा गांधी के बहुत ही विश्वासपात्र समझे जाने वाले श्री यशपाल कपूर पटना में थे। मेरे मन में भी एक विचार आता था। यह सचाई थी कि एक केंद्रीय मंत्री दुर्घटना में घायल हो गया था। कारण कुछ भी हो, समस्तीपुर में प्राप्त हो सकने वाली डॉक्टरी सहायता के संबंध में मंत्री के मन में भय समाया हुआ था। उन्हें दानापुर के रेलवे अस्पताल में तुरंत ले जाना आवश्यक था। अत: जिस गाड़ी से वे आये थे, उसी गाड़ी से पूरे लवाजमें के साथ ले जाने की अपेक्षा उन्हें किसी मोटर में बैठाकर एक–दो डाक्टरों को साथ लेकर उन्हें तुरंत दानापुर क्यों नहीं ले जाया गया। यह बात किसी को आज भी सच नहीं लगेगी कि इसके लिए आवश्यक दो–चार मोटरें भी उस समय समस्तीपुर में नहीं मिली थी। फिर वैसा निर्णय क्यों नहीं लिया गया? ऐसा भी कहा गया कि श्री ललित नारायण मिश्र की ही वैसी इच्छा थी। पर दुर्घटना होने के बाद कोई भी अच्छा डाक्टर अपना फैसला उस मरीज की इच्छा के अनुसार नहीं करता जो दुर्घटनाग्रस्त होने के कारण अपना संतुलन खो चुका है। फिर उस समय डाक्टरों ने वैसा व्यवहार क्यों किया? यह भी समाचार था कि समस्तीपुर के इस समारोह में बिहार राज्य के मंत्रियों में से बहुत ही कम मंत्री उपस्थित थे। उस समय बिहार के मुख्यमंत्री श्री अब्दुल गफूर थे। श्री ललित नारायण मिश्र की सहायता से ही वे मुख्यमंत्री बने थे। पर बाद में खबरें छप रही थी कि अब उनकी उनसे बन नहीं रही है। इस प्रकार कई चर्चाएं चल रही थीं जिनसे बहुत कुछ ध्वनित होता था।

इस चर्चा के दौरान ही संसद के सेंट्रल हॉल में मुझे भारतीय जनसंघ के श्री अटल बिहारी वाजपेयी मिले। मैंने उनसे पूछा–इस प्रकार की चर्चा चल रही है कि श्री ललित नारायण मिश्र की मृत्यु के समय उन्हें समय पर डाक्टरी सहायता नहीं दी गई, इस संबंध में आपके क्या विचार हैं? श्री वाजपेयी ने कहा, इस समय सरकारी प्रशासन में सभी

जगह ढिलाई आयी है। अत: उन्हें समय पर डाक्टरी सहायता दी जाने में ढिलाई अवश्य हुई होगी। पर मुझे ऐसा नहीं लगता कि वह जानबूझकर की गई। मैंने हिंदुस्तान स्टैंडर्ड में प्रकाशित श्री यशपाल कपूर की उपस्थिति का जब उल्लेख किया तो उन्होंने तुरंत कहा वे एक दिन पहले वहां थे, इस बात को यदि इस दुर्घटना के साथ जोड़ा जा सकता हो तो उस दिन उसी हवाई जहाज में मैं भी था। मेरा भी संबंध क्यों न लगाया जाए? इसके बाद मैंने 'महाराष्ट्र टाइम्स' में समाचार दिया। उसमें कहा गया था, "इस मामले में श्री वाजपेयी को ऐसा लगता है कि सरकारी प्रशासन में सभी जगह जो ढिलाई आ गई है वही समय पर डॉक्टरी सहायता न मिलने का कारण हो सकता है, पर उनका इस प्रकार के प्रचार पर विश्वास नहीं है कि वह जानबूझकर किया गया है। श्री यशपाल कपूर की पटना में उपस्थिति का समाचार एक ही पत्र में था। अत: उसका उल्लेख कर उस पर श्री वाजपेयी की प्रतिक्रिया प्रकाशित करना मुझे उचित नहीं प्रतीत हुआ।

बड़े शीर्षक के साथ मेरा समाचार 'महाराष्ट्र टाइम्स' में प्रकाशित हुआ था। पंद्रह—बीस दिन बाद श्री वाजपेयी मुझे फिर से सेंट्रल हॉल में मिले। मुझे देखते ही उन्होंने कहा इंदुरकर जी, आपने क्या छाप दिया। उसके कारण हमारे दल के लोग मुझ पर बहुत नाराज हुए हैं। मैंने कहा, वे नाराज हैं तो क्या हुआ। देश में ऐसे लोग अवश्य होने चाहिएं जो दल के हितों का विचार न करते हुए उन्हें जो सच प्रतीत हो वह साफ—साफ कह सकें। इस पर श्री वाजपेयी ने बहुत ही भावपूर्ण शब्दों में कहा, इंदूरकर जी! आप ठीक कहते हैं। दल के हित की भी एक मर्यादा होती है। देश का हित उससे भी बड़ा है। श्री वाजपेयी के दल के लोगों की नाराजगी का एक कारण हो सकता था। श्री ललित नारायण मिश्र की दुर्घटना में मृत्यु होने के कारण उसकी चर्चा का संबंध उस समय श्रीमती इंदिरा गांधी की कांग्रेस के साथ जोड़ा जा रहा था और वह बदनाम हो रही थी। विपक्ष के नाते उससे लाभ उठाना वे अपना काम समझते थे। उन्हें लगता था कि इसे प्रशासन की ढिलाई बताकर उन्हें बचाने का हम प्रयत्न क्यों करें?

गुजरात में श्री धनश्याम ओझा की सरकार को हटाकर श्रीमती गांधी के ही दल के श्री चिमनभाई पटेल मुख्यमंत्री बने थे। उनके कार्यकाल में घूसखोरी और भ्रष्टाचार के मामलों को लेकर सच अथवा झूठ घटनाओं का जो शोर हुआ उससे नवनिर्माण आंदोलन प्रारंभ हुआ। उसके परिणामस्वरूप वहा राष्ट्रपति का शासन कायम हो गया। पर विधानसभा के चुनाव कराने का विचार दिखाई नहीं दे रहा था। अत: चुनाव कराने की मांग शुरू हुई। श्रीमती गांधी को शायद यह भय था कि चुनाव होने पर नतीजा उनके विरूद्ध जाएगा। अत: चुनाव नहीं कराये जा रहे थे। नवनिर्माण आंदोलन तथा संगठन कांग्रेस, जिसके नेता श्री मोरारजी देसाई थे, दोनों की मांग यह थी कि गुजरात में विधानसभा के चुनाव तुरंत किए जाए। सरकार तैयार नहीं हो रही थी। अत: उन्होंने अन्तिम शस्त्र का उपयोग किया। १ अप्रैल १९७५ को उन्होंने आमरण अनशन शुरू किया। प्रारंभ में केन्द्रीय कांग्रेसी नेताओं का कहना यह था कि हम ऐसी धमकियों से नहीं डरते। पर अंत में सरकार झुकी और

उस समय के गृहमंत्री श्री उमाशंकर दीक्षित स्वयं श्री मोरारजी देसाई से मिले और यह आश्वासन दिया कि मई के अंत में चुनाव कराये जायेंगे। तभी श्री मोरारजी ने अपना अनशन तोड़ा। यह इतिहास सभी को ज्ञात है।

पर इस संदर्भ में मुझे केवल दो घटनाएं बतानी हैं। वे मुझे घटना से संबंधित व्यक्तियों ने उन्हीं दिनों बतायी थी। पहली घटना श्री चंद्रशेखर ने बतायी थी। उन्होंने बताया कि श्री देसाई द्वारा अनशन शुरू होकर सात दिन बीत चुके थे। उनके मूत्र में अ‍ॅलबुमिन की मात्रा बढ़ जाने के कारण जांच करने वाले डॉक्टरों ने भय प्रगट किया था कि अब उनकी जान को भी खतरा हो सकता है। मुझे स्वभावत: कुछ चिंता हुई और मैं श्री देसाई से मिलने गया। उस समय श्री चंद्रशेखर श्रीमती इंदिरा गांधी की ही कांग्रेस में थे। श्री चंद्रशेखर ने कहा कि मैंने उनके सामने एक तर्क प्रस्तुत किया जिससे कि श्री देसाई अपना अनशन समाप्त कर दें। मैंने कहा इस अनशन के कारण यदि आपकी जान को कुछ हो गया तो देश में हिंसा का वातावरण पैदा हो जाएगा। कम से कम उसे टालने के लिए आपको अनशन समाप्त कर देना चाहिए। श्री देसाई ने मुझसे पूछा––चंद्रशेखर आपका भगवान पर कितना विश्वास है? चंद्रशेखर ने मुझसे कहा, मेरी समझ में ही नहीं आ रहा था कि मैं क्या उत्तर दूं। मैंने कहा, है भी, और नहीं भी है। इस पर श्री देसाई ने कहा, आपकी राय कुछ भी हो, पर मेरा भगवान के अस्तित्व पर पूरा विश्वास है। मेरे जीवन के दिन निश्चित हैं। मेरा अनशन जारी रहने से उसमें न एक दिन कम होगा और मैंने अनशन न किया होता तो उसमें एक दिन बढ़ने वाला भी नहीं है। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान की कसौटी पर श्री देसाई का यह मत कितना सच माना जायेगा, यह तो नहीं कहा जा सकता। पर श्री चंद्रशेखर ने कहा, अनशन के कारण शरीर दुर्बल होने की हालत में भी श्री देसाई के मन की दृढ़ता देख मैं दंग रह गया।

उसी काल की दूसरी घटना श्री यशवंतराव चव्हाण के बारे में है। इस ऐतिहासिक सत्य से किसी प्रकार मुकरा नहीं जा सकता कि श्री यशवंतराव चव्हाण श्री मोरारजी देसाई के कारण ही राजनीति में बहुत कुछ आगे बढ़ सके। बाद में कितने ही राजनीतिक मतभेद हो पर कुछ अवसर ऐसे होते है, जब वे भूलने ही पड़ते हैं। उचित तो यही होता कि श्री मोरारजी देसाई के अनशन के काल में श्री यशवंतराव स्वयं जाकर उनके स्वास्थ्य की पूछताछ करते। पर श्रीमती इंदिरा गांधी के डर के कारण हो अथवा अन्य किसी कारण हो, श्री चव्हाण नहीं गए। इस तथ्य से श्री चव्हाण भी इन्कार नहीं कर सकते कि राजनीति में श्री चव्हाण को जो बड़प्पन मिला उसका बहुत कुछ श्रेय उनके निजी सचिव श्री श्रीपाद डोंगरे को था। कुल हालत देख ज्येष्ठता और कनिष्ठता का विचार अलग रखकर श्री डोंगरे ने श्री यशवंतराव चव्हाण से साफ–साफ कहा, आपके राजनीतिक मतभेद कुछ भी हो, तो भी इस समय श्री मोरारजी देसाई से मिलने के लिए जाना आपका कर्तव्य है। पर फिर भी श्री चव्हाण नहीं गए। श्री मोरारजी देसाई के साथ श्री डोंगरे का भी अच्छा और पुराना संबंध था। उनके मन में था कि कम से कम वे स्वयं हो आयें। पर उसमें एक बड़ी

राजनीतिक कठिनाई थी। वे गए होते तो यह बात बहुत से लोगों को मालूम हो जाती। समाचारपत्रों में तुरंत समाचार प्रकाशित हो जाता कि श्री चव्हाण के निजी सचिव, श्री डोंगरे श्री मोरारजी से मिलने गए पर श्री चव्हाण नहीं आये। वे श्री चव्हाण को भी राजनीतिक कठिनाई में नहीं डालना चाहते थे। उन्होंने रास्ता निकाला। उन्होंने अपनी पत्नी को भेजा। श्री देसाई उन्हें पहचानते थे। पर मराठी भाषी पत्रकारों को छोड़कर दिल्ली के राजनीतिक क्षेत्र में उन्हें पहचानने वाले बहुत कम लोग थे। मुझे भी यह घटना श्री डोंगरे ने श्री देसाई का अनशन समाप्त होने के बहुत दिन बाद बतायी।

चाय–कॉफी से भी परहेज करने वाले श्री डोंगरे आपातकाल के बाद जलोदर रोग से पीड़ित हुए। उसी में उनकी मृत्यु हो गई। उनकी मृत्यु पर शोक प्रगट करने के लिए दिल्ली के मराठी भाषियों की एक संस्था ने शोकसभा आयोजित की। इस सभा में बहुत ही इनेगिने लोग थे। उनके माध्यम से अपना काम कराने के लिए उनके इर्दगिर्द हमेशा चक्कर लगाने वालों का उस समय कहीं पता नहीं था। सभा में श्री यशवंतराव चव्हाण, महाराष्ट्र पुलिस के भूतपूर्व इंस्पेक्टर जनरल श्री वसंत नगरकर और मैं इन तीन के ही भाषण हुए। अवसर कुछ अलग था। पर मेरे मन पर जो बोझ था, वह बाहर निकाले बिना मुझे नहीं रहा गया। श्री डोंगरे के काम की प्रशंसा श्री यशवंतराव चव्हाण ने की। मैं आज भी कह सकता हूं कि उस प्रशंसा में औपचारिकता नहीं थी। वह बिलकुल सच्चे मन से थी। श्री नगरकर ने बताया कि श्री डोंगरे को श्री चव्हाण के निजी सचिव के रूप में काम करते समय कितनी कठिन बातें संभालनी पड़ती थी और वह काम वे कितनी निष्ठा से किया करते थे। मैंने अपने भाषण में कहा यह तो साफ है कि श्री डोंगरे ने बड़ी ही वफादारी के साथ श्री चव्हाण की सेवा की। पर उनकी कुछ राजनीतिक निष्ठा भी थी। नौकरी करते समय आवश्यक वफादारी और व्यक्तिगत विचारों के प्रति निष्ठा, इन दोनों के बीच उन्होंने कभी समझौता नहीं किया। जिस काल में श्री मोरारजी देसाई राजनीतिक दृष्टि से किसी कोने में पड़े कचरे की तरह हो गए थे, उन दिनों भी बम्बई के श्री डोंगरे के घर में पहले से लगा हुआ श्री मोरारजी देसाई का चित्र अपने स्थान से कभी नहीं हटा। मैं यह तो नहीं बता सकता कि जो मैं कहना चाहता था, वह श्री यशवंतराव चव्हाण की समझ में आया या नहीं। पर सभा में उपस्थित मेरे मित्रों की समझ में वह आ गया। बाद में उन्होंने मुझसे वैसा कहा भी।

आपात्काल आ पहुंचा

जिन दिनों गुजरात में नवनिर्माण आंदोलन प्रारंभ हुआ था, लगभग उन्हीं दिनों बिहार में भी एक आंदोलन ने जड़ पकड़ ली थी। यह आंदोलन भूमिहीनों पर होने वाले अत्याचार, प्रशासन में भ्रष्टाचार और चुनाव में होने वाली गलत–सलत बातें आदि के विरूद्ध था। शुरू में तो नहीं, पर कुछ दिनों बाद इस आंदोलन का नेतृत्व श्री जयप्रकाश नारायण के हाथ पहुंचा। प्रारंभ में यह आंदोलन इंदिरा गांधी विरोधी नहीं था। देश की बिगड़ती हुई स्थिति में सुधार करने के लिए वह था। इस आंदोलन की कुछ बातों में सरकार की भी आलोचना होने के कारण उसमें धीरे–धीरे सरकार विरोधी रूप आने लगा। श्री चंद्रशेखर तब तक श्रीमती गांधी के व्यवहार से बहुत ही निराश हो चुके थे। फिर भी उनकी भूमिका तब तक श्रीमती गांधी विरोधी नहीं बनी थी। उन्हें लगता था कि श्रीमती गांधी श्री जयप्रकाश नारायण के साथ सहयोग करें और देश के सामने उत्पन्न सवालों को हल किया जाए। श्री जयप्रकाश नारायण से संघर्ष मोल लेना शायद देश के हित में नहीं होगा। उन्हें संभवत: यह भी भय था कि श्री जयप्रकाश नारायण की सार्वजनिक जीवन में जो ऊंची प्रतिमा है, उसका लाभ वर्तमान स्थिति में विपक्ष के लोग उठा लेंगे। वैसे श्री जयप्रकाश नारायण की भूमिका कभी भी श्रीमती इंदिरा गांधी विरोधी नहीं थी। वे उनका उल्लेख 'इंदू बेटी' इस रूप में ही किया करते थे। निश्चित कारण नहीं बताया जा सकता कि दोनों में अनबन क्यों हो गई। पर उन दिनों इस संबंध में जिस एक कारण की चर्चा थी, वह इस प्रकार था।

कोई विशेष कारण न होते हुए भी श्रीमती इंदिरा गांधी ने श्री जयप्रकाश नारायण के अहम् को चोट पहुंचायी। दुनिया का इतिहास यही रहा है कि बहुत से महाभारत कुछ स्वाभिमानी व्यक्तियों के अहम् को चोट पहुंचने के कारण ही हुए हैं। संगठन कांग्रेस और इंदिरा गांधी की कांग्रेस दोनों में कुछ लोग ऐसे थे जो श्री जयप्रकाश नारायण और श्रीमती गांधी में संघर्ष नहीं होने देना चाहते थे। संगठन कांग्रेस के श्री श्यामनंदन मिश्र और इंदिरा गांधी की कांग्रेस के राजा श्री दिनेश सिंह इन दोनों को ऐसा लगा कि यदि दोनों नेताओं की प्रत्यक्ष भेंट हो जाए तो बहुत कुछ समाधान हो सकता है। अत: दोनों ने मिलकर एक योजना बनायी। श्री जयप्रकाश नारायण को बताया गया कि श्रीमती गांधी आपसे मिलना चाहती हैं और श्रीमती गांधी को यह बताया गया कि श्री जयप्रकाश नारायण आपसे मिलना चाहते हैं। दूसरे पक्ष द्वारा मिलने चाहने की बात तो असत्य थी पर उसका उद्देश्य देश का हित था। श्री जयप्रकाश नारायण, श्रीमती गांधी को अपनी बेटी की तरह ही समझते थे। अत: उनसे मिलने जाने में उन्हें किसी प्रकार का संकोच नहीं था। समय तय हुआ और श्री जयप्रकाश नारायण उनसे मिलने गए। प्रारंभिक बातों के बाद श्रीमती गांधी ने कुछ ऊंची आवाज में कहा, "कहिये, आप क्या कहना चाहते हैं?" श्री जयप्रकाश नारायण ने कहा, "मुझे कुछ नहीं कहना है। मुझे बताया गया था कि आपको कुछ कहना

है। इसीलिए मैं आया।” श्रीमती गांधी ने कहा, “मुझे कुछ नहीं कहना है।”, बस, भेंट समाप्त हो गई।

किसी भी कारण यह भेंट हुई हो। यदि श्रीमती गांधी अपने पिता के समान श्री जयप्रकाश नारायण के साथ कुछ अधिक सज्जनता से पेश आती तो शायद आगे होने वाली कई घटनाएं टल सकती थीं। श्री मोरारजी देसाई और श्री जयप्रकाश नारायण की पहले भी कभी नहीं बनी और बाद में भी नहीं। पर श्री जयप्रकाश नारायण जनता पार्टी के जन्मदाता बने और पार्टी की ओर से प्रधानमंत्री चुना गया श्री मोरारजी देसाई को। जब कांग्रेस एक थी तब श्री चंद्रशेखर और श्री मोहन धारिया को लगता था कि वे श्री मोरारजी देसाई की निजी प्रतिभा को अधिक से अधिक चोट पहुंचाकर वे किसी बड़े कर्तव्य को निभा रहे हैं। वे श्री जयप्रकाश नारायण के कारण ही श्री देसाई का नेतृत्व मानने को तैयार हो गए। एक समय था जब श्री चंद्रशेखर चाहते थे कि कुछ भी हो तो भी श्रीमती इंदिरा गांधी की कांग्रेस न छोड़ी जाए। श्री मोहन धारिया ने अपने मंत्रीपद से त्यागपत्र दिया अथवा उन्हें निकाला गया, यह मामला जब ताजा ही था तब रात में एक दिन लगभग बारह बजे श्री चंद्रशेखर ने मुझे टेलीफोन किया था और यह जानना चाहा था कि इस अफवाह में कितनी सचाई है कि श्री मोहन धारिया ने कांग्रेस से त्यागपत्र दे दिया है। वे इस अफवाह को सुनकर बेचैन हो उठे थे। जब मैंने उन्हें बताया कि वह अफवाह सच नहीं है तो उन्हें बहुत संतोष हुआ।

सन १९६९ में कांग्रेस विभाजन के समय तरुण तुर्क के नाम से प्रसिद्ध जो कांग्रेसी श्रीमती गांधी के सहायक थे, उनके नेता थे श्री चंद्रशेखर। धारणा यही थी कि १९७१ के चुनाव के बाद उनका मंत्रिमण्डल में समावेश होगा। परंतु वैसा हुआ नहीं। बल्कि कांग्रेस कार्यकारिणी में और केंद्रीय चुनाव समिति में भी उन्होंने कांग्रेस हाईकमान की इच्छा के विरूद्ध ही स्थान प्राप्त किया था। कई पत्रकार उनकी छेड़छाड़ करते हुए उन्हें पूछते थे, “आप मंत्री कैसे नहीं बनते? उनका उत्तर होता था, “मैं तो उपमंत्री होने को भी तैयार हूं। पर कोई बनाये तब तो।” वे पत्रकारों से मजाक में कहते थे कि क्या आप मुझे मंत्री बना देंगे? मुझे तो ऐसा लगता है कि श्री चंद्रशेखर के स्वभाव को पहचानकर श्रीमती गांधी ने शुरू में यह सोचकर पूछा ही न होगा कि वे बाद में कुछ भारी पड़ जायेंगे, अथवा बाद में पूछा भी होगा तो श्री चंद्रशेखर को लगा होगा कि श्रीमती गांधी की कार्यप्रणाली में वे कुछ नहीं कर पायेंगे। अत: यह सोचकर उन्होंने इन्कार कर दिया होगा कि बेकार बदनामी क्यों उठायी जाय। श्री मोहन धारिया श्री चंद्रशेखर के सहयोगी अवश्य थे। पर दोनों की प्रवृत्ति काफी अलग थी। श्री धारिया की धारणा थी कि शासन हाथ में हो तो बहुत कुछ काम किया जा सकता है। कालबद्ध कार्यक्रम को कार्यान्वित करने की भाषा उनके मुंह से हमेशा निकलती थी। वे जब लोकसभा तथा कांग्रेस महासमिति के एक साधारण सदस्य थे, १०—सूत्री कार्यक्रम की कल्पना उन्हीं की देन थी। उनके मुंह में हमेशा इस प्रकार की भाषा होती थी कि अमूक काम इतने दिन में पूरा करना चाहिए। इतने दिन में वह पूरा

होना चाहिए, पर शायद तब तक उन्हें यह जानकारी नहीं थी कि करना चाहिए और प्रत्यक्ष करना इसके बीच बहुत बड़ी खाई होती है।

श्री चंद्रशेखर को तो मंत्रिमण्डल में लेना नहीं था, पर उस गुट के किसी एक व्यक्ति को ले लेने से उस गुट की अधिक बकवास बंद हो जायेगी, संभवत: इस धारणा से श्री मोहन धारिया को मंत्रिमण्डल में लिया गया और उन्हें राज्यमंत्री बनाकर पहले योजना आयोग में और फिर लोक निर्माण एवं आवास विभाग में रखा गया। दोनों विभागों में उनकी प्रतिमा अच्छी बनी थी। लोकनिर्माण और आवास विभाग भ्रष्टाचार में आकण्ठ डूबा रहता है। उन दिनों आम धारणा यही थी कि इसमें मंत्री बनने वाला व्यक्ति अपने जीवन भर के लिए पैसा जमा कर लेता है। पर इस प्रकार की कोई धारणा श्री धारिया के संबंध में नहीं बन पायी। उस विभाग में जो ऊंचे पदों पर थे ऐसे कुछ अधिकारियों ने उन्हीं दिनों मुझे बताया था कि श्री धारिया बहुत ही कार्यकुशल मंत्री हैं। योजना विभाग में श्री दुर्गाप्रसाद धर प्रमुख मंत्री थे और श्री धारिया उनके कनिष्ठ सहचारी थे। श्री दुर्गाप्रसाद धर का व्यवहार अपने सहयोगियों से बहुत बुरा होता था। पर धारिया के व्यवहार के संबंध में मैंने किसी से कोई शिकायत नहीं सुनी। श्री धारिया यदि अपने विभाग का ही काम करते रहते तो उनके मंत्रीपद को खतरा पैदा न होता। पर सरकार में आने के कारण उन्हें ऐसा लगा कि कालबद्ध कार्यक्रम के संबंध में जो कहा जाता था, उसे पूरा करने की जिम्मेदारी अब उनकी है। यह विचार उन पर छा गया। एक दो बार उन्होंने श्रीमती गांधी से बातचीत करने का भी प्रयत्न किया। उनके कुछ मित्र भी उन्हें छेड़ने लगे। अब आप सरकार में हैं। आपके कालबद्ध कार्यक्रम का क्या बना? पहले तो श्री धारिया कहा करते थे कि मैं उस दिशा में काम कर रहा हूं। कुछ समय लगेगा। पर बाद में कहने लगे कि यदि वह नहीं हो सका तो मैं मंत्रीपद से चिपका नहीं रहूंगा। इस बीच उन्होंने श्रीमती गांधी को अपने कार्यक्रम की विस्तृत रूपरेखा भेजना प्रारंभ किया।

यह क्रम कुछ दिन चला। पहले पहुंच आती थी। पर बाद में वह आनी भी बंद हो गई। श्री धारिया ने किसी सार्वजनिक कार्यक्रम में अपना असंतोष व्यक्त किया और श्रीमती गांधी ने उन्हें मंत्रीपद से बरखास्त करने का निश्चय किया। राष्ट्रपति को वैसी सलाह दी गई। पर भाग्यवश आगे की कार्रवाई होने के पहले ही श्री धारिया को उसकी गंध मिल गई थी। बरखास्त होने के स्थान पर त्यागपत्र देकर अलग होना अधिक सम्मानजनक था। अत: प्रधानमंत्री की सलाह के अनुसार राष्ट्रपति श्री फखरूद्दीन अली अहमद द्वारा कुछ कार्रवाई की जाने के पूर्व ही श्री धारिया ने अपना त्यागपत्र राष्ट्रपति के पास भेज दिया। इससे आकाशवाणी पर प्रसारित समाचार में कुछ गड़बड़ी हो गई। बरखास्तगी होने के पहले ही सरकारी सूत्रों द्वारा वह समाचार दिये जाने के कारण, पहले बरखास्तगी का समाचार प्रसारित हुआ, और बाद में यह समाचार भी आया कि प्रधानमंत्री की सलाह के अनुसार श्री मोहन धारिया का त्यागपत्र राष्ट्रपति ने स्वीकार कर लिया है।

संसद के दोनों सदनों में इस पर कुछ हंगामा होना स्वाभाविक था। बरखास्तगी होने के बजाय त्यागपत्र देने के कारण एक लाभ हो गया। संविधान के अनुसार त्यागपत्र देनेवाला मंत्री अपना निवेदन सदन में प्रस्तुत कर सकता है, इस सुविधा का उपयोग श्री धारिया कर सके। ५ मार्च, १९७५ को जो निवेदन उन्होंने लोकसभा में प्रस्तुत किया वह भी काफी प्रभावी था। उनकी निडर वृत्ति के कारण महाराष्ट्र से उन पर पत्रों और तारों की बौछार सी हुई। वे पत्र और तार हमें देखने को मिलते थे। उसमें से एक पत्र था, श्री यशवंतराव चव्हाण के बहुत ही निकट के सहयोगी स्वर्गीय किसनवीर का। पत्र छोटा—सा था पर बहुत कुछ कह गया था। उसमें श्री किसनवीर ने स्पष्टवादिता के लिए श्री मोहन धारिया की पीठ थपथपायी थी। वह पूरा पत्र 'महाराष्ट्र टाइम्स' में प्रकाशित हुआ। आपात्काल जारी होने के बाद दिसम्बर १९७५ में कराड (सातारा जिला) में मराठी साहित्य सम्मेलन का अधिवेशन हुआ था। उसमें मैं गया था। वहां मुझे श्री किसनवीर मिले। मैंने उनसे पूछा, क्या हाल है? उन्होंने अपने मुंह पर हाथ रखा और जताया कि वे अब कुछ भी बोलने को तैयार नहीं है।

श्री मोहन धारिया की चर्चा करते समय मुझे श्रीमती इंदिरा गांधी का वह भाषण याद आ रहा है जो उन्होंने १९७७ के चुनाव प्रचार के समय पुणे की एक सार्वजनिक सभा में दिया था। पुणे में श्री धारिया जनता पार्टी के उम्मीदवार थे। श्री धारिया अपने प्रचार भाषणों में आमतौर पर यही कहा करते थे कि मैं कालबद्ध प्रगतिशील कार्यक्रम को कार्यान्वित करने का प्रयत्न कर रहा था। पर उस ओर श्रीमती गांधी ने ध्यान ही नहीं दिया। श्रीमती गांधी ने अपने भाषण में श्री धारिया के विरूद्ध एक शब्द भी नहीं कहा। उन्होंने यह भी स्वीकार किया कि श्री धारिया ने एक कालबद्ध कार्यक्रम उनके पास भेजा था। समाचारपत्रों में उनके भाषण की जो रिपोर्ट छपी उसके अनुसार उन्होंने कहा था, मैं वित्त विशेषज्ञ तो नहीं हूं। मैं स्वयं उस पर कैसे निर्णय ले सकती थी। योजना आयोग के उपाध्यक्ष श्री. डी. आर. गाडगिल के पास मैंने वह कार्यक्रम भेजा। उन्होंने कहा कि इस कार्यक्रम को अपनाना व्यवहारिक नहीं होगा। फिर मैं क्या कर सकती थी। दिखाई देता है कि श्रीमती गांधी ने इसमें अर्धसत्य ही बताया। श्री धारिया अपने भाषण में उन योजनाओं का उल्लेख करते थे जो उन्होंने मंत्री होने के बाद श्रीमती गांधी के पास भेजी थी। यदि श्रीमती गांधी ने श्री गाडगिल के पास श्री धारिया द्वारा भेजे हुए कुछ कागजात भेजे ही होंगे तो वे तभी के हो सकते हैं जो संसद सदस्य की हैसियत से उन्होंने भेजे होंगे। क्योंकि योजना आयोग के उपाध्यक्ष पद पर श्री गाडगिल को जिस प्रकार अपमानित जीवन जीना पड़ रहा था, उससे उबकर उन्होंने त्यागपत्र दे दिया और दिल्ली छोड़ दी। उनके मन पर इतना बोझ था कि रेलवे के डिब्बे में ही उनकी मृत्यु हो गई। श्री धारिया के राज्यमंत्री होने के बाद उन्हें वही बंगला लेने के लिए कहा गया था जिसमें श्री गाडगिल रहते थे। कारण जो कुछ भी हो, उस बंगले में रहने की श्री धारिया की इच्छा नहीं थी। यह बात अलग है कि एक दूसरा बंगला खाली हो गया और वह उन्हें मिल गया।

श्रीमती गांधी का वह भाषण पढ़कर मेरे मन में एक विचार आया। आपत्काल के कारण मुझे उस समय दिल्ली छोड़ कोल्हापुर जाकर रहना पड़ा था। मैंने मराठी में एक लेख लिखा, "खोटेबाई आता जा"। इसी शीर्षक से मराठी में एक नाटक भी है। हिंदी में इसका अनुवाद होगा, "झूठीबाई, अब जाओ"। 'महाराष्ट्र टाइम्स' में मैं एक वेतनभोगी कर्मचारी था। अत: अपने नाम से कोई लेख प्रकाशित नहीं कर सकता था। मेरा वह लेख "एक पुराना पत्रकार" इस नाम से कुछ मराठी पत्रों में प्रकाशित हुआ। उसमें मैंने लिखा था कि श्रीमती गांधी ने धारिया द्वारा भेजे कागजात श्री गाडगिल को भेजने की बात कही है और यह भी कहा है कि उन्होंने उसे अव्यवहारिक बताने के कारण वे कुछ नहीं कर सकती थी। पर उन्होंने यह नहीं बताया कि श्रीमती गांधी ने कागजात भेजने के लिए कौनसा माध्यम अपनाया था और श्री गाडगिल का उत्तर भी उन्हें किस माध्यम से प्राप्त हुआ। क्योंकि श्री गाडगिल ने श्री धारिया के मंत्री होने से पहले ही इस दुनिया से बिदा ले ली थी। बाद में मुझे किसी ने बताया कि मेरे लेख के शीर्षक का (खोटेबाई, आता जा) पोस्टर बनाकर बम्बई में कई स्थानों पर लगाया गया था। मराठी के प्रसिद्ध साहित्यकार श्री. पु. ल. देशपांडे ने वह लेख पढ़ा था। उन्हें वह पसंद भी आया था। कोल्हापुर में वे चुनाव प्रचार के लिए आये थे। तब कुछ चुने हुए लोगों की अनौपचारिक बैठक में उन्होंने मुझे वह बताया भी था। उन्होंने कहा, मुझे यह नहीं मालूम था कि वह लेख तुम्हारा है। पर लेख बहुत अच्छा था। श्री देशपांडे के इन दो एक वाक्यों से मुझे ऐसा लगा कि मेरा परिश्रम सफल हो गया।

यह तो स्मरण नहीं है कि बात श्री धारिया का त्यागपत्र दिये जाने के पहले की है या बाद की है। श्री चंद्रशेखर ने श्री जयप्रकाश नारायण को अपने घर चायपान के लिए बुलाया था। पत्रकार के रूप में मुझे भी निमंत्रण था। मंत्रिमण्डल में से कोई उपस्थित नहीं था। यह उम्मीद भी नहीं थी कि उनमें से कोई उपस्थित होगा। श्री धारिया भी नहीं थे। पर कांग्रेस दल के बहुत से संसद सदस्य थे। श्री जयप्रकाश नारायण बहुत ही थोड़ी देर बोले। उन्होंने किसी का नाम नहीं लिया। पर उन्होंने इस बात की विशेष चर्चा की कि देश का राजनीतिक और सार्वजनिक वातावरण बहुत गंदा हो गया है और उसमें तुरंत सुधार करने की आवश्यकता है। हम पत्रकारों की दृष्टि से इस बैठक का राजनीतिक महत्व बहुत था। श्रीमती गांधी की भूमिका के विरूद्ध खड़े होने का साहस किन सदस्यों में है यह इस बैठक से प्रगट हो सकता था। दूसरे दिन के समाचारपत्रों उन में काफी कांग्रेसी संसद सदस्यों के नाम प्रकाशित हो गए जो बैठक में उपस्थित थे। इसके बाद कई संसद सदस्यों द्वारा संयुक्त और निजी वक्तव्य भी प्रकाशित हुए। उसमें कहा गया था कि चायपान का निमंत्रण था, केवल इसलिए हम वहां गए थे। हमें यह नहीं मालूम था कि श्री जयप्रकाश नारायण वहां आने वाले हैं। श्री जयप्रकाश नारायण ने वहां जो विचार व्यक्त किए, उनसे हमारा कोई संबंध नहीं है। पर मुझे इन वक्तव्यों से विशेष आश्चर्य नहीं हुआ। इससे तो यही स्पष्ट हुआ कि अधिकांश कांग्रेसी संसद सदस्यों का स्तर क्या होता है। पर यही यह भी कहना होगा कि श्री ए. जी. कुलकर्णी तथा श्री कृष्णकांत जैसे

कुछ इनेगिने कांग्रेसी संसद सदस्य ऐसे अवश्य थे जिन्होंने वहां उनके उपस्थित होने के संबंध में किसी प्रकार का स्पष्टीकरण करना आवश्यक नहीं समझा।

श्री मोहन धारिया द्वारा त्यागपत्र देने के कुछ ही दिन बाद ६ मार्च, १९७५ को दिल्ली निवासियों ने श्री जयप्रकाश नारायण की विपक्षी दलों की एकता की कल्पना साकार होती देखी। वह काफी प्रभावशाली भी थी। विपक्षी दल पहले चाहते थे कि संसद का घेराव किया जाए। पर बाद में यह निश्चय हुआ कि दस लाख व्यक्तियों का एक मार्च आयोजित किया जाए। बोट क्लब पर सभी विपक्षी दलों की एक संयुक्त रैली भी की जाए और उसमें भी जयप्रकाश नारायण भाषण करें। इस रैली के लिए लालकिले से एक जुलूस निकलने वाला था और उसमें सभी विपक्षी दल शामिल होने वाले थे। पर किसी भी दल का प्रतीक समझा जाने वाला झंडा जुलूस में नहीं रखा जा सकता था और दलगत नारे भी नहीं लगाने थे। कुछ नारे निश्चित हुए थे। पर उनका किसी भी दल की विचारधारा से संबंध नहीं था। पत्रकार के नाते हमारा यह काम ही था कि पूरे जुलूस को हम अच्छी तरह देखें। हम कुछ पत्रकार कनाट प्लेस में मिंटो रोड के कोने पर एक अच्छी सी जगह देखकर सुबह लगभग दस—साढ़े दस बजे बैठ गए। थोड़ी ही देर में जुलूस प्रारंभ हो गया। विभिन्न दलों के कई नेताओं को हम पहचानते थे। अतः हमें तो ज्ञात हो जाता था कि अब कौन सा दल जा रहा है। पर सर्वसाधारण दर्शकों के लिए यह केवल एक जुलूस था। केवल अकाली दल के लोगों को उनकी विशिष्ट वेशभूषा के कारण अलग से पहचाना जा सकता था। जुलूस में संगठन कांग्रेस, स्वतंत्र पार्टी, भारतीय जनसंघ समाजवादी और अकाली, ये राजनीतिक दल तो थे ही, श्री जयप्रकाश नारायण के कारण उसमें अनेक सर्वोदयी नेता और कार्यकर्ता भी सम्मिलित हुए थे। कनॉट प्लेस में जो जुलूस सुबह साढ़े दस बजे दिखाई देने लगा था, उसका अन्तिम छोर बोट क्लब पर दोपहर में दो बजे पहुंचा था। इतना बड़ा था यह जुलूस। यह दूरी तीन या चार किलोमीटर अवश्य होगी। इस जुलूस में राजस्थान के श्री गोकुलभाई भट्ट जैसे पुराने और बूढ़े नेता भी पैदल चल रहे थे।

मुझ पर इस जुलूस का एक ही प्रभाव पड़ा। बिखरे हुए विपक्षी दलों को उनका अपना अस्तित्व भुलवाकर संगठित रूप में एक मंच पर खड़ा करने का श्री जयप्रकाश नारायण का यह पहला और काफी सफल प्रयत्न था। बोट क्लब पर जो सभा हुई उसमें जुलूस की तुलना में अधिक भीड़ नहीं थी। मार्च महीने की दोपहर की धूप भी उसका कारण हो सकता है। वैसे भी जयप्रकाश नारायण प्रभावशाली वक्ता भी नहीं थे। उनका भाषण आमतौर पर ढीलाढाला होता था। पर लोग जो रैली में थे उन्होंने उनका भाषण शांति के साथ सुना। श्री जयप्रकाश नारायण के भाषण में श्री धारिया के त्यागपत्र का उल्लेख था और इस बात पर खेद भी प्रगट किया गया था कि उनकी विचारधारा से सहमत होने के कारण श्री धारिया को त्यागपत्र देना पड़ा है।

यह विपक्षी दलों की रैली होने के कारण उसमें तरुण तुर्क कहलाने वाले श्री चंद्रशेखर, श्री मोहन धारिया आदि में से कोई नहीं था। इनमें से किसी ने भी तब तक कांग्रेस नहीं छोड़ी थी। पर रैली के प्रति उनकी सहानुभूति अवश्य थी। बोट क्लब के दूसरी ओर जो बड़ा मैदान है, उसमें हम निर्माण भवन की ओर से पहुंचे। श्री धारिया हमारे साथ ही थे। मुझे इस समय एक बात का विशेष अनुभव हुआ। हाल ही में त्यागपत्र देने वाले श्री धारिया के प्रति रास्ते में मिलने वाले सरकारी कर्मचारियों की नजरों में आदर प्रगट हो रहा था। रैली के बाद सभी दलों के प्रतिनिधियों को साथ लेकर श्री जयप्रकाश नारायण ने उस समय के लोकसभा के अध्यक्ष श्री गुरुदयाल सिंह ढिल्लो को एक निवेदन भी दिया। यह कहने की आवश्यकता ही नहीं है कि जुलूस या रैली में दोनों कम्युनिस्ट पार्टियों में से कोई भी शामिल नहीं था।

तीन न्यायाधीशों की वरिष्ठता का उल्लंघन कर श्री ए. एन. रे को सर्वोच्च न्यायालय का मुख्य न्यायाधीश बनाया गया था। अत: इस बात से तो इन्कार नहीं किया जा सकता कि सर्वोच्च न्यायालय के बारे में अथवा अन्य स्थानों पर व्यक्तिगत रूप में उनके लिए आदर की विशेष भावना नहीं थी। पर यह विचार किसी के मन में नहीं आ रहा था कि उसके कारण उन्हें कोई जान से मारने का भी प्रयत्न करेगा। पर २० मार्च १९७५ को समाचार मिला कि उनकी मोटर में दो जीवित बम मिले। इससे यह सूचित होता था कि सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश की भी जान लेने का प्रयत्न हो रहा है। आगे श्री रंजन द्विवेदी नामक एक वकील के साथ इस घटना का संबंध जोड़ा गया और उन्हें कुछ सजा भी हुई। यह भी कहा गया कि श्री द्विवेदी का आनन्दमार्गी पंथ के साथ संबंध है। इतने दिनों के बाद भी ऐसे कई लोगों से मेरी बात हुई जिनका इस बात पर विश्वास ही नहीं हुआ कि श्री द्विवेदी का इस घटना के साथ कोई संबंध था। उन दिनों इस घटना के संबंध में पुलिस की ओर से जो समाचार दिये गए थे, उनमें इतनी असंगतियां थीं कि सरकार की ओर से दिये जाने वाले विवरण पर विश्वास ही नहीं होता था। कहा गया था कि ये हथगोले थे। श्री ए. एन. रे जैसे ही गाड़ी में बैठे कि वैसे ही लुढके। इससे उनकी ओर पुत्र का ध्यान गया। यह कहा गया कि ये बम जीवित थे और वे कभी भी फूटकर सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश की जान को खतरा हो सकता था। यह भी समाचार छपा कि ये बम उसी प्रकार के थे जिस प्रकार का बम फूटने के कारण श्री ललित नारायण मिश्र बुरी तरह घायल हुए थे।

इस संबंध में सेना से अवकाश प्राप्त एक मेजर के साथ मेरी उन्हीं दिनों बात हुई। उसके मन में कई संदेह थे। एक तो उनका ख्याल यह था कि बरसात में भीगकर बेकार हुए बमगोलों में से ये होंगे। केवल आतंक पैदा करने के लिए किसी ने उन्हें वहां रख दिया होगा। उनका कहना था कि जीवित हथगोलों का उपयोग करने की एक प्रक्रिया होती है। गोला फेंकने से पहले उसमें लगी पिन निकालकर उसका छेद उंगली से बंद रखना पड़ता है। फिर वह हथगोला लक्ष्य की ओर फेंका जाता है। जिस हथगोले की पिन निकली

है वह कुछ ही क्षणों में फूटे बिना रह ही नहीं सकता। ये पिन निकले हुए गोले वहीं पड़े हुए थे। बम रखने वालों को क्या इस बात की पहले से जानकारी थी कि कितनी देर में मुख्य न्यायाधीश गाड़ी में आकर बैठेंगे ? सर्वोच्च न्यायालय में जहां गाड़ियां पार्क की जाती हैं वह कोई सुनसान जगह नहीं है। गाड़ी का दरवाजा खोलकर उसमें कुछ रखने वाले को किसी ने देखा कैसे नहीं यह उनमें से भी किसी का प्रयत्न हो सकता है जिन्हें यह सुझाना हो कि देश में हिंसा की प्रवृत्ति बढ़ रही है।

इन्हीं दिनों इलाहाबाद में श्रीमती इंदिरा गांधी के विरूद्ध चुनाव याचिका का मुकदमा भी चल रहा था। इलाहाबाद उच्च न्यायालय के एक न्यायाधीश श्री जगमोहन लाल सिन्हा की कचहरी में वह था और उसे प्रस्तुत किया था रायबरेली से लोकसभा के चुनाव में हारे समाजवादी उम्मीदवार श्री राजनारायण ने। चुनाव के दिनों मैं वहां गया था और कई बातें तो मैंने स्वयं ही देखी थी। उन्हें मैं अन्यत्र लिख भी चुका हूं। अत: इस मुकदमे के संबंध में मुझे विशेष उत्सुकता तो थी ही, जिस ढंग से यह मामला न्यायालयों में आने लगा था, जनसाधारण में भी इस मुकदमे के संबंध में विशेष आकर्षण पैदा हुआ था। आगे चलकर जनता कार्यकाल में जो विधि मंत्री बने, वे श्री शांतिभूषण श्री राजनारायण के वकील थे। न्यायालय में उनके तर्क से भरे मुद्दे बहुत ही सुसंगत प्रतीत होते थे। अंत में दोनो ओर के वकीलों की बहस समाप्त हो गई और सिन्हा ने घोषित किया कि वे अपना निर्णय बाद में देंगे। इस बात को लेकर सभी जगह चर्चा प्रारंभ हो गई कि उनका निर्णय क्या हो सकता है। श्रीमती गांधी के पक्ष में और विपक्ष में, दोनों प्रकार के अनुमान लगाये जाने लगे। इस बीच इस प्रकार की खबरें भी आयी कि श्री सिन्हा पर दबाव डाला जा रहा है।

गुजरात के चुनाव परिणामों पर किसी प्रकार का असर न हो, इसलिए श्री जगमोहन लाल सिन्हा ने १२ जून अपने निर्णय की तारीख निश्चित की। उसी दिन गुजरात विधानसभा के लिए हुए चुनाव परिणामों की घोषणा शुरू होने वाली थी। इस बारे में हम एक दिन बात कर ही रहे थे कि न्यायालय का निर्णय क्या हो सकता है, श्री यंशवंतराव चव्हाण के निजी सचिव श्री डोंगरे ने एकदम से कहा, इंदूरकरजी चर्चा किस बात की कर रहे हैं? इस बात की सारी व्यवस्था कर दी गई है कि निर्णय श्रीमती गांधी के पक्ष में ही हो। उनका अंग्रेजी वाक्य मेरे मन: पटल पर अंकित हो गया (Arrangement have been made to get the judgement in her favor)। उस समय तो मुझे ऐसा नहीं लगा था कि श्री डोंगरे जी की बात किसी विशेष जानकारी के बल पर है। पर जनता कार्यकाल में जो बातें प्रगट हुई, उसमें यह स्पष्ट हो गया कि वह उनका केवल तर्क मात्र नहीं था। उन्हें वास्तव में कुछ टोह लगी थी। इसी संदर्भ में उन्होंने एक–दूसरे दिन यह भी कहा, इंदूरकरजी। ऐसा इस दुनिया में कौन है जिसे खरीदा न जा सके। इस पर मैंने उन्हें जो उत्तर दिया था वह भी मुझे याद है। आप जो कहते हैं, वह ९९ फीसदी बिलकुल सही है। पर जो एक फीसदी बचता है उसमें ऐसे लोग लोग हैं जिन्हें किसी भी कीमत पर

खरीदा नहीं जा सकता। और मेरी आशा का केन्द्र वही है। मुझे इस बात पर संतोष है कि श्री जगमोहन लाल सिन्हा के संबंध में मेरी आशा सच साबित हुई।

१२ जून को सुबह लगभग दस बजे मैं संसद भवन पहुंचा। संभवत: दस बज कर दस मिनट ही हुए होंगे। मैं मुख्य दरवाजे में ही था। वहां खड़े आरक्षी के हाथ में ट्रांजिस्टर था। दरवाजे से अंदर प्रवेश करते समय ही मैंने उस ट्रांजिस्टर पर सुना कि श्री जगमोहनलाल सिन्हा ने प्रधानमंत्री श्रीमती गांधी का चुनाव अवैध घोषित किया है और चुनाव के लिए उन्होंने जो भ्रष्टाचार की कार्रवाईयां की उसके कारण उन्हें छह वर्ष के लिए चुनाव के हेतु अपात्र घोषित किया है। मैं सेंट्रल हॉल पहुंचा। वहां बहुत से संसद सदस्य और पत्रकार थे। वहां दूसरा समाचार मिला। श्रीमती गांधी के वकील द्वारा दिये आवेदन पर विचार कर न्यायालय ने सर्वोच्च न्यायालय में अपील करने की अनुमति दी है और श्रीमती गांधी के वकील के अनुरोध के अनुसार न्यायालय के निर्णय को कार्यान्वित करने के लिए बीस दिन की अवधि भी मंजूर कर ली है।

अब क्या होगा? नया प्रधानमंत्री कौन बनेगा? संसद के सेंट्रल हॉल में स्वाभाविक रूप से इस पर चर्चा प्रारंभ हुई। श्रीमती गांधी के वकील ने बीस दिन का जो समय मांगा था उसका अर्थ केवल इतना ही था कि प्रधानमंत्री पद की नयी व्यवस्था के लिए उतने समय की आवश्यकता थी। श्रीमती गांधी लोकसभा की सदस्य होने के कारण प्रधानमंत्री बनीं और उनकी सदस्यता अवैध घोषित होने के कारण वे उस पद पर बनी नहीं रह सकती थी। सदस्यता अवैध घोषित हो जाने पर भी वे प्रधानमंत्री पद से काम करती रहें, इस बात के लिए न समय मांगा गया था और न दिया ही गया था। न्यायाधीश श्री सिन्हा के सामने प्रश्न केवल सदस्यता का था। यह नहीं था कि श्रीमती इंदिरा गांधी की सदस्यता से वंचित होने के कारण प्रधानमंत्री के पद का कार्य कौन करे।

श्रीमती इंदिरा गांधी प्रधानमंत्री होने के कारण निर्णय को कार्यान्वित करने के लिए थोड़ा सा समय चाहिए यह बात श्रीमती गांधी के वकील की ओर से अर्थात श्रीमती गांधी की ओर से ही उठी होने के कारण यह विचार किसी के मन में भी नहीं आ सकता था कि अपात्र होने पर भी वे प्रधानमंत्री पद पर बनी रहना चाहती हैं। श्रीमती गांधी का अब तक का व्यवहार भी ऐसा नहीं था कि इस प्रकार का संदेह भी मन में पैदा हो। मध्य प्रदेश और आंध्र प्रदेश के भूतपूर्व मुख्यमंत्री पं. द्वारका प्रसाद मिश्र और श्री चेन्ना रेड्डी के संबंध में न्यायालयों ने कुछ सामान्य कारणों से इसी प्रकार अपात्रता घोषित करने पर उन्हें मंत्रीपद से त्यागपत्र देने के लिए श्रीमती इंदिरा गांधी ने बाध्य किया था। श्री मिश्र के संबंध में कानून द्वारा निर्धारित खर्च की सीमा से कुछ अधिक खर्च होने का प्रश्न था और श्री रेड्डी की अपात्रता का निर्णय उस समय का था जब वे आंध्र विधानसभा के सदस्य थे। जब अपात्रता का निर्णय घोषित हुआ उस समय वे राज्यसभा के सदस्य थे और केंद्रीय मंत्री थे। उन दिनों यह भी कहा गया था कि श्री रेड्डी ने श्रीमती गांधी से एक अनुरोध किया था। मैं सर्वोच्च न्यायालय में अपील कर रहा हूं। अपील पर निर्णय होने

तक मुझे मंत्री बना रहने दिया जाए। पर उस समय श्रीमती गांधी ने यह भूमिका अपनायी थी कि न्यायालय ने जिस सदस्यता के लिए अपात्र घोषित किया है वह मंत्री पद पर नहीं रह सकता। अत: तर्कसंगत विचार करने वाले किसी व्यक्ति को भी उस समय ऐसा नहीं लगा कि अपना प्रश्न आते ही वे कोई दूसरी भूमिका अपनायेंगी।

पर जिस दिन निर्णय घोषित हुआ उसी दिन संसद के सेंट्रल हॉल में उपस्थित संसद सदस्यों में यह चर्चा अवश्य शुरू हो गई थी कि श्रीमती गांधी प्रधानमंत्री का अधिकार आसानी से नहीं छोड़ेंगी। हम पत्रकारों के मन में स्वभावत: यह जानने की उत्सुकता थी कि क्या होने वाला है। हमने विभिन्न क्षेत्रों के संसद सदस्यों से उनके विचार और अनुमान पूछना प्रारंभ किया। उस समय दायी कम्युनिस्ट पार्टी के श्री हिरेन मुखर्जी के साथ हुई चर्चा आज भी स्मरण है। कम्युनिस्ट संसद सदस्यों के संबंध में आमतौर पर मेरे मन में कभी भी आदर की भावना पैदा नहीं हुई पर श्री हिरेन मुखर्जी उसमें अपवाद थे। वे अच्छे वक्ता तो थे ही, दूसरो को भला—बुरा न कहते हुए भी वे अपने दल की भूमिका बहुत ही प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत करते थे। उनका व्यवहार भी बहुत ही सज्जनता का था। वे दिखाई पड़े और मैंने उनसे उनकी राय पूछी। उन्होंने कहा दल के द्वारा विचार किए जाने के पहले मैं कुछ भी नहीं कह सकता। पर आप यदि इस बात के लिए तैयार हो कि जो मैं कहूं उसे मेरे नाम से प्रकाशित नहीं करेंगे तो मैं बता सकता हूं कि निजी तौर पर मुझे क्या लगता है। हमने वह मंजूर किया और फिर उन्होंने कहा, मुझे इस बात का कोई अनुमान नहीं है कि श्रीमती इंदिरा गांधी क्या करेंगी? पर मुझे ऐसा अवश्य लगता है कि न्यायालय के इस निर्णय के बाद उन्हें प्रधानमंत्री पद से तुरंत त्यागपत्र दे देना चाहिए। बाद में श्री हिरेन मुकर्जी कम्युनिस्ट पार्टी में भी एकाकी से हो गए।

संसद भवन से मैं बाहर निकला। विजय चौक के पास मेरी मोटरगाड़ी से एक मोटरसाइकिल टकरा गई और छोटी—सी दुर्घटना हई। शायद आगे होने वाली घटनाओं की यह पूर्व सूचना ही थी। कुछ देर बाद मैंने प्रधानमंत्री के बंगले की ओर एक चक्कर मारा। वहां अंदर और बाहर काफी भीड़ जमा थी। इस बीच एक वक्तव्य मिला जिसमें श्रीमती गांधी पर विश्वास व्यक्त किया गया था और उस पर श्री जगजीवन राम, श्री यशवंतराव चव्हाण, कांग्रेस के अध्यक्ष देवकांत बरूआ के हस्ताक्षर थे। दिल्ली परिवहन की बसें भर—भरकर श्रीमती गांधी के निवास स्थान की ओर जाती हुई दिखाई दी। इन बसों में वेशभूषा से गरीब प्रतीत होने वाले लोग थे। उसी प्रकार के कुछ लोग जुलूस बनाकर श्रीमती गांधी के बंगले की ओर जा रहे थे। सभी का उद्देश्य श्रीमती गांधी पर विश्वास व्यक्त करने का था। मैं आज भी यह नहीं कह सकता कि यह सब योजना बनाकर कराया गया था अथवा उसके पीछे आम जनता की स्वयंस्फूर्त तात्कालिक प्रेरणा थी। कांग्रेस विभाजन के समय का मुझे यह अनुभव था कि पैसा खर्च कर प्रदर्शन कैसे आयोजित किए जाते हैं। पर इस अवसर पर जितने बड़े पैमाने पर प्रदर्शन हुए उससे यह निष्कर्ष भी गलत प्रतीत होता है कि वे सब आयोजित थे। यह कहा जा सकता है कि

एक वातावरण पैदा हुआ और कई बातें स्वयं उस्फूर्त हुई। पर उस समय भी मेरी समझ में यह नहीं आया कि विश्वास प्रगट करने के लिए नेताओं ने जो वक्तव्य दिये अथवा जो प्रदर्शन हुए उनका न्यायालय के निर्णय के साथ क्या संबंध था? संविधान ने ही यह व्यवस्था कर रखी है कि निचली अदालत का निर्णय यदि संबंधित पक्ष को अन्यायपूर्ण प्रतीत हो तो वह ऊंची अदालत में न्याय मांगने के लिए जा सकता है। जो बात आम आदमी के लिए उचित है वही ऊंचे पद पर पहुंच नेताओं के लिए उचित क्यों न समझी जाए?

ऐसा दिखाई देता है कि उस समय श्रीमती गांधी के निकट के क्षेत्र में दो प्रकार के लोग थे। एक वर्ग वह था जिसकी धारणा थी कि प्रधानमंत्री पद की व्यवस्था करने के लिए न्यायालय से समय मांग लिया गया हो तो भी उस दिशा में विचार करने की ही आवश्यकता नहीं है। उन दिनों इस वर्ग के जो स्पष्ट प्रतिनिधि प्रतीत हो रहे थे उनमें श्री वसंत साठे का नाम लिया जा सकता है। किसी भी कारण क्यों न हो, वफादारी और विश्वास प्रदर्शन की जो लहर उठी उसमें हर राज्य के कांग्रेसी संसद सदस्य बारी–बारी से श्रीमती गांधी से मिलने जाने लगे। तब तक यह निश्चय हो गया था कि सर्वोच्च न्यायालय में अपील कर उस पर निर्णय होने तक श्री सिन्हा के निर्णय को स्थगित रखने की मांग की जाए। पर इस बारे में संदेह था कि निर्णय के संबंध में स्थगनादेश मिलेगा या नहीं। और मिलेगा भी तो वह किस प्रकार का मिलेगा? इच्छा तो यही थी कि पूरे निर्णय को स्थगित करने का आदेश मिलना चाहिए। पर इस प्रकार के मामलें में तब तक की न्यायालयों की परम्परा शर्तों के साथ ही स्थगनादेश देने की थी।

महाराष्ट्र के कांग्रेस सदस्यों की समिति ने भी श्रीमती गांधी के प्रति अपना समर्थन और विश्वास व्यक्त करने वाला प्रस्ताव पास किया था। महाराष्ट्र के कई संसद सदस्य निजी चर्चा में जो कहते थे। उससे यह प्रस्ताव मेल नहीं खाता था। पर शायद वैसा प्रस्ताव प्रारित करना उस समय की राजनीतिक आवश्यकता हो। उस समय महाराष्ट्र की समिति के संयोजक थे, श्री सयाजीराव पंडित। जो घटना मैं लिख रहा हूं वह उन्होंने ही मुझे बतायी थी। उस समय मैंने वह 'महाराष्ट्र टाइम्स' में प्रकाशित भी की थी। केवल श्री सयाजीराव का हवाला उसमें नहीं दिया था। उद्देश्य केवल यह था कि नाम प्रकाशित होने के कारण कांग्रेस नेता उन पर नाराज न हों। निश्चय यह हुआ था कि प्रधानमंत्री के बंगले पर जाकर उन्हें केवल प्रस्ताव की प्रतिलिपि दी जाए। कोई कुछ बोले नहीं। संयोजक होने के कारण प्रस्ताव श्री सयाजीराव पंडित को ही देना था। प्रधानमंत्री के बंगले पर संसद सदस्यों के पहुंचने के कुछ देर बाद श्रीमती गांधी वहां आयीं। श्री सयाजीराव पंडित द्वारा प्रस्ताव की प्रतिलिपि का कागज आगे बढ़ाते ही उन्होंने उनकी ओर देखे बिना ही उसे ले लिया और वे आगे बढ़ गईं। इसमें दस–बीस सैकेंड लगे होंगे या न भी लगे होंगे। पर श्री बसंत साठे ने अपनी ओर उनका ध्यान आकर्षिक करने के लिए हो अथवा

और किसी कारण हो, अंग्रेजी में एक नारा लगाया। "स्थगनादेश मिले या न मिले, प्रधानमंत्री बनी ही रहेंगी" (Stay or no stay, Prime Minister continues to stay)

उन दिनों राजधानी में एक समाचार और फैला था। उन्हीं दिनों जो और प्रमाण उपलब्ध हुए उससे ऐसा लगता है कि उसमें काफी सचाई थी। उस समय कांग्रेस के अध्यक्ष श्री देवकांत बरुआ थे। उन्होंने श्रीमती गांधी को सुझाया था कि न्यायालय का सम्मान बनाये रखने के लिए आप अभी त्यागपत्र दे दें। सर्वोच्च न्यायालय में अपील की जाए। संगठन का अध्यक्ष होने के कारण अपील पर निर्णय होने तक प्रधानमंत्री पद मैं सभालता हूं। सर्वोच्च न्यायालय का निर्णय आपके पक्ष में ही होगा। वह वैसा होते ही आप अपना प्रधानमंत्री पद फिर संभाल लीजिए। यह भी कहा जाता है कि श्रीमती इंदिरा गांधी के मन में भी यह सुझाव कार्यान्वित करने की बात कुछ अंश में आ गई थी।

पर इसकी हवा श्री जगजीवन राम को लग गई। प्रधानमंत्री पद की कुर्सी पर बैठने की उनकी पुरानी इच्छा तो थी ही। उन्होंने श्रीमती गांधी से कहा, न्यायालय के निर्णय के बाद भी हम लोगों ने आप पर अपना विश्वास प्रगट किया ही है। वर्तमान स्थिति में प्रधानमंत्री पद पर बने रहने का आपका निर्णय हो तो मुझे कुछ कहना नहीं है। पर यदि कुछ दूसरी व्यवस्था करने की बात आपके मन में हो तो उसके संबंध में हमें भी कुछ कहना है। श्रीमती गांधी कुछ गुस्से में ही थीं। उन्होंने कहा, आपको जो कुछ कहना हो लिखकर भेज दीजिए। श्री जगजीवन राम ने वह पत्र लिख भी दिया। हस्ताक्षर करके उसे भेजना ही बाकी था। ऐसा लगता है कि उस पत्र के संबंध में उनके बहुत ही निकट के मित्र पं. द्वारकानाथ तिवारी से उन्होंने कुछ कहा होगा। समाचार फैल गया और यू.एन. आई. समाचार संस्था ने समाचार दिया कि प्रधानमंत्री पद की व्यवस्था करने के संबंध में श्री जगजीवन राम ने श्रीमती गांधी को पत्र लिखा है। इस बीच किसी कारण श्रीमती गांधी का विचार बदल गया और श्री जगजीवन राम को सूचित कर दिया गया कि पत्र भेजने की आवश्यकता नहीं है। प्रत्यक्ष में पत्र नहीं गया, अत: सरकारी सूत्रों ने स्पष्टीकरण किया कि यू. एन. आई. द्वारा प्रसारित खबर गलत थी।

श्रीमती गांधी का विचार बदला। पर वह क्यों? ऐसा कहा जाता है और उस समय हुई अन्य अनेक घटनाओं के कारण वह ठीक भी लगता है कि श्री संजय गांधी ने देश की राजनीति में सर्वप्रथम एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। उन्होंने अपनी मां से कहा, श्री देवकांत बरुआ आदि लोगों पर बिलकुल विश्वास न करो। प्रधानमंत्री पद से तू एक बार हटी तो सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय के बाद, और वह तुम्हारे पक्ष में होने पर भी, ये लोग उसे छोड़ेगे तो नही ही, तुझे कोई कुत्ता भी नहीं पूछेगा। श्रीमती गांधी को अपने पुत्र की बात समझ में आ गई। उन्हें इस बात का ज्ञान था कि उनके सभी सहयोगी किस प्रकार के हैं। उक्त समाचार ठीक था इसका प्रमाण २० जून को बोट क्लब पर हुई विशाल रैली में मिला। यह रैली श्रीमती गांधी का समर्थन करने के लिए आयोजित की गई थी। पर उस पर पूरा नियंत्रण श्री संजय गांधी और उनके साथियों का था। कांग्रेस के

अध्यक्ष श्री देवकांत बरुआ को मंच पर बैठने के लिए भी स्थान नहीं था। इस रैली में श्रीमती गांधी ने अपने भाषण में कहा कि उन्हें निकालने के लिए बहुत बड़ी–बड़ी शक्तियां काम कर रही हैं। पर उन्होंने यह नहीं बताया कि वे शक्तियां कौन–सी हैं। गोलमोल बोलना यह श्रीमती गांधी के बोलने का ढंग बन गया था।

हम पत्रकारों के सामने एक गुत्थी थी जो सुलझ नहीं रही थी। उच्च न्यायालय के निर्णय के बारे में सर्वोच्च न्यायालय से स्थगनादेश मांगने के बजाय प्रदर्शन और रैलियों में समय क्यों गंवाया जा रहा है। श्रीमती गांधी के प्रति वफादारी प्रगट करने के लिए बड़ी–बड़ी रैलियां और प्रदर्शन हो रहे थे तो उसकी प्रतिक्रियास्वरूप विरोधी दलों की ओर से भी रैलियां और प्रदर्शनों का आयोजन किया जा रहा था। उसमें मांग होती थी कि श्रीमती गांधी को तुरंत त्यागपत्र देना चाहिए। २० जून को इंदिरा गांधी के समर्थन में रैली हुई थी। २२ जून को विपक्षी दलों ने भी एक बहुत बड़ी रैली का आयोजन किया। गार्मियों के कारण सर्वोच्च न्यायालय में वैसे अवकाश था। अवकाशकालीन न्यायाधीश के रूप में श्री कृष्ण अय्यर काम देख रहे थे। उनका पूर्व इतिहास दायी कम्युनिस्ट पार्टी के निकटवर्ती होने का था। अत: श्रीमती गांधी के लिए इस भय का तो कोई कारण ही नही था कि वे जानबूझकर उनके विरूद्ध कोई भूमिका अपनायेंगे। पूरे देश के वातावरण को झकझोर डालने की जिसमें शक्ति थी, उसके लिए क्या यह कठिन था कि पांच–सात दिन में उच्च न्यायालय से संबंधित कागजात प्राप्त कर उस न्यायालय के निर्णय के विरूद्ध सर्वोच्च न्यायालय में अपील कर दी जाती। पर रैलियां और प्रदर्शन पहले किए गये। न्यायालयीन प्रक्रिया को बाद में अपनाया गया।

२३ जून को श्रीमती गांधी ने अपील की और यह मांग की कि अपील की सुनवाई होने तक श्री जगमोहन लाल सिन्हा द्वारा दिये गए निर्णय को पूरी तरह बिना किसी शर्त के स्थागित किया जाए। श्री अय्यर ने दूसरे ही दिन निर्णय दिया। उन्होंने स्थगनादेश दिया। पर वह श्रीमती गांधी की मांग के अनुसार सम्पूर्ण नहीं था और बिना शर्त के भी नहीं था। तब तक की न्यायालयीन परम्परा के अनुसार स्थगनादेश के साथ शर्तें लगी हुई थीं। श्री अय्यर ने अपने निर्णय में स्पष्ट कहा कि उच्च न्यायालय के निर्णय के विरूद्ध अपील करने वाले विधान सभाई अथवा संसद सदस्य को सभा भवन में उपस्थित रहने का, कामकाज में भाग लेने का जिस प्रकार अधिकार होता है, उसी प्रकार श्रीमती गांधी को भी वह होगा। पर वे जिस प्रकार किसी विषय पर मतदान नहीं कर सकते उसी प्रकार श्रीमती गांधी भी किसी विषय पर मतदान नहीं कर सकेंगी।

यहां तक न्यायालयीन दृष्टि से सब कुछ ठीक हुआ। श्री अय्यर ने अपने निर्णय में आगे जो बात कही, उसके औचित्य से संबंध में हम पत्रकारों के मन में उसी समय एक प्रश्न पैदा हुआ था। न्यायाधीश को राजनीति में नहीं पड़ना चाहिए। राजनीतिक विषयों पर राय भी नहीं देना चाहिए। न्यायालय में श्रीमती गांधी ने जो अपील दायर की थी, उसमें एक ही मांग थी––स्थगनादेश सम्पूर्ण और बिना शर्त दिया जाए। वह मांग उन्होंने

स्वीकार कर ली होती तो वह तब तक की न्यायालयीन परम्परा के विरूद्ध अवश्य होता, पर वैसा निर्णय देना उनके अधिकार क्षेत्र की सीमा में होता। पर जिस मुवक्किल की वह मांग न्यायालयीन परम्परा की दृष्टि से अनुचित प्रतीत होने के कारण उन्होंने स्वीकार नहीं की, वह मुवक्किल प्रधानमंत्री बना रह सकता है या नहीं, यह प्रश्न उनकी अदालत के सामने था ही नहीं, फिर उन्होंने उस पर अपना विचार क्यों प्रस्तुत किया? उन्होंने यह राय प्रगट की कि स्थगनादेश शर्तों के साथ और पूरा न होने पर भी श्रीमती इंदिरा गांधी प्रधानमंत्री पद पर बनी रह सकती हैं।

न्यायाधीश को यह विचार नहीं करना चाहिए कि उसके निर्णय का राजनीति में किस दल पर क्या परिणाम होगा। संसद सदस्य होने के कारण श्रीमती इंदिरा गांधी प्रधानमंत्री बनी थीं। अपील करने की अनुमति देने के बाद मतदान का अधिकार न बनाये रखने की जो तब तक की न्यायालयीन परम्परा थी उसका अर्थ हमारी समझ में एक ही आता था। न्यायालय द्वारा सदस्यता के लिए अपात्र सदस्य, संसद अथवा विधानसभा द्वारा होने वाले निर्णयों में हिस्सेदार नहीं हो सकता। वह यदि हिस्सेदार बना तो आगे चलकर कानून की दृष्टि से वह निर्णय भी रद्द हो सकता है जिसमें उसके मतदान से निर्णय हुआ हो। जिस व्यक्ति को सभा भवन में मतदान करने का अधिकार नहीं है, वह प्रधानमंत्री पद पर बनी रह सकती हैं या नहीं, यह प्रश्न कम से कम उनके सामने नहीं था। तब उस पर राय व्यक्त करने की श्री अय्यर को क्या आवश्यकता थी? यदि कोई राय व्यक्त नहीं करते तो राजनीतिक दलों को खुली छूट होती कि वे जैसा चाहे वैसा अर्थ लगाते।

श्री अय्यर द्वारा उक्त विचार प्रगट करने के कारण न्यायालयों की दृष्टि से एक विचित्र राजनीतिक इतिहास घटा है। जिस व्यक्ति की संसद सदस्यता न्यायालयीन दृष्टि में कलंकित हो चुकी है उस व्यक्ति की प्रधानमंत्री के रूप में दी गई सलाह को मंजूर कर राष्ट्रपति ने देश में आपत्काल घोषित किया। उक्त संसद सदस्य की अपील का निर्णय आपत्काल में ही, और वह उसके पक्ष में हुआ। क्या यह नहीं कहा जा सकता कि आपत्काल के कारण देश में आतंक और भय का जो वातावरण पैदा हुआ था उसका असर अपील पर निर्णय देने वाले न्यायाधीशों पर भी जरा भी नहीं हुआ होगा? राष्ट्रपति को उक्त सलाह संविधान के अनुसार मंत्रिमण्डल में विचार–विनियम के बाद भी नहीं दी गई थी। राष्ट्रपति ने अध्यादेश पर पहले हस्ताक्षर किया और मंत्रिमण्डल की स्वीकृति उसपर बाद में ली गई। कुछ मंत्रियों ने तो बाद में यह स्वीकार ही किया कि मन में होने पर भी उन्हें उस समय विरोध करने का साहस नहीं हुआ। उस समय तो वैसा लगा ही पर इतने दिनों के बाद निश्चित रूप से लगता है कि जहां तक श्री अय्यर के मूल निर्णय का संबंध है, न्यायालयीन दृष्टि से वह बिलकुल ठीक था। पर आवश्यकता न होने पर राय प्रदर्शित कर उन्होंने न्यायालयीन मर्यादाओं का उल्लंघन कर दिया। मैं कम्युनिस्ट सदस्य श्री हिरेन मुकर्जी की चर्चा कई बार कर चुका हूं। श्री अय्यर द्वारा राय प्रदर्शित की जाने के संबंध में उन्हें भी मेरी ही तरह लगता था। वैसा उन्होंने मुझे कहा भी था।

जिस दिन सर्वोच्च न्यायालय ने स्थगनादेश दिया उसी दिन संसदीय कांग्रेस दल की बैठक बुलायी गई। तब तक संसदीय कांग्रेस दल की बैठक आमतौर पर पत्रकारों के लिए खुली नहीं होती थी। बैठक का समाचार बाद में पत्रकारों को दिया जाता था। इसके पहले कांग्रेस विभाजन के समय श्रीमती गांधी के प्रति वफादारी प्रगट करने के लिए जो बैठक हुई थी, वह अवश्य पत्रकारों के लिए खुली थी। इस बैठक में कांग्रेस के अध्यक्ष श्री देवकांत बरुआ ने अपना नया राजनीतिक दर्शन प्रस्तुत किया। वह था "भारत ही इंदिरा है और इंदिरा ही भारत है" (India is Indira and Indira is India)। उनके इस दर्शन का समर्थन किया श्री जगजीवन राम, श्री यशवंतराव चव्हाण जैसे कांग्रेस के धाकड समझे जाने वाले नेताओं ने। देश और व्यक्ति को एक ही स्तर पर बैठाने का यह नाटक कम से कम मेरी समझ में नहीं आया। यह समाचार भी फैला था कि श्री चंद्रशेखर, श्री मोहन धारिया, श्री कृष्णकांत आदि तरुण तुर्क कहलाने वाले कुछ लोग इस बैठक में अपनी राय प्रदर्शित करेंगे। पर वे लोग वहां दिखाई ही नहीं दिये। बाद में पता चला कि श्री उमाशंकर दीक्षित ने मध्यस्थता की थी और इन लोगों को मनवा लिया था कि बैठक में अनुपस्थित रहें। हम पत्रकारों ने देखा कि संसद सदस्यों द्वारा मेजों की जोरदार थपथपाहट के बीच श्रीमती इंदिरा गांधी के नेतृत्व पर विश्वास व्यक्त करने वाला प्रस्ताव स्वीकार किया गया। वह स्वीकार होने ही वाला था। पर जिन दिनों जनता के प्रतिनिधि समझे जाने वाले संसद सदस्यों द्वारा श्रीमती गांधी पर विश्वास प्रगट करने की घटना हुई, उन्हीं दिनों इसी विषय पर एक ग्रामीण व्यक्ति की प्रतिक्रिया भी मैंने अपने कानों से सुनी। कोर्ट कचहरी के साथ उसका हमेशा सम्बन्ध रहता था। उसने कहा, "बड़े कोर्ट ने बेदखल कर दिया है। पर वह कब्जा नहीं छोड़ रही हैं।"

जिस दिन इलाहाबाद उच्च न्यायायल ने श्रीमती गांधी के विरूद्ध निर्णय दिया, उसी दिन गुजरात विधानसभा चुनाव के परिणाम घोषित हुए। वे श्रीमती गांधी की कांग्रेस के विरूद्ध थे और वहां संगठन काग्रेस को बहुमत प्राप्त हुआ। इससे विपक्षी सदस्यों को यह गलतफहमी हुई की श्रीमती गांधी के विरूद्ध सारे देश में वातावरण पैदा हो गया है। विपक्षी दल के कुछ नेता बौखलाये से हो गए थे। वे इस भावना से प्रदर्शन और मोर्चे आयोजित करने लगे कि श्रीमती गांधी को प्रधानमंत्री पद छोड़ने के लिए बाध्य कर दिया जाएगा। तीखे संघर्ष का वातावरण निर्माण हुआ। इस सबके परिणामस्वरूप २६ जून को सुबह आपत्काल घोषित हुआ। मैंने रेडियो पर अपने घर में ही समाचार सुना। युद्धकाल के आपत्काल का हमें कुछ अनुभव था। उस समय भी वह चल रहा था। पर युद्ध के संदर्भ में जो आपत्काल जारी हुआ था उससे जनसाधारण को कुछ कष्ट पहुंचने की बात हमने नहीं सुनी थी। पर देश के अंतर्गत आपत्काल का हमें कोई पूर्व ज्ञान नहीं था। अत: हमें कोई अंदाज नहीं लग रहा था कि इस आपत्काल के कारण देश में क्या होगा। इसके पहले आंतरिक सुरक्षा बनाये रखने के उद्देश्य से विपक्षी दलों के हर प्रकार के विरोध को ठुकराकर संसद ने एक कानून पास किया था। वह "मीसा" नाम से प्रसिद्ध था और उससे सरकारी अधिकारियों को यह अधिकार मिला था कि वे किसी को भी बिना किसी निश्चित

अवधि के जेल में बंद कर सकते हैं। पर १३ अप्रैल के आसपास श्रीमती गांधी का एक पत्र श्री मोरारजी देसाई को मिला था। उसमें आश्वासन दिया गया था कि राजनीतिक कार्यों के निमित्त इस कानून का उपयोग नहीं किया जाएगा। अत: कम से कम उस समय यह संभावना नहीं थी कि उक्त कानून के अंतर्गत इस दिशा में कुछ कदम उठाये जा सकते हैं।

पर एक बात के संबंध में अवश्य ही कुछ भ्रम था। एक अप्रैल के समाचारपत्रों में यह प्रकाशित हुआ था कि वरिष्ठ फौजी अधिकारियों के आदेश न मानने की सलाह श्री जयप्रकाश नारायण ने दी है। भारतीय जनसंघ के श्री अटल बिहारी बाजपेयी ने १२ अप्रैल को स्पष्ट रूप से कहा कि श्री जयप्रकाश नारायण के उन विचारों से मैं सहमत नहीं हूं। १७ अप्रैल को श्री जयप्रकाश नारायण ने उक्त समाचार से इन्कार किया पर यह कहा कि उन्होंने गैर–कानूनी आदेश न मानने के लिए अवश्य कहा था। इसका अर्थ यह अवश्य होता था कि श्री जयप्रकाश कानूनी आदेशों का पालन करने के पक्ष में थे। अत: उन पर यह आरोप नहीं लगाया जा सकता था कि वे प्रस्थापित शासन के विरूद्ध विद्रोह करने के लिए सेना को भड़का रहे थे। सुविधा के अनुसार बात बदलने की भी जयप्रकाश नारायण की प्रतिमा नहीं थी। अत: यह तो नहीं कहा जा सकता था कि ये अब अपनी बात बदल रहे हैं। पर फिर भी एक बात खटक रही थी। श्रीमती गांधी का व्यवहार कैसा भी हो तो भी श्री जयप्रकाश नारायण जैस नेता को लक्ष्य कर क्या ऐसे शब्दों का प्रयोग करना चाहिए था जिसका गलत अर्थ लगाया जा सके। फौजी जवानों को सामान्यत: यही सिखाया जाता है कि अधिकारियों के सभी आदेश माने जाए। और यही उचित भी है। यह तो मानकर ही चला जाता है कि अधिकारी वही आदेश देगा जो कानूनी होगा। हर आदेश के कार्यान्वयन के समय फौज के जवान यदि यह देखने लगे कि उन्हें मिला हुआ आदेश कानूनी है या नही तो काफी अव्यवस्था उत्पन्न हो जाएगी। यह कौन तय करेगा कि कौन–सा आदेश कानूनी है और कौन सा नहीं?

विचारों का यह चक्र मस्तिष्क में घूम ही रहा था कि मैं घर के बाहर निकला। एक दो समाचारपत्रों ने अपने विशेष अंक प्रकाशित किए थे। उसमें बताया गया था कि श्री जयप्रकाश नारायण, श्री मोरारजी देसाई, श्री चंद्रशेखर आदि को बहुत सुबह दिल्ली में ही गिरफ्तार किया गया है और श्री लालकृष्ण आडवाणी, श्री मधु दण्डवते को बंगलौर में पकड़ा गया है। वे वहां संसदीय समिति की एक बैठक के लिए गए थे। समाचारपत्रों पर सैंसर लगाए जाने की भी घोषणा थी। पर उस समय किसी को भी यह कल्पना नहीं थी कि भारतीय परिवेश में सेंसर का क्या अर्थ होगा? उसके कारण समाचारपत्रों पर किस प्रकार के बंधन लगाये जायेंगे। दिल्ली के बहादुरशाह जफर मार्ग पर एक ही पंक्ति में समाचारपत्रों के कई कार्यालय हैं। पर वहां बिजली बंद हो जाने के कारण विशेष अंकों की बात तो दूर प्रतिदिन के अंक भी प्रकाशित नहीं हो पाये थे। पहले ऐसा लगा था कि कुछ तकनीकी खराबी के कारण बिजली बंद हो गई होगी। पर बाद में पता चला कि

जानबूझकर बिजली काट दी गई थी। इसी कारण इस क्षेत्र का कोई भी समाचारपत्र दूसरे दिन भी नहीं निकल सका। उन दिनों श्री बी. जी. वर्गीज 'हिंदुस्तान टाइम्स' के संपादक थे। अत: उस पत्र का विशेष अंक प्रकाशित हुआ। वह कनॉट प्लेस से प्रकाशित होता था। पर कर्मचारियों पर दायी विचारधारा के कम्युनिस्ट नेताओं का नियंत्रण होने के कारण उसका वितरण नहीं हो सका। सेंसर की कुछ व्यवस्था होने के बाद बहादूरशाह जफर मार्ग से प्रकाशित होनेवाले समाचारपत्रों की बिजली चालू हो गई। आपत्काल की प्रथम भेंट थी बेतहाशा धरपकड़ और समाचारपत्रों पर तरह–तरह के बंधन। जिन नेताओं को पकड़ा गया था उन्हें कहां रखा गया है इसका भी बहुत दिनों तक पता नहीं था। उन दिनों हमें इस बात का अनुभव हो रहा था कि बंगलादेश के स्वाधीनता संग्राम के समय शेख मुजीबुर्रहमान को इसी प्रकार कहीं छिपाकर रखने के लिए पाकिस्तानी नेताओं की कड़ी आलोचना करने वाले देश में वही हो रहा है।

आपात्काल के दिन

जिस दिन आपत्काल की घोषणा हुई उसी दिन या दूसरे दिन की बात है। हम कुछ मराठी पत्रकार शाम के समय श्री यशवंतराव चव्हाण के बंगले पर गए। वे कुछ उदास थे। यह तो स्पष्ट ही था कि आपत्काल जारी करना उन्हें पसंद नहीं आया था। पर मंत्रिमंडल के एक मंत्री के नाते उन्होंने श्रीमती गांधी की इस कार्रवाई का टूटाफूटा समर्थन करने का भी प्रयत्न किया। बातचीत के दौरान उन्होंने कहा, इंदिरा जी भी क्या करें, विपक्षी दल उन्हें चारों ओर से घेरने का प्रयत्न कर रहे थे। वैसे बिल्ली बहुत डरपोक होती है। पर उसे भागने के लिए कोई रास्ता नहीं बचता तो जो सामने पड़ता है, उसी का गला पकड़ लेती है। इसमें अप्रत्यक्ष रूप से प्रतिशोध के रूप में गला पकड़ने की और यह आरोप भी था कि श्रीमती गांधी का स्वभाव बिल्ली जैसा है। मैंने उस सप्ताह अपने स्तंभ में श्री चव्हाण का उक्त विचार राजधानी के एक गुट में व्यक्त होने वाले एक विचार के रूप में प्रस्तुत किया। पर सैंसर की कृपा से वह स्तंभ ही प्रकाशित नहीं हो सका।

अचानक एक दिन समाचार मिला। सूचना तथा प्रसारण मंत्री श्री इंद्रकुमार गुजराल को मंत्रीपद से हटा दिया गया है। श्री गुजरात श्रीमती गांधी के गुट में ही थे। वे उनके बहुत निकट समझे जाते थे। अत: उन्हें मंत्रीपद से हटाए जाने पर सभी को आश्‍चर्य लगा। समाचार पत्र पर प्रतिबंध होने के कारण सच्ची खबरें नहीं आ रही थी। अत: अफवाहों का बाजार गरम था। श्री गुजराल को हटाये जाने के कारणों के संबंध में कुछ अफवाहें इस प्रकार थी। श्री संजय गांधी चाहते थे कि २० जून को श्रीमती गांधी के समर्थन में बोट क्लब पर जो रैली हुई। उसका दूरदर्शन पर सीधा (Live) प्रसारण किया जाए। उन्होंने वैसा करने के लिए दूरदर्शन के संबंधित अधिकारी से टेलीफोन पर कहा। उसने उत्तर दिया, दूरदर्शन एक सरकारी संस्था है। इस पर १५ अगस्त का समारोह और गणतंत्र दिवस परेड का ही सीधा प्रसारण दिखाने की परम्परा है। राजनीतिक दलों के कार्यक्रमों की सचित्र रिपोर्ट हम दूरदर्शन पर देते हैं। पर वह कार्यक्रम होने के बाद। और उसमें भी यह जांच करते हैं कि क्या दिखाया जाए और क्या न दिखाया जाए। इस पर श्री संजय गांधी ने कहा कि यह आदेश है और इसका पालन होना ही चाहिए। वह अधिकारी भी बिगड़ उठा और उसने कहा, मैं केवल मंत्री से आदेश लेता हूं, दूसरों से नहीं। तब तक आपात्काल जारी नहीं हुआ था। श्री संजय गांधी ने श्री गुजराल से शिकायत की और उक्त अधिकारी के विरूद्ध कार्रवाई करने को कहा। श्री गुजराल को यह ख्याल भी नहीं था कि आगे चलकर कौन से दिन आने वाले हैं। अत: उन्होंने उस अधिकारी का पक्ष लिया और कहा, यदि आपको लगता था कि वैसा कुछ किया जाए तो आपको मुझसे कहना चाहिए था। उस अधिकारी को आपके द्वारा आदेश दिया जाना उचित नहीं था।

श्री गुजराल पर श्रीमती इंदिरा गांधी के नाराज होने का एक और कारण यह बताया जा रहा था। वह कहां तक सच था इसकी जांच पड़ताल करने का हमारे पास कोई साधन

नहीं था। उन दिनों यह भी खबर फैली थी कि 'टाइम्स ऑफ इण्डिया' में प्रकाशित एक समाचार नाराजगी का दूसरा कारण था। समाचार में तुलनात्मक आकड़े देकर यह प्रकाशित किया गया था कि २० जून को कांग्रेस द्वारा आयोजित रैली पर दूरदर्शन की कितने फुट टेप लगी और श्री जयप्रकाश नारायण की रैली पर वह कितने फुट लगी थी। दोनों रैलियों पर दूरदर्शन की टेप का जो उपयोग हुआ था, उसमें इतना अंतर था कि बिना बताये भी यह समझ में आ जाता था कि २० जून की रैली पर बहुत ही भारी मात्रा में टेप का खर्च हुआ है। समाचार में यह भी दिया गया था कि एक फूट टेप कितने रुपए में मिलती है। धारणा यह बनी थी कि पत्र के संवाददाता को उक्त जानकारी श्री गुजराल के सूत्रों से ही मिली है।

इन दोनों अफवाहों में सचाई हो या न हो, पर यह तो स्पष्ट ही था कि श्रीमती इंदिरा गांधी के नाराज होने के कारण ही उन्हें निकाला गया था। इस संदर्भ में सेंट्रल हॉल में हुई अनौपचारिक चर्चा में श्री गुजराल के मुख से जो सूचक वाक्य निकले थे, वे मुझे उन्हीं दिनों संसद सदस्य श्री ए. जी. कुलकर्णी द्वारा ज्ञात हुए थे। सेंट्रल हॉल हम पत्रकारों के लिए तब तक बंद हो चुका था। श्री कुलकर्णी और श्री गुजराल में काफी मित्रता थी। उन्होंने गुजराल से पूछा, तुम्हारे बारे में यह सब कैसे हुआ? इस पर श्री गुजराल ने उत्तर दिया, मैं जो सेवा कर रहा था उसके बदले में यह मुझे मेवा मिला है। इस पर श्री कुलकर्णी ने आगे कहा, अच्छा यह तो हुआ। पर तुम्हारे स्थान पर श्री विद्याचरण शुक्ल की नियुक्ति कैसे? इस पर श्री गुजराल ने कहा, मुझे एक कहानी याद आ रही है। तुम्हें भी बताता हूं। अक्टूबर की रूसी क्रांति के बाद वहां कम्युनिस्ट शासन आया और बैंकों का राष्ट्रीयकरण किया गया। पर इस वित्तीय संगठन को अच्छी तरह संभाल सके ऐसा कोई समर्थ व्यक्तित्व मार्शल स्टालिन को दिखाई नहीं दे रहा था। दो—चार लोगों को उन्होंने वह काम संभालने के लिए कहा। हरेक ने यह कहकर मुक्ति पा ली कि उसे बैंकों के विषय की कोई समझ नहीं है। अंत में उसने एक बहुत मोटे और हमेशा मूंछों पर ताव देने वाले व्यक्ति को वह काम करने का आदेश दिया। उसने गिड़गिड़ाते हुए कहा, आप कहते हैं तो मैं करने को तैयार हूं, पर मुझे भी इस विषय की कोई समझ नहीं है। श्री स्टालिन ने कहा, मैं बताता हूं कि काम कैसे करना है। बैंक में पैसा रखने के लिए जो आये, उससे वह ले लेना और जो मांगने आये उसे गोली मार देना। ऐसा तो नहीं लगता कि यह कहानी शब्दश: सच होगी। पर नये सूचना तथा प्रसारण मंत्री श्री विद्याचरण शुक्ल किस प्रकार के व्यक्ति हैं, इस बारे में श्री गुजराल की विचारधारा व्यक्त करने वाली अवश्य हैं। यह तो स्पष्ट ही है कि श्री शुक्ल का मंत्रालय का करोबार लट्ठमार जैसा ही हुआ। श्री गुजराल की विचारधारा कुछ भी हो उनका व्यवहार बहुत ही अच्छा और सभ्यतापूर्ण था। श्री गुजराल के संपर्क में आया राजधानी का हर पत्रकार आज भी यही कहेगा। आपत्काल घोषित होने के बाद संसद का जो आपत्कालीन अधिवेशन हुआ उसी में शायद पहले दिन ही श्री कुलकर्णी की श्री गुजराल से उक्त चर्चा हुई थी।

आपत्काल के बाद कई संस्थाओं पर प्रतिबंध लगा दिये गए। उनमें मुख्य संस्थाएं थीं—राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ और जमाते इस्लामी। यह प्रचार तो बहुत दिनों से हो रहा था कि हिंसात्मक कार्रवाईयों में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का हाथ होता है। उन दिनों वह और बढ़ गया। दिल्ली के संघ कार्यालय पर पुलिस ने छापा मारा और उसके बाद पुलिस द्वारा कुछ समाचारपत्रों को एक चित्र दिया गया, जिससे प्रतीत होता था कि संघ कार्यालय में तलवारों का बहुत बड़ा भंडार था। वह चित्र 'हिंदुस्तान टाइम्स' के इवनिंग न्यूज में प्रकाशित हुआ। उन दिनों सेंसर के आदेशानुसार संसद में मंत्रियों द्वारा दिये उत्तर तो प्रकाशित किए जा सकते थे। पर प्रश्न पूछने वाले अथवा भाषण देने वाले सदस्यों के केवल नाम दिये जा सकते थे। श्री वाजपेयी, श्री आडवाणी आदि जनसंघ के कई सदस्य पकड़े जा चुके थे। किंतु श्री जगन्नाथराव जोशी तब तक बाहर थे। उन्होंने अपने भाषण में संघ के कार्यालय में छापा मारने के संबंध में प्रकाशित चित्र का उल्लेख किया और कहा, यह तो ठीक है कि तलवारों के गोदाम मिलने का चित्र प्रकाशित किया गया। पर सरकार की ओर से प्रकाशित समाचार में यह भी बताया जाना चाहिए था कि वे तलवारें लकड़ी की थीं। यह प्रचार गलत है कि संघ का हिंसात्मक कार्रवाई में हाथ होता है। प्रधानमंत्री ने अपने भाषण में श्री जगन्नाथराव जोशी के उक्त कथन का उल्लेख किया और कहा कि इससे क्या होता है कि वे तलवारें लकड़ी की थी। वे हिंसात्मक वृत्ति की प्रतीक तो थी ही। साधारणत: श्रीमती गांधी का उत्तर समाचारपत्रों में प्रकाशित होने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए थी। पर सेंसर की कैंची ने प्रधानमंत्री के भाषण के उस अंश को भी काट दिया। कारण एक ही दिखाई देता है। वह यदि प्रकाशित होता तो दुनिया को मालूम हो जाता कि वे तलवारें लकड़ी की थी और इससे बार—बार लगाए जाने वाले इस आरोप का खोखलापन भी प्रगट हो जाता कि संघ का हिंसाचार की कार्रवाईयों में हाथ होता है।

इसी संदर्भ में एक अजीब संयोग की ओर ध्यान जाता है। पहले के कानून के अनुसार संसद में जो कुछ कहा जाए वह कानून की दृष्टि से कितना भी आपत्तिजनक क्यों न हो, वह कहने वाले संसद सदस्य के विरूद्ध किसी भी न्यायालय में कोई कार्रवाई नहीं हो सकती थी। पर ऐसी सुरक्षा, संसद की कार्यवाही के रूप में उस समाचार को प्रकाशित करने वाले समाचारपत्रों को नहीं थी। अत: संसद के समाचार के रूप में भी उसे प्रकाशित करना समाचारपत्रों के लिए कठिन था। पं. नेहरू के कार्यकाल में ही श्री फिरोज गांधी ने (श्रीमती गांधी के स्वर्गीय पति) इस प्रणाली के विरूद्ध मोर्चा लगाया और उसका परिणाम यह हुआ कि समाचारपत्रों को भी वह सुरक्षा प्रदान करने वाला कानून बना। उस समय उन्होंने जो भूमिका अपनायी थी वह सभी को उचित प्रतीत हुई थी। उनका कहना था कि संसद सदस्य जनता के प्रतिनिधि होते हैं। वे जिम्मेदार होते हैं। निश्चित जानकारी के बिना वे किसी प्रकार का आरोप नहीं लगायेंगे। अत: उनके द्वारा लगाया गया आरोप समाचारपत्रों में प्रकाशित होने में किसी को आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

यदि कोई संसद सदस्य गैर–जिम्मेदारी से बोलने ही लगे तो उसे नियंत्रित करने का अधिकार सदन के अध्यक्ष को होता ही है।

पर उन्हीं की पत्नी श्रीमती इंदिरा गांधी के कार्यकाल में इस बात पर अधिक ध्यान दिया गया कि संसद सदस्यों के विचार और उनके द्वारा लगाए गए आरोप कम से कम कैसे प्रकशित हो। समाचारपत्रों को जो स्वाधीनता पति से प्राप्त हुई, उसे पत्नी ने छीन लिया। आपत्काल के कारण जो अवसर मिला उससे देश के समाचारपत्रों पर नियंत्रण हो सका। पर विदेशों में प्रकाशित होने वाले समाचारपत्रों पर वह नहीं हो पा रहा था। लोकतंत्र की यह परपंरा है कि संसद की कार्यवाही का पूरा रिकार्ड रखा जाय। यह प्रतिदिन तैयार होता है। इस रिकार्ड की कॉपी जो संशोधित नहीं होती, दूसरे दिन किसी को भी देखने को मिल जाती थी। आपत्काल में इसका उपयोग विदेशी पत्रकार काफी मात्रा में करने लगे। अत: सूचना तथा प्रसारण मंत्री श्री विद्याचरण शुक्ल ने संसद के अधिकारियों की एक बैठक बुलायी। उन्होंने उसमें यह प्रस्ताव किया कि पूरा रिकार्ड रखने की प्रणाली बंद कर दी जाय। उसका दुरुपयोग होता है। सारांश रूप में ही रिकार्ड रखा जाए। लोकसभा के सेक्रेटरी जनरल श्री श्यामलाल शकधर इसके लिए लगभग तैयार हो गये थे पर उस समय के राज्यसभा के सेक्रेटरी जनरल श्री बैनर्जी ने यह सुझाव मानने से इन्कार कर दिया। उन्होंने कहा, यह नहीं हो सकता। इसीलिए पूरा रिकार्ड रखने की प्रणाली बच गई।

वैसा कोई प्रत्यक्ष सबूत तो नहीं है पर ऐसा लगता है कि श्री शकधर इसके लिए तैयार हो गए होंगे क्योंकि एक दूसरे मामले की मुझे जानकारी है। यह सत्य है कि आपत्काल में संसद के एक कमरे में सेंसर का कार्यालय था। बाद में यह सवाल कई स्तरों पर उठा कि वह कमरा सैंसर को किसने दिया, यद्यपि सचाई बाहर नहीं आ सकी। वह कमरा राज्यसभा के नियंत्रण में था। राज्यसभा के एक अधिकारी ने ही मुझे बताया था कि राज्यसभा को उन दिनों उसकी आवश्यकता न होने के कारण लोकसभा के उपयोग के लिए वह दिया था। इससे ऐसा लगता है कि श्री शकधर ने ही वह कमरा सेंसर को दिया होना चाहिए। पर इस संबंध में श्री शकधर ने बाद में बिलकुल मौन बनाये रखा। संसद की सार्वभौमिकता का आदर करते हुए शाह आयोग ने आपत्काल में संसद में जो कुछ हुआ, उसके संबंध में किसी प्रकार की जांच नहीं की थी। संसदीय क्षेत्र की जो शिकायतें उनके पास आयी थीं, वे उन्होंने लोकसभा के अध्यक्ष के पास भेज दी थी। एक बार लोकसभा के अध्यक्ष श्री हेगडे से भी मेरी बात हुई थी। उनकी शिकायत थी कि संबंधित घटनाओं की जांच में लोकसभा के बड़े अधिकारी सहयोग नहीं देते।

आपात्काल शुरू होने के बाद प्रारंभिक कुछ दिनों तक दायीं कम्युनिस्ट पार्टी श्रीमती इंदिरा गांधी का पूरी तरह समर्थन करती थीं। १९७१ के चुनाव में भारी बहुमत प्राप्त होने के बाद देखा जाए तो श्रीमती गांधी को कम्युनिस्टों के उस समर्थन की आवश्यकता नहीं थी। पर फिर भी वह था। इसका कारण शायद यह हो कि श्रीमती गांधी ने रूस के साथ मेल कर रखा था। १९७२ में रूस के राष्ट्रपति श्री ब्रेजनेव भारत आये

थे। उन्होंने उस समय के गैर–कांग्रेसी नेताओं में से केवल कम्युनिस्ट नेता श्री डांगे को ही मिलने के लिए बुलाया था। इसकी उसी समय समाजवादी नेता श्री मधु लिमये ने शिकायत की। शायद इसीलिए उन्हें भी बुला लिया गया। उन्हीं दिनों श्री मधु लिमये ने पत्रकारों को बताया कि विपक्षी दलों की आवश्यकता ही क्या है, इस प्रकार का सवाल श्री ब्रेझनेव ने उनसे किया था। इससे तथा दूसरे भी कई कारणों से दायीं कम्युनिस्ट पार्टी को सरकार के प्रति वफादार पार्टी कहा जाता था।

पर आपत्काल के कुछ ही दिनों बाद इस स्थिति में परिवर्तन हो गया। और इसके कारण बने, श्री संजय गांधी। श्रीमती उमा वासुदेव नाम की एक महिला पत्रकार ने श्री संजय गांधी से एक लम्बी भेंटवार्ता की। उन दिनों श्री संजय गांधी राजनीतिक क्षितिज पर हाल ही में चमकने लगे थे। मैंने यह भेंटवार्ता राजधानी में केवल इण्डियन एक्सप्रेस में प्रकाशित हुई देखी। श्री संजय गांधी के साथ यह भेंटवार्ता होने के कारण उस पर कैंची चलाने की ताकत सैंसर के किसी भी अधिकारी में नहीं थी। उस भेंटवार्ता में भारतीय जनसंघ की कड़ी आलोचना की गई थी। पर उससे किसी को भी कोई आश्चर्य नहीं हुआ क्योंकि परम्परा से चली आयी कांग्रेस की वह नीति ही थी। आश्चर्य इस बात का था कि उसमें दोनों कम्युनिस्ट पार्टियों को बुरी तरह दायें–बांयें लिया गया था। १९६९ के काग्रेस विभाजन के बाद श्रीमती इंदिरा गांधी कभी भी दायें कम्युनिस्टों के विरूद्ध नहीं बोली थी।

उस समय की दृष्टि से यह भेंटवार्ता महत्व की होने के कारण इण्डियन एक्सप्रेस में वह प्रकाशित होने के बाद दूसरे समाचारपत्रों ने और समाचार संस्थाओं ने उसे उद्धृत किया और टेलीप्रिंटरों पर भेजा। उसी दिन के कलकत्ते के एक सांध्यकालीन दैनिक में वह प्रकाशित भी हुई। पर बाद में कहीं से भी हो, चाभी घूमी और वह भेंटवार्ता प्रकाशित न करने का आदेश सेंसर की ओर से निकला। उन दिनों सुनने में यह आया था कि कम्युनिस्ट नेता श्री भूपेश गुप्त के स्वयं श्रीमती इंदिरा गांधी से मिलने के बाद यह आदेश निकला था। दूसरे दिन इण्डियन एक्सप्रेस में एक गोलमोल स्पष्टीकरण प्रकाशित हुआ जिसमें कहा गया था कि श्री संजय गांधी कम्युनिस्टों के विरूद्ध नहीं है। पर इस भेंटवार्ता का जो परिणाम होना था, वह हो गया। खबर यह भी थी कि श्रीमती उमा वासुदेव ने वह भेंटवार्ता एक–दो अंतरराष्ट्रीय समाचार संस्थाओं को भी बेची थी। अत: वह दुनिया के कई समाचारपत्रों में प्रकाशित हुई होगी। उन पर भारतीय सेंसर का कोई असर नहीं हो सकता था। इसके बाद कम्युनिस्ट पार्टी और श्री संजय गांधी के संबंध बिगड़ गए। श्री संजय गांधी की स्थिति उस समय उगते सूरज जैसी होने के कारण राजधानी के सभी समाचारपत्रों में उनकी भेंटवार्ताएं प्रकाशित होने लगीं। पर कम्युनिस्ट पार्टी के पत्र “पेट्रियट” में उनका नाम भी नहीं आता था। इस पर श्री संजय गांधी नाराज न होते तो वह आश्चर्य की बात होती। वे प्रधानमंत्री के पुत्र थे। अत: उनका जो प्रभाव था उसका उपयोग हुआ

और पेट्रियट को दिये जाने वाले सभी सरकारी विज्ञापन बंद कर दिये गए। आपत्काल में स्थानीय सिनेमा के विज्ञापन भी पेट्रियट में नहीं दिखाई देते थे।

कम्युनिस्ट नेता श्री भूपेश गुप्त को मैंने राज्यसभा में कई बार यह कहते हुए सुना है कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के कार्यकर्ताओं के खिलाफ कार्रवाई होना ठीक है, क्योंकि वे प्रतिक्रियावादी, साम्प्रदायिक और हिंसाचारी हैं। पर हमारे कार्यकर्ताओं के विरूद्ध कार्रवाई क्यों हो रही है? उन दिनों श्री संजय गांधी की जो चौकड़ी बनी थी, उसमें सूचना तथा प्रसारण मंत्री श्री विद्याचरण शुक्ल का भी समावेश था। अत: श्री भूपेश गुप्त उनके विरूद्ध भी काफी कुछ कहा करते थे। विज्ञापन बंद होने का पेट्रियट पर काफी दबाव था। पर श्री संजय गांधी के प्रशंसा गीत न गाने की पत्र की नीति बनायी रखी गई। इसी संदर्भ में कम्युनिस्ट पार्टी के सचिव श्री राजेश्वर राव के उन विचारों का भी उल्लेख आवश्यक प्रतीत होता है जो उन्होंने अपने दल की एक निजी बैठक में नागपुर में व्यक्त किए थे। वैसे कम्युनिस्ट पार्टी की सभी बैठकें निजी ही होती हैं। पत्रकारों के लिए वे खुलीं नहीं होती। मैं उन दिनों किसी काम से नागपुर गया था। कम्युनिस्ट विचारधारा वाले मेरे एक पत्रकार मित्र ने बैठक के एक दो दिन बाद ही मुझे उसकी जानकारी दी थी। श्री राजेश्वर राव ने कहा था, हमें भी इसलिए खुशियां नहीं मनानी चाहिए कि अभी संघ और दूसरे विपक्षी दलों के विरूद्ध कार्रवाई हो रही है। कहा नहीं जा सकता कि इन कार्रवाईयों की तोफ कब हमारी ओर घूम पड़ेगी। हमें उसके लिए भी तैयार रहना होगा।

आपत्काल घोषित होने के बाद श्रीमती इंदिरा गांधी ने २०—सूत्री कार्यक्रम घोषित किया था। उसमें श्री संजय गांधी ने पांच सूत्र और जोड़े थे। इसमें से श्री संजय गांधी द्वारा पुरस्कृत परिवार नियोजन के कार्यक्रम की गूंज कई प्रकार से हुई। परिवार नियोजन को लेकर जिस प्रकार आपरेशन होने लगे, उसके कारण लोगों के दिलों में जो दहशत बैठी उसका अनुभव मैंने स्वयं किया है। घर के लिए आवश्यक सामान मैं हर महीने राजधानी के एक बाजार पहाड़गंज से लाता था। अपनी गाड़ी थोड़ी खुली जगह में रखकर निश्चित एक किराना दुकानदार से सामान लेता। वह वही रहने देता। फिर एक कुली कर दूसरा सारा बाजार कर वह गाड़ी में लाकर रखना और फिर किराना माल लाकर भी गाड़ी में रखना, यह मेरा हर महीने का क्रम था। आपात्काल शुरू होने के बाद महीने—दो—महीने तो कोई खास अनुभव नहीं हुआ। पर बाद में बाजार में कुली नहीं मिलते थे। किराना दुकानदार ने दबी जबान में बताया कि रास्ते में जो कुली मिल जाता है, उस जबरन आपरेशन के लिए ले जाया जाता है। अत: अधिकांश कुली भय के कारण अपने गांव भाग गए हैं।

सेंसर लगने के बाद हममें से कुछ पत्रकार सेंसर की चौखट में रहकर अपना काम करने का प्रयत्न कर रहे थे। समाचार इस प्रकार लिखा जाए कि सेंसर की कैंची तो उस पर न चल सके। पर पाठकों को जो बताना है वह बताया भी जा सके। वैसे यह काम काफी कठिन था। पर हम कुछ पत्रकार वैसा प्रयत्न अवश्य कर रहे थे। संसद द्वारा जो

बुलेटिन प्रकाशित होता था, उसमें २१ जुलाई से संसद का आपत्कालीन अधिवेशन प्रारंभ होने की घोषणा थी। हमने अपने समाचार में आपत्कालीन शब्द का प्रयोग किया और बुलेटिन में दी हुई जानकारी के अनुसार यह भी लिखा कि इस अधिवेशन में प्रश्नोत्तरों का घंटा नहीं होगा। केवल सरकारी कामकाज होगा। पर पत्र सूचना विभाग के सैंसर के अधिकारी इस समाचार के प्रकाशन की भी छूट देने को तैयार नहीं थे। उनका कहना था कि हमें क्या पता कि ऐसा कोई बुलेटिन निकला भी है। हमने उन्हें बहुत समझाया और उन्हीं के सामने संसदीय मामलों के मंत्री श्री रघुरमैया को टेलीफोन लगाया। श्री रघुरमैया ने यह तो स्वीकार किया कि इस प्रकार का बुलेटिन निकला है। पर उन्होंने कहा, मैं यह नहीं बता सकता कि वह प्रकाशित किया जा सकता है या नहीं। वह दिन शुक्रवार का था। दूसरे दिन था शनिवार और किसी कारणवश छुट्टी थी और फिर था इतवार। सूचना अधिकारियों ने यह भूमिका अपनायी कि वह समाचार प्रकाशित किया जा सकता है या नहीं, यह सोमवार को बतायेंगे। समाचार के लिए समय का महत्व होता है यह बार—बार बताने पर भी उसका कोई उपयोग नहीं हुआ।

पर दूसरे दिन सुबह स्टेट्समैन में लगभग वैसा ही समाचार प्रकाशित हुआ, जैसा हमने लिखा था। यह कैसे हो सका, इस बारे में पूछताछ करने पर पता चला कि स्टेट्समैन के संवाददाता ने मंत्री श्री विद्याचरण शुक्ल को ही समाचार दिखाकर प्रकाशन की अनुमति ले ली थी। सोमवार को हमारे समाचार को भी अनुमति मिल गई थी। पर 'महाराष्ट्र टाइम्स' के संपादक वर्ग में कुछ ऐसा डर समाया था कि वह समाचार भी प्रकाशित नहीं हुआ। बाद में एक दिन अचानक मेरा लोकसभा का कार्ड रद्द हो गया। उसका एक अलग इतिहास है। पर संपादक वर्ग में इतना आतंक फैला था कि सेंसर द्वारा स्वीकृत मेरा कोई भी राजनीतिक समाचार प्रकाशित हुआ हो यह उसके बाद मैंने नहीं देखा। कुछ दिन तक समाचार प्रकाशित हुआ हो यह उसके बाद मैंने नहीं देखा। कुछ दिन तक समाचार भेजने का क्रम मैंने जारी रखा। पर वे प्रकाशित न किए जाने का अलिखित नियम सा दिखाई देने पर मैंने वह भेजना भी बंद कर दिया। हम लोग किस प्रकार से समाचार लिख रहे थे इसका एक नमूना। आपत्काल के विरूद्ध सत्याग्रह शुरू हो गया था। हमने समाचार लिखा, आज सत्याग्रह का दिल्ली में जो प्रयत्न हुआ, उसे जनता ने कोई सहयोग नहीं दिया। अमुक—अमुक स्थान पर केवल पच्चीस लोगों ने सत्याग्रह कर अपनी गिरफ्तारी करवायी। इस प्रकार का समाचार सेंसर में जल्दी पास हो जाता था। हम भी पाठकों को सूचित कर पाते थे कि पच्चीस लोगों ने सत्याग्रह किया है।

आपत्काल में पत्रकारों के साथ किस प्रकार का व्यवहार होता था। इस संबंध में कुछ मजेदार घटनाएं हैं। २१ जुलाई, १९७५ को संसद का आपत्कालीन अधिवेशन शुरू हुआ। तीसरे ही दिन लोकसभा का मेरा प्रेसकार्ड रद्द कर दिया गया। लोकसभा के जिस अधिकारी ने मुझे बुलाकर कार्ड रद्द करने का आदेश बताया उसे पूछने पर उसने यह भी कहा कि कार्ड रद्द करने का कारण उसे मालूम नहीं है। मुझे केवल आपका कार्ड

रद्द करने का आदेश है। इसमें मजाक की बात यह थी कि "मैं एक भयानक आदमी" होने के कारण संसद के एक सदन लोकसभा का मेरा कार्ड रद्द हो गया। पर संसद के दूसरे सदन राज्यसभा का मेरा कार्ड बना हुआ था। वहां के अधिकारियों को मुझमें कोई भयानक बात नहीं दिखाई दी। बाद में पता चला कि लोकसभा के अधिकारियों ने मेरा राज्यसभा का कार्ड भी रद्द कराने का प्रयत्न किया था। पर उस समय के राज्यसभा के अधिकारियों ने उसे घास नहीं डाली। आगे चलकर भारत सरकार के पत्र सूचना विभाग द्वारा दिया एक्रिडिटेशन भी रद्द हो गया। उस समय श्रमजीवी पत्रकार संघ के अध्यक्ष श्री कोलपे सूचना तथा प्रसारण मंत्री श्री विद्याचरण शुक्ल से मिले थे। उन्होंने उनसे कहा था कि मेरे बारे में की गई कार्रवाई उचित नहीं है। श्री शुक्ल ने उन्हें जो उत्तर दिया वह उसी दिन उन्होंने मुझे बताया था। उसका सारांश यह था कि पत्र सूचना तथा प्रसारण विभाग के पास मेरे विरूद्ध कुछ भी नहीं है। लोकसभा ने कार्रवाई की। अत: उस सदन का सम्मान बनाये रखने के लिए सरकार को भी कार्रवाई करनी पड़ी। श्री कोलपे ने मुझे यह संदेश भी दिया कि यदि लोकसभा ने उसकी कार्रवाई वापस ले ली तो सरकारी कार्रवाही भी लौटा ली जाएगी।

किसी ने अधिकृत रूप से नहीं बताया था। पर मुझे पता चला कि राष्ट्रीय स्वयसेवक संघ के साथ संबंध होने के कारण मेरे खिलाफ कार्रवाई हुई है। यह बात सच थी कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के साथ मेरा संबंध था। पर सन १९५० में दिल्ली आने के बाद संघ के किसी प्रकार के कार्यक्रमों में मैं शामिल नहीं होता था। और यदि यह कारण सच होता तो सभी सरकारी स्तरों पर एक साथ कार्रवाई होनी चाहिए थी। संघ से संबंधित दूसरे पत्रकारों के विरूद्ध भी मेरे साथ ही कार्रवाई होनी चाहिए थी। पर एक्रिडिटेशन रद्द किए जाने के समय तक वह नहीं हुई थी। और उस समय भी संघ से संबंधित पत्रकारों के साथ और भी कई पत्रकारों का एक्रिडिटेशन रद्द कर दिया गया था। मुझे लगा कि कुछ घोटाला अवश्य है। अत: मैंने आपात्काल होते हुए भी यथासंभव संघर्ष करने का निश्चय किया। लोकसभा के सेक्रेटरी जनरल श्री शकधर से मैं मिला। उन्होंने ही मुझे सर्वप्रथम अधिकृत रूप से बताया कि मेरे संबंध में पुलिस की रिपोर्ट थी, मैं संघ का क्रियाशील कार्यकर्ता हूं। मैंने अपनी भूमिका स्पष्ट की। १९५० तक मैं क्रियाशील कार्यकर्ता अवश्य था। उसके बाद क्रियाशील संबंध नहीं है। उन्हीं के सुझाव पर पुलिस रिपोर्ट की पुर्नजांच की मैंने मांग की। पुर्नजांच हुई। और आपत्काल में भी लोकसभा का मेरा प्रेस कार्ड मुझे वापस मिला।

मेरा एक्रिडिटेशन वापस करने के लिए मैंने श्री शुक्ल को तो लिखा ही, श्रमजीवी पत्रकार संघ के अध्यक्ष श्री कोलपे ने भी मंत्री को पत्र लिखकर मेरे संबंध में हुई चर्चा का स्मरण दिलाया था। पर मंत्री की ओर से किसी को उत्तर नहीं मिला। इसके विपरीत आगामी अधिवेशन के समय पत्र–सूचना मंत्रालय की ओर से एक अलिखित आदेश मिला जिसमें कहा गया था कि पत्र सूचना विभाग का एक्रिडिटेशन जिसके पास न हो,

उसे लोकसभा का कार्ड न दिया जाए। कार्ड देने से इनकार करते हुए यह बात मुझे लोकसभा के अधिकारियों ने ही बतायी थी। इस सब का परिणाम यह हुआ कि मुझे महाराष्ट्र में कोल्हापुर जाना पड़ा। संपादक से लगभग थोड़ा ही कम वेतन मिलने वाले मुझे जिला संवाददाता का सम्मान मिला। दिल्ली के सामाजिक क्षेत्र में भी मेरी कुछ गतिविधियां थीं। अत: लोकसभा का कार्ड वापस मिलने पर भी एक्रिडिटेशन न मिलने के कारण मुझे दिल्ली छोड़ना पड़ रहा है यह बात मेरे कई सहयोगियों को अच्छी नहीं लगी। उन्होंने इस संबंध में श्री यशवंतराव चव्हाण से जाकर कहा। उन्होंने भी कहा, कम से कम अब तो यह नहीं होना चाहिए। मैं श्री विद्याचरण शुक्ल से पूछताछ करता हूं। इसके बाद श्री यशवंतराव चव्हाण के निजी सचिव श्री डोंगरे ने मुझे बताया था कि श्री शुक्ल उनके मंत्री से मिलने आये थे। श्री चव्हाण ने बताया कि श्री शुक्ल के कथनानुसार मेरा एक्रिडिटेशन वापस किए जाने में केवल पद्धति का ही कुछ सवाल शेष है। पर स्थिति में कोई भी परिवर्तन नहीं हुआ और मुझे कोल्हापुर जाना पड़ा।

इस काल में मैंने श्री विद्याचरण शुक्ल से मिलने का बार–बार प्रयत्न किया। पर उन्होंने मुझे टाला। उनके साथ मेरे पहले से अच्छे संबंध थे। आगे चलकर जनता कार्यकाल में मेरी उनके साथ इस विषय पर बातचीत हुई। उन्होंने कहा, मैं मानता हूं कि आपके साथ उन दिनों अन्याय हुआ था। उन दिनों भी मुझे उसका अनुभव हो रहा था। पर मेरे हाथ में कुछ नहीं था। मेरी बात पर यकीन कीजिए कि आपके बारे में मैंने कार्रवाई की नहीं, मुझे करनी पड़ी। श्री यशवंतराव चव्हाण के साथ उनकी जो बातचीत हुई थी, उसका जब मैंने उल्लेख किया, उन्होंने कहा––वे कहते हैं, इसलिए वह अवश्य हुई होगी। पर मुझे कुछ याद नहीं है। मुझे ऐसा तो कभी नहीं लगा कि श्री शुक्ल सब सच बोल रहे हैं। पर मेरे लिए यह रहस्य नहीं सुलझ सका कि मेरे विरूद्ध कार्रवाई सचमुच किसके कारण हुई। श्री शकधर ने जैसा कहा था वैसी यदि पुलिस रिपोर्ट थी तो फिर से जांच के बाद वह बदली कैसे गई और पुलिस रिपोर्ट के बाद संसद के एक ही सदन ने कैसे कार्रवाई की? मेरी धारणा यह बनी और बाद में भी वह कायम रही कि आपत्काल के कारण प्रशासन में जो अव्यवस्था पैदा हुई थी, उसका लाभ उठाकर मेरे किसी तथाकथित मित्र ने लोकसभा के कागजातों में जाली रिपोर्ट घुसेड़ दी और उस पर बिना अधिक विचार किए कार्रवाई हो गई।

मेरे ही बारे में नहीं, कई पत्रकारों के संबंध में ऐसी ही घटनाएं हुईं। जिस दिन मेरा कार्ड रद्द हुआ, संभवत: उसी दिन श्री कुलदीप नैयर नामक पत्रकार को गिरफ्तार किया गया। उस समय उसका जो कारण ज्ञात हुआ, वह उनके संबंध में एक संदेह मात्र था। एक प्रसिद्ध और पुराने कांग्रेसी नेता श्री भीमसेन सच्चर ने अपने कुछ सहयोगियों के साथ आपत्काल के विरूद्ध एक प्रतिवेदन प्रधानमंत्री को भेजा था। संदेह यह था कि यह प्रतिवेदन श्री कुलदीप नैयर ने तैयार किया है। श्री कुलदीप नैयर श्री भीमसेन सच्चर के दामाद थे। यू. एन. आई में काम करने वाले एक वरिष्ठ पत्रकार श्री वी. पी. रामचंद्रन

का तबादला बिहार में रांची जैसे पिछड़े क्षेत्र में कर दिया गया था। उन पर अभियोग यह था कि प्रेस क्लब में बैठकर शराब के दौर के बीच उन्होंने एक अंग्रेज पत्रकार को उस घटना का विवरण दिया था जिसमें श्रीमती गांधी और उनके पुत्र श्री संजय गांधी के बीच काफी कहासुनी हो गई थी। उस समय फैले समाचार के अनुसार यह समाचार एक ब्रिटिश समाचारपत्र में छपा था और उसी की खोज में श्री रामचंद्रन तक सुराग पहुंचा था। उसी प्रकार प्रेस ट्रस्ट से श्री ए. राघवन नामक वरिष्ठ पत्रकार को भुवनेश्वर (उड़ीसा) जाने का आदेश दिया गया। इनमें से श्री रामचंद्रन श्रीमती गांधी विरोधी नहीं थे। बल्कि उनके समर्थक थे। श्री राघवन समर्थक भी नहीं थे और विरोधी भी नहीं थे। पर स्वभाव उनका मुंहफट था। अमेरिका से प्रकाशित होने वाले न्यूजवीक में आपात्काल के विरूद्ध कुछ समाचार प्रकाशित हुआ। अत: न्यूजविक के भारत में संवाददाता श्री रामानुजम का एक्रिडिटेशन तो रद्द किया ही गया, उन्हें आदेश दिया गया कि पत्रकार के नाते उन्हें जो सरकारी घर दिया गया है वह तुरंत खाली किया जाय। पर न्यूजवीक के व्यवस्थापकों ने यह लिखकर भेजा कि उस समाचार के साथ श्री रामानुजम को कोई संबंध नहीं है। तब जाकर वह कार्रवाई कुछ समय के लिए रूक गई।

उन दिनों बड़े—बड़े लोगों में भय और आंतक का जो वातावरण फैला था उसके नमूने के तौर पर मेरे कुछ अनुभव बता सकता हूं। 'महाराष्ट्र टाइम्स' के संपादक श्री गोविंदराव तलवलकर उन दिनों निडर पत्रकार के रूप में बहुत प्रसिद्ध थे। उनके निडरपन की तुलना पुरानी पीढ़ी के पत्रकार लोकमान्य तिलक और श्री आगरकर के साथ की जाने लगी थी। मेरा लोकसभा का कार्ड रद्द होने के बाद उसी दिन हो या दूसरे दिन हो, वे दिल्ली आये थे और मेरी उनकी भेंट हुई थी। मैंने उन्हें घटना का सारा विवरण दिया और अनुरोध किया कि पत्र के संपादक के नाते वे लोकसभा के अध्यक्ष को पत्र लिखकर एक बात पूछें। 'महाराष्ट्र टाइम्स' के संवाददाता ने कौन—सा अपराध किया है जिस कारण उसका प्रेस कार्ड रद्द कर दिया गया है। उन्होंने पत्र लिखने से इनकार तो नहीं किया पर कारण कुछ भी हो, यह स्पष्टीकरण पूछने का उन्हें साहस नहीं हुआ। बल्कि उन्होंने ही मुझे सुझाव दिया कि गिरफ्तारी टालने के लिए मैं कुछ दिन के लिए दिल्ली छोड़ दूं। पर मैंने कहा गिरफ्तारी टालने के लिए दिल्ली छोड़ने में कोई तुक नहीं है। गिरफ्तारी होनी हो तो वह कही भी जाने पर होगी। मुझे ऐसा नहीं लगता कि देश की पुलिस मशीनरी इतनी अक्षम है कि उसे मेरे बाहर जाने के बाद पता ही न लगे कि मैं कहा हूं?

पर यह भय और आतंक का वातावरण नौकरी करने के लिए पत्रकारिता का पेशा अपनाने वाले श्री तलवलकर जैसे लोगों के मन पर ही नहीं छाया था। राजनीतिक नेताओं में तो वह उससे भी अधिक था। मेरा एक्रिटिटेशन रद्द होने के बाद मैंने कानून की चौखट में रहकर संघर्ष करने का निश्चय किया था। अत: अनुरोध और आवेदन पत्रों का ही रास्ता खुला था। लोकसभा के सेक्रेटरी जनरल श्री शकधर को मैंने दो पत्र लिखे। दूसरा पत्र तो उनके कथनानुसार ही लिखा था। उसी प्रकार का एक पत्र प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा

गांधी को भी लिखा था। इस पत्र का मसौदा प्रधानमंत्री के प्रेस सलाहकार श्री शारदा प्रसाद की सलाह के अनुसार ही तैयार किया था। इस पत्र में एक ही वाक्य अधिक था। आपकी कुछ जिम्मेदारी की दृष्टि से मेरे द्वारा प्रस्तुत विषय बहुत ही मामूली है पर यह सब आपकी सरकार के नाम पर हो रहा है अत: अनुरोध है कि इस विषय की जांच किसी वरिष्ठ अधिकारी द्वारा करायी जाए। मैंने इस पत्र की प्रतिलिपियां कराई और उन्हें महाराष्ट्र के उन चार मंत्रियों के पास भेजा जो केन्द्र में थे। साथ में दो पंक्तियों का एक छोटा—सा पत्र मराठी में लिखा। उसमें कहा, साथ में जो पत्र है, उनसे सारी स्थिति बिलकुल स्पष्ट हो जाती है। मेरा दिल्ली का जीवन आपको पूरी तरह ज्ञात है। उचित और संभव हो तो आपकी मेरे बारे में जो राय हो, उसे प्रधानमंत्री को सूचित करें। वह संभव न हो तो मुझे इतने में ही संतोष हो जायेगा कि आप साथ के पत्र कम से कम पढ़ लें। ये पत्र देने के लिए मैंने किसी मंत्री से स्वयं भेंट नहीं की। हरेक के निवास स्थान पर जाकर पत्र दे आया था। जिस दिन पत्र दिये, संभवत: उसी दिन शाम को श्री वी. एन.गाडगिल मुझे नूतन मराठी विद्यालय के प्रांगण में मिले। वे उस समय रक्षा मंत्रालय में राज्यमंत्री थे। मैंने उन्हें कुछ पूछा नहीं और उन्होंने स्वयं होकर कुछ कहा नहीं।

पर मेरे मित्र श्री सी. जी. वालिंबे से नहीं रहा गया। उन्होंने पूछ ही लिया। आपको क्या इंदूरकर जी के पत्र मिले? श्री गाडगिल ने हां करने के लिए इस प्रकार चेहरा बनाकर सिर हिलाया कि शायद उन पर कोई बहुत बड़ी आफत आयी हो। उस काल के दूसरे राज्यमंत्री थे श्री अण्णसाहब शिंदे। पत्र देने के बाद मेरी उनसे कई बार मुलाकात हुई। पर उन्होंने उन पत्रों की बात कभी नहीं निकाली। पर उन्होंने एक अलग ढंग से सूचित कर दिया कि उनका मेरी ओर सहानुभूतिपूर्ण झुकाव है। दिल्ली के 'कामानी आडिटोरियम' में कुछ समारोह था। उसमें वे भी आये थे। उन्होंने मुझे पास बुलाया। पहले कुछ इधर—उधर की बात की। फिर जैसे सहज में ही स्मरण हो आया हो, इस प्रकार उन्होंने कहा, गाविंदराव (महाराष्ट्र टाइम्स के संपादक) कह रहे थे कि श्री शारदाप्रसाद के (प्रधानमंत्री के पत्र सलाहकार) अनुसार श्री इंदूरकर जी पर बहुत बड़ा अन्याय हुआ है। विधि मंत्री श्री एच. आर. गोखले के साथ मेरी बार—बार भेंट होती थी। वे पहले कई बार यह भी बताया करते थे कि कांग्रेस अध्यक्ष श्री देवकांत बरुआ का रात में टेलीफोन आने से संविधान संशोधन विधेयक में किस प्रकार अदल—बदल करने पड़ते थे। पर मेरे पत्र का उल्लेख उन्होंने कभी नहीं किया। श्री यशवंतराव चव्हाण के साथ भेंट तो बराबर होती थी। पर बहुत दिनों तक उन्होंने मेरे पत्र का कोई उल्लेख भी नहीं किया। १९७६ में दिल्ली में महाराष्ट्र नाट्य परिषद होने वाली थी। उसके संदर्भ में मैं और श्री वालिंबे उनसे मिलने गए। वे उस समय विदेश मंत्री थे। विषय से संबंधित बात पूरी होने के बाद हम वापस लौटने लगे। श्री यशवंतराव चव्हाण दरवाजे तक पहुंचाने आये। बिलकुल दरवाजे पर आने के बाद उन्होंने कहा, इंदूरकर जी आपका पत्र मिला था। पर मैंने कुछ किया नहीं। क्योंकि मेरे कुछ करने का कोई उपयोग नहीं था। उनकी आवाज में परले सिरे की लाचारी प्रगट हो रही थी। मुझे भी बहुत बुरा लगा। पर वह उन्होंने कुछ नहीं किया, इसलिए नहीं।

अपितु वह इसलिए लगा था कि महाराष्ट्र का एक प्रमुख नेता अपने आपको लाचार महसूस कर रहा है। जब 'महाराष्ट्र टाइम्स' की ओर से यह निर्णय हुआ कि मुझे कोल्हापुर जाना ही होगा, मेरे मन में त्यागपत्र देकर नौकरी छोड़ देने का भी विचार आया था। इस संबंध में मैंने एक बार श्री चव्हाण से सहज में ही चर्चा की। उन्होंने कहा, ऐसा कुछ न कीजिए। ये लोग बहुत बुरे हैं। इन लोगों ने यदि आपके बारे में कुछ सोच रखा होगा तो नौकरी छोड़ने पर भी वे आपको यहां सुखचैन से नहीं बैठने देंगे। उनकी इस सलाह के कारण और कुछ दूसरे कारणों से भी मैंने अंत में कोल्हापुर जाने का निर्णय किया।

आपत्काल में कुछ ऐसी अनुभूतियां हुईं, जिनके कारण मन खेद से भर गया। पर मेरे मन का बल बढ़ाने वाली भी कुछ घटनाएं हुईं। आपात्काल के कुछ पहले १९७४ की बात है। ज्ञानपीठ पुरस्कार ग्रहण करने के लिए मराठी के प्रसिद्ध लेखक स्वर्गीय श्री वि. स. खांडेकर दिल्ली आये थे। उसके "ययाति" नामक उपन्यास पर उन्हें यह पुरस्कार मिला था। विज्ञान भवन में समारोह होने पर हम कुछ पत्रकार उन्हें वहीं मिले। उन्हें उस समय दिखाई बिल्कुल नहीं देता था। मैंने अपना परिचय देते ही उन्होंने बहुत ही खुशी के साथ मेरे दोनों हाथ पकड़े और कहा, इंदूरकर जी। आप मिले, बहुत ही अच्छा लगा। आपका लिखा हुआ सब मैं पढ़वा लेता था। आप बहुत ही अच्छा लिखते हैं। उस समय की स्थिति के कारण मन पर जो तनाव था वह एकदम कम हो गया और खुशी में फूलकर कुछ कुप्पा हो गया। उसके बाद वे तीन—चार दिन दिल्ली में थे। मैं उनसे कभी अकेला, कभी कुछ पत्रकार मित्रों के साथ कई बार मिला। एक बार बातचीत के बीच सहज ही मेरे मुंह से निकला अब स्वतंत्रता के साथ विचार प्रस्तुत करना भी कठिन हो रहा है। उस समय श्री खांडेकर जी ने, जिन्हें सब भाऊसाहब कहा करते थे, जो उत्तर दिया वह हमेशा के लिए मन पर अंकित हो गया। उन्होंने कहा, इस संसार में कुछ भी मुफ्त में नहीं मिलता। स्वतंत्र विचार प्रस्तुत करते हो तो उसका मूल्य चुकाने के लिए भी तैयार रहना पड़ेगा।

मुझे कभी भी ऐसा नहीं लगा कि श्री खांडेकर जी ने मेरे लेखन के संबंध में जो विचार प्रस्तुत किए, उसमें कोई मुंह देखी बात थी। क्योंकि मेरे संबंध में मुंहदेखी बात कहने की उन्हें आवश्यकता ही क्या थी? वे जनसाधारण के भी अत: करण को छूने वाले सफलता के शिखर पर विराजमान, मराठी साहित्य के लेखक और मैं एक मामूली सा पत्रकार। उन्होंने उस समय जो कुछ कहा था वह खुले मन से कहा था और उसकी सचाई मैं कोल्हापुर जाने पर परख सका। १९७७ के आमचुनाव के निमित्त मैं कोल्हापुर जिले में काफी घूमा। छोटे—मोटे देहातों में भी गया था। जिनका पहले कोई परिचय नहीं था, उनमें भी मेरे संबंध में बहुत ही अधिक आत्मीयता दिखाई दी। लोग कहते थे, इंदूरकर जी! दिल्ली से आप जो लिखते थे, वह बहुत ही ठीक था। मैंने वास्तव में इस बात पर गर्व का अनुभव किया कि मैं केवल अपनी लेखनी से पाठकों के मन में अपने विषय में आत्मीयता पैदा कर पाया हूं। १९७७ में जब मैंने समय से पहले अवकाश ग्रहण करने

का निर्णय किया, उस समय बिदाई का जो पत्र मैंने 'महाराष्ट्र टाइम्स' के संपादक श्री गोविंदराव तलवलकर को लिखा उसमें अपनी यह भावना व्यक्त की थी। मैंने उनका इस बात के लिए खुले दिल से आभार प्रकट किया कि उन्होंने मुझे कोल्हापुर भेजकर प्रत्यक्ष में यह जानने का अवसर दिया कि पाठकों की मेरे संबंध में क्या भावनाएं हैं।

आपत्काल में जब मैं दिल्ली में था, मेरे सामने हमेशा एक सवाल खड़ा होता था। जिन्हें लोकतंत्रीय भवन का एक महत्वपूर्ण स्तंभ माना जाता है, उस समाचारपत्र जगत को और पत्रकारों को क्या हुआ है। वे सांप काटे से क्यों बैठे हैं। वे सब कुछ चुपचाप सहन क्यों कर रहे हैं। कुछ अपवाद को छोड़कर अधिकांश पत्रकारों की हालत भीगी बिल्ली की तरह क्यों हो गई है? इस बात—विचार करते समय पत्रकारों के जीवन में आये एक परिवर्तन की ओर ध्यान गया। वह परिवर्तन यह था कि पिछले पच्चीस वर्षों में पत्रकारों का जो आंदोलन हुआ, उससे पत्रकारों की आर्थिक स्थिति में काफी सुधार हुआ। उनका जीवन स्तर ऊंचा हुआ। पर इसका एक परिणाम और हुआ। पत्रकार पेटभरू मजदूर अधिक बन गया। लोकतंत्र के स्तंभ के रूप में बने रहने के लिए जो शक्ति आवश्यक होती है, वह उसमें नहीं रही। दिल्ली में हिंदी और अंग्रेजी के लेखकों और पत्रकारों से ही मेरा संबंध आता था। उनके व्यवहार से लगता था कि उनकी जीवन शक्ति समाप्त हो चुकी है। इसी बीच पढ़ा कि कराड (महाराष्ट्र) में मराठी साहित्य सम्मेलन का अधिवेशन हो रहा है। मन में यह जानने की बड़ी ही इच्छा हुई कि जिस महाराष्ट्र में ब्रिटिश शासनकाल में भी 'स्वराज मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है', ऐसा डंके की चोट पर कहने वाले लोकमान्य तिलक पैदा हुए थे, उस महाराष्ट्र में भी वह शक्ति क्या थोड़ी—बहुत बची है? मैंने मराठी साहित्य सम्मेलन के लिए कराड जाने का निश्चिय किया। कराड के रहने वाले श्री यशवंतराव चव्हाण स्वागताध्यक्ष थे और प्रसिद्ध साहित्यकार श्रीमती दुर्गा भागवत सम्मेलन की अध्यक्ष । इसके पहले मैंने केवल दिल्ली में हुआ मराठी साहित्य सम्मेलन देखा था। उस समय उसका उद्घाटन पं. जवाहरलाल नेहरू ने किया था।

मुझे सचमुच इस बात पर संतोष हुआ कि मैंने सम्मेलन में आने का निश्चय किया। निर्भीकता का नंदादीप (अक्षय दीप) अभी भी महाराष्ट्र में कहीं—कहीं जल रहा है, यह देखकर आंखों का जीवन सफल हो गया। इसी अवसर पर मुझे दूरदर्शन पर आने का प्रथम और अन्तिम अवसर मिला। मैं दिल्ली से गया था। अत: बम्बई के दूरदर्शन अधिकारियों ने मेरी एक छोटी—सी भेंट आयोजित की। मुझसे सम्मेलन के संबंध में प्रतिक्रिया पूछी गई। मैंने कहा सम्मेलन में दिखाई पड़ी बहुत सी बातों का मुझ पर असर पड़ा है। उत्तर भारत में यह बहुत कम दिखाई देता है कि साहित्यिक कार्यक्रमों के लिए हजारों की संख्या में लोग उपस्थित रहे। उत्तर भारत में जो निर्भीकता का जीवन आजकल नहीं दिखाई दे रहा है वह क्या महाराष्ट्र में बचा है यह देखने के लिए ही मैं आया था। मुझे यह देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई कि वह महाराष्ट्र में कुछ शेष है। बम्बई के मित्रों ने मुझे बताया कि मेरी यह भेंटवार्ता बम्बई दूरदर्शन पर प्रसारित हुई थी। पर उनमें से कोई

भी यह नहीं बता सका कि निर्भीकता के संबंध में मैंने जो वाक्य कहा था, वह उसमें था या नहीं।

इस सम्मेलन में मुझे जिस बात का विशेष अनुभव हुआ वह यह था कि सम्मेलन की अध्यक्ष श्रीमती दुर्गा भागवत बार–बार इस बात पर बल दे रही थीं कि लेखक की विचार स्वाधीनता पर प्रतिबंध नहीं लगाया जा सकता। इस रूप में उन्होंने आपत्काल में विचार स्वाधीनता पर आये बंधनों के विरूद्ध तीखी भूमिका तो अपनायी ही, उन्होंने एक अलग संदर्भ में श्री जयप्रकाश नारायण के स्वास्थ्य का प्रश्न उठाकर उनके स्वास्थ्य लाभ के हेतु प्रार्थना करने के लिए उन्होंने सभागृह में उपस्थित लोगों को खड़े रहने के लिए भी कहा। इस समय श्री यशवंत राव चव्हाण को इच्छा न होने पर भी खड़ा होना पड़ा । उस समय उनका मुंह देखने लायक था। अपना क्रोध दबाकर रखने के लिए वे उस ताकिए को जोर–जोर से बार–बार दबा रहे थे। जिस पर वे बैठे थे। यह संभवत: फोटोग्राफरों की नजर में नहीं आ पाया। दूसरे दिन उन्होंने बताया कि श्री जयप्रकाश नारायण के स्वास्थ्य का प्रश्न था इसलिए वे कल खड़े हुए थे। उन्होंने यह भी बताया कि श्रीमती गांधी भी श्री जयप्रकाश नारायण का स्वास्थ्य लाभ ही चाहती हैं। इसी संदर्भ में उन्होंने यह बताने का भी प्रयत्न किया कि श्रीमती गांधी ने जो भूमिका अपनायी है वह किस प्रकार ठीक है। उनकी बात के समर्थन में पंडाल में उपस्थित पच्चीस–पचास लोगों ने तालियां बजायी। पर आठ–दस हजार की उपस्थिति में पच्चीस–पचास लोगों द्वारा बजायी गई तालियों की आवाज उस समय कैसी लगी थी इसका स्मरण आते ही आज भी हंसी आती है।

मराठी साहित्य सम्मेलन के मंच पर श्रीमती दुर्गा भागवत, श्री पु. ल. देशपांडे, श्री लक्ष्मण शास्त्री जोशी जैसे लोग विचार स्वाधीनता पर प्रतिबंध आने के कारण कम–अधिक मात्रा में आपात्काल के संबंध में खेद व्यक्त कर रहे थे। श्री विं. दा. करंदीकर, श्री मंगेश पाडगावकर जैसे कवि अपनी कविता के माध्यम से यह बताने में नहीं हिचकिचा रहे थे कि आपत्काल के कारण लोगों की भावनाएं क्या बनी हैं। श्री मंगेश पाडगांवकर की कविता का कुछ अंश आज भी स्मरण आता है। वह इस आशय की थी– "चूतड़ पर हाथ रख, मैं करता हूं सलाम। मंत्री को सलाम, संत्री को सलाम, भय पैदा करने वाली हर वस्तु को सलाम। पर जिन दिनों महाराष्ट्र में यह सम्मेलन हो रहा था और उसमें जनता की भावनाएं व्यक्त हो रही थी, उन्हीं दिनों उत्तर भारत की प्रातिनिधिक हिंदी संस्था, 'हिंदी साहित्य सम्मेलन', आपात्काल की सूत्रधार श्रीमती इंदिरा गांधी को 'साहित्य वाचस्पति' की उपाधि से सम्मानित करने के समारोह में व्यस्त थी। मुझे इस बात पर सचमुच बहुत दुख हुआ था कि राष्ट्र की भाषा कहलाने वाली भाषा के लेखक राष्ट्र की भावना को तो व्यक्त करते ही नहीं, अपने निजी स्वार्थ के लिए विचार स्वाधीनता को पिंजड़े में जकड़ने वाली व्यक्ति का सम्मान करने के लिए समारोह करते हैं।

मैं जिस दिन कोल्हापुर पहुंचा उसी के दूसरे दिन सुबह रेडियो पर समाचार सुना कि श्री वि. स. खांडेकर की मृत्यु हो गई। मन बहुत ही छटपटाया। पर उससे काम नहीं

चलने वाला था। पेशा पत्रकार का होने के कारण तुरंत काम पर जुट जाना आवश्यक था। श्री खांडेकर कोल्हापुर में ही रहते थे। उनकी मृत्यु मिरज के अस्पताल में हुई थी, पर आगे का अंत्यसंस्कार कोल्हापुर में पंचगंगा नदी के किनारे ही होना था। उनकी अंतिम यात्रा श्री खांडेकर जी के राजारामपुरी के मकान से निकलने वाली थी। मुझे तो कोल्हापुर में कुछ भी जानकारी नहीं थी। प्रारंभिक पूछताछ कर मैं राजारामपुरी की पांचवीं गली में नंदादीप बंगले पर पहुंचा। बंगले का सच्चा नंदादीप हमेशा के लिए बुझ जाने के कारण वहां का वातावरण बहुत ही उदास प्रतीत हो रहा था। श्री खांडेकर जी का पार्थिव शरीर मिरज से आना था। उनके चाहने वालों की भीड़ बढ़ती जा रही थी। कुछ देर के बाद उनका पार्थिव शरीर आया और उनके अंतिम दर्शन के लिए लगभग पूरा कोल्हापुर उमड़ पड़ा था। अंतिम यात्रा शुरू हुई और शाम तक पंचगंगा के किनारे सारी क्रिया पूरी हो गई और उनका शरीर पंचतत्व में विलीन हो गया। श्मशान पर श्री खांडेकर जी की प्रशंसा में जब लम्बे–लम्बे और उबकाई लाने वाले भाषण होने लगे मुझे तो ऐसा लगा कि श्री भाऊसाहब की आत्मा भी यदि वहां कही हो तो वह भी उब गई होगी। केवल श्री रणजीत देसाई (प्रसिद्ध लेखक) के चार वाक्य ऐसे थे जो आंतरिक भावनाओं से भरे थे और अत: करण को स्पर्श करने वाले थे।

जिस समय मेरा कोल्हापुर जाने का निश्चय हुआ उस समय और कुछ भी हो, एक बात का मन में संतोष था। दिल्ली में जिनसे दो–बार बातें होने के कारण मेरा मानसिक बल बढ़ा था, वे भाऊसाहब कोल्हापुर में ही रहते थे। मन में इस प्रकार की आशा भी जाग गई थी कि बीच–बीच में उनसे बातचीत करने का अवसर मिलता रहेगा। पर मेरा कोल्हापुर पहुंचना और श्री भाऊसाहब की मृत्यु लगभग एक ही दिन के अंतर से हुई। मुझे लगा कि यह मेरा ही दुर्भाग्य था। पर कहा जाता है कि दुर्भाग्य के साथ सौभाग्य भी राह चलता रहता है। मुझे भी इसका अनुभव मिला। श्री खांडेकर जी की इस अंतिम यात्रा में भी मुझे दो अनमोल मित्र मिले। कोल्हापुर में गर्जना नाम से एक पत्र निकलता था और किसी समय वह बहुत ही प्रसिद्ध था। उसके संपादक थे श्री पाध्ये। उनके पुत्र श्री श्यामकांत पाध्ये एक बार दिल्ली आ गए थे और मुझे पहचानते थे। पर मुझे तो उनकी शक्ल भी याद नहीं थी। उन्होंने ही मुझे पहचाना और कोल्हापुर में मेरे जैसे बहुत ही नये व्यक्ति को रहने के लिए घर की व्यवस्था करने से लेकर आवश्यक सामान आदि जुटाने तक हर प्रकार की सहायता की।

इसी यात्रा में मेरी भेंट डॉ. सुधाकर पवार नामक पत्रकार से हुई। मेरी लेखनी के कारण वे मुझे पहचानते थे। पर वैसे प्रत्यक्ष में कभी नहीं मिले थे। लेखन के कारण मेरे संबंध में उनके मन में जो अपनापन था, उसका ज्ञान मुझे कोल्हापुर पहुंचने के पहले ही हो गया था। 'महाराष्ट्र टाइम्स' के एक मुख्य उपसंपादक के द्वारा उन्होंने मुझे संदेश दिया था कि कोल्हापुर में मैं उन्हीं के घर ठहरू। पर उस समय का वातावरण इतना गंदा था कि श्री पवार के संबंध में भी मेरा मन साफ न होने के कारण उनके घर ठहरने का विचार

मेरे मन में भी नहीं आया था। घर कोल्हापुर में उनके साथ जैसे–जैसे संबंध बढ़ता गया, पवार तथा इंदुरकर परिवार का लगभग एकीकरण हो गया। उस समय श्री पवार कोल्हापुर के शिवाजी विश्वविद्यालय में पत्रकरिता विभाग में प्राध्यापक थे। उनके कारण हमारे इस संयुक्त परिवार में कृषि विद्यापीठ में प्राध्यापक श्री रा. य. पाटिल भी जुड़ गए। श्री पवार आगे चलकर औरंगाबाद के मराठवाड़ा विश्वविद्यालय में पत्रकारिता विभाग में प्रधान बने। श्री पाटिल कोल्हापुर में ही रहे और मैं दिल्ली वापस आया। पर मित्रता के जो संबंध बने थे, वे बराबर बने रहे। हम सभी हमारी इस मित्रता को आपात्काल से हुए लाभ में गिनते हैं।

मैं कोल्हापुर जाने के पूर्व चार सामाचार संस्थाओं को मिलाकर सरकार ने समाचार नामक एक संस्था बना दी थी। इससे पूरा समय काम न करने वाले कई पत्रकारों को पी. टी. आई. तथा यू. एन. आई. की नौकरी से हाथ धोना पड़ा। कोल्हापुर में ऐसा ही अवसर यू. एन. आई. के संवाददाता श्री डी. ए. कुलकर्णी पर आया। उनकी अवस्था साठ के ऊपर हो चुकी थी। वे कोल्हापुर के 'महाराष्ट्र टाइम्स' के भी संवाददाता थे। मुझे कोल्हापुर भेजे जाने के कारण उनका वह काम भी बंद हो गया। मुझे इस बात की पहले विशेष जानकारी नहीं थी। और होती भी तो मैं क्या कर सकता था? मैं अपनी इच्छा से तो कोल्हापुर नहीं गया था। यह तो मेरी जरा भी इच्छा नहीं थी कि मेरे कारण किसी को मिलने वाले चार पैसे कम हों।

एक दिन मैं श्री सुधाकर पवार के साथ कोल्हापुर की प्रसिद्ध देवता महालक्ष्मी के मंदिर में गया था। इस कथन में जरा भी अतिशयोक्ति नहीं होगी कि पवार को विभिन्न मंदिरों में जाकर देवताओं के दर्शन करने का एक चसका सा लगा था। महालक्ष्मी के मंदिर में जिसे युवती ही कहा जा सकेगा, ऐसी एक स्त्री मिली। श्री पवार उन्हें पहचानते थे। उन्होंने सहज में जैसे पूछते हैं, वैसे पूछा। ठीकठाक चल रहा है न? इस पर उस युवती ने बड़े रंज भरे शब्दों में कहा, अब हमारा कैसे ठीक चल सकता है? यू. एन. आई. का काम बंद हो गया था। पर 'महाराष्ट्र टाइम्स' का था। पर वह अब दिल्लीवाला आया है न। उसके कारण अब वह भी गया। वे महिला मुझे नहीं पहचानती थी। इसीलिए वे कह गई। पर मेरे ध्यान में यह तुरंत आ गया कि "दिल्लीवाला" यह उल्लेख मेरे लिए ही था। बाद में श्री पवार ने मुझे बताया कि वह युवती श्री डी. ए. कुलकर्णी की बहू थीं। उस समय यद्यपि मुझे चार आंकड़ों में वेतन मिल रहा था। पर मुझे इसका अनुभव था कि गरीबी क्या होती है। उस महिला की बात सुनकर मेरा अंतः करण भी पिघल गया। मैंने श्री पवार के माध्यम से ही श्री कुलकर्णी को संदेश भिजवाया। मेरे आने के कारण 'महाराष्ट्र टाइम्स' की ओर से आपको मिलने वाली रकम बंद होने का कोई कारण नहीं है। 'महाराष्ट्र टाइम्स' से आपको जो दो–ढाई सौ रुपए मिलते थे, वे मुझसे आगे भी मिलते रहेंगे। आप 'महाराष्ट्र टाइम्स' का जैसे पहले काम करते थे, करते रहिए। केवल व्यवस्था की दृष्टि से एक बात करनी होगी। आपके समाचार मेरे माध्यम से 'महाराष्ट्र

टाइम्स' को भेजने होंगे। बाद में श्री पवार ने मुझे बताया कि श्री कुलकर्णी जी इसके लिए तैयार नहीं हैं। श्री पवार की यह धारणा बनी कि श्री कुलकर्णी की अवस्था मुझसे कुछ अधिक होने के कारण मेरे नियंत्रण में काम करना उन्हें अपमानजनक लगा होगा।

कोल्हापुर में इस बात का भी अनुभव मिला कि आपात्काल में पुलिस का व्यवहार किस प्रकार मूर्खतापूर्ण होता था। एक दिन शाम को महाराष्ट्र सरकार के जिला कार्यालय से मेरे पास एक सूचना आयी। यह कोल्हापुर में सभी पत्रकारों के पास गई थी। उसमें सैंसर की ओर से यह आदेश था कि निपाणी (कोल्हापुर और बेलगांव के बीच का एक बड़ा कसबा) में हुई किसी घटना के संबंध में कोई भी समाचार आये तो उसे न छापा जाए। सूचना में इस बात की कोई चर्चा नहीं थी कि वास्तव में घटना क्या हुई थी। उन दिनों कुछ प्रकाशित होता ही नहीं था। अतः वह कागज अलग रख दिया। पर इस बात का अनुभव हो गया था कि निपाणी में कुछ विशेष घटना हुई है। दूसरे दिन यह पता चला था कि निपाणी में छत्रपति शिवाजी के पुतले पर किसी ने कुछ गंदी चीजें फेंककर उसको अपमानित किया है। अधिकारियों को डर था कि यदि यह समाचार प्रकाशित हुआ तो गड़बड़ी हो जायेगी।

रोज की तरह मैं रात को दस को दस साढ़े दस बजे सो गया। रात में लगभग १२ बजे मेरे घर का दरवाजा बाहर से जोरों के साथ खटखटाने की आवाज आयी। बिजली का बटन दबाने के पहले की मैंने पूछा—कौन है? उत्तर मिला फौजदार। मन में विचार आया कि इतनी रात में फौजदार का मेरे घर क्या काम होगा। इस के साथ यह भी विचार उठा कि जिस सरकारी मशीनरी के दबाव के कारण मुझे दिल्ली छोड़कर कोल्हापुर आना पड़ा उसी मशीनरी ने अब मुझे गिरफ्तार करने का फैसला किया होगा। मैंने दरवाजा खोला और फौजदार ने मेरे हाथ एक लिफाफा दिया। खोलकर देखा तो उसमें उसी आदेश की प्रतिलिपि थी जो शाम को ही मुझे मिल चुका था। मैंने अपनी हंसी दबायी और फौजदार से कहा, यह पत्र तो मुझे शाम को ही मिल चुका है। फौजदार ने चिढ़कर कहा, फिर हमें इतना तंग क्यों किया गया? पिछले एक घंटे से मैं आपको खोज रहा हूं। हमने वायरलेस पर कार्यालय को सूचित किया कि आपका घर नहीं मिल रहा है। उस पर हमें यह बताया गया कि आप राजारामपुरी की छठवीं गली में ही रहते हैं। और यह आदेश आपको तुरंत दिया ही जाना चाहिए। आपके घर पर नाम का बोर्ड न होने के कारण हमने छठी गली में हर घर में पूछताछ की है और अब आखिर में आप तक पहुंचे हैं। फौजदार जाने के बाद मैं सो गया। पर दूसरे दिन सुबह छठी गली के लगभग सभी लोग आये और पूछने लगे कि फौजदार किस लिए आया था? फौजदार ने लगभग प्रत्येक को नींद में जगाया था।

मुझे कोल्हापुर जाना पड़ा था वह हालात से मजबूर होकर। पर मुझे अपनापन बहुत मिला। मैं वहां की रोटरी क्लब का सदस्य तो नहीं बना था। पर मुझे उसकी साप्ताहिक बैठकों में उपस्थित रहने के लिए आग्रह किया गया। कार्यक्रम वहां के 'पर्ल

होटल' में होता था। एक–दो बार रोटरी क्लब में मेरा भाषण भी हुआ। वहां के एक आयोजन में यह अनुभव भी मिला कि वहां के कांग्रेस कार्यकर्ता किस स्तर तक पहुंच रहे हैं। कोल्हापुर में मेरा निवास बहुत ही थोड़े दिन था। कुल मिलाकर मैं वहां नौ महीने रहा था। उसमें भी दो–तीन बार दिल्ली आ गया था। चुनाव की घोषणा हो चुकी थी। उम्मीदवार भी निश्चित हो गए थे। कोल्हापुर से कांग्रेस के उम्मीदवार श्री जी. आर. माने थे और विपक्षी दलों की ओर से किसान मजदूर पार्टी के श्री दाजीबा देसाई को खड़ा किया गया था। रोटरी क्लब ने उम्मीदवारों का "आमन–सामने" कार्यक्रम आयोजित किया था। दोनों उम्मीदवारों को अपने–अपने विचार प्रस्तुत करने के लिए बुलाया गया। पर उस समय कांग्रेस की ओर से यह नीति निश्चित की गई थी कि वह आमने–सामने की चर्चा में उपस्थित नहीं होंगे।

अत: निश्चय हुआ कि एक के जाने के बाद दूसरा अपना विचार प्रस्तुत करे। इस आयोजन के दो–चार दिन पहले किसान मजदूर पार्टी का चुनाव चिन्ह गांवों में चलने वाली "गाड़ी" जलायी जाने की घटना हो चुकी थी। आयोजन शुरू होने पर श्री दाजीबा देसाई का भाषण हुआ। उन्होंने उस समय के हालात बताये। वे जाने के बाद कांग्रेस की ओर से पंचगंगा सहकारी चीनी मिल के श्री दिनकरराव मुद्राले बोलने खड़े हुए। कुछ सदस्यों ने इस पर आपत्ति भी की कि हम यहां उम्मीदवार के विचार सुनने आये हैं। दूसरों के नहीं। पर रोटरी क्लब के अध्यक्ष डॉ. गुंडे द्वारा बहुत कुछ समझाने के बाद लोग भाषण सुनने तैयार हुए और उनका भाषण हुआ।

इस कार्यक्रम के बाद हम कुछ लोग होटल के बाहर खड़े कुछ बातें कर रहे थे। उस समय कोल्हापुर शहर कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष श्री दादासाहब चव्हाण नामक सज्जन थे। बातचीत के बीच उन्होंने शिकायत की कि समाचारपत्र कांग्रेस की सहायता नहीं करते। मैंने इस पर पूछा, कोल्हापुर से सात दैनिक निकलते हैं। बताइये, इनमें से क्या एक भी कांग्रेस विरोधी है? सभी पत्र कांग्रेस समर्थक थे। सचाई बहुत ही कड़वी होती है। मेरी बात पर वे बिगड़ उठे। उन्होंने कहा, हम उनकी कीमत चुकाते हैं। इसीलिए वे हमारे पक्ष में लिखते हैं। कल यदि आपकी कीमत चुकायी तो आप भी वही करेंगे। मैं यह सिद्धांत जानता हूं कि पत्रकार को किसी हालत में क्रोध में नहीं आना चाहिए। फिर भी उस समय मुझे क्रोध आया और मैंने कहा कि मेरी कीमत चुकाने के लिए स्वर्ग से ही किसी को आना पड़ेगा।

इस पर श्री दादासाहब चव्हाण और भी बिगड़ उठे। सामने ही मेरी गाड़ी खड़ी थी। उन्होंने उस ओर हाथ दिखाकर कहा, देखिये। जैसे हमने उनकी गाड़ी जला दी, वैसे ही आपकी भी यह गाड़ी जला देंगे। मुझे ही नहीं, वहां उपस्थित और लोगों को भी लगा कि ये अपनी बात पर अमल करने में बहुत आगे–पीछे नहीं देखेंगे। क्योंकि किसान मजदूर पार्टी की गाड़ी जलायी जाने की घटना हाल ही में हो चुकी थी। सबने मिलकर उस समय की चर्चा का विषय बदल दिया। इसके बाद कांग्रेस के चुनाव प्रचार के लिए श्री यशवंतराव

चव्हाण कोल्हापुर आये थे। उन्होंने अपने भाषण में एक ही बात पर बल दिया था। क्या आप गुंड़ों के हाथ में राज देंगे। मैं जब वह भाषण सुन रहा था, मेरे मन में सवाल उठा था। गुंड़ा किसे कहा जाए—एक गाड़ी जलाकर दूसरी गाड़ी जलाने की धमकी देने वाले को अथवा वैसा कुछ न करने वाले को।

आमचुनाव की घोषणा होने की बात जिस दिन मुझे कोल्हापुर में ज्ञात हुई, मैंने अपने मन से दो बातें निश्चित की थी। मेरा वोट दिल्ली में था। अत: इस चुनाव में वोट देने के लिए दिल्ली जाना है। यह पहली बात थी। दूसरी बात यह थी कि बदलते हुए हालात में यदि 'महाराष्ट्र टाइम्स' ने वापस दिल्ली नहीं भेजा तो समय से पहले नौकरी से अवकाश ग्रहण किया जाए। मतदान के लिए हम दोनों पति—पत्नी कोल्हापुर से दिल्ली आये। इसमें मेरी भूमिका केवल लोकतंत्र पर विश्वास प्रगट करने की थी। पढ़ा—लिखा वर्ग आमतौर पर मतदान में उदासीन होता है। वह जिसे चाहता है कि वह चुनकर न आये, उसे चुनवाने में यह उदासीनता सहायक हो जाती है। उस समय यह भी विचार था कि हमारे दो मतों से क्या फर्क हो जाएगा। उस समय ऐसा लगा था कि जिस वातावरण में चुनाव हो रहा है उसमें एक—दो वोट चुनाव का परिणाम बदलने में सहायक हो सकते है। अत: मतदान के लिए अपने खर्च पर कोल्हापुर से दिल्ली आने का निर्णय किया था। अवकाश ग्रहण करने के निर्णय का कारण एक ही था। कोल्हापुर में मुझे दूसरी कोई कठिनाई नहीं थी। पर वहां कुछ काम ही नहीं था। अत: वहां रहने की इच्छा नहीं थी। वहां मेरा दम घुट रहा था।

मैं जब कोल्हापुर में ही था, मैंने समाचार पढ़ा था कि जगजीवन राम ने कांग्रेस छोड़कर श्रीमती गांधी के विरूद्ध भूमिका अपनायी हैं। मुझे इस पर बहुत ही आश्चर्य हुआ। लगातार कई वर्षों के अनुभव के कारण श्री जगजीवन राम की जो प्रतिमा मेरे मन में बनी थी उसके साथ उनकी यह बात मेल नहीं खा रही थी। मेरे सामने एक ही सवाल था। ऐसी कौन सी बात हुई जिसके कारण कुर्सी से सदा चिपके रहने वाले श्री जगजीवन राम में कुर्सी छोड़कर खड़े होने की हिम्मत आयी? दिल्ली से आने वाले समाचारपत्रों में मैं इस प्रश्न का उत्तर खोज रहा था। पर किसी भी समाचारपत्र में मुझे वह उत्तर नहीं मिला। उन्हीं दिनों समाजवादी नेता श्री ना. ग. गोरे कोल्हापुर आये थे। मैंने उनसे भी यही सवाल पूछा था। उन्होंने कहा, निश्चित कारण मैं भी नहीं बता सकता।

चुनाव में श्रीमती गांधी और उनके दल की पराजय हुई प्रधानमंत्री पद के लिए श्री जगजीवन राम को जनसंघ और समाजवादी गुट का समर्थन होने पर भी आचार्य कृपालानी ने जो भूमिका बांधी उसी के कारण श्री मोरारजी देसाई प्रधानमंत्री बन सके। मुझे इस पर बहुत ही संतोष हुआ क्योंकि मेरे मन में श्री जगजीवन राम की प्रतिमा केवल मौकापरस्त की थी। श्री मोरारजी देसाई कितने ही हठी क्यों न हो, केवल स्वार्थी और मौकापरस्त नहीं हैं। उनकी कुछ निश्चित आस्थाएं हैं। मुझे उस समय ऐसा लगा कि मौकापरस्त व्यक्ति प्रधानमंत्री नहीं बना, यह देश का सौभाग्य ही था।

दिल्ली लौटने पर श्री जगजीवन राम की बहादुरी का रहस्य खुल गया। कांग्रेस विभाजन के बाद श्री जगजीवन राम ने कहा था कि मैं नामधारी अध्यक्ष नहीं हूं, तब से श्रीमती गांधी का यह प्रयत्न रहा कि उनका महत्व कम किया जाए। १९७७ के चुनाव में कोई बहाना बनाकर श्री जगजीवन राम को उम्मीदवारी का टिकट न देने का, और टिकट दिया तो भी उन्हें अब मंत्री न बनाने का ही श्रीमती गांधी का इरादा था। इस प्रकार की खबर का पता श्री जगजीवन राम को लग गया था। श्री संजय गांधी भी निजी चर्चा में जगजीवन राम के विरूद्ध बहुत बोलते थे। और उन दिनों श्री संजय गांधी के मुंह से निकली बात अंतिम होती थी। मरता क्या न करता, इस कहावत के अनुसार ही श्री जगजीवन राम में वीरता का आवेश आया था।

मैं मतदान के लिए जब दिल्ली आया था, उसी समय 'टाइम्स ऑफ इण्डिया' के दिल्ली के व्यवस्थापक श्री रमेशचंद्र से मिलकर मैंने अपनी बात स्पष्ट कर दी थी। उन्होंने बताया था कि आपके संपादक ही आपके विरूद्ध होने के कारण आपको दिल्ली वापस लाना मेरे अधिकार से परे है। पर अवकाश ग्रहण करना हो तो उसमें कोई कठिनाई नहीं होगी। यदि कोल्हापुर में ही मैंने अवकाश ग्रहण किया होता तो मुझे वहां से दिल्ली आने का सारा खर्च खुद करना पड़ता। अत: मैंने यह विचार रखा कि दिल्ली में अवकाश ग्रहण करने की मुझे सुविधा दी जाए। उनके साथ मेरे संबंध बहुत ही अच्छे थे। उन्होंने कहा। इसमें कोई कठिनाई नहीं होगी। इसी आशय का उन्होंने मुझे एक पत्र भी भेजा। पर प्रत्यक्ष अवकाश ग्रहण करने के समय बम्बई कार्यालय ने कुछ मामलों में तंग करने की नीति अपनायी। और इसके मुख्य कारण थे जनरल मैनेजर श्री राम तर्नेजा। पर इस संबंध में भी समस्या हल करने में श्री रमेशचन्द्र ने ही सहायता की। आगे चलकर श्री अटल बिहारी वायपेयी ने मुझसे कहा, आपने दिल्ली लौटने के लिए अवकाश ग्रहण क्यों किया। आपको दिल्ली लाने के लिए मैंने आपके संपादक से कहा ही था। पर इस पर मैंने उत्तर दिया, आपकी सद्भावना के लिए कृतज्ञ हूं। पर अब मुझे किसी के उपकारों की आवश्यकता नहीं है।

जनता पार्टी क्यों टूटी

१२ जून, १९७७ को मैं फिर से स्थायी रूप से दिल्ली आ गया। उस समय तक जनता प्रशासन शुरू हो गया था और शाह आयोग की नियुक्ति भी हो चुकी थी। दिल्ली में पत्रकार के रूप में काम करने के लिए मुझे आवश्यकता थी भारत सरकार के पत्र सूचना विभाग के एक्रिडिटेशन की। मेरा 'महाराष्ट्र टाइम्स' का एक्रिडिटेशन मुझे फिर से मिलना तो संभव था ही नहीं। मेरे स्थान पर श्री वि. ना. देवधर नामक व्यक्ति की नियुक्ति भी हो चुकी थी। पत्र सूचना विभाग के एक अधिकारी ने ही सुझाया और उसके अनुसार राजधानी में मेरे एक बहुत ही पुराने पत्रकार मित्र श्री जगदीश प्रसाद चतुर्वेदी ने, जो श्रमजीवी पत्रकार संस्था के नेता थे, एक पत्र लिखा और उसके अनुसार मुझे दीर्घकाल अच्छी पत्रकारिता की श्रेणी में (Long and distinguished service) भारत सरकार का एक्रिडिटेशन मिल गया। इससे राजधानी में पत्रकार के रूप में मेरा काम करने का रास्ता खुल गया।

एक दिन शाह आयोग के एक अधिकारी का मुझे टेलीफोन आया। उसने कहा कि उसे मुझसे कुछ बात करनी है। मैंने कहा कि आयोग के कार्यालय में मैं ही आ जाऊंगा। मैं वहा उन्हें मिला। उन्हें कहीं से यह जानकारी मिली थी कि आपत्काल में मुझ पर अकारण अन्याय हुआ है। उन्होंने मुझे कुछ जानकारी पूछी और मैंने उन्हें वह कुछ बतायी भी। तब तक इस आशय का समाचार प्रकाशित हो चुका था कि शाह आयोग के पास चालीस हजार से अधिक शिकायतें आ चुकी हैं। इस संबंध में कुछ चर्चा शुरू हुई और डी. एस. पी. के स्तर के एक अधिकारी ने मुझसे कहा, शिकायतों की संख्या तो बहुत है। पर ऐसी अधिक नहीं है जो न्यायाधीश शाह की कसौटी पर टिक सके। हमें यह तो पता है कि आपत्काल में बहुत कुछ बातें हुई। पर हमारे पास शिकायतें आये बगैर हम कुछ नहीं कर सकते।

मैंने पता किया कि ऐसा क्यों हो रहा है? यह दिखाई दिया कि जिन पर सचमुच अत्याचार हुए हैं, वे शिकायत करने के लिए आगे नहीं बढ़ते। इसका कारण एक ही था। जिस कानून के अनुसार आयोग की नियुक्ति हुई थी, उसमें उसे केवल जांच कर रिपोर्ट देने का ही अधिकार था। अपराध निश्चित कर सजा देने का नहीं था। लोग कहते थे, जो हमें भुगतना पड़ा, वह तो पड़ा ही। हमें जो हानि हुई, जो मानसिक तनाव सहना पड़ा उसकी पूर्ति थोड़े ही हो सकेगी। और शिकायत करने के लिए तकलिफें उठानी पड़ती है। कानून यह था कि शिकायत करनी हो तो पांच रुपए के स्टैम्प पेपर पर करनी चाहिए। लोग कहते है कि अकारण ही पांच रुपए का खर्च क्यों करना। फिर शिकायत कानूनी भाषा में हो, इसलिए वकीलों के लिए यहां—वहां दौड़धूप करनी, उनकी फिस देनी, आयोग की ओर से बुलावा आने पर उपस्थित रहना, उसके लिए फिस वाहन खर्च करना। अब तक जो कष्ट उठाए वे बहुत हो गए। और अब नहीं चाहिए।

मुझे लगा कि इस विचारधारा में काफी बल हैं। मैंने जनता पार्टी के कुछ नेताओं से चर्चा की। ऐसा लगा कि उन लोगों ने इस प्रश्न पर विचार ही नहीं किया था। जनता पार्टी के अध्यक्ष श्री चंद्रशेखर ने तो झटक देने की तरह ही कहा, फिर हम क्या करें। मैंने कहा, इस आयोग की रिपोर्ट पर जनता पार्टी का भविष्य टंगा हुआ है। आयोग के पास यदि सच्ची शिकायतें नहीं गई तो आयोग विचार किस पर करेगा और रिपोर्ट किस पर देगा। लोग यही निष्कर्ष निकालेंगे कि आप लोग श्रीमती गांधी के संबंध में झूठा प्रचार कर रहे थे। जनता पार्टी के लिए चाहिए कि वह इस काम के लिए पूरी मशीनरी खड़ी करे।

श्री अटल बिहारी वाजपेयी के साथ मेरे काफी पुराने संबंध थे। वे जनता सरकार में विदेश मंत्री थे। पर सरकार में काम करने का उन्हें अनुभव नहीं था। अतः अपने छोटे–मोटे काम कराने के उद्देश्य से उनके पास पहुंचे लोग और विभाग के अधिकारियों से वे इतने घिरे होते थे कि उनसे आसानी से भेंट ही नहीं हो पाती थी। तीन दिन लगातार प्रयत्न के बाद भी जब उनकी भेंट नहीं हुई तो मैं उनके संसद भवन के कार्यालय में गया। मैंने उनके निजी सचिव से कहा, तीन दिन से मैं रोज आ रहा हूं। आप मुझे मिलने के लिए समय नहीं देते। आपने मेरा नाम उनके पास भेजा या नहीं। निजी सचिव ने कुछ तेज आवाज में कहा, ऐसा आपका काम क्या है? मेरी भी आवाज कुछ तेज हो गई। मैंने कहा, मैं अपना काम आपको नहीं बताऊंगा। पर इतना ही कह सकता हूं कि मेरा कोई निजी काम नहीं है।

मेरी आवाज अंदर के कमरे में बैठे श्री वाजपेयी तक पहुंची होगी। वे तुरंत बाहर आये और उन्होंने कहा, इंदूरकर जी, क्या बात है? मैंने कहा, क्या अब आपसे मिलने के लिए मुझे तीन–तीन दिन चक्कर लगाने पड़ेंगे? उन्होंने कहा, कोई खास बात हो तो अभी कर लेते हैं। मैंने कहा, यदि खास बात नही होती तो मैं आता ही नहीं। तुरंत ही हम लोग संसद भवन आंगन में एक ओर खड़े हो गए और मैंने शाह आयोग के कार्यालय में शिकायतों की स्थिति के संबंध में मुझे जो जानकारी थी, उससे उन्हें अवगत कराया। सुनते ही वाजपेयी ने एकदम कहा, यह तो तुरंत करने का काम है। इस ओर यदि ध्यान नहीं दिया गया तो हम लोग सब हवा में फेंक दिये जायेंगे। देखता हूं कि मैं इसमें क्या कर सकता हूं। बाद में उन्होंने मुझसे कहा, अधिकारियों के गिरोह में ऐसा फंस गया हूं कि उससे निकल ही नहीं पाता। आप मुझे घर पर सुबह सात बजे फोन किया कीजिए, जिससे मिलने का समय तुरंत तय किया जा सकेगा। पर उसके बाद उन्हें अलग मिलने की मुझे आवश्यकता ही न पड़ी। श्री वाजपेयी ने शाह आयोग के सम्बन्ध में वास्तव में क्या किया. इसका मुझे पता नहीं। पर ऐसा लगता है कि शाह आयोग को यह महत्वूपर्ण प्रतीत होने वाली शिकायतें मिल गई और शाह आयोग ने भी यह नियम हटा दिया कि शिकायत पांच रुपए के स्टैम्प पेपर पर की जाए।

संगठन के रूप में कांग्रेस का कोई खास अस्तित्व नहीं बचा था। १९७७ में कांग्रेस की हार होते ही वे लोग भी बोलने लगे, जिनके मुंह से पहले आवाज तक नहीं निकलती थी। चुनाव में श्रीमती गांधी की हार तो हो ही चुकी थी। दल की पराजय का मटका श्री देवकांत बरूआ के सिर फोड़ा गया। उन्होंने अपने पद से त्यागपत्र दिया। उनके स्थान पर श्री ब्रह्मानंद रेड्डी कांग्रेस के अध्यक्ष बने। श्री यशवंतराव चव्हाण ने यह विचार प्रस्तुत किया कि यदि देश में लोकतंत्र कायम रखना हो तो दल का कारोबार भी लोकतंत्रीय पद्धति के अनुसार ही चलाना होगा। श्री विट्ठलराव गाडगिल ने 'महाराष्ट्र टाइम्स' में एक लेख लिखा और उसमें बताया कि आपत्काल जारी करना किस प्रकार भूल थी। कांग्रेस में दो गुट होने लग गए थे। एक था श्रीमती गांधी को ही दल का नेता मानने वालों का। दूसरा उन लोगों का जो यह मानते थे कि अब उन्हें कोई कीमत नहीं है।

इन्हीं दिनों कर्नाटक में चिकमंगलुर में लोकसभा का उपचुनाव होना था। यह घोषित हुआ कि श्रीमती गांधी वहां से उपचुनाव लड़ेंगी। श्री वीरेन्द्र पाटिल जनता पार्टी के उम्मीदवार निश्चित हुए। जनता सरकार ने कम समय शेष होने पर भी जिन राज्यों की विधान सभाएं भंग कर चुनाव किए थे, उनमें कर्नाटक भी था। वहां चुनाव के बाद कांग्रेस को ही बहुमत प्राप्त हुआ था और श्री देवराज अर्स मुख्यमंत्री थे। वे श्रीमती गांधी के कट्टर समर्थकों में थे। अत: यह विश्वास था कि श्रीमती गांधी वहां से अवश्य चुनकर आयेंगी। आपात्काल में कर्नाटक तथा अन्यत्र इंदिरा शासन में जो अत्याचार हुए, वही जनता पार्टी की चुनाव प्रचार की मुख्य पूंजी थी। १९७७ के चुनाव में कांग्रेस के जो उम्मीदवार हार गए उनकी हालत बहुत ही खराब थी। उन्हें कोई भी नहीं पूछता था। पर वे सब श्रीमती गांधी को पकड़े हुए थे।

ऐसे मे एक नाम मुझे याद आ रहा है। राजस्थान के श्री जगन्नाथ पहाड़िया का। वे श्री मोरारजी देसाई के समर्थक हैं, इस धारणा से १९६९ में उनसे केंद्रीय मंत्रिमण्डल के उपमंत्री पद से त्यागपत्र लिया गया था। आगे चलकर दूसरे गुट को लगा कि वे इंदिरा गांधी के ही गुट के हैं। उन्होंने मुझे कहा था, अब मुझे ढकेल ही दिया है तो मैं अब उनके साथ ही रहूंगा। १९७८ में जब श्रीमती गांधी चिकमंगलुर से लोकसभा के उपचुनाव के लिए खड़ी थी, उस समय श्री पहाड़िया राजनीतिक दृष्टि से कुछ भी नहीं थे। एक दिन उन्होंने मुझे सेंट्रल हॉल में पूछा—इंदूरकर जी, मुझे एक सलाह दीजिए। कुछ लोग कहते हैं कि मैं श्रीमती गांधी के प्रचार के लिए चिकमंगलुर जाऊं। वैसे वहां मेरा कोई प्रभाव नहीं है और मैं यह भी जानता हूँ कि भाषा की कठिनाई के कारण मेरे वहां जाने का कोई उपयोग भी नहीं होगा। दूसरी बात यह कि जाने के लिए जो पैसा चाहिए उसकी भी मेरे पास इस समय कमी ही है। मैंने उनसे कहा कि कुछ भी हो, आप चिकमंगलुर में हाजिरी अवश्य लगा आइए। आगे—पीछे उसका उपयोग हो जाएगा। १९८० के चुनाव में वे लोकसभा में चुनकर आये और वित्त विभाग में राज्यमंत्री भी बने। आगे वे राजस्थान

के मुख्यमंत्री भी बने। इन्हीं दिनों सेंट्रल हॉल में उन्होंने कहा, इंदूरकर जी से हमारे राजनीतिक विचार चाहे न मिले, तो भी उनकी हमारे लिए सलाह हमेशा ठीक होती है।

कारण कुछ भी हों, पर श्रीमती इंदिरा गांधी और दूसरे कांग्रेसी नेताओं की बन नहीं रही थी। इसकी जड़ में श्रीमती गांधी का यह स्वभाव हो सकता है कि दूसरों की बात कभी नहीं मानना, बल्कि अपनी बात मानने के लिए दूसरों को बाध्य करते रहना। १९६९ में जिस प्रकार कांग्रेस संगठन सिंडीकेट के हाथों में था, उसी प्रकार नेताओं का जो वर्ग ऊपरी स्तर पर अपनी पकड़ जमाए बैठा था, वह अब श्रीमती गांधी के हाथ में सत्ता न होने के कारण उनके कथनानुसार चलने को तैयार नहीं था। श्रीमती गांधी के मस्तिष्क में कुछ पक रहा था। शायद उन्हें ऐसा लगता हो कि संगठन के सूत्र उनके हाथ होने चाहिए। यह एक संयोग की बात थी कि श्रीमती इंदिरा गांधी के पिता पं. जवाहरलाल नेहरू ने कांग्रेस संगठन को कमजोर करना प्रारंभ किया, श्रीमती गांधी ने कांग्रेस संगठन का विभाजन तक करा डाला, उन्हीं को कैसा भी हो, संगठन अपने हाथ होने की आवश्यकता प्रतीत होने लगी थी। इसी में से कांग्रेसजनों की एक रैली आयोजित करने की कल्पना ने जन्म लिया। पत्रकारों तथा राजधानी के राजनीतिक निरीक्षकों की यह धारणा बनी कि श्रीमती गांधी इसी रैली से अलग कांग्रेस बनाना चाहती हैं। इस रैली में शामिल होने पर कांग्रेस जनों पर प्रतिबंध लगाने की बात भी सामने आयी। इस रैली के मुख्य आयोजक श्री कमलापति त्रिपाठी पत्रकारों से प्रतिदिन यह कह रहे थे कि यह केवल कांग्रेस जनों की रैली है। इसमें कांग्रेस के विभाजन का विचार नहीं है। श्री कमलापति त्रिपाठी की बात का महत्व इसलिए भी था कि वे पुराने कांग्रेस नेता तो थे ही, श्रीमती गांधी के प्रति उनकी वफादारी में फर्क नहीं आया था। मुझे आज भी ऐसा लगता है कि श्री त्रिपाठी पत्रकारों को जब यह बता रहे थे कि यह केवल मेला है, उस समय उनकी भूमिका "मुंह में राम, बगल में छूरी" वाली बात नहीं थी। तब तक ईमानदारी के साथ रैली के सम्बन्ध में उनकी भी वही धारणा थी।

क्योंकि १९७८ में जनवरी के पहले सप्ताह में रैली के दूसरे दिन विट्ठल भाई पटेल हाउस के मैदान में बने पंडाल में श्री कमलापति त्रिपाठी ने जब यह प्रस्ताव रखा कि हम ही सच्ची कांग्रेस है और उस प्रस्ताव द्वारा श्रीमती गांधी से अनुरोध किया गया कि वे उसकी अध्यक्षता करें तब मैं वहीं उपस्थित था। प्रस्ताव पहले से तैयार था। श्री कमलापति त्रिपाठी ने अपने भाषण के अंत में वह पढ़ा। उस समय कम से कम यह असर पड़ा कि श्री त्रिपाठी पुरानी पीढ़ी के कांग्रेसी होने के कारण उन्हें फिर से कांग्रेस तोड़ने की कल्पना जंच नहीं रही थी। उन्हें शायद ऐसा लगता था कि १९६९ में अलग कांग्रेस बनाना किसी अंश तक उचित था। क्योंकि उस समय कांग्रेस कार्यकारिणी पर सिंडीकेट का प्रभुत्व था और उसने श्रीमती गांधी को कांग्रेस से निकाला था। पर इस समय वह हालत नहीं थी। घोषित यह करना था कि हम ही कांग्रेस हैं। वह करने का दायित्व श्री कमलापति त्रिपाठी पर डाला गया था। वह उन्हें नहीं भा रहा था। अत: वहां उपस्थित

मेरे जैसे अनेक पत्रकारों को लगा कि वे अपने भाषण में बार–बार अटक रहे थे। कांग्रेस का विभाजन करने की बात उनके मुंह से निकल नहीं रही थी।

इसके बाद स्वभावत: जिस कांग्रेस के श्री ब्रह्मानंद रेड्डी अध्यक्ष थे, उसने इंदिरा कांग्रेस में गये हुए लोगों को कांग्रेस से निकाल दिया। इंदिरा कांग्रेस ने भी दूसरी कांग्रेस के लोगों को अपनी कांग्रेस से निकाल दिया। राजनीतिक नेताओं की वफादारियां किस प्रकार बदलती हैं इसका एक जीता–जागता उदाहरण इसी काल में सामने आया। श्री हेनरी स्टीफन रेड्डी कांग्रेस में थे। कहा जाता है कि श्री स्टीफन के दबाव के कारण ही श्री ब्रह्मानंद रेड्डी ने श्रीमती गांधी के विरूद्ध कड़ी कार्रवाई की। पर वे ही श्री स्टीफन आगे चलकर इंदिरा कांग्रेस में गए और वे जनता कार्यकाल में कई तूफान खड़े करने में सफल साबित हुए।

उनके इस परिवर्तन के संबंध में तीन घटनाएं हैं। दो मैंने सुनी हैं और एक का अनुभव तो मैंने स्वयं लिया है। वे इंदिरा कांग्रेस में जाने के बाद मैंने एक दिन श्री स्टीफन से सेंट्रल हॉल में पूछा– यह परिवर्तन कैसे हो गया। इस पर हंसते हुए उन्होंने कहा, कुछ स्थानीय बंधन होते हैं। उसके कारण कई बातें करनी पड़ती हैं। मैंने सुना था कि इसी संदर्भ में किसी दूसरे से उन्होंने यह भी कहा था कि मैं पेशे से वकील हूं। जो मेरी फीस चुकाये, उसका पक्ष जोरदार ढंग से प्रस्तुत करना मेरा काम ही है। तीसरी घटना केरल के ही एक संसद सदस्य ने मुझे बतायी थी। केरल की एक सभा में श्रीमती गांधी भाषण कर रही थीं। श्री स्टीफन उसका मलयालम में अनुवाद कर रहे थे। श्रीमती गांधी ने अपने भाषण में कहा, जब मेरे हाथ में सत्ता थी, बहुत से नेता मेरे साथ थे। पर सत्ता जाते ही बहुत से छोड़कर चले गए। पर जब यह दिखाई दिया कि जनता मेरे साथ है तो उसमें से कुछ लोग मेरी ओर फिर आ गए। श्रीमती गांधी ने यह वाक्य श्री स्टीफन को लक्ष्य करके ही कहा था। श्री स्टीफन को ही उसका अनुवाद भी करना पड़ा अत: उस समय सभा में काफी जोरों से हंसी हुई।

इन्हीं दिनों में एक बार श्री यशवंतराव चव्हाण से मिला था। बहुत वर्षों में नहीं हुई थी इतनी खुलकर बात हुई। ठीक–ठीक यह स्मरण नहीं है कि उन्होने उस समय क्या कहा। पर उस समय मैंने जो विचार प्रस्तुत किए, ऐसा लगा था कि वे उससे सहमत हैं। मैंने कहा था, आदमी दुनिया में जैसा आता है वैसा ही खाली हाथ वापस जाता है। यहां से वह कुछ भी नहीं ले जा सकता। उसका नाम रहता है केवल उसके भले–बुरे कामों से। यदि डरना ही हो तो भगवान से डरना चाहिए। औरों से डरने की क्या आवश्यकता है। पर ऐसा लगता है कि श्री चव्हाण अपने सार्वजनिक जीवन में भय से कभी मुक्त नहीं हो सके।

प्रारंभिक काल में जनता शासन के संबंध में एक बात कही जाती थी। जनता शासन में जो लोग ऊपरी स्तर पर हैं, वे कम से कम भ्रष्टाचारी नहीं हैं। यह भावना मेरे

सामने राज्यसभा के एक ऐसे अधिकारी ने व्यक्त की थी, जिसका राजनीति से काई संबंध नहीं था। पर यह बात बहुत दिनों तक नहीं बनी रही। एक दिन अचानक प्रधानमंत्री श्री मोरारजी देसाई ने उद्योग मंत्री श्री बृजलाल वर्मा का विभाग ले लिया और वह जॉर्ज फर्नांडिस को सौंप दिया। श्री वर्मा को संचार विभाग दिया गया। यह परिवर्तन होते ही अफवाहों का बाजार गरम हुआ। लोग कहने लगे कि प्रधानमंत्री को लगा कि श्री बृजलाल वर्मा के हाथ साफ नहीं हैं। अत: उन्हें ऐसा विभाग दिया गया जहां भ्रष्टाचार का अवसर ही कम है।

सी. बी. आई. के एक वरिष्ठ अधिकारी ने मुझे निजी चर्चा में बताया था कि उक्त अपवाह बेबुनियाद नहीं है। मैंने भी जनता पार्टी के जनसंघ गुट के सुंदरसिंह भंडारी से इस संबंध में बात की। मैंने कहा, यदि यह सच हो तो जनता पार्टी बदनाम हो जाएगी। उन्होंने पता लगाकर मुझे बताने के लिए कहा सचाई क्या है। मैंने उन्हें यह भी बताया कि इस विषय का उल्लेख किसी सरकारी फाइल पर हो चुका है। मुझे विश्वास था कि श्री सुंदरसिंग भंडारी जो सच होगा वही बतायेंगे। और यदि अफवाह बेबुनियाद हो तो वैसा भी बता देंगे और उस पर सौ फीसदी विश्वास किया जा सकेगा। बाद में भी मैंने एक–दो बार उनसे पूछताछ की। पर वे मुझे कुछ भी नहीं बता सकें। इससे मेरी भी धारणा बनी कि दाल में अवश्य कुछ काला है।

श्री बृजलाल वर्मा के संबंध में जो अफवाह थी, उसे राजनीतिक महत्व भी था। इस प्रकार की धारणा थी कि जनता पार्टी में जनसंघ गुट के जो लोग हैं वे चरित्र से बहुत ही साफ हैं। उनका भ्रष्टाचार या घूसखोरी से किसी प्रकार का संबंध नहीं है। जनता कार्यकाल में दूसरे मंत्रियों के व्यवहार से यह धारणा बाद में भी काफी समय तक बनी रही। श्री बृजलाल वर्मा को केवल जनसंघ गुट के मंत्री के रूप में यदि प्रारंभ में ही लिया गया होता, तो भी इतनी चर्चा न होती। पर श्री मोरारजी देसाई ने श्री नानाजी देशमुख को जिनकी प्रतिमा बिल्कुल साफ थी, मंत्रिमण्डल में शामिल होने का निमंत्रण दिया था। श्री देशमुख ने स्वयं मंत्री होने से तो इनकार किया पर उन्होंने ही नाम सुझाया और श्री वर्मा को मंत्रिमण्डल में स्थान मिला। अत: श्री बृजलाल वर्मा के बारे में अफवाहों का प्रारंभ होते ही उससे जो कीचड़ उछला उसके दागों से न श्री नानाजी देशमुख बच सके, और न जनसंघ गुट ही बचा।

पर जिन श्री जार्ज फर्नाण्डिस के हाथ उद्योग विभाग दिया गया, उनके संबंध में भी कुछ ही दिनों में अफवाहें प्रारंभ हो गई। अफवाहें उस समय के केवल विपक्षी दलों में ही नहीं थी, जनता पार्टी के कार्यकर्ताओं मे भी वे थी। श्री जार्ज फर्नाण्डिस का कुल रहन–सहन ऐसा था कि निश्चयपूर्वक यह नहीं कहा जा सकता था कि इन अफवाहों मे कोई सचाई हो सकती है। नागपुर से प्रकाशित होने वाले 'मासेस' नामक साप्ताहिक पत्र में लिखे अपने एक लेख में मैंने इस विषय की ओर संकेत किया और कहा कि श्री जार्ज फर्नाण्डिस को अपने मित्रों से सावधान रहना चाहिए। इस पर समाजवादी गुट की श्रीमती

मृणाल गोरे मुझ पर बहुत ही नाराज हुई। उन्होंने कहा, आपने जो सुझाया है, उसका सबूत दीजिए। मैंने उन्हें कहा, सबूत देने का अर्थ मुझे अपना स्त्रोत बताना होगा। वह पत्रकार की आचार संहिता में नहीं बैठता। यदि आपको लगता हो कि मैंने निराधार लिखा है तो वह धारणा बनाये रखने का आपको पूरा अधिकार है।

सूचना तथा प्रसारण मंत्री श्री लालकृष्ण आडवाणी जनसंघ गुट के थे और बहुत ही सज्जन थे। निजी रूप से उन पर कोई भी लांछन नहीं लगाया जा सकता। सूचना तथा प्रसारण मंत्रालय में उन्होंने समाचारपत्रों की स्वाधीनता की दृष्टि से कुछ महत्वपूर्ण कदम भी उठाए। इस विभाग का काम सरकारी कामों का ढोल पीटना भी होता है। इस काम में यह विभाग बिल्कुल असफल रहा। जनता कार्यकाल में जीवनावश्यक वस्तुओं के भाव बढ़ने की कुछ रोकथाम हुई। आवश्यक वस्तुओं की विपुलता भी हुई। इसके अतिरिक्त भी कुछ ऐसी बातें हुईं जो जनसाधारण के जीवन को स्पर्श करने वाली थी। पर इनमें से किसी का भी श्रेय जनता प्रशासन को नहीं मिला। जनता पार्टी के अंदरूनी झगड़े और चीनी जैसी एक–दो चीजों में हुई मामूली भाव वृद्धि, ये ही बातें चौराहे पर अधिक आयी। मैंने उन दिनों श्री सुंदरसिंह भंडारी से कहा था कि श्री आडवाणी अपने विभाग के माध्यम से जनता सरकार के अच्छे काम जनता के सामने रखने मे असफल हो रहे हैं। श्री भंडारी ने इस विचार को राज्यसभा में व्यक्त भी किया था। उन्होंने श्री आडवाणी से प्रत्यक्ष मिलकर भी वैसा कहा। मुझे ज्ञात हुआ कि श्री आडवाणी का एक ही उत्तर था, श्री मोरारजी देसाई का समाचारपत्रों में प्रचार किए जाने पर बिल्कुल विश्वास नहीं हैं। अत: वे लाचार हैं।

इस संबंध में मेरी धारणा यह थी, और है, कि पत्रकारों का व्यक्तिगत स्तर कुछ भी हो, जनमानस को दिशा देने में वे कुछ सहायता अवश्य करते हैं। उनके माध्यम से अपने लिए अनुकूल जनमानस बनाने का काम बड़ी ही सावधानी से करना पड़ता है। काग्रेस कार्यकाल में जितने सूचना तथा प्रसारण मंत्री हुए, वे सभी राजधानी के पत्रकारों के गुट बनाकर अनौपचारिक चर्चा के लिए बुलाया करते थे। ऐसे समय में जो विषय प्रस्तुत किया जाता है या जो जानकरी दी जाती है, ऐसा नहीं होता कि वह सभी पत्रकारों के गले उतरती ही है। पर दस में से छह के गले के नीचे भी वह उतर गई तो अपनी जानकारी अथवा अपने चिंतन के रूप प्रस्तुत करने की कुशलता पत्रकार अपनाते ही रहते हैं। श्री विद्याचरण शुक्ल ने आपत्काल में भी यह क्रम जारी रखा था। मुझे स्मरण नहीं है कि आडवाणी ने अपने कार्यकाल में पत्रकारों को एक बार भी इस प्रकार बुलाया हो। मुझे ऐसा भी लगता है कि शराबबंदी के संबंध में श्री मोरारजी देसाई के विचार भी अच्छे सरकारी कामों का प्रचार होने में बाधक साबित हुए। पत्रकारों में, विशेषत: राजधानी के पत्रकारों में श्री मोरारजी देसाई के नशाबंदी संबंधी विचारों के कारण एक गांठ पड़ गई थी। और उसका फल जनता सरकार को भुगतना पड़ रहा था। जनता सरकार की जितनी खामियां बतायी जा रही थीं, उसके शतांश में भी अच्छाइयों पर प्रकाश नहीं डाला जा

रहा था। पत्रकारों की इस प्रवृत्ति का लाभ दूसरों ने उठाया हो तो उसमें आश्चर्य की बात ही क्या थी। मैं तो यही कहूंगा कि श्री देसाई की अवस्था अधिक होने के कारण वे स्वभाव से कुछ हठी हो गए थे। श्री आडवाणी को चाहिए था कि वे सत्य परिस्थिति को देखते और उसके अनुसार कुछ कदम उठाते।

जनसंघ गुट के जनता पार्टी के दूसरे मंत्री श्री अटल बिहारी वाजपेयी की हालत श्री आडवाणी के ठीक विपरीत थी। श्री आडवाणी बात करने में बहुत ही मीठे थे पर अपना दायित्व नहीं निभा सके। पर श्री वाजपेयी ने विदेश मंत्री का काम बहुत ही अच्छी तरह संभाला। उनके कार्यकाल की सबसे महत्वूपर्ण बात यह थी कि उनके व्यवहार से पड़ोसी देशों के साथ भारत के संबंधों में बहुत ही सुधार हुआ। यह धारणा होने पर भी कि भारतीय जनसंघ की विचारधारा मुस्लिम विरोधी है, पाकिस्तान और बांगलादेश के साथ भारत की गुट्टी काफी बैठने लगी थी। फराक्का समझौता हुआ। अपने रिश्तेदारों से मिलने के लिए पाकिस्तान जाने—आने की अधिक सुविधा करा देने के कारण भारत के मुसलमान भी श्री वाजपेयी को दुआ देने लगे। रूस और अमेरिका, दोनों के साथ भारत के मैत्री के ही संबंध बने रहें। पर ऐसी स्थिति नहीं रही कि इनमें से कोई भी भारत की विदेश नीति को अपनी इच्छानुसार मोड़ दे सके। इंदिरा कांग्रेस की ओर से प्रचार हो रहा था कि भारत अमेरिका की मुट्ठी में जा रहा है। पर अमेरिका के राष्ट्रपति श्री जिमी कार्टर की भारत यात्रा के समय यह स्पष्ट हो गया कि वैसी स्थिति नहीं है।

अणु अस्त्रों के संबंध में भारत की स्वतंत्र नीति पसंद न आने के कारण श्री जिमी कार्टर ने अमरीकी विदेश मंत्री श्री वान्स के साथ निजी बातचीत के बीच यह कहा था कि अमेरिका लौटने पर भारत को बहुत ही कड़ी चिट्ठी भेजी जाएगी। पहले यह अमेरिकी पत्रकारों ने सुना और उसे प्रकाशित कर दिया। यह भी प्रकाशित हुआ कि इस पर श्री मोरारजी देसाई की प्रतिक्रिया पूछने पर उन्होंने कहा, यदि वैसा पत्र आया तो हम बहुत ही संतुलित उत्तर देंगे। रूस की इच्छा न होते हुए भी श्री वाजपेयी चीन गए। पर वे वहां जब थे, चीन ने वियतनाम के संबंध में आक्रामण नीति अपनाते ही वे तुरंत वापस भी लौटे।

इस प्रकार श्री वाजपेयी जब विदेश मंत्री थे, विदेश नीति की दृष्टि से काफी अच्छे कदम उठाए जा रहे थे। पर इसी काल में श्री वाजपेयी का नाम भी काफी बदनाम हुआ। विदेश मंत्री इस नाते थोड़े ही समय में बहुत कुछ कर दिखाने की आवश्यकता होने के कारण उन्होंने विदेश यात्राएं बहुत की। अतः उनके संबंध में यह प्रचार हुआ कि वे भारत में रहते ही नहीं विदेश में ही रहते हैं, इसीलिए विदेश मंत्री हैं। उनकी विदेश यात्रा का एक परिणाम यह हुआ कि वे कार्यकर्ताओं से दूर हट गए। जिन कार्यकर्ताओं ने उनके चुनाव में जीजान से परिश्रम किया था, उनके साथ उनकी भेंट होना भी कठिन हो गया। कार्यकर्ताओं की धारणा बनी कि मंत्री बनते ही वाजपेयी उन्हें भूल गए। १९८० के चुनाव में श्री वाजपेयी को इसकी काफी कीमत चुकानी पड़ी। नयी दिल्ली के निर्वाचन क्षेत्र के

साथ जिनका कोई संबंध नहीं, ऐसे श्री स्टीफन के विरूद्ध वे केवल चार हजार मतों से जीत सके। और यह भी तब हो सका जब उन्होंने स्पष्टत: यह स्वीकार किया कि कार्यकर्ताओं से संबंध न रखने में उनसे भूल हुई है।

कार्यकर्ताओं के श्री वाजपेयी पर नाराज होने का एका कारण और था। कार्यकर्ता की धारणा होती है कि जिस मंत्री से भी उसका परिचय है उसने उसका काम करना ही चाहिए। जो कार्यकर्ता भीड़भाड़ में भी घुसकर श्री वाजपेयी से मिलकर उनसे अपना काम कहते थे, उनसे वाजपेयी कहते, नियम के अनुसार होगा तो काम हो जाएगा। पर इस पर कार्यकर्ता तुरंत कहता था, यदि नियम की चौखट में बैठना होता तो आपके पास क्यों आता? अर्थात इस प्रकार कार्यकर्ता का काम भी नहीं होता था और वह नाराज भी हो जाता था।

पर श्री वाजपेयी के लिए इस सबसे अधिक एक दूसरा मोर्चा अधिक कष्टदायक साबित हुआ। जनता पार्टी में जनसंघ गुट के श्री सुब्रह्मण्यम स्वामी ने श्री वाजपेयी के विरूद्ध वह मोर्चा लगाया था। आपात्काल में राज्यसभा में हाजिरी लगाकर पुलिस से बच सफलता के साथ विदेश जाने की उनकी प्रतिमा बन चुकी थी। उन्होंने इस बात की काफी चर्चा की कि वाजपेयी शराबी हैं और उनका चरित्र भी अच्छा नहीं है। मैंने उस काल में जो पूछताछ की उससे मुझे ऐसा नहीं लगा कि इन आरोपों पर विश्वास किया जा सकता है। जिस महिला को लक्ष्य कर चरित्र संबंधी आक्षेप होते थे, उस महिला की अवस्था और श्री वाजपेयी की अवस्था देखकर आरोप हास्यास्पद ही प्रतीत होता था। मुझे ऐसा भी कोई नहीं मिला जिसने देखा हो कि वाजपेयी शराब पीकर धुत हो गए हों। मेरे मन में उस समय यह भी विचार आया कि यदि श्री वाजपेयी शराब पीते भी हो तो उसका उपयोग भी श्री सुब्रह्मण्यन स्वामी उनके विरूद्ध क्यों कर रहे हैं। क्योंकि कांग्रेस की तरह नशाबंदी की धारा जनता पार्टी अथवा पहले के जनसंघ की आचार संहिता में नहीं थी। और अब तो शराब पहले जैसा अस्पृश्य पदार्थ रहा भी नहीं है। जिस कांग्रेस की आचार संहिता में नशाबंदी की धारा अभी भी कायम है, वहां भी शराब को हाथ न लगाने वाले कांग्रेसजन तलाशने पर ही मिलते हैं। फिर श्री वाजपेयी के बारे में यह हठ क्यों?

श्री सुब्रह्मण्यम स्वामी ने श्री वाजपेयी के विरूद्ध जो भूमिका अपनायी मुझे उनका कारण केवल ईर्ष्या दिखाई देता है। मैं बुद्धिमान हूं, आपात्काल में मैंने ऐसा काम किया कि पुलिस देखती रह गई। फिर भी मंत्रिमण्डल में मुझे स्थान नहीं मिला और जनसंघ गुट के श्री वाजपेयी को वह मिल गया। यह होगा क्रोध का कारण। श्री सुब्रह्मण्यम स्वामी ने श्री वाजपेयी को बदनाम करने का एक भी अवसर जनता पार्टी टूटने के बाद भी नहीं छोड़ा। शायद उनकी यह एक धारणा हो सकती है। श्री मोरारजी देसाई के विचार शराबबंदी के संबंध में बहुत ही बड़े थे। श्री वाजपेयी शराब पीते हैं, यह बात यदि श्री मोरारजी देसाई को एक बार जंच गई तो वे उनकी नजर में उतर जायेंगे। इस प्रकार की कुछ धारणा श्री सुब्रमह्ण्यम स्वामी की होगी। पर उस काल में उसमें उन्हें सफलता नहीं मिली।

एक भी ऐसी घटना नहीं बतायी जा सकती जिसमें श्री मोरारजी देसाई और वाजपेयी में अनबन हुई हो। श्री सुब्रह्मण्यम स्वामी यह स्वांग तो बहुत भरते थे कि वे श्री मोरारजी देसाई के बिलकुल ही निकट हैं। वे उन्हें कई बार मिलते भी थे। पर ऐसा अवसर कभी भी नहीं आया कि जब यह कहा जा सके कि श्री मोरारजी देसाई श्री सुब्रह्मण्यम स्वामी की सलाह से चलते हैं।

जनता पार्टी में दो और ऐसे नेता थे जिन्हें अपने व्यक्तित्व के बारे में जरूरत से ज्यादा गरूर था। पर मंत्रीपद न मिलने के कारण वे नाराज थे। ये थे श्री चंद्रशेखर गुट के श्री कृष्णकांत और समाजवादी गुट के श्री मधु लिमये। दोनों बहुत ही बुद्धिमान तो थे, पर उस बुद्धिमत्ता की लपेट में दल के नहीं, अपने निजी हितों में आग लगा देने में आगा पीछा नहीं देखते थे। दोनों को आशा थी कि उन्हें मंत्रीपद मिलेगा। पर दोनों में से वह किसी को भी कुछ नहीं मिला। ऐसा भी नहीं था कि उन्हें जानबुझकर मंत्रिमण्डल में न लिया गया हों यद्यपि चुनाव जनता पार्टी के नाम पर हुआ था पर अपने—अपने गुटों की पहचान मिट नहीं पाई थी। श्री कृष्णकांत चंद्रशेखर गुट के थे। उस गुट के चार—पांच लोग ही चुनकर आये थे। अतः उन्हें मंत्रिमण्डल में एक से अधिक प्रतिनिधित्व मिलता संभव ही नहीं था। वह श्री चंद्रशेखर को ही मिलने वाला था। पर वहां अपनी दाल पहले गलाने में श्री मोहन धारिया सफल हो गए। इस असंतोष की आग श्री कृष्णकांत के मन में धुधुआ रही थी और राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के विरूद्ध उन्होंने जो भूमिका अपनायी उसमें यह आग बाहर निकल पड़ी। आपत्काल के पहले श्री कृष्णकांत राज्यसभा के सदस्य थे। राज्यसभा की सदस्यता आमतौर पर दल के नेता की कृपा के कारण ही मिलती है।

१९७७ में वे लोकसभा के लिए चण्डीगढ़ से खड़े हुए। वहां से जनसंघ के श्रीचंद गोयल १९७१ की श्रीमती गांधी की आंधी में भी कांग्रेस उम्मीदवार को हराकर आये थे। श्री चंद्रशेखर की बात रखने के लिए श्री गोयल पीछे हटे और जनता पार्टी का टिकट श्री कृष्णकांत को मिला। स्वभावतः उस समय जो वातावरण था, संघ और जनसंघ के कार्यकर्ताओं ने श्री कृष्णकांत के लिए कसकर काम किया और वे चुने भी गए। उनके खुद के विशेष कार्यकर्ता थे ही नहीं। पंजाब के पुराने नेता श्री अचिंतराम के पुत्र होने के कारण उन्हें राजनीति में स्थान मिल गया था। श्रीकृष्णकांत को राजनीतिक नेता के रूप में भी इस बात का ध्यान रखना था कि वे किसके बल पर चुनकर आये हैं। पर वह न रखकर श्री कृष्णकांत ने संघ विरोधी भूमिका इतनी अपनायी कि उसके बाद संघ और जनसंघ के कार्यकर्ताओं ने उनके लिए काम किया होता तो ही वह आश्चर्य की बात होती। फूट के कारण जनता पार्टी बदनाम हो ही चुकी थी। १९७७ में कार्यकर्ताओं का जो बल उन्हें मिला था, उसे श्री कृष्णकांत गंवा बैठे थे। अतः १९८० में वे बुरी तरह हारे। संघ—जनसंघ कैसा भी हो, उसके साथ उन्होंने सहयोग किया था। १९७७ में उससे लाभ—भी उठाया था। केवल निजी हित का ध्यान रखकर भी श्री कृष्णकांत के लिए संघ—जनसंघ के विरूद्ध भूमिका अपनाना उचित नहीं हो सकता था। पर शायद वे इस

भ्रम में रह कि मैं स्वयंभू नेता हूं। इसमें उन्होंने दल को तो हानि पहुंचायी ही, अपने पैर पर भी कुल्हाडी मार ली।

कम अधिक मात्रा में यही बात श्री मधु लिमये के बारे में भी हुई। आपत्काल के पूर्व और आपात्काल में उनका व्यवहार आदर्श जैसा प्रतीत होता था। आपत्काल में लोकसभा की अवधि दो साल के लिए बढ़ा ली गई थी। श्री मधु लिमये अकेले ही ऐसे संसद सदस्य थे, जिन्होंने यह कार्रवाई संविधान के भावना के विरूद्ध प्रतीत होने के कारण अपना त्यागपत्र लोकसभा के अध्यक्ष के पास भेज दिया। त्यागपत्र देने वाले का पत्र लोकसभा में पढ़ा जाता है। श्री लिमये ने अध्यक्ष से अनुरोध भी किया था उनका वह पत्र पढ़ा जाय। पर अध्यक्ष ने लोकसभा को इतना ही बताया कि उन्होंने त्यागपत्र दे दिया है। पर उनका पत्र नहीं पढ़ा। ऐसी उज्ज्वल जिस व्यक्ति की पृष्ठभूमि थी, वह जनता पार्टी को तोड़ने की प्रक्रिया प्रारंभ करने का कारण बने। कोई भी यही कहेगा कि यह देश का दुर्भाग्य है। पर हुआ यही था। पर इसका भी कारण उनका मंत्रिमण्डल में समावेश न होना ही है।

इसमें भी एक बात पर विशेष ध्यान जाता है। श्री मधु लिमये को श्री मारोरजी देसाई ने मंत्रिमण्डल में इसलिए नहीं लिया था कि उनके संबंध में उनके मन में कोई गांठ थी। जिस संख्या में समाजवादी गुट और जगजीवन राम की लोकतंत्रीय कांग्रेस के लोग चुनकर आये थे, उन्हें उस अनुपात में मंत्रिमण्डल में प्रतिनिधित्व देने का श्री देसाई ने निर्णय किया था। पश्चिम भारत से उन्होंने श्री मधु दण्डवते को और उत्तर भारत से श्री जार्ज फर्नाण्डिस को। उत्तर प्रदेश से श्री राजनारायण को लिया और मध्य प्रदेश से श्री पुरूषोत्तम कौशिक को। वैसे देखा जाए तो अनुपात से भी अधिक प्रतिनिधित्व समाजवादी गुट को मिला था। जनसंघ के ९२ सदस्य चुनकर आये थे। उन्हें मंत्री स्तर के तीन स्थान दिये गये थे और समाजवादी गुट को जो उससे काफी कम था, चार स्थान मिले थे। श्री मधु दण्डवते को न लेकर यदि श्री मधु लिमये को लिया जाता तो बिहार से ही एक ही गुट के दो के समावेश का असंतुलन दिखाई देता। यदि जार्ज के स्थान पर श्री लिमये को लिया होता तो मराठी भाषियों को अधिक प्रतिनिधित्व देने का आरोप हो सकता था। एक बात और थी। चुनाव याचिका में श्रीमती इंदिरा गांधी को अपदस्थ करने और १९७७ के चुनाव में उन्हें हराने के कारण श्री राजनारायण के संबंध में जिस प्रकार का तेजोवलय बन गया था, लगभग उसी प्रकार का बलय बड़ोदा डाइनामाईट केस के कारण श्री जार्ज के बारे में भी हो गया था। अत: उन्हें मंत्रिमण्डल में न लेना काफी कठिन था। इसी प्रकार वे ईसाई थे. इस रूप में भी उन्हें प्रतिनिधित्व देना आवश्यक था।

पर जब किसी के मन को क्रोध दबा लेता है तो पहले बलि चढ़ती है तर्कसंगत विचारधारा की। उन्हें मंत्री नहीं बनाया गया यह बात श्री मधु लिमये को इतनी खली कि उनके द्वारा अब तक विश्वामित्र की तरह जो कड़ी तपश्चर्या की गई थी, वह एकदम भंग हो गई। यह तो नहीं बताया जा सकता है मेनका के रूप में उनकी तपस्या भंग करने के

लिए कौन खड़ा हुआ था। पर जिन श्री लिमये के घर हमें सादे कांच के गिलास को छोड़कर कभी किसी पात्र में चाय नहीं मिली वहां ऊंची किस्म का टी सेट दिखाई देने लगा। बदन पर कीमती कपड़े आ गए और उपयोग करने के लिए विदेशी मोटर भी दरवाजे पर खड़ी हो गई। कहना बहुत कठिन है कि यह सब कैसे हुआ। पर घटनाओं का सिंहावलोकन करने पर एक बात स्पष्ट दिखाई देती है। जनता पार्टी टूटने के लिए बाद में अनेक कारण बने। पर जनता पार्टी में पहली ही दरार पड़ी पहले ही वर्ष में और वह भी श्री मधु लिमये के द्वारा ही। जनता पार्टी की यह नीति पहले से थी कि दलबदल की प्रवृत्ति पर रोक लगायी जाए। श्री जयप्रकाश नारायण ने चुनाव सुधार का जो कार्यक्रम अपनाया था, उसमें भी इसका मुख्य स्थान था। यह होने पर दलबदल पर रोक लगाने के लिए गृहमंत्री के रूप में श्री चरणसिंह ने जो विधेयक प्रस्तुत किया उसका उसी समय विरोध किया उन श्री मधु लिमये ने जिनका जनता पार्टी के निर्माण में बहुत बड़ा हिस्सा था। कुछ लोगों को यह शक हुआ था और उसके उन्होंने कुछ प्रमाण भी बताये थे कि श्री मधु लिमये उनके हाथ खेल रहे हैं, जो चाहते हैं कि भारत में जनता सरकार टिक न सके। मुझे भी यह बात उन्हीं दिनों कई तरह से स्पष्ट हो चुकी थी कि भारत की जनता सरकार के विरूद्ध उस समय यदि कोई विदेशी शक्ति सबसे अधिक सक्रिय थी, तो वह रूस थी।

सिद्धांत रूप से श्री लिमये भी यह मानते थे कि दलबदल को उस समय जो छूट थी, वह नहीं होनी चाहिए। श्री चरणसिंह ने मंत्रिमण्डल की ओर से जो विधेयक प्रस्तुत किया उसमें कुछ खामियां होगी भी। पर चर्चा के समय संशोधन सुझाकर उनमें से कुछ को दूर किया जा सकता था। अथवा विधेयक को सिलेक्ट कमेटी के पास भेजने की मांग कर वहां उस पर सभी पहलुओं से विचार किया जा सकता था। शायद श्री मुध लिमये द्वारा प्रस्तुत सभी संशोधन मंजूर न होते। पर जिस किसी भी रूप में वह विधेयक मंजूर होता, स्थिति में निश्चित सुधार हुआ होता। जनता पार्टी बाद में जो टुकड़ो—टुकड़ों में बंट गई वह न बंटी होती। वैसा स्पष्ट प्रमाण तो नहीं है पर ऐसा लगता है कि मंत्री पद न मिलने के कारण नाराज श्री लिमये दुनिया की एक ऐसी शक्ति के हाथ के गुड्डे बने गए थे जिसे जनता पार्टी को टिकने नहीं देना था। इसी कारण शायद प्रारंभ से ही उन पर यह विचार हावी हो चुका था कि जनता पार्टी टिकने नहीं देनी है। अत: आगे कोई अड़चन पैदा न हो इसलिए उन्होंने दलबदल पर प्रतिबंध लगाने वाले कानून को आने ही नहीं दिया।

इस संदर्भ में एक घटनाक्रम और दिखाई देता है। वह यह था कि मान लिया जाए कि किसी भी कारण से श्री लिमये ने विरोध किया। पर उसके कारण विधेयक प्रस्तुत करने में श्री चरण सिंह क्यों घबरा गए। उन्होंने यदि विधेयक वापस न लिया होता तो मतविभाजन होकर बहुमत के बल पर विधेयक प्रस्तुत ही हो जाता। संदेह होता है कि शायद दोनों में यह पहले से ही तय था कि मंत्रिमण्डल के निर्णय के अनुसार श्री चरणसिंह

द्वारा विधेयक प्रस्तुत किया जाता और श्री मधु लियमे द्वारा उसका कड़ा विरोध होने पर उन्होंने उसे वापस ले लेना। जिस प्रकार श्री मधु लिमये नाराज थे. उसी प्रकार गृहमंत्री श्री चरण सिंह भी अंदर ही अंदर जल रहे थे। प्रधानमंत्री होने की उनकी महत्वाकांक्षा पूरी नहीं हुई थी। जगजीवन राम के नेतृत्व में काम करने की कल्पना भी उन्हें सह्य नहीं थी। अत: लाचारी से उन्होंने श्री मोरारजी देसाई के प्रधानमंत्रित्व को किसी प्रकार स्वीकृति दी थी। एक ही मंत्रिमण्डल में होने पर भी श्री चरणसिंह और श्री जगजीवन राम के बीच किस प्रकार का मनमुटाव था इस बारे में निजी चर्चा में श्री अटल बिहारी वाजपेयी के मुंह से निकला एक वाक्य बहुत ही सूचक है। वे (चरणसिंह) उन्हें (जगजीवन राम को) फूटी आंख से भी देखने को तैयार नहीं हैं। इस पृष्ठभूमि में ऐसा लगता है कि श्री चरणसिंह और श्री मधु लिमये दोनों के मन में एक विचार चल रहा होगा। अपनी महत्वाकांक्षा पूरी नहीं हुई तो जनता पार्टी छोड़नी पड़ेगी। वैसा अवसर आने पर दलबदल कानून की कोई अड़चन उपस्थित न होने पाये।

१९७९ में जनता पार्टी टूटने पर श्री चरणसिंह और श्री मधु लिमये एक ही पार्टी में गए। यह कहना तो कठिन है कि यह केवल संयोग था कि यह पूर्व योजना थी। पर वैसे देखा जाए तो विचारों की दृष्टि से दोनों में किसी प्रकार की समानता नहीं थी। श्री चरणसिंह की प्रतिमा आमतौर पर किसी प्रतिक्रियावादी नेता की है तो श्री मधु लिमये डा. राममनोहर लोहिया जैसे कट्टर समाजवादी की परम्परा में बढ़े थे, और उनकी प्रक्रिया प्रगतिशीलता की भी थी। श्री लिमये समाजवादी विचारधारा के कारण उद्योगों के राष्ट्रीय करण पर बल देते थे, तो श्री चरणसिंह का बल विकेन्द्रीकरण पर और ग्रामीण व्यवस्था का विकास करने पर था। इन दोनों का इकट्ठा होना विचारधारा की दृष्टि से बहुत बड़ा आश्चर्य है। पर यह इसी का प्रतीक समझना चाहिए कि मनुष्य पर महत्वकांक्षा का भूत चढ़ने पर वह कुछ भी करने को तैयार हो जाता है।

जनता पार्टी टूटने के पहले दोनों में कुछ गुप्त समझौता हुआ था। ऐसी धारणा बन सकने लायक एक घटना और है। अर्स कांग्रेस की ओर से श्री यशवंतराव चव्हाण ने जनता पार्टी के विरूद्ध अविश्वास का प्रस्ताव रखा इस प्रकार की अफवाह फैली कि श्री चरणसिंह वित्तमंत्री पद और जनता पार्टी भी छोड़ रहे हैं। हमे पता चला कि श्री चरणसिंह ने शाम को चार बजे पत्रकार सम्मेलन बुलाया है। श्री लिमये ने भी चार बजे ही पत्रकार सम्मेलन बुलाया था। पत्रकार के नाते हमें दोनों सम्मेलनों में उपस्थित रहना आवश्यक प्रतीत होता था। हम में से एक पत्रकार ने श्री लिमये को टेलीफोन किया और समय में थोड़ा–सा परिवर्तन करने की बात सुझाई जिससे हम दोनों पत्रकार सम्मेलनों में उपस्थित रह सके। पर श्री लिमये ने टेलीफोन पर ही इनकार किया और कहा कि श्री चरणसिंह पत्रकार सम्मेलन में क्या कहेंगे? अधिक से अधिक वे अपना त्यागपत्र दे देंगे। पर मैं आगे की सारी योजना प्रस्तुत करने वाला हूं। श्री चरणसिंह का पत्रकार सम्मेलन हुआ ही नहीं

और श्री देसाई त्यागपत्र दे रहे हैं, यह निश्चित होने पर श्री चरणसिंह ने जनता पार्टी से अपना त्यागपत्र दे दिया।

जनता सरकार के कार्यकाल में श्री मोरारजी देसाई राजनीतिक रंगमंच पर प्रधानमंत्री के रूप में रहे। राजनीतिक चरित्र, अपने विचारों पर अटल रहने की उनकी शक्ति, अधिक छलप्रपंच न करने की उनकी वृत्ति आदि उनके अनेक गुणों की चर्चा अब तक हुई हैं। पर मुझे ऐसा लगता है कि जनता पार्टी टूटने का एक कारण श्री मोरारजी की यह भावना भी थी कि इन्हीं गुणों के कारण वे प्रधानमंत्री बने हैं। उनमें उक्त गुण होने पर भी उसके कारण आचार्य कृपलानी ने उन्हें प्रधानमंत्री पद पर लाने के लिए एक नाटक सा नहीं रचा था। उन्हें यह डर था और वह उचित ही था कि श्री चरणसिंह और श्री जगजीवन राम अपने स्वभाव के कारण दल को एक नहीं रहने देंगे। इसीलिए उन्होंने श्री देसाई का चुनाव किया। जनता पार्टी के रूप में यद्यपि विजय मिली थी, फिर भी दल के रूप में जनता पार्टी का संगठन नहीं बंध पाया था। दल के नेता भी एकरूप नहीं हुए थे। प्रधानमंत्री के रूप में श्री देसाई की भूमिका परिवार प्रमुख की बनी थी। सबको साथ ले चलने की उनकी जिम्मेदारी थी। पर वह निभाने में वे पूरी तरह असफल रहे। इसका कारण एक ही था। उन्हें ऐसा लगा कि उनके गुणों के कारण ही उन्हें प्रधानमंत्री पद मिला है। मंत्रिमण्डल की रचना करते समय उन्होंने इस बात का विचार किया कि किस गुट के कितने लोग चुनकर आये हैं। पर वही कसौटी उन्होंने संगठन कांग्रेस पर नहीं लगायी। संगठन कांग्रेस के कम लोग चुनकर आने पर भी मंत्री स्तर पर उन्हें पांच स्थान दिए गए। पर जनसंघ और भारतीय लोक दल के अधिक लोग आने पर भी उन्हें तीन–तीन स्थान ही दिये गए। शुरूआत होने के कारण किसी ने इस पर आपत्ति नहीं उठायी, पर यह वैसे कहा जा सकता है कि विभिन्न दलों को उसका अनुभव ही नहीं हुआ होगा।

इसके अतिरिक्त राज्यपालों की नियुक्ति के संबंध में यह दिखाई दिया कि इन पदों पर सभी नियुक्तियां कांग्रेस संगठन के ही लोगों की हुई। इस पर उन दिनों आपत्ति उठी थी और प्रतिवाद में श्री मोरारजी ने कहा था कि क्यों वे योग्य नहीं है? किसी व्यक्ति की योग्यता के बारे में कुछ कहना कठिन होता है। पर जनता पार्टी शासन से हटते ही यह स्पष्ट हो गया कि ये किस प्रकार की मिट्टी के बने थे। श्रीमती इंदिरा गांधी के काल में जिन राजनीतिक नेताओं की राज्यपाल पद पर नियुक्ति हुई थी उनमें से श्री उमाशंकर दीक्षित तथा श्री मोहनलाल सुखाड़िया ने श्रीमती गांधी की सत्ता समाप्त होते ही अपने त्यागपत्र दे दिये। पर श्री मारोरजी देसाई द्वारा नियुक्त किसी भी राज्यपाल ने सुझाये जाने पर भी अपने पद से त्यागपत्र नहीं दिया। तमिलनाडु के राज्यपाल श्री प्रभुदास पटवारी को जिस प्रकार पद से हटाने की कार्रवाई श्रीमती गांधी ने की, वह गलत कही जा सकती है। पर जिस सत्ता के नियंत्रण में आपको काम करना है उसका आप पर विश्वास नहीं है, यह बात स्पष्ट हो जाने पर पद से चिपके रहने का काम कोई भी स्वाभिमानी राजनीतिक नेता नहीं कर सकता। श्री मोरारजी देसाई द्वारा नियुक्त श्री तपासे

उत्तर प्रदेश जैसे बहुत बड़े राज्य के राज्यपाल थे। उन्हें हरियाणा जैसे छोटे राज्य में जाने के लिए कहा गया। वे चुपचाप चले गए। उन्हें उसमें अपमान प्रतीत नहीं हुआ।

उन दिनों संगठन कांग्रेस को छोड़कर राजनीतिक क्षेत्र के केवल एक ही अन्य व्यक्ति की नियुक्ति हुई थी। प्रजा समाजवादी नेता श्री ना. ग. गोरे को लंदन में ब्रिटिश हाइकमिश्नर नियुक्त किया गया था। जनता पार्टी संकट में आते ही वे तुरंत त्यागपत्र देकर वापस आ गए और वे अपनी शक्ति के अनुसार जनता पार्टी के संकट को दूर करने का प्रयत्न करने लगे। कहा जा सकता हैं कि जनता कार्यकाल में अकेली यही ऐसी राजनीतिक नियुक्ति थी, जिसे उचित कहा जा सकता है। इस संदर्भ में लोग कहा करते थे कि श्री मोरारजी देसाई एक महत्वपूर्ण बात भूल जाते हैं। वह बात यह थी कि वे किसी भी नाम से पहचानी जाने वाली कांग्रेस की सरकार के प्रधानमंत्री नहीं हैं। वे जनता सरकार के प्रधानमंत्री हैं। उनकी संगठन कांग्रेस जनता पार्टी की एक छोटी–सी इकाई मात्र है। उन्होंने संगठन कांग्रेस की तरह ही जनता पार्टी को समझा और उसके अनुसार उसका वे इस्तेमाल करने लगे। उदाहरण के लिए शराबबंदी की नीति। मैं स्वयं शराबबंदी की नीति का विरोधी नहीं हूं। पर कांग्रेस की तरह वह जनता पार्टी की नीति निश्चित नहीं हुई थी। क्योंकि तब तक जनता पार्टी का विधिवत निर्माण ही नहीं हुआ था। सब कुछ अस्थायी ही था। पर श्री देसाई ने इस तरह का बर्ताव शुरू किया कि नशाबंदी की नीति जनता पार्टी की ही नीति है।

श्री मोरारजी देसाई के संबंध में मेरे मन में कभी कोई गांठ नहीं रही। पर उन दिनों का श्री मोरारजी देसाई का बर्ताव पंसद न आने के कारण मैंने उनके नाम एक खुली चिट्ठी लिखी। उसे कई मराठी समाचारपत्रों ने प्रकाशित किया। मेरी इस खुली चिट्ठी पर पाठकों मे इतना अधिक उत्साह पैदा हुआ कि उस पर काफी पत्र व्यवहार चला। एक पाठक तो इतने अधिक उत्साहित हुए कि उन्होंने उस लम्बे पत्र का अंग्रेजी अनुवाद कर मेरे पास इस इच्छा से भेजा कि वह किसी अंग्रेजी पत्र में प्रकाशित हो जाए। सारांश में यह कहा जा सकता है कि जनता पार्टीकी बरबादी में जो अनेकों हाथ लगे। उनमें श्री मोरारजी देसाई के हाथों का भी समावेश करना पड़ेगा।

वे परिवार प्रधान की जिम्मेदारी नहीं निभा सके। मंत्रिमण्डल को नपुंसक कहने के बाद उन्होंने श्री चरणसिंह से त्यागपत्र मांग लिया। पर श्री वाजपेयी तथा श्री आडवाणी के आग्रह पर उन्होंने उन्हें फिर मंत्रिमण्डल में ले लिया। उन्होंने बाद में कहा कि यह भूल हुई। श्री चरणसिंह और श्री जगजीवन राम इन दोनों को लेकर यह भी स्पष्ट हो चुका हैं कि श्री वाजपेयी और आडवाणी को आदमियों की परख नहीं है। यदि वह श्री देसाई को थी तो उन्होंने अपनी भूमिका दल के समाने स्पष्ट रूप से रखनी चाहिए थी। इस बात से कोई इनकार नहीं कर सकता कि श्री चरणसिंह द्वारा १९७९ में बजट प्रस्तुत करने के बाद ही देश की आर्थिक स्थिति अधिक बिगड़ी है। श्री मोरारजी देसाई ने बाद में कहा भी कि मुझे पहले से इसका आभास था कि वह बिगड़ेगी। पर दल की एकता बनाये रखने के

लिए मैंने उस समय कुछ नहीं कहा। प्रत्यक्ष में क्या हुआ? देश की आर्थिक हालत तो बिगड़ ही गई और दल की एकता भी बनी नहीं रह सकी। श्री मोरारजी देसाई समझते थे कि साफ–साफ बोलना उनका गुण है। पर यदि वे ऐसा मानते थे तो पूरे दल की बैठक बुलाकर उन्होंने उन्हें दिखाई देने वाली पूरी तस्वीर पार्टी के सामने क्यों नहीं रखी? इस सिलसिले में मुझे मराठी के प्रसिद्ध साहित्यकार श्री वि.स. खाण्डेकर का एक वाक्य याद आता है। उन्होंने कहा था, समय पर जो कहना चाहिए वह यदि नही कहा गया तो जो नहीं देखना चाहिए वह देखना पड़ता है।

श्री मोरारजी देसाई के साथ ही श्री कांतिलाल देसाई की भी प्रतिमा सामने आ जाती है। श्री देसाई जब कांग्रेस में थे, कांतिलाल को लेकर उन पर काफी कीचड़ उछाला गया। जनता कार्यकाल में भी वह क्रम जारी रहा। मैं निश्चयपूर्वक यह नहीं कह सकता कि श्री कांतिलाल देसाई का कितना व्यवहार गलत था और कितना सही था। संयुक्त महाराष्ट्र बनने के बाद श्री मोरारजी देसाई दिल्ली आने के बाद श्री कांतिलाल के संबंध में मैंने अच्छी और बुरी दोनों बातें सुनीं। मैं ऐसा भी नहीं कह सकता कि उनमें जो मुझे भी बुरी लगीं वे बिलकुल झूठ थीं। पर इस बात का भी कोई सबूत नहीं है कि वे श्री मोरारजी देसाई की सहमति से हुई है। यह बार–बार कहा जाता था कि श्री देसाई दायी विचारधारा के होने के कारण प्रतिक्रियावादी हैं। यह भी आक्षेप था कि इसीलिए वे श्री कांतिलाल देसाई के कारनामों में कुछ सहायता कर देते थे। पर एक बार प्रसिद्ध उद्योगपति श्री राधेश्याम मुरारका ने इस संबंध में श्री मोरारजी देसाई का स्वभाव बताया था। वे उन दिनों अविभाजित कांग्रेस के थे और उन्हें उनकी योग्यता के कारण पब्लिक अकाउंट्स कमेटी का अध्यक्ष नियुक्त किया गया था। उन्हें प्रगतिशील उद्योगपति माना जाता था। उन्होंने कहा कि हमलोग श्री मोरारजी भाई के घर जाते–आते रहते हैं। अनेक विषयों पर बातें भी होती हैं। पर हमें यह विश्वास कभी भी नहीं होता कि अपने किसी काम को हम उनसे निश्चित रूप से करा लेंगे। कोई बात उनसे कहने पर यदि उनकी समझ में आ गई तो उसे वे हां कहते हैं। और यदि नहीं आयी तो साफ इनकार कर देते हैं।

इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि श्री कांतिलाल देसाई के सच या झूठ गलत व्यवहार के कारण श्री मोरारजी देसाई काफी बदनाम हुए। जनता कार्यकाल में यही मांग भी हुई कि प्रधानमंत्री के निवास स्थान पर श्री कांतिलाल देसाई को नहीं रहना चाहिए। पर श्री मोरारजी देसाई ने इस मांग की ओर कभी भी ध्यान नहीं दिया। इस बात की कई स्थानों पर चर्चा हो चुकी है कि दूसरे मामले में बहुत ही कड़ाई से पेश आने वाले श्री मोरारजी देसाई अपने लड़के के मामले में इतने मुलायम क्यों? गुजरात के प्रसिद्ध स्वर्गीय नेता सरदार पटेल को जैसे ही यह जानकारी मिली कि उनके पुत्र श्री डाह्याभाई पटेल उनके नाम का दुरूपयोग करते हैं, उन्होंने सार्वजनिक रूप से उनसे संबंध विच्छेद कर लिया था। श्री मोरारजी देसाई भी वैसा ही क्यों न कर सके? कुछ लोगों का इस संबंध में स्पष्टीकरण यह है कि पारिवारिक स्थिति के कारण कड़े मिजाज के मोरारजी

का मन भी पुत्र के मामले में कुछ दुर्बल हो गया था। शायद यह सच भी हो। पुत्र प्रेम के कारण कड़े अनुशासन में जीवन बिताने वाले श्री मोरारजी देसाई कांतिलाल की कुछ बातों की ओर से आंख बंद कर लेते हों।

पर मुझे उत्सुकता थी कि इस संबंध में स्वयं श्री कांतिलाल क्या कहते हैं। श्रीमती इंदिरा गांधी के मंत्रिमण्डल में श्री मोरारजी देसाई उपप्रधानमंत्री नियुक्त होने के बाद की बात है। बात–बात में चर्चा चली और श्री कांतिलाल देसाई ने अपना मन खोल दिया। उन्होंने कहा, मैं गुजराती परिवार में पैदा हुआ। व्यापार और उद्योग यह हमारे स्वभाव में है। उसमें पड़ा। व्यापारी होने के नाते मैंने कुछ गलत काम किये भी होंगे। उसमें यदि मैं कही फंसता होता तो जरूर फंसाना चाहिए था। मेरी उम्मीद थी कि मेरी ओर व्यापारी के रूप में ही देखा जाएगा। पर मेरी ओर देखा गया मोरारजी भाई के पुत्र के रूप में। पर व्यापार अथवा उद्योग में श्री मोरारजी भाई का मुझे प्रत्यक्ष लाभ कुछ नहीं हुआ। मैं उनका पुत्र होने के कारण वे बदनाम होने लगे। उन्होंने मुझे कहा कि व्यापार से मैं अलग हो जाऊ। धीरे–धीरे मैंने वह भी किया। पर बदनामी होना बंद नहीं हुआ क्योंकि बदनामी करने वालों का लक्ष्य मैं नहीं था, श्री मोरारजी भाई थे। वे सरकार में आते ही बदनामी की कार्रवाईयों में तेजी आ जाती थी। इसके सिवा एक बात और। श्री मोरारजी देसाई बहुत ही अनुशासनपूर्ण कड़ाई से जीवन बिताते हैं। पर वह किसके बल पर कायम रहता है? वे जब सत्ता से बाहर होते हैं, उनकी नेताई बनाये रखने के लिए जो पैसा लगता है वह कहां से आता है? श्री कांतिलाल देसाई ने खुले दिल से जो कुछ कह डाला, उसमें वे बहुत कुछ कह गए।

नेता ओर उनके पुत्र यह स्वाधीनता के बाद के काल में राजनीति का एक महत्वपूर्ण विषय बन गया है। अब तो यह खोज का ही विषय हो सकता है कि किस नेता के पुत्र अथवा पुत्री ने अपने बाप के स्थान का लाभ नहीं उठाया अथवा बाप ने उसे बड़ा बनाने का प्रयत्न नहीं किया। महात्मा गांधी ने अपने किसी भी लड़के को सार्वजनिक जीवन में लाने का प्रयत्न नहीं किया और अपने बड़प्पन का उसे लाभ भी नहीं उठाने दिया। सरदार पटेल ने तो यह देखते ही कि उनका पुत्र गलत बातें कर रहा है, उससे नाता ही तोड़ लिया। उनकी देखभाल करने वाली कुमारी मणिबेन पटेल को भी उन्होंने कभी भी आगे लाने को प्रयत्न नहीं किया। डॉ. राजेद्र प्रसाद जब तक जीवित थे, उनके पुत्र श्री मृत्यंजय प्रसाद को राजनीति में कोई स्थान नहीं था। राष्ट्रपति राजेद्र बाबू की पत्नी सरकारी खर्च पर उनके साथ कभी नहीं घूमी। श्री चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य के जीवित रहते उनके पुत्र श्री नरसिंह्म लोकसभा में चुनकर आये थे। पर उसमें राजगोपालाचार्य का कोई हाथ नहीं था। वे उस समय स्वतंत्र पार्टी के नेता थे और श्री नरसिंहम् कांग्रेस के टिकट पर चुने गए थे।

इन सब नेताओं में पं. जवाहरलाल नेहरू का नाम कुछ अलग हो जाता है। उनके जीवनकाल में ही उनके दामाद श्री फिरोज गांधी लोकसभा के सदस्य हुए। पर वे उनके

संसदीय कार्यों के कारण श्री फिरोज गांधी के रूप में ही अधिक प्रसिद्ध हुए, पं. नेहरू के दामाद के रूप में बहुत ही कम। पं. नेहरू के जीवनकाल मे उनकी पुत्री श्रीमती इंदिरा गांधी, विधानसभा अथवा संसद सदस्य के रूप में सामने नहीं आयी। पं. नेहरू ने उन्हें एकदम कांग्रेस का अध्यक्ष बना दिया। इस प्रकार उनके लिए नेता के लिए आवश्यक सभी दरवाजे खुल गए। श्री मोरारजी देसाई के संदर्भ में श्री कांतिलाल के नाम की चर्चा हुई तो श्री जगजीवन राम के पुत्र श्री सुरेशराम भी चर्चा का काफी विषय बने। इस संदर्भ में चौधरी चरणसिंह की पत्नी श्रीमती गायत्री देवी और अजीत सिंह की चर्चा है। श्रीमती इंदिरा गांधी के दोनों पुत्र श्री संजय गांधी और श्री राजीव गांधी एक के बाद एक राजनीति में लाये गए। उसमें से श्री संजय गांधी की मृत्यु भी हो गई। श्रीमती इंदिरा गांधी की हत्या के बाद श्री राजीव गांधी प्रधानमंत्री भी बन गए। बाद मे तो अब ऐसी स्थिति पैदा हुई है कि किसी प्रकार का संकोच न रखकर राजनीति का चाहे जैसा उपयोग अपने तथा अपने रिश्तेदारों की स्वार्थ पूर्ति के लिए किए जाने का युग ही प्रारंभ हो गया।

जो घटना मैं अब बताना चाहता हूं, वह आज के संदर्भ में बिलकुल बेतुकी लगेगी। पर स्वाधीनता के प्रभाव में घटी वह घटना उल्लेखनीय है। डॉ. राजेन्द्र प्रसाद जब राष्ट्रपति थे उस समय उनके एक निजी सचिव का नाम था, श्री वाल्मीकि चौधरी। उन्होंने ही मुझे यह घटना बताई। सरदार पटेल की मृत्यु के बाद कुमारी मणिबेन पटेल डॉ. राजेंद्र प्रसाद के पास आयीं और उन्होंने बताया कि सरदार पटेल के पास विभिन्न कामों के लिए संग्रहित कांग्रेस का कुछ पैसा था। बताइये, इस पैसे का क्या किया जाए? डॉ. राजेन्द्र प्रसाद ने कहा कि यह आप पहले पं. नेहरू को बताइये। फिर देखे कि क्या करना है। उन दिनों सार्वजनिक विशेषत: राजनीतिक पैसा व्यक्ति के नाम पर ही होता था। वह सब बैंक में जमा करने की भी प्रणाली नहीं थी। यह प्रणाली स्वाधीनता के पूर्व से ही चली आ रही थी। कुमारी मणिबेन पटेल ने पं. नेहरू को भी बताया। पं. नेहरू ने कहा, क्या करना है यह राजेन्द्र बाबू की सलाह से तय करेंगे। आगे चलकर वह सारी रकम कुमारी मणिबेन पटेल ने पं. नेहरू तथा डॉ. राजेन्द्र प्रसाद की उपस्थिति में कांग्रेस पार्टी दी। श्री वाल्मीकि चौधरी के अनुसार वह रकम अठारह लाख रुपए थी। आज की कीमत में वह अठारह करोड़ होगी। श्रीमती मणिबेन पटेल यदि आज के वातारण की होती तो उस रकम का किसी को पता भी न लगता। क्योंकि उस रकम के अस्तित्व की किसी को जानकारी ही नहीं थी।

जनता सरकार तथा श्रीमती गांधी

जनता पार्टी और उसकी सरकार में जो लोग आये उनमें से कुछ निजी रूप में बहुत ही अच्छे थे। जिस प्रकार की आर्थिक नीतियों को उन्होंने कार्यान्वित किया उसे भी बुरा नहीं कहा जा सकता। पर उनका दूसरा व्यवहार उनके सिर चढ़ गया। यह बात सच है कि आपत्काल में बहुत सारे गलत काम हुए। पर कोई भी देश विद्वेष की भावना संजोकर आगे नहीं बढ़ सकता। आपत्काल में संगठन के रूप में सबसे अधिक भुगतना पड़ा था राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ को। पर आपत्काल के बाद संघ के सरसंघचालक श्री बालासाहब देवरस ने 'बीति ताहि बिसारिके आगे की सुधि लेहु' का आवाहन किया था। किंतु उस समय उनके इस आवाहन के संबंध में उनका मजाक उड़ाया गया। जनता सरकार द्वारा एक या दो जांच आयोग नियुक्त किए जाने मे तो विशेष हानि नहीं होती। पर गृहमंत्री श्री चौधरी चरणसिंह बहुत ही तीखे मिजाज के थे। अत: उन्होंने कई जांच आयोगों की नियुक्ति कर दी। अपराध सिद्ध होने पर भी अपराधी को सजा देने की दृष्टि से इन जांच आयोगों का विशेष उपयोग नहीं होता। व्यावहारिक अर्थों में वे केवल पूछताछ समितियां ही होती हैं। कानून के अनुसार ही व्यवहार करने का निर्णय और श्रीमती गांधी को सबक सिखाने का निर्णय, इन दो परस्पर विरोधी इच्छाओं में जनता सरकार के कई नेता उलझ गए। जो जांच आयोग नियुक्त किए गए उनसे यह भावना बढ़ी कि श्रीमती गांधी और उनके सहयोगियों के प्रति जनता सरकार की नीति बहुत कड़ी हैं। पर प्रत्यक्ष व्यवहार में श्रीमती गांधी और उनके सहयोगियों पर उसका कोई असर नहीं होने वाला था। वर्षों तक शासन में रहकर उसकी बारीकियां समझने के कारण श्रीमती गांधी ने इस बात को पहचान लिया था और जांच आयोगों से असहयोग करने की नीति उन्होंने अपना ली। जनता पार्टी के कुछ लोगों ने भी इस बात को पहचाना। उस समय लोकसभा में जनता पार्टी के एक मुख्य सदस्य श्री गौरी शंकर राय ने यह विचार रखा था कि असाधारण अपराधों के न्याय के लिए असाधारण पद्धति ही स्वीकार करनी होगी।

गृहमंत्री चौधरी चरणसिंह प्रतिशोध की भावना से भरे प्रतीत होते थे। उनके मन में यह भावना बहुत प्रबल थी कि जिस किसी तरह भी हो, अनगिनत लोगों को अकारण जेलों में बंद करवाने वाली श्रीमती इंदिरा गांधी को कम–से–कम एक बार जेल की हवा खिलानी ही होगी। पर उन्होंने इस बात का विचार ही नहीं किया कि जिस मशीनरी के माध्यम से यह काम उन्हें पूरा करना है वह अंदर से कितनी खोखली हो चुकी है। उन्होंने श्रीमती गांधी को गिरफ्तार करने का निर्णय किया। १९७५ में आपत्काल जारी होने के पहले ही कई नेताओं को गिरफ्तार करने का निर्णय श्रीमती गांधी ने किया था। प्रत्यक्ष गिरफ्तारी होने तक उन्हें उसकी गंध भी नहीं मिली थी। पर श्रीमती गांधी के मामले में ठीक उलटा हुआ। उन्हें इसका पता पहले ही लग गया कि उनकी गिरफ्तारी होने वाली है। अत: उन्होंने उसे लेकर एक राजनीतिक नाटक ही खेल डाला। उनके अनेक समर्थक

उनके निवास स्थान पर पहले से उपस्थित थे। गिरफ्तारी होने के बाद एक जुलूस सा ही निकला। हरियाणा सीमा पर पहुंचने पर श्रीमती गांधी के वकील ने कानूनी आपत्ति उठायी। बिना विशेष आदेश के उन्हें दूसरे प्रदेश में नहीं ले जाया जा सकता। उन्हें वापस लाना पड़ा। उन पर जो आरोप था, उसमें वे जमानत पर छूट सकती थीं। पर उन्होंने जमानत देने से इनकार किया। उन्हें मजिस्ट्रेट के सामने उपस्थित करने का निश्चय किया गया। न्यायाधीश ने उन्हें यह कहकर रिहा कर दिया कि उन पर कोई भी अपराध साबित नहीं होता।

मेरे जैसे अनेक पत्रकारों के मन में उन दिनों एक विचार आया था। उक्त न्यायाधीश श्रीमती गांधी के व्यक्तित्व के बोझ से क्या दब गए थे? यह अलग बात है कि जिस अपराध का आरोप लगाकर श्रीमती गांधी को गिरफ्तार किया गया था वह कानून की कसौटी पर साबित होता या नहीं। पर उस समय न्यायाधीश के सामने प्रश्न केवल जमानत का था। अपराध के औचित्य का नहीं था। कोई यदि सामान्य अपराधी होता और वह जमानत नहीं दे रहा है यह देखते ही न्यायाधीश उसे जेल भेज देता अथवा अधिक जांच के लिए पुलिस के हवाले कर देता। अथवा वह यह भी कह सकता था कि अपराध इतना महत्वपूर्ण नहीं है जिसमें जमानत की आवश्यकता हो। पर जिस अपराध के संबंध में सरकार को कोई सबूत साबित करने का अवसर ही नहीं मिला उसके संबंध में न्यायाधीश यह नहीं कह सकता कि कोई अपराध ही नहीं हुआ है। इस संदर्भ में कुछ लोगों का कहना यह था कि श्रीमती गांधी पर जो अपराध लगाया गया था उसे कानूनी चौखट में ठीक प्रकार बैठाने की सावधानी न बरतने के कारण न्यायाधीश इस प्रकार की भूमिका अपना सका।

गिरफ्तारी के संबंध में श्री चरण सिंह के निर्णय के कारण एक संकट और पैदा हो गया। जांच आयोग के अध्यक्ष श्री शाह को लगा कि यह गिरफ्तारी उनके कामकाज में हस्तक्षेप है। उन्होंने उक्त समाचार मिलते ही जांच आयोग की कार्यवाही एकदम रोक दी। उन्होंने यह बताया भी नहीं कि वे उसे फिर कब शुरू करेंगे। अत: शाह आयोग के भविष्य के संबंध में अनेक संदेह प्रगट होने लगे। बाद में पता चला कि श्री शाह प्रधानमंत्री श्री मोरारजी देसाई से मिले और उन्होंने यह भूमिका अपनायी कि आपने मुझ पर जांच का जो काम सौंपा है, वह पूरा हुए बगैर सरकार ने यदि कार्रवाई करना प्रारंभ कर दिया तो मैं काम नहीं कर सकूंगा। श्री देसाई को उनकी बात ठीक लगी। वे भी इसी विचारधारा के थे कि ठीक–ठीक कानून के अनुसार ही काम होना चाहिए। शायद इसीलिए न्यायाधीश ने श्रीमती गांधी को रिहा करनेका जब निर्णय किया सरकार की ओर से भी उसका कोई विरोध नहीं हुआ।

श्री मोरारजी देसाई स्वभाव से बहुत कड़े प्रतीत होते थे। पर किसी के भी संबंध में मुझे उनमें कभी कोई कटुता दिखाई नही दी। कामराज योजना मुख्य रूप से उन्हीं को मंत्रिमण्डल से निकालने के लिए थी। पर पं. नेहरू के संबंध में उन्होंने कभी कोई बुरी

बात नहीं कही। १९६९ में श्रीमती गांधी ने उनका वित्त मंत्रीपद कुछ अपमानजनक ढंग से ही ले लिया। पर उनके द्वारा श्रीमती गांधी के संबंध में कोई छोटी बात कहने की घटना मुझे याद नहीं है। इसके विपरीत जनता सरकार का शासन शुरू होने पर श्रीमती गांधी विरोधी लेखों की बाढ़ सी आ गई। उसके संबंध में उनके द्वारा नाराजगी व्यक्त की जाने की एक घटना है। 'टाइम्स ऑफ इण्डिया' के एक भूतपूर्व संपादक श्री डी. आर. मानकेकर ने श्रीमती इंदिरा गांधी पर एक पुस्तक लिखी। पुस्तक का नाम था, 'डिक्लाइन एण्ड फाल ऑफ इंदिरा गांधी।' इस पुस्तक के आवरण पर श्रीमती गांधी का कटा हुआ चेहरा दिखाया गया था। प्रधानमंत्री श्री मारोरजी देसाई को खुश करने के इरादे से श्री मानकेकर ने जाकर पुस्तक उन्हें भेंट दी। श्री देसाई ने आवरण का चित्र देखा और वे बिगड़ उठे। उन्होंने श्री मानकेकर से पूछा, क्या अपनी पद्धति स्त्रियों का चेहरा इस प्रकार दिखाने की है? श्री मानकेकर को उत्तर न सूझा। उन्होंने कुछ इस प्रकार का उत्तर दिया कि पुस्तक प्रकाशित करने की जल्दी में प्रकाशक ने कुछ कर डाला। इसपर मोरारजी भाई ने फिर कहा, पुस्तक पर आपका नाम है। इसकी जिम्मेदारी से आप मुक्त नहीं हो सकते।

श्रीमती इंदिरा गांधी की गिरफ्तारी के बारे में जितनी गड़बड़ी हुई उतनी ही अथवा उससे भी कुछ अधिक उनके द्वारा छिपाए काले धन की जांच के संबंध में हुई। कहा जाता था कि वह उन्होंने दिल्ली के अपने एक खेत में छिपाया था। किसी को भी इस बारे में संदेह नहीं था कि श्रीमती गांधी की राजनीति पैसे की राजनीति है। पर इसका कभी किसी को पता नहीं लगा कि यह पैसा कहां से आता है और वह कहां रखा जाता है। जनता कार्यकाल में यह गंध मिली कि इसमें से कुछ पैसा उनके खेत के घर में छिपाया हुआ है। वहां छापा मारने का निश्चय हुआ। छापा मारा भी गया, पर वहां कुछ भी नहीं मिला। केवल एक स्थान पर कुछ खुदाई होने का संदेह हुआ। इस संबंध में 'इण्डियन एक्सप्रेस' नामक समाचारपत्र में श्री अरुण शौरी नामक पत्रकार ने छापा मारने का निर्णय कैसे हुआ? प्रत्यक्ष छापा मारने की घटनाओं में किस प्रकार देर पर देर होती गई? इन सारी घटनाओं को सरकारी फाइलों के आधार पर तारीखवार विवरण दिया। वह विवरण पढ़कर ऐसा लगा कि सी. बी. आई. के कुछ अधिकारी इस छापे को असफल बनाना ही चाहते थे। छापा पड़ने वाला है यह खबर संबंधित लोगों को पहले ही मिल गई थी और माल हटा लिए जाने के बाद ही छापा पड़ा सरकार की ओर से कभी भी यह नहीं कहा गया कि फाइलों का जो उल्लेख लेख में किया गया था उसमें कोई भूल थी। कुछ दिनों के बाद सी. बी. आई. के एक वरिष्ठ अधिकारी से मैंने इस संबंध में बात की तो उसने कहा, श्री अरुण शौरी के सभी निष्कर्ष ठीक नहीं हैं। पर यह सच है कि छापा मारने में कुछ देर हो गई थी।

५ नवम्बर, १९७८ को कर्नाटक के चिकमंगलुर निर्वाचन क्षेत्र से लोक सभा का उपचुनाव हुआ। उसमें श्रीमती गांधी जनता पार्टी के श्री वीरेन्द्र पाटिल को भारी बहुमत से हराकर लोक सभा में चुनी गईं। उन दिनों कई समाचारपत्रों ने कहा कि जनता पार्टी के

अंतर्गत जो जुत्तमजुत्ता हो रहा था, और प्रशासन में जो ढिलाई थी, उसके कारण ही श्रीमती गांधी के पक्ष में जनता ने यह निर्णय दिया है। पर मुझे कभी ऐसा नहीं लगा। एक पिछड़े क्षेत्र के निर्वाचन क्षेत्र के निर्णय को सारे देश की राय समझना उचित नहीं हो सकता था। कर्नाटक के चिकमंगलूर क्षेत्र में हुए चुनाव का उक्त परिणाम अवश्य था। पर उसी वर्ष, उसी महीने की ८ नवम्बर को बम्बई में महानगर निगम का चुनाव भी हुआ था। पर वहां जनता पार्टी चुनकर आ गई। जनता पार्टी के अंतर्गत जो आंतरिक संघर्ष था अथवा प्रशासन में जो ढिलाई थी, उसकी जितनी जानकारी बम्बई के मतदाताओं को थी, उतनी चिकमंगलुर के मतदाताओं को निश्चित रूप से नहीं थी। क्योंकि बम्बई के मतदाता चिकमंगलुर के मतदाताओं की अपेक्षा अधिक पढ़े–लिखे थे और अधिक समाचारपत्र भी पढ़नेवाले थे। चुनाव का जब प्रचार चल रहा था उस समय चिकमंगलुर से कुछ समाचार आ रहे थे। उससे यही स्पष्ट होता था कि वह क्षेत्र कितना पिछड़ा है। वहां के मतदाता कहते थे कि आज भी प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी ही हैं। हमने तो इंदिरा गांधी को वोट दिया था। श्री टी. ए. पै कैसे यहां से चुनकर गए? वहां की भयानक दरिद्रता का वर्णन भी समाचारपत्रों मे आया। इसी संबंध में प्रसिद्ध विधि विशेषज्ञ श्री नानी पालकीवाला ने मद्रास के अपने भाषण में कुछ मूलभूत विचार प्रस्तुत किए थे। उसका निष्कर्ष यही था कि जनसाधारण को निरक्षर और गरीब बनाये रखने में ही राजनीतिक नेताओं का स्वार्थ बंधा होता है। साक्षरता न होने के कारण ज्ञान का अभाव होता है और उसी में गरीबी से आनेवाली मानसिक कमजोरी के कारण वह तरह–तरह के बहकावे में आ जाता है।

श्री नानी पालकीवाला का निष्कर्ष कितना ठीक था, इसका सबूत मुझे भी १९८० के चुनाव के समय मिल गया। बात उस दिन की है जिस दिन दिल्ली में मतदान था। हमारे मुहल्ले में एक सब्जीवाला हाथठेले पर सब्जी लेकर आया करता था। उसने उस दिन मेरी पत्नी से कहा, बाईजी हलवा बनाने के लिए गाजर ले लीजिए। उन दिनों चीनी की कीमत बढ़ना प्रारंभ हो गयी मेरी पत्नी ने कहा, राशन में चीनी पूरी नहीं मिलती, कीमतें भी बढ़ रही है, गाजर लेकर क्या करूं? सब्जीवाले ने बहुत ही उत्साह के साथ कहा, अब चिंता छोड़ दीजिए। इंदिरा गांधी आ रही है। अब चीनी ही चीनी मिलेगी। दूसरे दिन भी उसने बड़े ही उत्साह के साथ कहा, हमारी बस्ती के सभी लोगों ने इंदिरा को वोट दिये हैं। सारे देश में इंदिरा कांग्रेस जीत गई और उनकी सरकार भी बन गई। पर खुले बाजार में चीनी की कीमत गिरने के बजाय बढ़ती ही गई। किलो का भाव पांच रुपए हो गया था। एक दिन मैंने उस सब्जी वाले से ऐसे ही पूछा, क्यों भाई। अब चीनी का दाम क्या है? वह कुछ झेप गया था। पर उसने वैसा कुछ दिखाया नहीं। उसने कहा, साब। हाल में मैंने अभी दाम नहीं देखा। आगे चलकर चीनी का भाव आठ रुपए किलो से भी अधिक हो गया। फिर एक दिन उसने स्वयं दुखी होकर मुझसे कहा, साब, हमलोग समझते तो कुछ हैं नहीं। हमारी बस्ती में कुछ लोग आते हैं। हमें कुछ बताते हैं। हम उसे सच समझकर उसी में बह जाते हैं।

आपत्काल से पहले संसद में मारुति कम्पनी संबंधी कुछ पूछताछ हुई थी। तब श्रीमती इंदिरा गांधी ने अपने प्रधानमंत्री पद का उपयोग कर पूछताछ अधिकारियों पर दबाव डाला था। इसकी चर्चा शाह आयोग के सामने भी हुई थी। श्रीमती गांधी लोकसभा में चुनी जाने के बाद यह प्रश्न विशेषाधिकार के रूप में लोक सभा के सामने आया। विशेषाधिकार समिति के पास वह भेजा गया और उसने बहुमत से श्रीमती गांधी को दोषी ठहराया। समिति की रिपोर्ट पर सदन में चर्चा के बाद श्रीमती गांधी की सदस्यता समाप्त करने का भी निर्णय किया गया। यह तो उस समय भी विवाद का ही विषय था कि इस निर्णय के पीछे संसदीय अधिकारों के संरक्षण की भावना कितनी थी और राजनीतिक बदला लेने की कितनी। बहुतों को लगा कि इसमें राजनीतिक बदले की प्रवृत्ति ही अधिक प्रभावी थी।

यह कभी भी स्पष्ट नहीं हुआ कि संसदीय विशेषाधिकार की क्या सीमा है? पर संसद के इतिहास में, विशेषाधिकार के इस प्रश्न ने अनेक पत्रकारों और सरकारी अधिकारियों को भी परेशान किया है। ऐसे अवसर पर संबंधित पत्रकार अथवा अधिकारी के पास माफी मांगने के अलावा दूसरा कोई चारा नहीं रह जाता था। कई बार तो नोटिस मिलने पर संबंधित पत्र या पत्रकार तुरंत खेद व्यक्त कर छूट जाते थे। संबंधित व्यक्ति को लोकसभा के न्यायालय में बुलाकर उसे फटकार सुनाने की दो ही घटनाएं मुझे याद है। पण्डित नेहरू के समय ब्लिट्ज के संपादक श्री आर. के. करंजिया को लोक सभा के न्यायालय में बुलाकर उन्हें फटकारा गया था। उन्होंने तब आचार्य कृपालानी (संसद सदस्य) से संबंधित कोई अपमानजनक बात छापी थी। लेकिन उस समय सदन का वातावरण बहुत गंभीर और मर्यादापूर्ण था। बाद में उसकी गंभीरता को कुछ ठेस पहुंची। क्योंकि जिस पत्रकार को लोकसभा ने फटकारा था, उसे ही पं. नेहरू ने तुरंत मुलाकात का समय दे दिया। पं. नेहरू के इस व्यवहार के औचित्य पर उस समय चर्चा भी हुई थी। दूसरा अवसर श्रीमती इंदिरा गांधी के कार्यकाल में महाराष्ट्र के दो पुलिस अधिकारियों से संबंधित था। उन पर विपक्ष के संसद सदस्य श्री जाबुवंतराव घोटे के साथ गलत व्यवहार करने का आरोप था। इस संबंध में प्राप्त जानकारी से ऐसा नहीं लगा कि उनकी कोई बहुत बड़ी गलती थी। लेकिन शायद उच्चाधिकारियों के दबाव में आकर उन्होंने फटकार सुनकर और माफी मांगकर मामला समाप्त करना ही उचित समझा।

संसदीय संवाददाता के नाते तीस वर्ष से अधिकसमय का मेरा अनुभव यह है कि संसद सदस्य अपने संसदीय अधिकारों के प्रति बहुत ही नाजुक मिजाज होते हैं। इसे देखते हुए प्रारंभिक दिनों में श्रमजीवी पत्रकार संघ की ओर से ऐसे विशेष अधिकारों की निश्चित संहिता बनानेकी मांग की गई थी। क्योंकि पत्रकार नेताओं का मत था कि विशेषाधिकार संहिताबद्ध होने पर उसके आधार पर व्यवहार करना आसान होगा। लेकिन ऐसी आचार संहिता बनाने के लिए सरकार कभी भी तैयार नहीं हुई। मुझे याद है कि लोक सभा के दूसरे सभापति श्री अनंत शयनम अय्यंगार ने इस संबंध में एक बात कही

थी। "आप ऐसा विश्वास क्यों नहीं रखते कि संसद में जिम्मेदार व्यक्ति आते हैं जो अपने अधिकारों का दुरूपयोग नहीं करेंगे।"

विशेषाधिकार के मामले में समाचारपत्रों और पत्रकारों को नोटिसें देनेकी कई घटनाएं हुई हैं। लेकिन संसद के साथ संघर्ष की तैयारी न होने के कारण समाचारपत्र और पत्रकारों द्वारा खेद व्यक्त करने पर मामला वहीं रफादफा हो जाता था। मंत्रियों द्वारा भी संसद के विशेषाधिकार के उल्लंघन की कुछ घटनाओं की चर्चा विशेष रूप से पिछले दिनों हुई है। लेकिन समिति में सत्ताधारी पक्ष का ही बहुमत होने के कारण मंत्री को दोषी ठहराने वाली रिपोर्ट समिति ने कभी नहीं दी। इस प्रकार के कई प्रसंगों में तो अध्यक्ष खुद ही मंत्री के द्वारा विशेषाधिकार का हनन हुआ ही नहीं ऐसी राय देकर मामले को समाप्त कर देते थे।

दिल्ली में बिताये तीन दशकों से भी अधिक के मेरे पत्रकार जीवन में किसी सदस्य की सदस्यता समाप्त करने की केवल तीन ही घटनाएं मुझे याद हैं। पहली घटना पं. नेहरू के समय काग्रेंस सदस्य श्री मुद्गल से संबंधित है। प्राप्त अधिकार का दुरूपयोग करने के कारण उनकी सदस्यता समाप्त करने का प्रस्ताव पं. नेहरू ने ही विशेषाधिकार समिति में हुई चर्चा के बाद रखा था। लेकिन प्रस्ताव पर मतदान के पूर्व ही श्री मुद्गल ने अपना त्यागपत्र दे दिया। इसलिए उनकी सदस्यता समाप्त करने की कार्रवाही प्रत्यक्ष में नहीं हुई। दूसरी घटना आपत्काल में हुई। बिना छुट्टी लिए यदि कोई भी संसद सदस्य साठ दिन अधिक अनुपस्थित रहे तो उसकी सदस्यता समाप्त की जा सकती है, ऐसा एक औपचारिक नियम है। पर छुट्टी देने का अधिकार भी संबंधित सदन का होता है. और आमतौर पर प्रार्थना–पत्र आने पर छुट्टी दे ही दी जाती है। आपत्काल में जनसंघ के राज्य सभा के सदस्य श्री सुब्रह्मण्यम स्वामी अंडरग्राउंड थे। इसलिए वे सदन में साठ दिन से अधिक अनुपस्थित रहे। अत: उनकी सदस्यता समाप्त करने का प्रस्ताव सदन में आने ही वाला था। पर उसके पहले ही वे एक दिन चुपचाप राज्यसभा में आयें। प्रश्नोत्तर काल के घंटेमें एक प्रश्न पर बोलने की इच्छा व्यक्त कर उन्होंने अपनी उपस्थिति जता दी। अत: उस समय उनकी सदस्यता रद्द नहीं हुई। लेकिन फिर कुछ दिन बाद राष्ट्रविरोधी कार्रवाइयों के लिए उनकी सदस्यता रद्द की गई। यह प्रस्ताव तब सदन के नेता श्री कमलापति त्रिपाठी ने ही रखा था। यह सब जिस समय हुआ वह आपत्काल का समय था। अत: सदस्यता रद्द करनेके इस निर्णय को कोई भी उचित नहीं कह सकता।

श्रीमती इंदिरा गांधी की लोकसभा की सदस्यता रद्द करने की ऐतिहासिक घटना जनता सरकार के कार्यकाल में घटी। संबंधित विशेषाधिकार का प्रश्न मारुति कम्पनी के संदर्भ में था। आपत्काल से पहले लोकसभा में इस संबंध में उठे प्रश्नों और पूछताछ के मामले में श्रीमती गांधी ने अपने अधिकार का दुरूपयोग किया। यही विशेषाधिकार के हनन का मुख्य प्रश्न था। शाह आयोग की रिपोर्ट में कहा गया था कि श्रीमती गांधी ने मारुति कम्पनी के मामले में जरूरत से ज्यादा ध्यान दिया। विशेषाधिकार समिति की रिपोर्ट में भी बहुमत का यही निष्कर्ष था। लेकिन प्रश्न यह था कि निष्कर्ष सही होते हुए भी

सदस्यता रद्द करने जैसी कड़ी सजा देना कहा तक उचित था? उनके प्रधानमंत्री पद के काल में उनसे वह कार्रवाई हुई थी। तब वे उत्तर प्रदेश के रायबरेली क्षेत्र से चुनाव जीती थी। छठी लोकसभा में उन्हें कर्नाटक के चिकमंगलुर क्षेत्र के मतदाताओं ने चुना था। इसमें सवाल यह उठता था कि रायबरेली से निर्वाचित किसी व्यक्ति के द्वारा जो कुछ किया गया उसके कारण लोकसभा में चिकमंगलुर का प्रतिनिधित्व रद्द करने की सजा क्यों? समझा गया था कि यह सजा चिकमंगलुर के मतदाताओं को दी गई। उस समय ऐसा लगा कि इसमें संसदीय परम्परा के पालन की अपेक्षा जनता पार्टी के सदस्यों की बदले की भावना ही अधिक व्यक्त हुई। उस समय रेड्डी कांग्रेस के श्री हितेन्द्र देसाई विशेषाधिकार समिति के सदस्य थे। अपनी असहमति पत्रिका में उन्होंने यह तो माना कि श्रीमती गांधी द्वारा लोकसभा के विशेषाधिकार का उल्लघंन हुआ है। लेकिन वहीं उन्होंने यह भी कहा कि उसके लिए अब सजा देना जरूरी नहीं है। जो केवल राजनीतिक भावना से ही भरे नहीं थे ऐसे कई लोगों को श्री हितेन्द्र देसाई की भूमिका ही अधिक सही लगी। लेकिन इस अवसर पर श्रीमती इंदिरा गांधी द्वारा किया गया व्यवहार संसदीय पद्धति की प्रतिष्ठा बढ़ाने वाला नहीं था। संसद द्वारा विशेषाधिकार के हनन की भूमिका अपनाये जाने के बाद तब तक एक परम्परा बन गयी थी। कहा जाता था कि संसद के अपमान का उद्देश्य नहीं था, लेकिन संसदीय अधिकारियों को यदि ऐसा लगता है तो उस पर संबंधित व्यक्ति खेद प्रकट कर देता था। उनके (श्रीमती गांधी के) कार्यकाल में भी उनकी गलती न होते हुए भी महाराष्ट्र के दो पुलिस अधिकारियों को लोकसभा के सामने आकर माफी मांगनी पड़ी थी। और यहां तो उन्हीं के दल के एक भूतपूर्व सदस्य यह मान रहे थे कि श्रीमती गांधी के हाथों अपराध हुआ है। वे यदि खेद व्यक्त कर क्षमा मांग लेती तो मामला वहीं खत्म हो जाता और संसद की प्रतिष्ठा भी बढ़ती। लेकिन श्रीमती गांधी को शायद संसद की अपेक्षा स्वयं की प्रतिष्ठा अधिक महत्व की प्रतीत हुई। उनकी सदस्यता समाप्त करने के निर्णय के बाद भी वे सदन में बैठी रहीं। संसद की सभी परम्पराओं को ताक पर रखकर सदन में ही उन्होंने पत्रकारों को सम्बोधित किया। इस संदर्भ में मैंने विशेष रूप से यह अनुभव किया कि पं. नेहरू संसदीय मर्यादा और प्रतिष्ठा बनाये रखने के लिए लगातार जूझते रहे। लेकिन उनकी पुत्री के कार्यकाल में वह लगातार गिरती ही गई। संसदीय मर्यादा कानून के बल पर टिक नहीं सकती। उसकी बुनियाद तो सभी दलों के संसद सदस्यों के मर्यादापूर्ण व्यवहार पर ही बनी होती है। इस मामले में तो वह व्यवहार ही बचा नहीं था।

जनता सरकार की नीति कानून के अनुसार कार्य करने की थी। लेकिन कानून के अनुसार कार्य तब तक ही हो सकता है जब तक कि नागरिकों के मन में कानून के प्रति आदर या भय हो। कानून न मानने वाला यदि सामान्य हो तो दमन नीति का उपयोग करके भी उसे एक हद तक लागू किया जा सकता है। लेकिन जिस किसी कारण हो, जिन्हें समाज में कुछ सम्मान प्राप्त है वे ही जब बड़े पैमाने पर कानून तोड़ने लगें, तो दमन नीति भी अधिक उपयोगी नहीं होती। समाज में विशेष स्थान रखने वालों के विरूद्ध

बल का प्रयोग होने पर उसका उलटा ही परिणाम होता है। विपक्ष में पहुंचते ही श्रीमती गांधी ने अपने सहयोगियों की सहायता से कानून का उल्लंघन करने की इस प्रकार की घटनाओं की धूम मचा दी। इस संदर्भ में दो–तीन उदाहरण ही पर्याप्त होंगे। लखनऊ में इंदिरा काग्रेस ने एक रैली निकालना तय किया था। जनता सरकार ने उन्हें अनुमति दी थी। व्यवस्था की सुविधा के लिए एक मार्ग निश्चित किया गया। रैली का नेतृत्व श्री कमलापति त्रिपाठी कर रहे थे। बिना कोई सूचना दिये रैली का रास्ता बदल गया। पुलिस द्वारा रोके जाने पर वहीं हुआ जो होना था। रैली ने पुलिस पर पत्थर फेंके। पुलिस ने लाठीचार्ज किया। कुछ लोग घायल हुए। रैली अस्त–व्यस्त हो गई, और दूसरे दिन पुलिस द्वारा अत्याचार के समाचार चारों ओर फैल गए।

नयी दिल्ली में भी ऐसी ही एक रैली निकाली गई थी। उसका नेतृत्व श्री संजय गांधी कर रहे थे। कनाट सर्कस में रैली के कुछ लोगों ने काफी गदर मचाया। पुलिस द्वारा लाठीजार्च किया गया और फिर लखनऊ वाली घटना की ही पुनरावृत्ति हुई। श्रीमती गांधी के विरूद्ध जनता सरकार की ओर से कार्रवाई होने के कारण उनके प्रति सहानुभूति रखने वालों का नाराज होना स्वाभाविक था। लेकिन अन्य लोगों की जान को खतरा पैदा कर उस नाराजी को व्यक्त करने का समर्थन कभी नहीं किया जा सकता। इंदिरा काग्रेस के उत्तर प्रदेश के एक कार्यकर्ता, श्री दीनानाथ पाण्डे ने पिस्तौल दिखाकर एक यात्री हवाई जहाज के अपहरण का प्रयत्न किया। स्वभावत: काफी गड़बड़ हो गई। सभी यात्री घबरा गए। अपहरण का यह प्रयास सफल नहीं हुआ। श्री पाण्डे गिरफ्तार हुए। उन्होंने यह स्वीकार किया कि अपनी नाराजी व्यक्त करने के लिए उन्होंने काम किया। जनता के प्राणों से खेलने का श्री पाण्डे द्वारा किया गया यह काम किसी भी दृष्टि से समर्थनीय नहीं है। लेकिन इंदिरा कांग्रेस के कुछ नेताओं ने इस काम का भी समर्थन किया। उनका यह तो कहना था कि श्रीमती गांधी से संबंधित सरकारी नीति का यह विरोध था। इसके अलावा उन्होंने यह भी कहा कि पिस्तौल नकली होने के कारण हथियार रखने का गैरकानूनी अपराध भी नहीं हुआ था। हवाई जहाज के चालक को उस ओर ध्यान ही नहीं देना था। लेकिन हवाई जहाज के चालक को यह कैसे पता चलता कि पिस्तौल नकली थी? वह तो किसी प्रकार अपने और दूसरे यात्रियों की जान को किसी प्रकार का खतरा नहीं उठा सकता था। किसी भी दृष्टि से देखा जाये तो भी यह समाज विरोधी कार्रवाही थी। पर श्री दीनानाथ पाण्डे को अपने इस साहस का पुरस्कार मिला। १९८० के बाद हुए चुनाव में वे उत्तर प्रदेश में इंदिरा कांग्रेस की ओर से विधानसभा के सदस्य बने।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ

स्वतंत्रता मिलने के पहले से ही राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के बारे में जितनी गलतफहमियां फैली, उतनी शायद किसी भी अन्य संगठन के बारे में नहीं हुई होगी। ऐसा नहीं माना जा सकता कि इन गलतफहमियों के लिए संघ की कार्यप्रणाली बिलकुल ही जिम्मेदार नहीं है। लेकिन मुख्य रूप से इसके दो कारण हैं। एक तो यह कि संघ के बारे में सही जानकारी न होना, और दूसरा यह कि संघ की बढ़ती हुई शक्ति के बारे में भय प्रतीत होना। स्वतंत्रता मिलने के पहले से ही राजनीतिक क्षेत्रों में यह धारणा रही कि संघ का उद्देश्य कुछ भयंकर है। शायद इसीलिए संघ का संबंध महात्मा गांधी की हत्या से जोड़ा गया। संघ का समाज से दूर हो जाने का एक कारण यह भी रहा कि संघ के कुछ कार्यकर्ताओं में एक भावना पैदा हो गई। वह यह थी कि देश की चिंता केवल उन्हें ही है, और किसी को नहीं है। जनता पार्टी के निर्माता श्री जयप्रकाश नारायण के मन में भी संघ के संबंध में बहुत सारे भ्रम थे। इसका कारण यह था कि पहले कभी संघ से उनका संबंध आया ही नहीं था। संघ के कार्यकर्ताओं में भी श्री जयप्रकाश जी के प्रति आदर नहीं था। लेकिन संघ के साथ संबंध आने के बाद श्री जयप्रकाश जी की राय तो अच्छी हो ही गई, आपत्काल के दौरान "अंधेरे में एक प्रकाश — जयप्रकाश, जयप्रकाश" यह नारा संघ कार्यकर्ताओं ने भी लगाया। १९७७ के चुनावों में संघ के कार्यकर्ताओं ने खुलेआम जनता पार्टी के लिए काम किया। उस समय किसी ने यह आरोप नहीं लगाया कि वे जनसंघ के उम्मीदवारों के प्रति पक्षपात बरतते हैं और जनता पार्टी के अन्य दलों के उम्मीवारों का प्रचार करने में उतना ध्यान नहीं देते। लेकिन केन्द्र और कुछ राज्यों में जनता सरकार बनने के बाद संघ से संबंध की बात विवाद की हो गई।

सार्वजनिक रूप से इस विवाद की शुरूआत एक छोटी—सी घटना से हुई। केन्द्रीय जनता सरकार ने कुछ राज्यों में मध्यावधि चुनाव करवाये थे और उनमें से अधिकांश राज्यों में जनता सरकारें ही बनी। इनमें से ही एक हिमाचल प्रदेश की सरकार थी। जनसंघ गुट के श्री शांताकुमार वहां के मुख्यमंत्री बने। इस संदर्भ में केन्द्र में मतभेद की पहली चिंगारी हिमाचल प्रदेश में पड़ी। वैसे देखा जाए तो राज्यों में विधानसभा चुनाव के बाद बने मंत्रिमण्डल ही जनता पार्टी में अंदरूनी संघर्षों का कारण बने। उस समय राज्यों में चुनाव हुए थे। पश्चिम बंगाल में मार्क्सवादी तथा कर्नाटक में इंदिरा कांग्रेस की सरकार बनी थी। पंजाब में अकाली दल और जनता पार्टी की संयुक्त सरकार बनी। पंजाब में जनता पार्टी का अर्थ मुख्य रूप से पहले का जनसंघ ही था। हरियाणा, बिहार तथा उत्तर प्रदेश में जनता सरकारे बनीं और मुख्यमंत्री पद भारतीय लोकदल के सदस्यों को मिला। राजस्थान, मध्यप्रदेश और हिमाचल प्रदेश, इन तीन राज्यों में जनसंघ गुट के मुख्यमंत्री बने। संगठन कांग्रेस के लिए संतोष की बात यही थी कि केंद्र में प्रधानमंत्री ही उसका था। परंतु समाजवादी गुट का मुख्यमंत्री किसी भी राज्य में न बना। उस समय यह

शिकायत हुई थी कि जनसंघ के श्री नानाजी देशमुख और भारतीय लोकदल के श्री चरण सिंह ने मुख्यमंत्री पदों का बंटवारा आपस में कर लिया।

समाजवादी गुट की नाराजगी का एक और कारण था। कुछ समय बाद महाराष्ट्र में हुए चुनावों में जनता पार्टी को बहुमत नहीं मिला। संख्या में कांग्रेस के विधानसभाई सदस्य अधिक थे। लेकिन कांग्रेस फिर से विभाजित हो गई थी। अत: संख्या में सबसे अधिक चुने जाने के बाद भी अन्य किसी गुट का सहयोग लिए बिना सरकार बनाना उसके लिए संभव नहीं था। महाराष्ट्र में जनता पार्टी के नाम पर जो लोग चुने गए थे उनमें जनसंघ और समाजवादी गुट की संख्या लगभग समान थी। इनमें से ही कोई जनता विधायक दल का नेता बन सकता था। रेड्डी कांग्रेस के श्री यशवंतराव चव्हाण को लगा कि यदि सरकार बनाने के लिए जनता पार्टी का सहयोग लिया जाये तो संख्या अधिक होने के कारण उनकी पार्टी का मुख्यमंत्री ही हमे स्वीकार करना होगा। उनका उद्देश्य चाहे जनता पार्टी में फूट डालने का रहा हो या उनके मन में जनसंघ के प्रति कटुता रही हो, उन्होंने जनता पार्टी के कुछ समाजवादी नेताओं से कहा कि श्री बापू कालदाते जैसे प्रगतिशील व्यक्ति को आप अपना नेता चुनते हैं तो ही आपके साथ हमारा सहयोग आसानी से हो सकेगा। कम से कम एक राज्य का मुख्यमंत्री पद मिलने की ललक से समाजवादी गुट के मुंह में पानी आ गया। जनसंघ के नेता श्री उत्तमराव पाटिल थे। हमारा नेता कौन हो, इस मामले में श्री यशवंतराव चव्हाण दखलअंदाजी कर रहे हैं, इस बात को लेकर जनता पार्टी में अधिकांश लोग नाराज थे और यह नाराजगी जनसंघ गुट में विशेष रूप से थी। उसे लगा कि श्री उत्तमराव पाटिल मुख्यमंत्री न बनने पाये इसी उद्देश्य से श्री यशवंतराव चव्हाण का यह षड्यंत्र है। उन्होंने शायद तय किया कि वे ऐसा नहीं होने देंगे। केवल जनसंघ गुट की नीति से हमें मिलने वाला मुख्यमंत्री पद हाथ से चला गया, इस बात को लेकर समाजवादी गुट में नाराजी थी। इस नाराजी को श्री मधु लिमये की पत्नी श्रीमती चंपा लिमये ने दिल्ली के लोहिया अस्पताल में एक डॉक्टर के कमरे में मेरी उनकी भेंट होने पर सहज ही व्यक्त कर दी। श्रीमती लिमये ने कहा, "महाराष्ट्र में सरकार बनाने के लिए श्री चव्हाण सहयोग देने को तैयार थे, पर नानाजी ने (नानाजी देशमुख) सब गड़बड़ कर दिया।"

जिन राज्यों में स्पष्ट रूप से जनता सरकारें बनने की संभावना थी, उनमें से कुछ राज्यों में लोकसभा में चुने गए व्यक्तियों को मुख्यमंत्री पद संभालने के लिए भेजा गया था। लेकिन महाराष्ट्र में ऐसी बात नहीं थी। जनता पार्टी की दूसरे दल के साथ संयुक्त सरकार बनती है या नहीं, यह तो विधायक दल का नेता चुने जाने के बाद निश्चित होना था। इस संदर्भ में जनता पार्टी की हाईकमान द्वारा एक निर्णय लिया गया जिसके कारण श्री बापू कालदाते का नाम अपने आप हट गया। निर्णय यह था कि मुख्यमंत्री बनने के लिये केंद्र से किसी को भी भेजा नहीं जायेगा। लेकिन समाजवादी गुट की नाराजगी बढ़ गई और उन्होंने नेता तय करने के लिए मतदान कराना चाहा। उनकी ओर से श्री निहाल

अहमद को खड़ा किया गया। उनका व्यक्तित्व प्रभावी नहीं था। जनसंघ गुट ने अपनी ओर से श्री उत्तमराव पाटिल को खड़ा किया। बाहर भले ही पता न चला हो, लेकिन जनता पार्टी के अंदरूनी संघर्ष का यह श्रीगणेश था। महाराष्ट्र में चुने गए जनता पार्टी के लोगों में जनसंघ और समाजवादी गुट के बाद संगठन कांग्रेस का नम्बर था। उनकी राय समाजवादियों के प्रति हमेशा ही कुछ कड़वी रही है। इससे श्री उत्तमराव पाटिल ही बहुमत से चुने गए। श्री यशवंतराव चव्हाण ने कांग्रेस और इंदिरा कांग्रेस की संयुक्त सरकार बनायी और मुख्यमंत्री बने श्री वसंतदादा पाटिल। लेकिन वे भी इस पद पर टिक नहीं सके। जनता पार्टी के साथ मिलजुलकर श्री शरद पवार ने पुलोद की स्थापना की और वे स्वयं मुख्यमंत्री बने। श्री चव्हाण का श्री वसंतदादा की अपेक्षा श्री शरद पवार के प्रति अधिक अपनापन था। इसलिए यह भी धारणा बनी की श्री चव्हाण ने ही यह सब करावाया। महाराष्ट्र में तो श्री शरद पवार के नेतृत्व में जनसंघ और समाजवादी गुट मिलजुलकर काम कर रहे थे। लेकिन कुछ मात्रा में केन्द्र में और विशेषत: जहां जनसंघ गुट के हाथ मुख्यमंत्रित्व था, उन राज्यों में जनसंघ और समाजवादियों के संबंध लगातार धुंधुआ रहे थे।

श्री राजनारायण द्वारा प्रस्तुत चुनाव याचिका के परिणामस्वरूप जो महाभारत हुआ, उसमें से ही जनता पार्टी का जन्म हुआ था, और वे ही राजनारायण उस पार्टी को तोड़ने का कारण भी बने। श्री राजनारायण केन्द्र में मंत्री थे, फिर भी उन्होंने शिमला के परेड ग्राउंड पर अपने गुट की ओर से अलग सभा करनी चाही। हिमाचल सरकार ने विरोध व्यक्त किया और कहा कि परेड ग्राउंड पर केवल सरकारी कार्यक्रम करने की ही परम्परा है। पर राज्य सरकार के विरोध को ताक पर रखकर श्री राजनारायण ने वहां सार्वजनिक सभा आयोजित की। राज्य सरकार की इच्छा के विरूध्द किसी केन्द्रीय मंत्री द्वारा उसी राज्य में इस तरह के गलत व्यवहार की यह शुरुआत थी। निश्चय ही हिमाचल प्रदेश सरकार को यह बात पसंद नहीं आयी। पर श्री राजनारायण ने यह भूमिका अपनायी कि मैं तो सभा में बोलूंगा, राज्य सरकार चाहे तो मेरे विरूध्द कार्रवाई करे। लेकिन राज्य सरकार ने उस समय वहां कुछ नहीं किया, पर केन्द्र सरकार से शिकायत की। अपनी सभा में अड़चन डालने की बात श्री राजनारायण को भला कैसे सहन होती! सभा में दिये भाषण में उन्होंने जनसंघ गुट पर तो कीचड़ उछाला ही, प्रधानमंत्री मोरारजी देसाई के विरूध्द भी वे बोले। इस संदर्भ में हिमाचल प्रदेश के मुख्यमंत्री श्री शांता कुमार जी को मैंने एक बार पूछा, “जब इसी परेड ग्राउंड पर कुछ दिन पहले विदेश मंत्री श्री अटल बिहारी बाजपेयी की सभी हुई थी तो फिर राजनारायण की सभा के लिए ही आपका विरोध क्यों! श्री शांताकुमार ने कहा कि वह सभा हिमाचल सरकार की ओर से थी। श्री राजनारायण की यदि उसी स्थान पर भाषण देने की इच्छा तो वे हमसे कहते। हम उनकी भी सभा आयोजित करते। अलिखित ही सही, लेकिन यह एक पुराना नियम है कि परेड ग्राउंड का उपयोग सरकारी कार्यक्रमों के अलावा न किया जाए। चूंकि प्रधानमंत्री ने मांगी

थी इसलिए श्री राजनारायण के उस भाषण का टेप भी हमें उन्हें देनी पड़ी। इस घटना के बाद राजनारायण ने जनसंघ और संघ के विरूध्द खुलेआम बोलना शुरू कर दिया।

उस समय प्रधानमंत्री श्री मोरारजी देसाई विदेश दौरे पर थे। वे जिस दिन वापस आये उस समय हवाई अड्डे पर अन्य मंत्रियों की तरह ही उनका स्वागत करने के लिए श्री राजनारायण भी हाजिर थे। हवाई जहाज से उतरने पर श्री राजनारायण ने उन्हें कीमती इत्र लगाया। इस पर मोराराजी भाई बोले कि अभी आप सुगंधित इत्र लगा रहे हैं। लेकिन मैंने सुना है कि मेरी अनुपस्थिति में आपने बहुत दुर्गंध फैलायी है। इसी बात का उल्लेख उस दिन लोकसभा में भी हुआ। लोकसभा की कार्यवाही की रेडियो पर समालोचना उस सप्ताह मैं कर रहा था। अपनी समालोचना को आकर्षक बनाने के हेतु से मैंने इस घटना को भी लिखा। परंतु संबंधित रेडियो अधिकारी ने कहा कि हमने जिस घटना की खबर भी नहीं दी, आप उसका उल्लेख क्यों करते हैं? सरकार में जो विवाद हो जाते हैं उन्हें रेडियो के माध्यम से क्यों प्रसारित किया जाए? मेरी दृष्टि से उस घटना का समाचार के रूप में भी महत्व था। मैंने कहा, मेरी समालोचना का आप जैसा चाहे वैसा प्रसारण कर सकते है, लेकिन रेडियो द्वारा छिपाने से कोई भी बात छिप नहीं सकती। उल्टा यह माना जायेगा कि कांग्रेस की तरह ही जनता शासन में भी रेडियो सरकार को परेशानी में न डाले, ऐसे समाचार ही देता है। इसके कुछ ही दिन बाद श्री देसाई द्वारा गृहमंत्री श्री चरण सिंह और श्री राजनारायण के त्यागपत्र लिए जाने की घटना हुई।

श्री चरण सिंह और श्री राजनारायण दोनों के त्यागपत्र भले ही एक ही समय लिए गए हो, पर उसके कारण अलग अलग थे। कम से कम उस समय तो श्री चरण सिंह का जनसंघ गुट से झगड़ा नहीं था। उनकी लड़ाई मुख्य रूप से श्री देसाई के साथ ही थी। यह तो सभी जानते हैं कि श्री वाजपेयी और श्री आडवाणी के प्रयत्नों से ही उन्हें मंत्रिमंडल में वापस लिया गया। वैसे तो श्री मोरारजी देसाई दोनों में से किसी को भी वापस लेने के लिए तैयार नहीं थे, लेकिन श्री राजनारायण के लिए तो वे बिलकुल ही तैयार नहीं थे।

श्री वाजपेयी और श्री आडवाणी ने भी राजनारायण के लिए विशेष आग्रह नहीं किया। लेकिन घटनाओं के क्रम से तो यही साबित होता है कि उस समय राजनारायण की भूमिका इस तरह की थी जैसे श्री चरणसिंह राम हो और वे स्वयं हनुमान। श्री चरणसिंह को मंत्रिमंडल में वापस लिए जाने के बाद श्री राजनारायण ने खुलेआम यह कहना प्रारंभ किया कि श्री चरणसिंह जनता पार्टी को अंदर से खोखला करेंगे और वे स्वयं उसे बाहर से गिरायेंगे। श्री चरणसिंह ने भी ऐसा स्पष्टीकरण कभी नहीं दिया कि श्री राजनारायण की बातों से उनका कोई संबंध नहीं है।

जनसंघ के साथ हुई नाराजगी के कारण यह तो स्वाभाविक ही था कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ पर भी कीचड़ उछाला जाता। क्योंकि भावना यही थी कि जनसंघ माने

ही राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ है। और एक हद तक यह सच भी थी। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के लोग ही जनसंघ में आये थे। जनता शासन के कार्यकाल में केन्द्र और राज्य जनसंघ मंत्रियों के प्रति प्रमुख रूप से एक शिकायत होती थी कि वे मंत्री इनके अधिकार के हर मुख्य पद पर संघ कार्यकर्ताओं की भरती करते हैं। यह शिकायत बाद में इतनी बढ़ गई कि इस संबंध में सरसंघचालक श्री बालासाहब देवरस के साथ जब वे दिल्ली आये हुए थे एक बार बात हुई। मेरी जानकारी के अनुसार यह शिकायत श्री वाजपेयी के घर श्री बिजू पटनायक ने की थी। इस पर श्री देवरस का कहना था कि ऐसा हुआ है? केन्द्र में जो संघ से संबंधित जनसंघ के जो मंत्री हैं, क्या उनके बारे में भी आप ऐसा कह सकते हैं?

श्री वाजपेयी के विदेश मंत्रालय में जो बड़ी नियुक्तियां हुईं उनमें गुट से जिनका संबंध जोड़ा जा सके ऐसे समाजवादी गुट के श्री नाना साहब गोरे ही थे। इंदिरा गांधी के काल में रूस में नियुक्त श्री इन्द्रकुमार गुजराल को बदलने का भी विचार भी श्री वाजपेयी ने नहीं रखा था। इस पर श्री पटनायक निश्चित रूप से कुछ नहीं कह पाये। लेकिन ये आरोप कम भी नहीं हुए। मैं ऐसा तो नहीं कह सकता हूं कि संघ से संबंधित लोगों की नियुक्तियां बिल्कुल भी नहीं हुई होंगी, लेकिन इसके पीछे कोई सुनियोजित प्रयत्न रहा हो, ऐसा सबूत भी कम से कम राजधानी में उपलब्ध नहीं हुआ। उलटे जनसंघ कार्यकर्ताओं की संबंधित मंत्री के प्रति यह शिकायत रहती थी कि मंत्री बनने के बाद वे कार्यकर्ताओं को भूल गए हैं। श्री वाजपेयी जैसे कुछ मंत्रियों को तो इसका परिणाम भी भुगतना पड़ा।

इस तरह की शिकायतें किस प्रकार फैलती थीं, इसके कुछ उदाहरण बताने लायक हैं। इसकी चर्चा मैं पहले कर चुका हूं कि सूचना एवं प्रसारण मंत्री श्री लालकृष्ण आडवाणी समाचारपत्र माध्यम का उपयोग सही काम के लिए भी करने में किस तरह असफल रहे। लेकिन उन पर भी रेडियो में, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के लोगों की नियुक्ति का आरोप लगाया गया। एक बार मेरे एक सिख पत्रकार ने ऐसी ही बातों–बातों में यह आरोप लगाया। मैंने कहा, अनिश्चित आरोप न लगाइये। अभी भी हम कम से कम व्यक्तिगत स्तर पर तो इसका निर्णय कर सकते हैं। रेडियो में कितने पद खाली थे, उन पर किनकी नियुक्ति हुई और उनमें से कितने लोग संघ से संबंधित थे, इसके क्या कुछ आंकड़े आपके पास हैं? उनमें से निचले स्तर पर होनेवाली नियुक्ति से सीधे–सीधे किसी मंत्री का संबंध ही नहीं होता और ऊपरी स्तर पर कोई नयी नियुक्ति ही नहीं हुई थी। इस जानकारी से वह पत्रकार मित्र हड़बड़ा गया। वह बोला, स्थायी नियुक्ति में नहीं, लेकिन रेडियो तथा टीवी पर कार्यक्रमों के लिए जिन पत्रकारों को बुलाया जाता है, उसमें अवश्य ऐसा होता है। मैंने नाम पूछे। उसने मुझे तीन नाम बताये। ये तीनों राजधानी में वर्षों से काम कर रहे पत्रकार थे और उनमें से केवल एक ही ऐसा था जिसका संबंध जनसंघ या राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ से लगाया जा सकता था। और ऐसा भी नहीं था कि ये तीनों

पत्रकार जनता शासनकाल में ही रेडियो और टीवी पर आने लगे हों, रेडियो पर उससे पहले भी उन्हें बुलाया जाता था।

मेरे विचार से इस तरह का प्रचार मुख्य रूप से इंदिरा कांग्रेस के गुट से शुरू हुआ था और उसके शिकार हुए जनता पार्टी के समाजवादी तथा अन्य गुट के लोग। इसका एक सबूत १९८० के चुनावों के बाद मिला। श्री संजय गांधी की पत्नी श्रीमती मेनका गांधी जिसकी संपादक थीं, उस "सूर्य" पत्रिका में श्री आडवाणी पर एक लेख छपा। उस लेख में इस बात का उल्लेख था कि वे रेडियो तथा टीवी पर संघ के लोगों को किस प्रकार शामिल करते हैं। उसमें दिये गए नामों की सूची में एक नाम मेरा भी था। कहा गया था कि एक वर्ष में बारह बार इनका "सामयिकी" कार्यक्रम में समावेश किया गया। दिल्ली में गुजारे शुरू के कुछ समय को छोड़ा जाए तो, भाषा के स्वरूप पर मतभेद होने के कारण मैंने स्वयं ही रेडियो पर न जाने का निर्णय किया था। बाद में 'महाराष्ट्र टाइम्स' की नौकरी के कारण मुझे आर्थिक रूप से इसकी आवश्यकता भी नहीं थी। आपत्काल में रेडियो पर कार्यक्रमों को आयोजित करनेवाले अधिकारी मेरे बहुत पुराने मित्र थे। उन्होंने मुझे रेडियो पर बोलने का बार—बार आग्रह किया। लेकिन हमेशा इनकार करता रहा। 'महाराष्ट्र टाइम्स' में से अवकाश ग्रहण करने के बाद आर्थिक आवश्यकता के कारण मैंने यह तय किया कि अवसर मिलने पर रेडियो पर जाऊंगा। मुझे कुछ कार्यक्रम मिले भी, लेकिन इसका संबंध श्री आडवाणी के साथ कहीं भी नहीं था। उन्हें शायद पता भी नहीं होगा कि मुझे इस तरह के कुछ कार्यक्रम दिये गए हैं। और वह भी कितने? साल में बारह, यानी कि महीने में एक "सामयिकी" यह कार्यक्रम रोज होता था। उस समय तक पत्रकार के रूप में मेरा भी अपना स्थान बन गया था, इसलिए मुझे आडवाणी की सिफारिश की जरूरत ही नहीं थी। लेकिन कहावत है "पीलिया होने पर सभी कुछ पीला दिखाई देता है।" जनता पार्टी में पहले का जनसंघ गुट तथा उससे संबंधित राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के संदर्भ में भी ऐसा ही हुआ।

केन्द्र के श्री बृजलाल वर्मा पर हुई चर्चा को यदि छोड़ दें तो जनसंघ गुट के मंत्रियों में से अन्य किसी के भी नाम की चर्चा भ्रष्टाचार के मामले में हुई हो, ऐसा कम से कम जनता शासनकाल में सुनाई नहीं दिया। बल्कि ऐसी धारणा थी कि हरियाणा, उत्तर प्रदेश और बिहार की अपेक्षा, जहां भारतीय लोकदल के मुख्यमंत्री थे, उन राज्यों में अधिक अच्छा कार्य हुआ जहां के मुख्यमंत्री जनसंघ गुट के थे। ये राज्य थे राजस्थान, मध्य प्रदेश और हिमाचल प्रदेश। परंतु मध्यप्रदेश में अवश्य ही मुख्यमंत्री के व्यक्तित्व पर काले बादल छाये रहे। पहले श्री कैलाश जोशी वहां के मुख्यमंत्री बने। लेकिन उनके स्वास्थ्य के बारे में इतनी बातें फैली कि आखिर उन्होंने त्यागपत्र दे दिया। उसके बाद मुख्यमंत्री बने श्री वीरेन्द्र कुमार सकलेचा। श्री कैलाश जोशी की तरह वे भी जनसंघ गुट के ही थे। श्री सकलेचा पर किसी निश्चित मामले में भ्रष्टाचार का आरोप नहीं लगाया गया, लेकिन यह जरूर कहा गया कि उन्होंने बहुत अधिक पैसा कमाया है। इसी बीच

मुख्यमंत्री पद पर रहते हुए वे सरकारी हवाई जहाज से नेपाल यात्रा कर आये। इस कारण यह वार्ता फैली कि कमाया हुआ पैसा उन्होंने नेपाल की बैंक में रखा है। इसमें सचाई कितनी है और समाजवादी गुट द्वारा किया गया प्रचार कितना, यह तो मैं नहीं कह सकता, लेकिन मैं यह भी नहीं कह सकता कि उनका व्यवहार एकदम साफ था और उन पर लगाए गए आरोप बिल्कुल गलत थे।

इस बात की चर्चा थी कि दिल्ली विकास प्राधिकरण (डी डी ए) की ओर से होनेवाली जगहों की नीलामी में भी श्री सकलेचा के एक पुत्र भाग लेकर ऊंची–ऊंची रकम की बोली लगाते हैं। लोकसभा में भी यह विषय कई बार आया। उस समय के मंत्री श्री सिकंदर बख्त ने बार–बार इस बात पर जोर दिया कि सरकार ने कोई भी गलत व्यवहार नहीं किया है। परंतु उन्होंने इस बात को हमेशा टाला कि श्री सकलेचा के पुत्र ने नीलामी में भाग लिया था या नहीं। वे कहते थे कि जिसकी बोली स्वीकार कर ली जाती है उसी का रिकार्ड सरकारी कागजों पर होता है। नीलामी में भाग लेनेवाले अन्य लोगों के नाम लिखने की आवश्यकता नहीं होती। वैसे जवाब सही था, लेकिन संदेह बढ़ता गया। श्री सकलेचा ने भी कभी इनकार नहीं किया कि उनके पुत्र ने नीलामी में भाग नहीं लिया था। इस कारण संदेह और भी बढ़ा। साथ में यह प्रश्न भी उठा कि इतनी ऊंची बोली लगाने के लिए उनके लड़के के पास पैसा कहां से आया। श्री सकलेचा के पास कुछ पुश्तैनी जायदाद होने पर भी वे लाखों में व्यवहार कर सकते हैं ऐसा उनके मुख्यमंत्री बनने के पहले कभी नहीं लगा था। आखिर श्री सकलेचा पर होनेवाली चर्चा का दबाव इतना बढ़ा कि उन्हें त्यागपत्र देना पड़ा। उनके स्थान पर जनसंघ गुट के ही श्री सुंदरलाल पटवा मध्य प्रदेश के तीसरे मुख्यमंत्री बने। उनके बारे में कोई विवाद नहीं हुआ। मुख्यमंत्री पद पर उनके कार्यकाल का समय भी बहुत थोड़ा रहा।

दलबदल पर रोक लगाने के विधेयक का श्री मधु लिमये द्वारा विरोध और राजनारायण द्वारा किया गया हिमाचल सरकार का विरोध, इन दो बातों से जनता पार्टी में झगड़ों की शुरुआत हुई। पर आमतौर पर यह माना जाता है कि दोहरी सदस्यता के प्रश्न पर जनता पार्टी टूटी। लेकिन निर्दलीय दृष्टि से विचार करने पर लगता है कि वास्तव में असली प्रश्न यह था अथवा अन्य कारणों से इस प्रश्न को आगे लाया गया? इस संदर्भ में महाराष्ट्र के किसान मजदूर दल की ओर से लोकसभा में चुने गए मराठवाडा के श्री केशवराव घोंडगे ने जो कुछ कहा वह मजाकिया होते हुए भी बहुत कुछ कह जाता है। महाराष्ट्र के पुलोद मंत्रिमंडल में जनता पार्टी के जनसंघ गुट के साथ–साथ किसान मजदूर दल के कुछ नेता भी शामिल थे। केन्द्र में उन्हें अवसर न मिलने के कारण हो अथवा मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी के प्रभाव के कारण, वे जनता पार्टी के जनसंघ गुट से राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के साथ संबंध के कारण कुछ दूर ही रहते थे। जिस समय दोहरी सदस्यता की चर्चा ने जोर पकड़ा तब किसान मजदूर दल ने भी यह भूमिका अपनायी कि इस प्रश्न का निर्णय होने तक हम जनसंघ गुट के साथ नहीं रह सकेंगे। एक दिन श्री घोंडगे

बात—बात में बोले कि शादी हुए बिना हमारा संबंध है। विवाह के बंधन में न फंसते हुए भी हम सारे सुख चाहते हैं। एक बार तो वे बोले, शादी हो गई, बच्चे भी हुए। बाद में एक दिन पति ने पत्नी से पूछा, तुम्हारा गोत्र क्या है? गोत्र बताने के बाद बोला, तुम्हारा हमारा गोत्र नहीं मिलता, इसलिए आज के बाद हम साथ नहीं रह सकते। हमारा भी ऐसा ही चल रहा है।

जो बात श्री घोंडगे ने कही, वैसा ही व्यवहार अन्य लोगों द्वारा भी हुआ। श्री चरणसिंह १९६७ में कांग्रेस से बाहर निकलने के बाद जनसंघ के बल पर ही मुख्यमंत्री बने थे। उस समय जनसंघ का संबंध राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के साथ होने के कारण वह सांप्रदायिक है, यह अहसास उन्हें नहीं हुआ था। श्री मोरारजी देसाई ने जब उनका त्यागपत्र मांगा तब वे श्री वाजपेयी और श्री आडवाणी के प्रयत्नों से ही मंत्रिमंडल में वापस आये। वे तब तक मंत्रिमंडल से चिपके रहे जब तक कि श्री मोरारजी देसाई ने स्वयं त्यागपत्र नहीं दे दिया। उस समय उन्हें संघ से संबंधित श्री वाजपेयी और श्री आडवाणी की मदद नहीं अखरी। इसी तरह जब तक श्री मोरारजी देसाई ने अविश्वास प्रस्ताव पर चल रही चर्चा के दौरान त्यागपत्र नहीं दिया था, तब तक श्री फर्नांडिस को भी राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ से कोई शिकायत नहीं थी। १९८० के चुनावों के बाद तो इसी मुद्दे पर जनता पार्टी से अलग होने वाले श्री जगजीवन राम भी जनसंघ के बल पर ही प्रधानमंत्री बनने के सपने देख रहे थे। एक बार तो उन्होंने स्पष्ट रूप से ही कहा था कि दोहरी सदस्यता का तो सवाल ही नहीं उठता।

केवल जनता पार्टी के लोगों का ही नहीं, बल्कि अन्य नेताओं का व्यवहार भी इस संदर्भ में बहुत अलग नहीं रहा। श्री यशवंतराव चव्हाण पहले संघ तथा जनसंघ की बहुत आलोचना करते थे। लेकिन १९६९ में हुए राष्ट्रपति के चुनाव में जनसंघ के मत उनके उम्मीदवार श्री संजीव रेड्डी को ही मिले। इस बात पर उन्होंने कभी खेद व्यक्त नहीं किया। १९७९ में उन्होंने जनता सरकार के विरूध्द अविश्वास प्रस्ताव अवश्य रखा। लेकिन उनके भाषण में कोई जान नहीं थी ऐसी शिकायत तब उनके ही दल के लोगों ने की थी। उस समय तो ऐसी चर्चा थी कि प्रस्ताव रखने की उनकी इच्छा नहीं थी, परंतु उनके दल के श्री उन्नीकृष्णन जैसे कम्युनिस्ट सदस्य के दबाव में आकर उन्होंने वह प्रस्ताव रखा। संघ और जनसंघ के प्रति वे शुरू से ही नाराज थे। पहले वे विदेश मंत्री भी बने थे। इस पृष्ठभूमि में अपने भाषण में उन्हें श्री वाजपेयी की विदेश नीति की कड़ी आलोचना करनी चाहिए थी, परंतु भाषण की शुरुआत में ही उन्होंने कह दिया था कि विदेश नीति के बारे में उन्हें कुछ नहीं कहना है। उनके इस कथन का अर्थ सभी ने यही लगाया कि विदेश नीति पर कहने के लिए उनके पास कुछ नहीं है। वे आर्थिक नीति पर ही अधिक बोले। लेकिन जब संयुक्त मंत्रिमंडल की बात चली और उपप्रधानमंत्री पद मिलने की संभावना दिखाई दी तब जिन श्री चरणसिंह और फर्नांडिस की श्री चव्हाण ने आलोचना की थी, उन्हीं से हाथ मिलाने को वे तैयार हो गए। उन्हें इस बात की जानकारी

थी कि जिन श्रीमती गांधी की तानाशाही प्रवृत्ति के विरूद्ध वे बोलने लगे हैं उन्हीं का सहयोग मिलने से यह सरकार बन रही है। इस कारण उनके जैसे राजनीतिज्ञ को यह कल्पना तो होनी ही चाहिए थी कि यह सरकार अल्पकालीन होगी। परंतु जनसंघ गुट की प्रतिक्रियावादी वृत्ति से वे इतने डरे थे कि श्री मोरारजी देसाई के साथ सहयोग कर उप प्रधानमंत्री पद लेने के लिए वे तैयार नहीं हुए। यदि वे तैयार हो जाते तो जितने दिन वह पद उनके पास रहा, उसकी अपेक्षा काफी अधिक दिन तक वह रहा होता। उनके मन का डर देखते हुए श्री वाजपेयी ने उनके सामने एक और प्रस्ताव रखा था। प्रस्ताव यह था कि जनसंघ गुट बाहर रहकर सरकार का समर्थन करेगा, आप उप प्रधानमंत्री बनकर जनता सरकार को टिकने दीजिए। पर इसके लिए भी वे तैयार नहीं हुए। लेकिन १९८० के चुनावों में जीतने के लिए संघ और जनसंघ का सहयोग लेने में उन्हें कोई संकोच नहीं हुआ। बल्कि श्री वसंतदादा पाटिल और उनकी पत्नी श्रीमती शालिनीताई पाटिल का तो कहना ही था कि वे राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सहयोग के कारण ही जीते। चुनाव से पहले जब मैं वहां गया था तब श्री चव्हाण के मुख्य चुनाव एजेंट श्री प्रतापराव भोंसले ने मुझसे स्पष्ट ही कहा था कि पहले जनसंघ गुट थोड़ा सा हमारे विरोध में था, लेकिन अब सभी हमें मदद कर रहे हैं।

श्रीमती गांधी का व्यवहार भी कुछ अलग नहीं रहा। लेकिन यह भी सच है कि उन्हें जनसंघ गुट का सहयोग लेने की विशेष जरूरत भी नहीं पड़ी। १९६९ में कांग्रेस विभाजन के बाद उन्होंने जनसंघ का सहयोग मांगा था, इस बात का उल्लेख मैं कर ही चुका हूं। अत्यंत प्रतिक्रियावादी प्रतीत होनेवाले जनसंघ के लोगों का "शुद्धिकरण" वे हमेशा करती रहती थी। १९६७ के चुनावों में श्री ब्रह्मानंद भारती नामक एक स्वामी कांग्रेस के श्री मन्नूलाल द्विवेदी को हराकर जनसंघ के टिकट पर चुने गए। १९७१ में जैसा वातावरण था उसमें तो कांग्रेस के नाम पर कोई भी चुन लिया जाता। लेकिन तब कांग्रेस का टिकट द्विवेदी जैसे पुराने कांग्रेस कार्यकर्ता को नहीं दिया गया। वह स्वामी श्री ब्रह्मानंद भारती को दिया गया। और वे वहां से चुने भी गए। कांग्रेस का टीकट मिलते ही वे प्रगतिशील समझे जाने लगे।

अर्स कांग्रेस के श्री यशवंतराव चव्हाण ने जनता सरकार के विरूध्द अविश्वास का प्रस्ताव रखा। पर यह तो केवल बहाना बना और इससे जनता पार्टी के अंदरूनी झगड़े खुलकर सामने आये। इसका परिणाम जनता सरकार की समाप्ति में हुआ। लेकिन अर्स कांग्रेस के कई लोग नहीं चाहते थे कि समय से पूर्व चुनाव हो, क्योंकि चुनाव लड़कर फिर से जीतना सरल काम नहीं था। कई लोगों की तो यह भी राय थी कि श्री चव्हाण ने किसी के दबाव में आकर प्रस्ताव रख दिया। विदर्भ के श्री जवादे ने मुझसे वैसा कहा भी। लेकिन बहुत मनोरंजक तरीके से उन्होंने अपने विचार रखे। वे बोले, अजी हमने तो सहज ही बीड़ी पीकर जलती माचिस जनता पार्टी के आंगन में फेंकी थी। हमने तो सोचा ही नहीं था कि वहां पेट्रोल की टंकी खुली पड़ी हो। हमारे माचिस फेंकने से यह विस्फोट

हुआ है? किसी तरह भी यदि जनता पार्टी यह आग बुझा लेती है तो ऐसी गलती हम फिर कभी नहीं करेंगे।

दोहरी सदस्यता के संदर्भ में जनसंघ और राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के आपसी संबंध के प्रश्न पर ही मुख्य रूप से जनता पार्टी टूटी। कम से कम कहा तो ऐसा ही गया। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ हिंदुओं का ही संगठन होने के कारण उस पर वह साम्प्रदायिक होने का आरोप मुख्य रूप से था। अविश्वास प्रस्ताव की चर्चा के संदर्भ में जनता पार्टी के ही कुछ नेताओं ने श्री मोरारजी देसाई को त्यागपत्र देने के लिए मजबूर किया। उसके बाद श्री चरणसिंह और श्री राजनारायण के नेतृत्व में जिस पार्टी की स्थापना हुई, उसका नाम जनता सेक्युलर (धर्मनिरपेक्ष) रखा गया। यह पार्टी अलग हो जाने के बाद बचे हुए लोगों में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ से संबंधित जनसंघ के लोग होने के कारण दिखाना यह था कि वह साम्प्रदायिक पार्टी रह गई है। जनता सेक्युलर पार्टी में श्री राजनारायण के अलावा श्री मधु लिमये और श्री जार्ज फर्नांडिस जैसे लोहिया समाजवादी भी शामिल हुए। उस समय मेरे मन में एक प्रश्न उठा था। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ तो हिंदुओं का संगठन होने के कारण उनकी प्रतिमा यदि साम्प्रदायिक और जातीय तथा संकुचित विचारों की बची थी, तो फिर जिन्हें "जनता सेक्युलर" का नेता बनाया गया उन श्री चरणसिंह की प्रतिमा क्या उससे भी अधिक जातीय और संकुचित नहीं थी? उन्हें तो मुख्य रूप से जाट जाति का ही नेता माना जाता था। जिस समय जनता पार्टी बनी थी तब जनसंघ और समाजवादी दल का समर्थन होते हुए भी श्री जगजीवनराम प्रधानमंत्री न बन पाये, इस प्रकार की भूमिका श्री चरणसिंह ने अपनायी थी। उस समय माना तो यही गया था कि इस भूमिका के पीछे वे (जगजीवन राम) हरिजन थे। यही मुख्य कारण था। जनता कार्यकाल में पार्टी के बहुत से हरिजन संसद सदस्य श्री चरणसिंह के विरोध में थे। तब यही माना जाता था कि हरिजन विरोधी होने के कारण ही उनके प्रति ऐसी भावना बनी थी। "जनता सेक्युलर" के दूसरे प्रमुख नेता थे श्री राजनारायण। उन्होंने तो जनता कार्यकाल में श्री जगजीवन राम की प्रतिमा को मिटाने की प्रतिज्ञा ही की थी। श्री जगजीवन राम के पुत्र श्री सुरेश कुमार के कुमारी सुषमा चौधरी के साथ अनैतिक संबंधों को दुनिया के सामने उछालने का उनका काम इसी प्रवृत्ति का प्रतीक था। मैं नहीं जानता कि श्री सुरेश कुमार के संबंध वैसे थे या नहीं? लेकिन श्री राजनारायण कुछ "विशेष फोटो" उनके संदर्भ में दिखाया करते थे। यह कौनसी राजनीति थी?

इसी संदर्भ में मुझे एक बात और याद आती है। उत्तर प्रदेश के भूतपूर्व मुख्यमंत्री श्री सम्पूर्णानंद की मूर्ति का वाराणसी में अनावरण हुआ था। यह अनावरण श्री जनजीवन राम के हाथों हुआ। समाचार यह फैला कि इसके बाद इंदिरा कांग्रेस के कुछ कार्यकर्ताओं ने इस मूर्ति को पानी से धोया। जनता पार्टी में चन्द्रशेखर गुट के हरिजन सदस्य श्री रामधन को तो गृहमंत्री श्री चरणसिंह के विरूध्द प्रचार करने का एक अच्छा मौका मिल गया। लोकसभा में जब इस विषय की चर्चा हुई तब वे बोले कि श्री जगजीवन राम जैसे

बड़े हरिजन नेता को भी जहां गृहमंत्री संरक्षण नहीं दे पाते वहां सामान्य हरिजन की क्या दशा होगी? इसकी तो सिर्फ कल्पना ही की जा सकती है। वैसे देखा जाए तो यह विषय गृहमंत्री की आलोचना का नहीं था। और ऐसा तो बिलकुल ही नहीं था कि उन्हीं के दल का सदस्य वह आलोचना करे। राज्य का काम उसकी अपनी यंत्रणा से होता है। इस संबंध में केन्द्र सरकार का उतना अधिकार नहीं होता। और प्रत्यक्ष में ऐसा हुआ ही क्या था? कुछ लोगों ने मूर्ति को धोया था। इसमें अस्पृश्यता की भावना तो दिखाई देती है, लेकिन वह कानून के अनुसार प्रमाणित होने लायक नहीं थी। ऐसा किसी ने भी नहीं कहा था कि जगजीवन राम अस्पृश्य होने के कारण हम मूर्ति को धो रहे हैं। और भारतीय कानून में तो कृति को अपराध माना जाता है, आंतरिक उद्देश्य को नहीं। यह सच है कि उद्देश्य सिद्ध होने पर बाद में अपराध के आरोप को बल मिलता है, लेकिन केवल उद्देश्य की आशंका से कार्रवाई करना असंभव होता है। मूर्ति धोने की कृति अपराध साबित नहीं हो सकती थी। हिंदू समाज में पूजा से पहले भगवान की मूर्तियों को धोने की पद्धति है। श्री रामधन की नाराजी श्री चरणसिंह के प्रति इसी भावना के कारण थी कि वे हरिजन विरोधी थे। ऐसे ही एक दूसरे संदर्भ में श्री चरणसिंह को अपना नेता मानने वाले श्री मणिराम बागड़ी ने लोकसभा में ही रामधन को सुनाया था कि अपना स्तर देखकर बात कीजिए। इसी की अगली प्रतिक्रिया जनता संसदीय दल की बैठक में हुई थी। श्री जगजीवन राम को अपना नेता मानने वाले श्री मोहनलाल "पीपल" तो जनता पार्टी के कुछ नेताओं की हरिजन भूमिका के विरोध में बहुत निचले स्तर पर उतर आये थे। उन्होंने पैर से चप्पल निकाल ली थी। इस समय तक जनता पार्टी के झगड़ों में दोहरी सदस्यता या जनसंघ और राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के संबंधों का मामला पैदा ही नहीं हुआ था। लेकिन जो स्वयं साम्प्रदायिक एवं जातीय भावना से भरे थे, वे ही संघ को साम्प्रदायिक अवश्य कह रहे थे।

जनता पार्टी की भूमिका थी कि श्रीमती गांधी ने लोकतंत्र को समाप्त कर तानाशाही की शुरुआत की है। ऐसा भी कहा जाता था कि लोकतंत्र की प्रस्थापना ही जनता पार्टी का संकल्प है। लेकिन घटनाओं के क्रम से स्पष्ट है कि लोकतंत्र का नारा लगाने वाले जनता पार्टी के कुछ नेताओं का उनका अपना व्यवहार लोकतंत्र में नहीं आता था। मेरा तो ऐसा सुदृढ़ मत है कि जनता पार्टी के टूटने का प्रमुख कारण दोहरी सदस्यता का प्रश्न या संघ जनसंघ का संबंध, यह नहीं था, परंतु असली कारण तो यह था कि कुछ नेताओं के लिए लोकतांत्रिक व्यवहार सुविधाजनक नहीं था। संघ तो हिंदुओं का ही संगठन था। उसका साम्प्रदायिक और संकुचित होना मान लें तो भी चुनाव के समय अन्य राजनीतिक पार्टिया उससे भी अधिक संकुचित होकर छोटी—छोटी जातपांत का भी विचार करती थीं। जनता पार्टी ने भी पंजाब में अकाली दल से सहयोग किया ही था जो कि एक विशेष पंथ का माना जाता था। जनता पार्टी के मुसलमान सदस्य किसी भी विषय पर जिस तरीके से अपना मत प्रकट करते थे वह तो भयानक रूप से जातीय प्रवृत्ति ही प्रदर्शित करता था। हां, ऐसा कह सकते हैं कि मुसलमानों की साम्प्रदायिकता साम्प्रदायिकता नहीं

है, पर यदि वह हिंदुओं द्वारा व्यक्त की जाये तब फिर बहुत बुरी जातीयता है। यह कांग्रेस की विचारधारा जनता पार्टी में भी आ गई थी। १९७७ के चुनावों में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ ने खुलेआम जनता पार्टी के लिए काम किया था। उस समय वह सभी को अच्छा लगा। उसके बाद संघ ने निर्णय लिया कि वह चुनाव की राजनीति से दूर रहेगा। यह तो नहीं कहा जा सकता कि विधानसभा के चुनावों में व्यक्तिगत स्तर पर संघ के कुछ लोगों ने किसी उम्मीदवार के लिए काम नहीं किया होगा। हो सकता है ये उम्मीदवार मुख्य रूप से जनसंघ से संबंधित ही रहे हों। लेकिन उस समय कुल मिलाकर जनता पार्टी जीती थी, इसलिए यह प्रश्न उठाया ही नहीं गया।

विवाद की शुरुआत तो तब हुई जब लोकतंत्र की बुनियाद पर जनता पार्टी बनाकर अंदरुनी चुनाव का निर्णय किया गया। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का आधार होने के कारण जनता पार्टी में अन्य दलों की अपेक्षा जनसंघ की शक्ति निश्चित ही अच्छी थी। चूंकि जनता पार्टी लोकतंत्र की बुनियाद पर बनी थी, इसलिए उसकी रचना इस तरह की थी कि जिसे निचले स्तर पर जो स्थान होगा, जनता पार्टी में ऊपरी स्तर पर भी उसे वही स्थान मिलेगा। उस समय राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ से संबंधित जनसंघ गुट के मन में पूरी पार्टी का नियंत्रण अपने हाथ में लेने का विचार था या नहीं यह कहना तो कठिन है। उनकी ऊपरी भूंमिका तो ऐसी थी कि कोई संघर्ष न हो। लेकिन राजनारायण और लोहिया समाजवादी गुट के नेताओं के मन में यह आशंका अवश्य पैदा हो गई थी । मुझे लगता है कि इसका एक कारण था। इस गुट में सभी स्तरों पर अपने को नेता समझने वाले लोगों की ही संख्या अधिक थी। उस तुलना में प्रत्यक्ष समाज में काम करने वालों की संख्या कम थी। संगठन कांग्रेस और स्वतंत्र पार्टी की स्थिति भी कम—अधिक मात्रा में कुछ ऐसी ही थी। लेकिन उनके पास कार्यकर्ताओं की संख्या कम है इसकी जानकारी होने के कारण उन्हें इस बात की इतनी चिंता नहीं थी कि आगे चलकर पार्टी पर किसका नियंत्रण होगा। भारतीय लोकदल के एक मात्र नेता श्री चरणसिंह थे और उत्तरी क्षेत्र में उनकी पकड़ भी अच्छी थी। उनकी इच्छा केवल प्रधानमंत्री बनने की थी। इसलिए पार्टी को बनाने आदि में उनका मन नहीं था। श्री जगजीवन राम की भी इच्छा प्रधानमंत्री बनने की थी। लेकिन कम से कम शुरू में तो पार्टी पर नियंत्रण का विचार उनके मन में नहीं आया था। श्री चंद्रशेखर हालांकि जनता पार्टी के अध्यक्ष थे, लेकिन उनके गुट में सारे नेता ही नेता थे। अनुयायी तो कोई था ही नहीं। वैसे शुरू—शुरू में श्री मधु लिमये भी जनसंघ गुट के विरोध में नहीं बोलते थे। विधानसभा चुनावों के बाद तीन राज्यों में भारतीय लोग दल के मुख्यमंत्री बने और तीन राज्यों में जनसंघ गुट के। संगठन कांग्रेस और समाजवादी गुट में इस संबंध में कुछ नाराजगी रही। ऐसी भी आशंका थी कि श्री नानाजी देशमुख के निर्देश से यह हुआ। इस संबंध में श्री मधु लिमये ने एक बार मुझसे कहा था कि नानाजी ने कोई भूल नहीं की। उनसे सलाह मांगी गई और वह उन्होंने दी। मेरे सहयोगी यदि मुझसे सलाह मांगते तो मैं भी वह देता।

सदस्य बनाने का काम शुरू हुआ और जनता पार्टी में दरारें पड़ने लगीं। सदस्य काफी संख्या में बनाये गए। इस संबंध में जनसंघ गुट को कोई शिकायत नहीं थी । इस पर से यह समझा जा सकता है कि उनके कार्यकर्ताओं ने अधिक संख्या में सदस्य बनाये। सदस्य बनाने के कार्यक्रम में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के स्वयंसेवकों का सचमुच कितना उपयोग हुआ, यह ठीक–ठीक जानने का कोई रास्ता नहीं था। यह नहीं कहा जा सकता कि उनका उपयोग हुआ ही नहीं होगा। श्री राजनारायण भी पार्टी सचिवालय से सदस्यता के तीन लाख फॉर्म ले गए थे। यह तो कोई भी नहीं कहेगा कि उन्होंने इतने सदस्य बनाये। तब यह प्रश्न बना रहता है कि आखिर इतने फार्म कहां गए? शुरू में एक आरोप लगाया जाता था कि संघ और जनसंघ कार्यकर्ताओं ने जाली सदस्य बनाये है। इस संबंध में शिकायतें भी बहुत हुई। कुछ जगह जांच भी की गई, लेकिन शिकायत सही होने का सबूत कहीं भी नहीं मिला । आरोप लगाने वाले एक समाज के एक समाजवादी नेता से मैने एक बार पूछा, ''जाली सदस्य बनाने से क्या किसी को कुछ लाभ हो सकता है?'' वे इसका संतोषजनक उत्तर नहीं दे सके। कांग्रेस पार्टी के संविधान में तो यह व्यवस्था है कि एक निश्चित संख्या में सदस्य बनाने वाला व्यक्ति पार्टी का सक्रिय सदस्य बन जाता है और वही चुनाव में उम्मीदवार हो सकता है । पर ऐसा नियम जनता पार्टी के संविधान में नहीं था। किसी मण्डल में कितने भी सदस्य हों तो भी उससे चुनकर आने वालों की संख्या बढ़ नहीं सकती थी। यदि सदस्य बनाने वाले को चुनाव की दृष्टि से कोई लाभ नहीं मिलता था, तब यह सवाल उठता है कि फिर जाली सदस्य कोई किसलिए बनायेगा? क्योंकि इसके लिए पैसा खर्च करना पड़ता है और सदस्यों के नाम पते सहित देने पड़ते हैं। लेकिन यह भी नकारा नहीं जा सकता कि जनसंघ गुट की ओर से ही अधिक संख्या में सदस्य बनाये गए। इस कारण लोहिया समाजवादी गुट में एक तरह का डर बैठ गया। इस सूची के आधार पर जिन राज्यों में प्रादेशिक स्तर पर चुनाव हुए, उनमें से अधिकतर स्थानों पर, समाजवादी गुट के आग्रह से, चुनाव न कराते हुए अलग–अलग गुटों की सहमति से पदाधिकारी और सदस्य चुने गए। लेकिन इतने पर भी समाजवादी गुट को संतोष नहीं हुआ। जनसंघ गुट आगे क्या करता, कहा नहीं जा सकता। लेकिन जहां चुनाव हुए वहां इसकी वृत्ति संघर्ष टालने की ही रही।

जुलाई १९७९ में जब बड़े स्तर पर जनता पार्टी में फूट पड़ी तब दोहरी सदस्यता का कारण ही सामने आया। लेकिन असली कारण तो यही था कि श्री चरणसिंह की महत्वाकांक्षा प्रधानमंत्री बनने की थी। जनता संसदीय पार्टी की जो कुल संख्या थी उसमें जनसंघ और लोक दल के सदस्य मिलकर अपनी संख्या के आधार पर चाहे जो निर्णय ले सकते थे। लेकिन श्री चरणसिंह जनसंघ गुट से इसलिए नाराज हो गए कि वे श्री मोरारजी देसाई से यह कहने को तैयार नहीं थे कि वे प्रधानमंत्री पद से हट जायं। किसी पर नाराजी होने के बाद उसका विरोध करने के लिए तो कोई भी कारण पर्याप्त हो जाता है। श्री चरणसिंह यह भी भूल गए कि श्री वाजपेयी और श्री आडवाणी के प्रयत्नों से ही वे फिर मंत्रिमण्डल में आये थे। श्री राजनारायण और उनके कुछ सहयोगी तो पहले ही

पार्टी छोड़ चुके थे। ''जनता सेक्युलर'' नाम से जो नया दल बना था उसमें भारतीय लोक दल के सदस्यों की संख्या अधिक थी। और यह कोई आश्चर्य की बात भी नहीं थी। लेकिन श्री मधु लिमये और श्री फर्नांडिस जैसे लोहिया समाजवादी भी उसमें शामिल हुए। इस बात से बहुतों को आश्चर्य हुआ। क्योंकि विचारों की दृष्टि से इन लोगों की श्री चरणसिंह के साथ कभी पट नहीं सकती थी। अविश्वास प्रस्ताव पर हुई चर्चा में आर्थिक नीति की जब आलोचना हो रही थी, श्री चरणसिंह वित्तमंत्री होते हुए भी जवाब देने खड़े नहीं हुए। उद्योग मंत्री होने के नाते श्री जार्ज फर्नांडिस ने जनता पार्टी के सरकारी कामकाज का जोरदार समर्थन किया था। लेकिन दूसरे ही दिन उन्होंने पार्टी छोड़ दी। यह तो एक रहस्य ही है कि केवल एक दिन में उनमें यह परिवर्तन कैसे हुआ? उस समय राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का जो बहाना बनाया गया वह जनता पार्टी में किसी को भी नहीं जंचा। संगठन कांग्रेस और मधु दण्डवते जैसे समाजवादी पार्टी के कुछ दूसरे लोगों का कहना था कि इस प्रश्न ने हमें भी एक हद तक परेशान किया है। लेकिन उसके कारण पार्टी तोड़ने की आवश्यकता नहीं है। जनता पार्टी के समाजवादी सदस्यों की हाल में हुई एक बैठक में तो यह निर्णय लिया गया था कि समाजवादी विचारधारा आगे बढ़ाते हुए जनता पार्टी में ही बने रहेंगे। श्री लिमये की संघ विरोधी भूमिका स्पष्ट हो चुकी थी। जॉर्ज फर्नांडिस भी संघ के बारे में कुछा आशंकाएं व्यक्त करने लगे थे। लेकिन पार्टी तक को छोड़ने का उनका इरादा नहीं था। फिर वे श्री चरणसिंह के साथ जनता पार्टी से बाहर क्यों निकले? मुझे तो केवल एक ही कारण समझ में आया। उन्हें ऐसा भय लगा कि अब बची जनता पार्टी में जनसंघ गुट का प्रभाव बढ़ेगा और उनका अपना स्थान कमजोर हो जायेगा। लेकिन उन्हीं दिनों लोहिया समाजवादी गुट के श्री उग्रसेन, श्री अर्जुन सिंह भदोरिया आदि लोगों को पार्टी से अलग होने का विचार पसंद नहीं आया। उल्लेखनीय है कि वे जनता पार्टी में ही बने रहे।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि जनता पार्टी टूटने का मुख्य कारण दोहरी सदस्यता का प्रश्न नहीं था। अपितु सच कारण यह भय था कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का एक अनुशासित संगठन होने के कारण जनता पार्टी पर उसका नियंत्रण बढ़ जाएगा। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के नेता यह अवश्य कहते थे कि हमारा संगठन सत्ता की राजनीति पर विश्वास नहीं करता पर इस पर अन्य किसी को विश्वास नहीं होता था। शायद इसका कारण एक डर था। ठीक है कि संघ आज सत्ता की राजनीति में नहीं है। तब भी कल यदि उसका निर्णय बदल जाये तो क्या होगा। वैसे भी प्रगट रूप से निर्णय न लेते हुए भी संघ जनसंघ के माध्यम से जनता पार्टी में घुस सकता था। जनता सरकार पर अविश्वास प्रस्ताव आने के पहले ही संघ के मामले में विवाद उठ चुका था। श्रीमती गांधी उस विवाद को निरंतर बढ़ावा दे रही थीं। क्योंकि उनके हिसाब से जनता पार्टी में इस विवाद का बढ़ना उनके हित में था। जनता पार्टी में जो जनसंघ के लोग थे वे संघ से संबंध तोड़ने के लिए तैयार नहीं थे। श्री अटल बिहारी वाजपेयी जैसे कुछ लोग यद्यपि इस राय के थे कि हिंदुत्व की जगह भारतीय शब्द का उपयोग किया जाए। लेकिन ऐसा न करने पर वे

संघ से अपना नाता तोड़ने की बात नहीं सोच सकते थे। ऐसा वातावरण बनने लगा था कि जनता पार्टी और यह सरकार तो टूटेगी। पहले प्रधानमंत्री श्री मोरारजी देसाई की राय कुछ भी रही हो लेकिन प्रधानमंत्री बनने के बाद वे इस बात को अधिक महत्व नहीं दे रहे थे कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ साम्प्रदायिक है। जनता पार्टी के अध्यक्ष श्री चंद्रशेखर की कोई निश्चित भूमिका नहीं बतायी जा सकती। वे अन्य समाजवादियों अथवा चरणसिंह की तरह संघ के विरूद्ध डंडा लेकर तो नहीं खड़े थे। लेकिन मैं ऐसा भी नहीं कह सकता कि उनका मन एकदम साफ था।

जनता पार्टी को टूटने से बचाने के लिए उन्होंने एक रास्ता निकाला। १९७९ के आरंभ में वे सरसंघचालक श्री बालासाहब देवरस से नागपुर में मिले। संघ के प्रमुख कार्यकर्ताओं के मन में चुनाव की राजनीति में भाग लेने का विचार भी नहीं आया था। अपने सदस्यता के प्रश्न को लेकर जनता पार्टी संकट में है यह देख उन्होंने संघ के संविधान में कुछ परिवर्तन करने की चंद्रशेखर की बात स्वीकार की। उन्होंने कहा कि इस मामले में परिवर्तन की बात पर हम अगली वार्षिक बैठक में विचार करेंगे। परिवर्तन यह होना था कि किसी भी राजनीतिक दल के संसद या विधानसभा के सदस्य संघ के पदाधिकारी नहीं हो सकेंगे। श्री वाजपेयी और श्री आडवाणी भी इससे सहमत थे। यह परिर्वतन सभी राजनीतिक दलों के लिए होता। लेकिन यह बात उन्हें स्वीकार नहीं थी कि जनता पार्टी संघ के साथ संबंधों पर कोई प्रतिबंध लगाए। क्योंकि ऐसा मानने का अर्थ यह स्वीकार करना भी होता कि संघ में सचमुच कुछ बुराई है। संघ के स्वयंसेवकों को परिवर्तन का यह विचार भी ठीक नहीं लगता था। संघ में वैसी प्रणाली न होने के कारण किसी ने कुछ कहा नहीं, पर उनमें से एक ने कुछ प्रश्न उठाये थे। संसद या विधानसभा के सदस्य बनकर हम राजनीति में आना ही चाहते हों यह बात नहीं है। लेकिन संघ की मूल भूमिका यह रही है कि स्वयंसेवक अपनी इच्छा से किसी भी राजनीतिक दल से जुड़ सकता है। इस मूल भूमिका के साथ यह प्रस्तावित परिवर्तन असंगत लगता है। उसे संघ का पदाधिकारी न बनने दिया जाए, ऐसी रोक क्यों? कोई यदि दोनों काम करना चाहता है तो उसे वैसा क्यो न करने दिया जाये? इस परिवर्तन के संबंध में कुछ कार्यकर्ताओं की प्रतिक्रिया ऐसी थी कि जनता पार्टी के टूटने की चिंता हम क्यों करें? तो वह टूटे या बनी रहे, हमें क्या लेना–देना है? वैसे भी तो जनता पार्टी के कई लोग संघ को गालियां ही देते हैं ।

इस बारे में तो किसी को भी संदेह नहीं था कि संघ के पदाधिकारियों द्वारा परिवर्तन करने की बात स्वीकार करने के बाद वह हो जायेगा। लेकिन इससे चरणसिंह गुट संतुष्ट नहीं था। श्री मोरारजी देसाई द्वारा प्रधानमंत्री पद से त्यागपत्र देते ही उन्होंने भी जनता पार्टी से त्यागपत्र दे दिया। १९८० के चुनाव के बाद राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का बहाना बनाकर श्री जगजीवन राम ने अपने नाम का एक नया दल बनाया। उस दल को तोड़कर अर्स कांग्रेस मे जाने वाले और फिर आगे उसमें भी फूट डालने वाले श्री जगजीवन राम ही

थे। १९७८ में बम्बई की साप्ताहिक पत्रिका ''विवेक'' के विजयदशमी अंक के लिए मेरे एक मित्र श्री मो. ग. तपस्वी को दी एक मुलाकात में श्री जगजीवन राम ने स्पष्ट रूप से यह भूमिका अपनायी थी कि दोहरी सदस्यता का प्रश्न तो उठता ही नहीं। यह मुलाकात समाचार संस्था द्वारा प्रसारित की गई थी। अत: कई समाचरपत्रों ने उसे छापा भी था। बाद में जब श्री जगजीवन राम ने दोहरी सदस्यता का प्रश्न उठाया तब कई लोगों ने उस मुलाकात का उल्लेख भी किया। यदि १९८० में जनता पार्टी जीत जाती तो संघ की सदस्यता का यह प्रश्न न तो जगजीवन राम उठाते न अन्य कोई।

विशेष परिस्थितियों में १९७७ के चुनावों में हमने काम किया, लेकिन हम आगे वह नहीं करेंगे, यह भूमिका तो संघ ने विधानसभा चुनाव के समय ही स्पष्ट कर दी थी। लेकिन १९८० में हारे हुए कई उम्मीदवारों ने संघ को ही अपनी हार के लिए जिम्मेदार ठहराया था। उनकी मुख्य शिकायत थी कि संघ ने जनसंघ के उम्मीदवारों के लिए तो काम किया लेकिन हमारे लिए नहीं किया और हमें पैसा भी 'नहीं' दिलाया। इस शिकायत में कितनी सचाई थी, कहा नहीं जा सकता। क्योंकि इस चुनाव में जनसंघ के उम्मीदवार भी बड़ी संख्या में हारे थे। उनकी तुलना में सेक्युलर जनता या लोकदल के उम्मीदवार ही अधिक चुने गए थे। यह जरूर सच है कि जनता पार्टी के नाम पर चुने गए सदस्यों में अन्य गुटों की अपेक्षा जनसंघ गुट की संख्या कुछ अधिक थी। तब तक यह माना जाता था कि श्री जगजीवन राम ही देश के सबसे बड़े हरिजन नेता हैं। लेकिन इस चुनाव से इस विचार को भी जोरदार धक्का लगा। उनके साथ कांग्रेस छोड़ने वाले श्री बहुगुणा वित्तमंत्री बनने के लोभ में श्री चरणसिंह के साथ पहले ही हो गय थे और उसके बाद इंदिरा कांग्रेस में। इसलिए श्री जगजीवन राम की लोकतंत्रीय कांग्रेस पहले ही टूट चुकी थी। उनके साथ जो थे उनमें से तो कोई नहीं ही जीत सका, उनका नेतृत्व मानने वाले हरिजन समाज का भी कोई भी उम्मीदवार जीत नहीं पाया। विपक्ष में सबसे अधिक हरिजन उम्मीदवार लोकदल के टिकट पर चुने गए थे। जनता पार्टी में जनसंघ गुट के श्री सूरजभान तथा एक–दो अन्य लोग भी आरक्षित स्थानों से चुने गए। श्री चरणसिंह का नेतृत्व हरिजन विरोधी है इस धारणा को इस चुनाव से धक्का पहुंचा। और इसी चुनाव से यह भी साबित हुआ कि यह विचार सही नहीं कि जनसंघ गुट में हरिजनों को कोई स्थान नहीं।

राष्ट्रपति का व्यवहार

श्री मोरारजी देसाई द्वारा त्यागपत्र देने के बाद श्री चरणसिंह और अर्स कांग्रेस की संयुक्त सरकार बनी। भारतीय लोकतंत्र का यह एक बड़ा आश्चर्य ही है कि एक दिन भी जो सरकार संसद के सामने जा नहीं पायी, उसने अस्थायी सरकार की तरह छह महीने तक सरकारी कामकाज चलाया। राज्यों में राष्ट्रपति शासन की व्यवस्था तो हमारी संविधान में है, लेकिन वैसी व्यवस्था केन्द्र के लिए नहीं है। संविधान के अनुसार राष्ट्रपति को यह अधिकार है कि वह किसी को भी सरकार बनाने के लिए बुलाए। लेकिन जिसके पीछे स्पष्ट बहुमत है उसी को बुलाने की परम्परा है। ऐसा एक अलिखित संकेत है कि किसी के भी पीछे स्पष्ट बहुमत न होने की स्थिति में, जिसकी संख्या सबसे अधिक है, उसी पार्टी के नेता को सरकार बनाने का अवसर दिया जाना चाहिए। दिसम्बर १९७० में अचानक ही लोकसभा को विसर्जित कर श्रीमती गांधी ने १९७१ में मध्यावधि चुनाव करवाये। लेकिन उस समय भी विसर्जन और प्रत्यक्ष चुनाव के बीच का काल अधिक लम्बा नहीं था। १९८० के चुनावें में ऐसा क्यों हुआ, यह कम से कम मेरी समझ में नहीं आया।

यह सच है कि श्री देसाई की सरकार के विरूद्ध लोकसभा में अविश्वास के प्रस्ताव पर चर्चा चल रही थी। लेकिन वह प्रस्ताव लोकसभा में मंजूर नहीं हुआ था। श्री देसाई के त्यागपत्र के बाद श्री चरणसिंह और उनके सहयोगियों ने पार्टी छोड़ दी थी। अत: लोकसभा में जनता पार्टी का स्पष्ट बहुमत नहीं रहा। १९६९ में श्रीमती गांधी की सरकार का भी बहुमत नहीं रह गया था, लेकिन उस समय राष्ट्रपति ने उस ओर ध्यान नहीं दिया। यह अंतर अवश्य था कि उस समय श्रीमती गांधी ने त्यागपत्र नहीं दिया था, जबकि अब श्री देसाई ने त्यागपत्र दिया था। उस समय की इंदिरा कांग्रेस की तरह ही इस समय भी जनता पार्टी लोकसभा में सबसे बड़ा दल था। उसी दल के नेता को फिर से सरकार बनाने के लिए बुलाना संविधान के अनुसार बिल्कुल गलत न होता। कई राज्यों में ऐसी घटनाएं हुई हैं कि मुख्यमंत्री द्वारा त्यागपत्र दिये जाने पर, राज्यपाल ने फिर उसी दल के नए नेता को सरकार बनाने के लिए बुलाया था। श्री देसाई की कुछ हठी वृत्ति के कारण नये नेता के रूप में जगजीवन राम का चुनाव होने में कुछ देर अवश्य लगी थी। लेकिन जब राष्ट्रपति श्री संजीव रेड्डी ने सरकार बनाने के लिए नेताओं को बुलाना शुरू किया तब श्री जगजीवन राम जनता पार्टी के नेता बन चुके थे। उस समय के अपने व्यवहार का स्पष्टीकरण, राष्ट्रपति ने कभी नहीं किया। इसलिए इस मामले में केवल तर्क ही किये जा सकते हैं। उनके उस व्यवहार के संबंध में काफी विवाद हुआ था और जनता पार्टी के कुछ लोगों ने तो उनके विरूद्ध संसद में महाभियोग चलाने का विचार भी किया था। लेकिन उन्होंने जिन श्री चरणसिंह को सरकार बनाने के लिए आमंत्रित किया था, वे एक दिन भी संसद के सामने न आ सके और उनकी सरकार संवैधानिक सरकार विसर्जित

कर मध्यावधि सरकार के रूप में एक दिन भी जी नहीं सकी। लोकसभा विसर्जित कर मध्यावधि चुनाव की घोषणा करनी पड़ी। इसलिए महाभियोग चलाने का अवसर ही नहीं मिला।

अविश्वास प्रस्ताव लोकसभा में स्वीकृत नहीं हुआ था । अत: राष्ट्रपति को उसकी ओर ध्यान देने का कोई कारण नहीं था। लेकिन उन्होंने ऐसा किया और अविश्वास प्रस्ताव प्रस्तुत करने वाले श्री यशवंतराव चव्हाण को ही सरकार बनाने के लिए उन्होंने बुलाया। अविश्वास प्रस्ताव की ओर ध्यान देने की उनकी बात को कुछ समय के लिए यदि ठीक मान भी लिया जाए तो भी श्री चरणसिंह को सरकार बनाने के लिए आमंत्रित करना तो बिल्कुल ही नहीं जंचता। श्री यशवंतराव चव्हाण द्वारा इनकार करने पर सबसे बड़ा दल होने के नाते जनता पार्टी के नेता को ही बुलाना चाहिए था और यदि अविश्वास प्रस्ताव के कारण उन्हें बुलाना ठीक नहीं लग रहा था, तो मध्यावधि चुनाव की घोषणा तभी की जानी चाहिए थी। नयी व्यवस्था होने तक श्री देसाई को ही कार्य संभालने के लिए उन्होंने पहले कहा ही था। कुछ समय तक संसद में स्पष्ट बहुमत के आधार पर उनकी सरकार ने कामकाज भी किया था।

संविधान की यह व्यवस्था अवश्य है कि राष्ट्रपति मंत्रिमण्डल की सलाह से काम करेंगे। फिर भी कुछ परिस्थितियों में राष्ट्रपति को स्वतंत्र रूप से निर्णय लेना ही पड़ता है। यदि राष्ट्रपति यह कहते हैं कि जिस सरकार के विरूद्ध अविश्वास प्रस्ताव आया और प्रधानमंत्री ने त्यागपत्र दिया, उसी पार्टी के नेता होने के कारण श्री जगजीवन राम को नहीं बुलाया गया। तब तो उसी आधार पर वे श्री चरणसिंह को भी नहीं बुला सकते थे, क्योंकि श्री देसाई द्वारा त्यागपत्र देने तक श्री चरणसिंह भी उन्हीं के मंत्रिमण्डल में थे। उसके बाद उन्होंने अपने सहयोगियों के साथ पार्टी छोड़ी। उनके दल का नाम भी सेक्युलर उपपद के साथ जनता दल ही था। अविश्वास प्रस्ताव पर मुख्य रूप से आर्थिक नीति से संबंधित चर्चा हुई और उसका मुख्य लक्ष्य वित्तमंत्री के रूप में श्री चरणसिंह द्वारा अपनायी गई नीति ही थी।

लेकिन आश्चर्य यह था कि राष्ट्रपति श्री संजीव रेड्डी ने बहुमत का दावा करने के लिए पहले श्री चरणसिंह को बुलाया। बाद में जनता पार्टी के नेता श्री जगजीवन राम को भी बुलाया। दोनों ने अपना—अपना दावा प्रस्तुत किया। ऐसी चर्चा थी कि राष्ट्रपति दोनों पर विचार कर रहे हैं। और फिर अचानक खबर मिली कि राष्ट्रपति ने श्री चरणसिंह को सरकार बनाने के लिए कहा है। लेकिन ऐसा कहते हुए भी उनके मन में संदेह था कि वास्तव में उनके साथ बहुमत है या नहीं। अत: राष्ट्रपति ने यह भी कहा था कि श्री चरणसिंह यथाशीघ्र लोकसभा में अपना बहुमत सिद्ध करें। श्री चरणसिंह को सरकार बनाने के लिए कहने के कारण भारत में एक ऐसा इतिहास लिखा गया जो आज तक दुनिया में कहीं नहीं हुआ होगा। अविश्वास प्रस्ताव रखकर सरकारी नीति की आलोचना करने वाली पार्टी के प्रमुख नेता को ही उप—प्रधानमंत्री बनाया गया। जनता सेक्युलर (आगे

लोकदल) तथा अर्स कांग्रेस की संयुक्त सरकार बनी। जिन श्री हेमवती नंदन बहुगुणा के खिलाफ श्री चरणसिंह ने श्री देसाई से पहले यह शिकायत की थी कि केजीबी के एजेंट हैं, उन्हें ही वित्तमंत्री का पद मिला। इतने पर भी पर्याप्त बहुमत हो जाता तो भी शायद शिकायत की कोई बात रहती। श्रीमती गांधी और श्री चरणसिंह के कटु संबंधों को सभी जानते थे, लेकिन राष्ट्रपति ने चरणसिंह को इसी आधार पर सरकार बनाने की अनुमति दी कि सरकार में शामिल न होते हुए भी उन्हें इंदिरा कांग्रेस का समर्थन मिल रहा है। राष्ट्रपति ने उक्त संदेश ले आने वाले श्री स्टीफन से यह पूछना जरूरी नहीं समझा कि सरकार बनाने के लिए तो आपका समर्थन है, लेकिन क्या सरकार चलाने के लिए भी वह रहेगा? इसीलिए एक ऐसा मंत्रिमण्डल बना जो एक दिन के लिए भी अपना बहुमत सिद्ध नहीं कर पाया। क्योंकि सरकार बनते ही इंदिरा कांग्रेस ने यह स्पष्ट कर दिया कि अब उन्हें हमारा समर्थन नहीं है । इसलिए अगस्त में जब लोकसभा की बैठक हुई तब श्री चरणसिंह के पास त्यागपत्र देने के अलावा कोई चारा ही नहीं था। कम से कम उसके बाद तो जो स्थिति थी उसी में तत्काल मध्यावधि चुनाव कराना था। यदि वह संभव नहीं था तो उतने समय के लिए एक सर्वदलीय सरकार का विचार भी राष्ट्रपति कर सकते थे। इसी प्रकार जिस सरकार के पास बहुमत नहीं है उनके द्वारा प्रस्तुत अध्यादेशों पर राष्ट्रपति को हस्ताक्षर नहीं करने चाहिए थे। उन अध्यादेशों के कारण देश की अर्थव्यवस्था का बोझ बहुत बड़ी में मात्रा बढ़ गया।

राष्ट्रपति ने यह सब क्यों किया? उनका व्यवहार ऐसा क्यों हुआ? इस प्रश्न पर राजधानी में उन दिनों की चर्चा कुछ इस प्रकार थी। श्री संजीव रेड्डी श्री देसाई पर बहुत नाराज थे। १९७७ में जब राष्ट्रपति के निर्वाचन की बात आयी तब श्री देसाई श्री रेड्डी के राष्ट्रपति बनाने के पक्ष में नहीं थे। उन्होंने उस समय जो कारण बताया वह इस प्रकार था कि राष्ट्रपति का पद एक सम्मान का पद है और यह अब तक केवल राजनीतिक नेताओं को ही मिलता रहा हैं। अन्य क्षेत्रों के प्रसिद्ध लोगों को भी यह पद मिलना चाहिए। इस आधार पर नृत्य क्षेत्र की प्रसिद्ध कलाकार श्रीमती रुक्मिणी देवी अरुंडेल का नाम उन्होंने सुझाया था। इसके पीछे श्री देसाई का विचार कला और नारी दोनों को एक साथ सम्मानित करने का रहा होगा। प्रधानमंत्री पद पर श्रीमती गांधी रह चुकी थीं, लेकिन राष्ट्रपति पद पर अब तक किसी महिला को निर्वाचित नहीं किया गया था। कला क्षेत्र की नारी को यह पद देने का विचार चौंकानेवाला अवश्य था। लेकिन श्रीमती रुक्मिणी देवी अरुंडेल के नाम का सुझाव बुरा भी नहीं था। पर सुझाव जनता पार्टी के अन्य नेताओं को स्वीकार नहीं हुआ। साथ ही १९६९ में श्री संजीव रेड्डी पर जो अन्याय हुआ था, उसे दूर करने की भावना फैल गई थी। इसीलिए वे राष्ट्रपति बन सके। जिस कांग्रेस के नेता यशवंतराव चव्हाण थे, उसने तो श्री रेड्डी के नाम का तब समर्थन किया ही था। विरोध करने से कुछ लाभ नहीं होगा, यह जानकर शायद इंदिरा कांग्रेस ने भी विरोध नहीं किया। श्री रेड्डी आसानी से चुने गए। लेकिन उस समय भी राष्ट्रपति पद के लिए विवाद था। यह प्रमाणित करने वाली एक घटना है। श्री संजीव रेड्डी तब लोकसभा के अध्यक्ष

पद पर थे। उन्होंने एक वक्तव्य जारी किया था। उसमें कहा गया था कि राष्ट्रपति पद के विवाद में मैं नहीं हूं। मेरे नाम पर यदि एकमत होता है तो ही मैं इस विषय पर सोचूंगा। राजधानी में उस समय यही माना गया था कि संजीव रेड्डी इस बात को भूल नहीं पाये कि उनके नाम पर श्री देसाई का विरोध था। चूंकि वे आंधप्रदेश के रेड्डी वर्ग के होने के कारण उन्हें यह बात भी पसंद नहीं आ सकती थी कि श्री जगजीवन राम जैसे हरिजन नेता प्रधानमंत्री बनें। उनके मन में इस बात की भी ठेस हो सकती है कि १९६९ में श्री जगजीवन राम के नाम के कारण हुई गड़बड़ से ही वे राष्ट्रपति नहीं बन पाये थे। बड़े पद संभालने वाले व्यक्तियों की परख कठिन प्रसंगों में ही होती है। अन्य लोगों की तरह ही मुझे भी ऐसा नहीं लगा था कि उस समय का श्री रेड्डी का व्यवहार राष्ट्रपति पद की मर्यादा के अनुरूप था।

लेकिन इसके साथ ही मैं यह भी कहूंगा कि श्री जगजीवन राम के प्रधानमंत्री न बनने से मुझे कोई खेद नहीं हुआ। उनके जीवन का पूरा इतिहास अवसरवादिता का ही रहा है। १९७९ के अगस्त माह में इस प्रश्न को लेकर खबरें उड़ रही थीं कि श्री चरणसिंह और श्री जगजीवन राम में से कौन प्रधानमंत्री बनेगा? पुणे के मराठी दैनिक 'तरुण भारत' ने सत्तांतर विशेषांक निकालना तय किया। उस समय के संपादक श्री देवधर ने सुझाया कि मैं श्री जगजीवन राम पर कुछ लिखूं। मैंने उनसे पूछा कि मैं जो लिखूंगा क्या आप उसे छाप सकेंगे? मैंने ऐसा इसलिए पूछा क्योंकि मैं जानता था कि जनसंघ गुट श्री जगजीवन राम के पक्ष में है और 'तरुण भारत' पत्र का झुकाव शुरू से ही संघ–जनसंघ की ओर था। श्री देवधर ने श्री जगजीवन राम पर मेरे द्वारा लिखे शब्द–चित्र को छापने की तैयारी दिखाई और उन्होंने उसे छापा भी। बाद में चुनाव से पहले ही जीतने पर मुझे ही प्रधानमंत्री बनाया जाये ऐसा जो आग्रह श्री जगजीवन राम ने किया वह भी किसी बड़े नेता के लिए उचित नहीं था। लेकिन इसी चुनाव ने साबित कर दिया कि श्री जगजीवन राम के मन में अपनी लोकप्रियता के प्रति कितनी गलतफहमी थी। उनकी धारणा थी कि उन्हीं के व्यक्तित्व के बल पर चुनाव जीता जा सकता है। पर उनके मन में शायद यह डर भी था कि चुनाव जीतने के बाद ये लोग उन्हें प्रधानमंत्री नहीं बनायेंगे। पर चुनाव ने सभी के भ्रम तोड़ दिये ।

जनसंघ गुट का समर्थन श्री जगजीवन राम को शुरू से ही था। प्रधानमंत्री पद से त्यागपत्र देने के बाद दल के नेता पद से त्यागपत्र देने के लिए श्री देसाई ने थोड़ा समय लगाया। तब वह त्यागपत्र लेने का काम मुख्य रूप से श्री वाजपेयी और श्री आडवाणी ने ही किया था। लेकिन चुनाव में जनता पार्टी के बहुत ही कम लोग जीते। प्रधानमंत्री पद न मिलने की बात स्पष्ट होते ही श्री जगजीवन राम ने तुरंत संघ और जनसंघ के विरूद्ध भूमिका अपना ली। किसी के द्वारा पूछे गए प्रश्न के उत्तर में श्री वाजपेयी ने एक बार कहा था कि राष्ट्रपति पद पर मुस्लिम समाज के व्यक्ति दो बार चुने गए। लेकिन यह दुर्भाग्य की बात है कि प्रधानमंत्री का पद एक हरिजन को देने के लिए हमारा देश

तैयार नहीं। उनके इस कथन में श्री जगजीवन राम के प्रति कहीं भी किसी प्रकार की गलत भावना नहीं थी। लेकिन फिर भी श्री जगजीवन राम को ऐसा ही लगा। जनता पार्टी की कार्यकारिणी बैठक में अन्य लोगों द्वारा पूछने पर उन्होंने अपनी गलती मानी। लेकिन उसी रात संघ—जनसंघ के विरूद्ध भूमिका व्यक्त करने वाला वक्तव्य भी जारी कर दिया। उनकी आगे की यात्रा काफी तेजी से हुई। पहले तो उन्होंने अपने ही नाम पर जनता पार्टी बनाई। उसे ही वे असली जनता पार्टी कहते थे। उसके बाद वे अर्स कांग्रेस में गए। वहां किसी ने उनके नेतृत्व को नहीं माना, तब उन्होंने अलग कांग्रेस दल बनाया। यह बात भी हमेशा चर्चा में रही कि वे कभी भी इंदिरा कांग्रेस में जायेंगे। इस संबंध में राजधानी में एक अफवाह यह भी थी कि १९८० से पहले इंदिरा गांधी चाहती थीं कि श्री जगजीवन राम उनकी पार्टी में आये। लेकिन बाद में श्री जगजीवन राम तो तैयार थे, पर श्रीमती गांधी ही तैयार नहीं थीं ।

१९५२ से १९८० तक हुए सात आम चुनाव मैंने देखे। १९५२ की तरह १९८० में भी पत्रकार होने के नाते अपने खर्च से मैं कई निर्वाचन क्षेत्रों में घुमा। १९५२ में मैं उत्तर प्रदेश में था तो १९८० में महाराष्ट्र में। इन २८ वर्षों में चुनाव का पूरा तंत्र ही बदल गया था। पहले की कई बातें अर्थहीन हो गई। पैसा और गुंडागर्दी ही चुनाव जीतने का प्रमुख साधन बन गया। एक बात अवश्य बराबर बनी रही। लोगों की नाजुक भावनाओं को उभारकर अपने लाभ के लिए उसका उपयोग करने की प्रवृत्ति। १९५२ के चुनाव में समाजवादी स्वतंत्र रूप से खड़े थे। उत्तर प्रदेश के फैजाबाद जिले से समाजवादी नेता आचार्य नरेंद्र देव चुनाव लड़ रहे थे। यहीं से कांग्रेस के उम्मीदवार के रूप में बाबा राघवदास खड़े किए गए थे। रामचंद्र की अयोध्या वाला भाग इसी चुनाव क्षेत्र में आता था। इसलिए वहां धार्मिक भावनाओं की अच्छी पकड़ थी। चुनाव प्रचार में एक पत्रक बांटा गया। इसमें नाटक की तरह छोटा संवाद था। रामचंद्र जी का दरबार लगा है। हनुमान, सुग्रीव, विभीषण, ये सारे रामभक्त हाथ जोड़कर खड़े हैं। सीतामाई बैठी हैं। भगवान अपने भक्तों को बता रहे हैं। पृथ्वी पर एक चुनाव हो रहा है। एक ओर से नरेन्द्र देव अर्थात राजाओं का देव रावण खड़ा है और दूसरी ओर से राघवदास अर्थात मेरा दास खड़ा है। रावण की शक्ति बड़ी है लेकिन विजय मेरे दास, अर्थात राधवदास को ही मिलनी चाहिए। और प्रत्यक्ष में राधवदास ही जीतते हैं। आचार्य नरेन्द्र देव की बुद्धिमत्ता, विदवत्ता, सिद्धांतवादिता तथा जनसाधारण का जीवन स्तर ऊपर उठाने की विचारधारा वहीं की वहीं रह जाती है। यह होता है कोमल भावनाओं का अपने लिए दुरूपयोग।

१९७१ में भी ऐसी घोषणा सफल होती है कि ''वे कहते हैं, इंदिरा हटाओ। मैं कहती हूं, गरीबी हटाओ। अब आप ही सोचिये।'' श्रीमती गांधी गरीबी हटा देंगी। इस बात पर मतदाता विश्वास कर लेते हैं। आगे छह वर्षों तक सत्ता हाथ में होते हुए, आपत्काल में तो अनिर्बंध सत्ता हाथ में होते हुए भी गरीबी हटाने का काम कितना हुआ यह तो अलग ही प्रश्न है। १९७० में जो चीज १०० रुपए में मिलती थी वही चीज जब

उन्होंने १९७७ में जनता पक्ष के हाथों में सत्ता सौंपी, तब १८४ रुपए की हो गई। श्रीमती गांधी द्वारा कुचले गए लोकतंत्रीय मूल्यों की प्रस्थापना के उद्देश्य से जनता पार्टी बनी थी। लेकिन जनता पार्टी के कई नेताओं को अपने ऊपर लोकतंत्र के बंधन नहीं चाहिए थे। इसीलिए ढाई वर्ष से कम समय में ही जनता पार्टी का भवन ढह गया।

स्वतंत्रता से पहले भी धार्मिक राजनीति के विरूद्ध काफी चर्चा रही। स्वतंत्रता के बाद जाति धर्म और वर्ग विरहित सामाजिक जीवन का सपना देखा गया। लेकिन २८–३० वर्षों की इस अवधि में जाति, धर्म और वर्गों का विचार ही अधिक बढ़ गया हैं। चुनाव में उम्मीदवारों के चयन का अब तो यही मुख्य आधार है। सम्पूर्ण भारतीय समाज को एक सूत्र में बांधने की मूल कल्पना थी। जब हिंदू कोड बिल पास हुआ तब कहा गया था कि यह उसी कल्पना की शुरुआत है। लेकिन उसके बाद उस दिशा की ओर कभी कदम बढ़े ही नहीं। जनता सरकार सत्ता में आने के बाद शासन संभाल नहीं सकी। जो शासन संभाल सके ऐसी ही सरकार चाहिए, यह नारा १९८० के चुनाव में दिया गया। यह बात मतदाताओं को जंच गई और उन्होंने यह घोषणा देने वालों को ही चुना। जनता कार्यकाल में महंगाई बढ़ी ऐसा कहा गया। यह बात भी लोगों को जंची। लेकिन बाद में उठाई गई इन दोनों बातों के संबंध में जो कुछ हुआ, उसके बारे में कुछ कहना ही कठिन है।

करीब–करीब चालीस वर्ष एक पत्रकार की तरह जीवन बिताने के बाद मुझे तो ऐसा लगता है कि लोकतंत्र शासन की एक अच्छी प्रणाली है। लेकिन उसकी सफलता के लिए केवल जनप्रतिनिधियों का ही नहीं अपितु मतदाताओं का भी एक बौद्धिक स्तर होना चाहिए। मैं नहीं कहता कि इसके लिए कोई विशिष्ट शिक्षा का स्तर होना चाहिए। लेकिन स्व. श्री काकासाहेब गाडगिल ने अपनी एक पुस्तक राज्यशास्त्र में 'सुबुद्ध ज्ञानबा' को लोकतंत्र के लिए आवश्यक बताकर एक अच्छा विचार रखा है। इस विचार से मैं पूरी तरह सहमत हूं। भारतीय संविधान में जनता के प्रतिनिधि के लिए किसी प्रकार की योग्यता आवश्यक नहीं है। मतदाता के लिए भी नहीं। आजकल चपरासी के पद के लिए भी कुछ योग्यता आवश्यक समझी जाती है। लेकिन श्रेष्ठ से श्रेष्ठ अधिकारियों पर नियंत्रण करने का जिसे हक है, उस मंत्री अथवा प्रधानमंत्री पद के लिए कोई योग्यता आवश्यक नहीं है। संविधान बनाने के लिए एक समिति की चर्चा में एक बार डॉ. राजेन्द्र प्रसाद ने यह विचार रखा था कि मतदाता की कुछ योग्यता तय की जाये। लेकिन उस समय तो यही विचारधारा प्रभावी थी कि बालिग मताधिकार ही दिया जाये। योग्यता का कोई भी बंधन न लगाया जाए। कुछ नेताओ ने इसी भावना को पकड़ रखा।

बालिग मताधिकार का निर्णय संविधान परिषद ने किया था। उसके इस निर्णय के पीछे जो भी कारण रहा हों पर उनके उस निर्णय के संबंध में मुझे दो घटनाएं याद आ रही हैं। इसमें से एक तो मेरे पत्रकार मित्र श्री काशीनाथ जोगलेकर ने बतायी थी और दूसरी के संबंध में संविधान परिषद के संबंधित सदस्य के साथ स्वयं मेरी बात हुई थी ।

उल्लेखनीय है कि श्री जोगलेकर वरिष्ठ पत्रकार ही नहीं, वर्षों तक रेडियो और सूचना मंत्रालय में जिम्मेदार अधिकारी रहे हैं। उनके द्वारा बतायी घटना इस प्रकार है। जिस दिन संविधान परिषद में बालिग मताधिकार देने की धारा स्वीकार की गई, उसी दिन रात में सूचना विभाग के विज्ञापन विभाग में काम करने वाले एक वरिष्ठ अधिकारी श्री वर्मा, जो बिहार के ही थे, डॉ. राजेंद्र प्रसाद से मिलने गए, राजेन्द्र बाबु संविधान परिषद के अध्यक्ष थे। राष्ट्रपति बनने के बाद भी उनके रहन–सहन में कोई टीमटाम नहीं आयी थी तो उस समय कहां होती? वे उन्हें बंगले में अंधेरे में एक खाट पर पड़े हुए मिले। श्री वर्मा जी ने उनसे कहा कि वे संविधान परिषद द्वारा बालिग मताधिकार की धारा पारित कराने के निमित्त उन्हें बधाई देने आये हैं। डॉ. राजेंद्र प्रसाद ने उत्तर में कहा, वर्मा जी, आज तो आप बधाई दे रहे हैं पर मुझे भय लगता है कि आने वाली पीढ़ियां शायद इसी निर्णय के लिए कहीं हमें गालियां न दें ।

दूसरी घटना श्री विभूति मिश्र के साथ हुई मेरी बातचीत की है। श्री विभुति मिश्र संविधान परिषद के सदस्य तो थे ही, बाद में वे कई बार लोकसभा के भी सदस्य चुने गए। उनका व्यक्तित्व बहुत ही सीधा–साधा था। मैंने एक बार उनसे पूछा मिश्र जी, संविधान परिषद में आप लोगों ने क्या सोचकर बालिग मताधिकार का निर्णय किया? श्री मिश्र जी का उत्तर इस प्रकार था। कुछ विशेष नहीं सोचा। स्वाधीनता प्राप्ति के बाद कोई मंत्री बना तो कोई प्रधानमंत्री, कोई संसद का सदस्य बना तो कोई विधानसभा का। कुछ लोगों को कुछ समितियों की अध्यक्षता या सदस्यता मिल गई थी या मिल सकती थी। पर इस सबसे उस जनसाधारण के हाथ क्या लगा जिसके नाम पर स्वाधीनता संग्राम लड़ा गया था। इसीलिए हर बालिग व्यक्ति को चुनाव में मत देने का अधिकर देने का निर्णय किया गया। इसके पीछे भावना यही थी कि वह भी अनुभव करे कि स्वाधीनता के कारण उसे भी कुछ मिला है। भावना निश्चय ही अच्छी थी। पर उस समय इस बात पर विचार नहीं हुआ कि इसका आगे चलकर क्या होगा? कोई भी अधिकार तलवार या किसी दूसरे शस्त्र की तरह होता है। जिसके पास वह है वह उसका सही उपयोग जानता है तो शत्रु से अपनी रक्षा कर सकता है, और यदि नहीं जानता तो उससे स्वयं को हानि भी पहुंचा सकता है। अधिकार की उस तलवार का उपयोग अपने हाथ–पैर काट लेने में भी कर सकता है। मुझे तो लगता है कि भारत में काफी मात्रा में यही हुआ है। भारत में ब्रिटिश शासनकाल में मतदाता के लिए कुछ आय होने का बंधन था। उसे सामंतशाही का प्रतीक कहा जा सकता है। पर भारतीय लोकतंत्र का आज का स्वरूप देखते हुए इस बात का समर्थन करना कठिन है कि ज्ञान की योग्यता का भी बंधन नहीं होना चाहिए। प्रसिद्ध विधि विशेषज्ञ श्री नानी पालकीवाला ने जनता कार्यकाल के मद्रास के अपने एक भाषण में रखे विचार मुझे बहुत ही उचित लगते हैं। उन्होंने कहा, जनसाधारण को निरक्षर और गरीब बनाये रखना यही राजनीतिज्ञों का मुख्य स्वार्थ होता है। सही–गलत का विवेक रखकर विचार करने की क्षमता न होने के कारण ऐसा वर्ग आसानी से भावनाओं में बह जाता है। भारतीय लोकतंत्र की यही असली बीमारी है ।

इस संबंध में दो—तीन घटनाएं बताने लायक हैं। पहली घटना इस तरह है जो मुझे भारतीय जनता पार्टी के श्री जगन्नाथराव जोशी ने बतायी थी। बात १९७७ के चुनाव की थी। श्री जोशी प्रचार के लिए कर्नाटक में गए थे। उस समय वहां के मुख्यमंत्री देवराज अर्स अपने रिश्तेदारों की झोली किस तरह भरते थे, इसका वर्णन वे कर रहे थे। श्री अर्स ने अपने दामाद को बीस एकड़ जमीन दी। इस पर श्रोताओं में से एक खड़ा होकर बोला, दी तो क्या हुआ? अपने दामाद को इतना तो देना ही चाहिए। हमें भी तो उन्होंने पांच एकड़ जमीन दी है। अपने रिश्तेदारों के लिए सरकारी अधिकारों का दुरूपयोग करते हुए उन्हें कुछ भी नहीं लगा।

१९८० के चुनाव में यह प्रचार हुआ था कि श्रीमती गांधी वंश सत्ता स्थापित करने के प्रयत्न में है। यदि वे प्रधानमंत्री बनी तो अपना स्थान संजय गांधी को देंगी । एक गृहिणी ने इस पर कहा, तो क्या हुआ? राजा का पुत्र गद्दी पर नहीं बैठेगा तो क्या हम बैठेंगे? आपत्काल में जिस तरीके से संजय गांधी ने परिवार नियोजन की योजना चलायी, उसका समर्थन कोई भी नहीं करेगा। ऐसा भी कहा जा सकता है कि १९७७ के चुनाव में यही योजना श्रीमती गांधी के खिलाफ सबसे अधिक गई। लेकिन इस योजना का समर्थन करने वाली एक हिंदू स्त्री से भी मैं मिला हूं। मैं उसे उस समय की विचारधारा का प्रतीक मानता हूं। उसका कहना था संजय गांधी का व्यवहार बिल्कुल सही था । संविधान बनाने के समय से ही राजनीतिक नेताओं ने सारे सामाजिक बंधन केवल हिंदुओं पर ही लादे। एक से अधिक विवाह न करें, दो से अधिक संतान न होने दें आदि—आदि। भारतीय राजनीति में संजय गांधी ही एक ऐसे व्यक्ति थे, जिन्होंने यह दिखाया कि मुसलमानों पर भी कानून लागू होता है। भारतीय राजनीति में बेकार ही गिटपिट करने वाले कम्युनिस्टों को भी उन्होंने अपना स्थान दिखा दिया। श्री राजनारायण का वास्तविक व्यक्तित्व क्या है, यह सर्वप्रथम संजय गांधी ने ही दिखाया। वंशसत्ता बन जाये तो भी हर्ज नहीं यही भावना इसमें से उपजी थी। १९८० के चुनाव परिणाम में इसी भावना का बड़ा योगदान था। इस चुनाव में संजय गांधी के लगभग एक सौ उम्मीदवार जीते। एक बार किसी व्यक्ति से वफादारी हो जाए ता फिर सिद्धांत या विचारधारा के प्रति वफादारी टूट जाती है और उसके बाद फिर लोकतंत्र नहीं टिक सकता। इतनी गहराई से विचार करने की भारतीय मतदाताओं के मन की तैयारी ही नहीं हुई है। मुझे लगता है कि इसीलिए बार—बार ऐसा होता रहा। अज्ञान के कारण गरीबी और गरीबी के कारण अज्ञान, यह चक्र हमेशा चलता ही रहा।